

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

संस्कृत व्याकरण-दर्शन

रामसुरेश त्रिपाठी



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६

पटना ६

प्राक्कथन

‘वाक्यपदीय विशेषत आख्याताय का अध्ययन’ विषय पर एक प्रबन्ध मैने आगरा विश्वविद्यालय में १९६५ में प्रस्तुत किया था जो पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। कई वर्षों तक वह प्रबन्ध कई कारणों से अप्रकाशित पड़ा रहा। उसे सस्कृत व्याकरण दर्शन के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। व्याकरण दर्शन से सम्बद्ध वाक्य विषयक विचार मूल प्रबन्ध में नहीं थे। उनका समावेश यहाँ कर लिया गया है शेष ग्रन्थ प्रायः अपने मूल रूप में है।

इस ग्रन्थ में हरिवृत्ति शब्द से वाक्यपदीय पर स्वयं भट्ट हरि द्वारा लिखी हुई वृत्ति अभिप्रेत है। श्री गंगाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में श्लोका की संख्या में अतिशय है। किंतु पाठका की सुविधा की दृष्टि से श्लोकों की संख्या जसे छपी है वसे ही इस ग्रन्थ में उद्धृत है। सस्कृत व्याकरण दर्शन एक दुर्लभ विषय है। इस पर धीरे धीरे किसी किसी तरह से मैं कुछ लिख सका हूँ। यहाँ जा कुछ विचार व्यक्त किये गए हैं वे सब प्राचीन आचार्यों के हैं। उनके विचारों को ठीक से समझने में भ्रम हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। इस निवेदन के साथ यह ग्रन्थ विन पाठका के सामने प्रस्तुत है।

व्याकरण दर्शन की ओर मेरी रुचि स्वर्गीय गुरुवर प० अम्बिका प्रसाद उपाध्याय भट्टपूव प्रधानाचार्यक व्याकरण विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की कृपा से हुई थी। अब उनका सादर स्मरण ही संभव है।

मैं राजकमल प्रकाशन के अधिकारियों का अनुगृहीत हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया।

—रामसुरेश त्रिपाठी

अनुक्रम

प्रावकथन	५
प्रथम अध्याय	
संस्कृत व्याकरण दर्शन का उपलब्ध साहित्य	६
द्वितीय अध्याय	
वाक	३४
ध्वनि	६६
वर्ण	७४
शब्द	८२
तृतीय अध्याय	
पदार्थ	१२३
चतुर्थ अध्याय	
क्रिया	१५६
पंचम अध्याय	
काल	२०५
षष्ठ अध्याय	
उपग्रह	२४५
पुरुष	२४८
संख्या	२६४
सप्तम अध्याय	
कारक	

अष्टम अध्याय
लिङ्ग

नवम अध्याय

वाक्य

वाक्याथ

वाक्यधर्म

वाक्याथ की प्रक्रिया

वाक्याथ निर्धारण के साधन

दशम अध्याय

वृत्ति विचार

एकादश अध्याय

स्फोटवाद

सम्भ ग्रन्थ-सूची

अनुक्रमणिका

२८८

३३०

३६३

३७७

४१०

४२६

४३७

४६०

संस्कृत व्याकरणदर्शन की उपलब्ध सामग्री

संस्कृत व्याकरणदर्शन का आरम्भ सुदूर प्राचीन काल में हो गया था। व्याकरण की रचना के लिए अनेक पारिभाषिक शब्दों का आश्रय लेना पड़ा। लक्षण बनाए गए। लक्षणों पर विचार आरम्भ हुआ। मतभेद सामने आए। दर्शन आरम्भ हुआ। जिज्ञासा दर्शन है। विचार की प्रक्रिया दर्शन है। गहरा चिन्तन सूक्ष्म विचार और सत्य के प्रति निष्ठा किसी भी विचारधारा को दर्शन का रूप दे देते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का भी एक अपना दर्शन है। इसके बीज वदिक साहित्य में मिल जाते हैं

ओंकार पृच्छाम को धातु, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम् किं लिङ्गम् किं वचनम् का विभक्ति, क प्रत्यय इति ।^१

यदि इन प्रश्नों का उत्तर दे दिया जाए तो पूरा व्याकरणदर्शन सामने आ जाता है। जब धातु प्रातिपदिक, नाम आख्यात आदि क प्रति जिज्ञासा थी तो इनका समाधान भी किया गया था और इनके विशेषण आचार्य प्रसिद्ध हो चले थे

आख्यातोपसर्गानुदात्तस्वरितलिङ्गविभक्तिवचनानि च सस्थानाध्यायिन आचार्या पूर्वं बभूवुः ।^२

यास्क ने नाम आख्यात आदि के विवरण प्रस्तुत किए हैं और प्रसंगवश कतिपय पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की दार्शनिक प्रक्रिया ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। किन्तु जैसे पाणिनि ने पूर्व के व्याकरणा की बहुत ही अल्प सामग्री आज उपलब्ध है वैसे ही पूर्वाचार्यों के व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक विचार भी अल्प ही सुरक्षित रह पाए हैं। जिन आचार्यों के मत उपलब्ध हैं उनका व्याकरणदर्शन की दृष्टि से सन्निप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

जैसे संस्कृत व्याकरण का सुव्यवस्थित रूप पाणिनि से आरम्भ होता है वैसे ही व्याकरणदर्शन का भी स्पष्ट रूप पाणिनि से आरम्भ होता है। पाणिनि ने (छठी शताब्दी, ईसवी पूर्व) अष्टाध्यायी की रचना श्रम्यनुशासन की दृष्टि से की थी किन्तु उन्हें अनेक परिभाषा सूत्रों की रचना करनी पड़ी। अनेक सन्तान्त्र बनाने पड़े और पारिभाषिक शब्दों के लक्षण देने पड़े। फलतः व्याकरणदर्शन की एक विस्तृत पृष्ठभूमि पाणिनि ने स्वयं

१ गोपब्रह्मण प्रथम प्रपाठक १।२४, डॉ० ह्यूजे गोर्र संपादिन

२ गोपब्रह्मण प्रथम प्रपाठक, १।२७

संसार कर दी थी। पाणिनि द्वारा प्रयुक्त विभागा, पविधि, आदेश, विप्रतिषेध, उपमान तिङ्ग, क्रियातिपत्ति कालविभाग, यीष्मा, प्रत्ययलक्षण, भावलक्षण, शब्दाथप्रवृत्ति जस सबहों शब्द इस बात में प्रतीत हैं कि वे उन शिरो के दार्शनिक वाता से पूर्णरूप से अवगत थे और स्वयं उच्चकोटि के चिंतक थे। उनके अनेक सूत्र अपने आप में एक दर्शन हैं जसे

स्वतंत्र कर्ता १।४।५४

तद्विशिष्य सत्ताप्रमाणत्वात् १।२।५३

अधवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् १।२।४५

कर्मणि च येन सत्प्रातिपदिकं शरीरमुत्तम ३।३।११६

समुच्चये सामान्यवचनस्य ३।४।५

तस्य भावत्वतलो ५।१।११६

प्रकारे गुणवचनस्य ८।१।१२ आदि

वस्तुतः पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं। बाद के व्याकरणों ने व्याकरण से सम्बद्ध जो कुछ विचार व्यक्त किए हैं उनका अनुमोदन वे किसी-न किसी तरह पाणिनि के सूत्रों से करते हैं। व्याकरणदशम से सम्बद्ध भी सभी मत पाणिनि की भाष्यताओं में परिपुष्ट किए जाते हैं। किसी प्राचीन आचार्य की उक्ति है कि जो कुछ वृत्ति ग्रन्थों में है जो कुछ वार्तिकों में है वह सब सूत्रों में ही है

सूत्रेभ्ये हि ततः सव यद वृत्तौ यच्च वार्तिके ।

उदाहरणमयस्य प्राप्नुदाहरणं यन्मो ॥^३

व्याकरणदशम की दृष्टि से भी यह उक्ति दूर तक ठीक है।

व्याडि (पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व)

पाणिनि के समय के आसपास ही व्याडि नाम के आचार्य हुए थे। उन्होंने 'सग्रह' नाम का व्याकरणदशम का ग्रन्थ लिखा था। भट्ट हरि के आधार पर जान पड़ता है कि वह पाणिनि सम्प्रदाय से संबद्ध ग्रन्थ था।

'सग्रहोप्यस्यैव शास्त्रस्य कदेशः । तत्र कृतवत्त्वात् व्याडेऽपि प्रामाण्यादिहापि सिद्धं शब्द उपात्तः ।'^४

व्याडि स्वतंत्र विचारक थे। सग्रह में उन्होंने भट्ट हरि के वक्तानुसार चतुर्दश सहस्र वस्तुओं पर विचार किया था।^५ सग्रह भट्ट हरि के समय से बहुत पहले ही लुप्त हो चुका था।^६ सग्रह के कुछ उद्धरण भट्ट हरि के ग्रन्थों में मिल जाते हैं। उनमें भी अधिकांश वाक्यपदीय की भट्ट हरि द्वारा रचित वृत्ति में है। जो दो-तीन उद्धरण दूसरे लेखकों द्वारा दिए गए हैं वे भी भट्ट हरि से ही लिए जान पड़ते हैं।^७ पतञ्जलि ने सग्रह के बारे में कहा

३ द्वा-शारनयनक की व्याकरणानुसारिणी व्याख्या में उद्धृत, पृ० ५३६

४ महाभाष्य दीपिका, पृ० २३ पूना संस्करण

५ चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् सग्रहग्रन्थे—महाभाष्य दीपिका, पृ० २३

६ सग्रहदेशतमुपगमने—वाक्यपदीय २।४८४

७ अब तक उपलब्ध सग्रह के सभी उद्धरण इस ग्रन्थ में व्याख्यान दे दिए गए हैं।

है शोभना खलु दाशायणस्य सग्रहस्य कृति ।^८ पतञ्जलि का शोभना शब्द सग्रह के गौरव को व्यक्त कर देता है ।

जो उद्धरण उपलब्ध हैं उनसे जान पड़ता है कि व्याडि ने सग्रह में प्राकृतध्वनि वृद्धतध्वनि, वण पद वाक्य, अथ मुख्यगौणभाव सवध उपसर्ग, निपात बन्धप्रवचनीय आदि पर विचार किया था । उन्होंने 'दशधा अथवत्ता' मानी थी ।^९ शब्द के स्वरूप पर मौलिक विचार प्रस्तुत किए थे । शब्द के नित्य और अनित्य स्वरूप पर भी सग्रह में पर्याप्त विवेचन किया गया था और दोनों पक्षों में गुण दोष के विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला गया था कि व्याकरण के नियम शब्द के नित्य पक्ष और शब्द के काय पक्ष दोनों ही दृष्टि से होने चाहिए । उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनकी सर्वाधिक देन निम्नलिखित मानी जा सकती है

१ शब्द द्वारा द्रव्य का अभिधान इस भावना के आधार पर भारतीय चिन्तन परम्परा में व्याडि का एक दशन ही खड़ा हो गया । वाजप्यायन ने शब्द द्वारा जाति का अभिधान निश्चित किया था । व्याडि और वाजप्यायन दोनों के दशन व्याकरणशास्त्र में गृहीत हैं । पाणिनि के अनेक सूत्रों की व्याख्या दोनों दशनों के आधार पर की जाती है । कात्यायन ने दोनों मतों के विवरण दिए हैं और उन्हीं के आधार पर द्रव्यवाद व्याडि का माना जाता है (द्रव्याभिधान व्याडि) ।^{१०} भट्ट हरि ने भी इसका समर्थन किया है

वाजप्यायनस्याकृति व्याडेस्तु द्रव्यम् ।^{११}

२ अथसिद्धान्त व्याडि ने शब्द और अर्थ में अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है । उनके मत में पद और वाक्य का नियम अर्थ द्वारा होता है । दूसरे शब्दों में, भाषा के स्वरूप और उसके अवयव का निर्णायक वाक्य का अर्थ है

न हि किञ्चित् पद नाम रूपेण नियतं ध्वजितम् ।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्याथदेव जायते ॥^{१२}

३ अपभ्रंश की प्रकृति शब्द है—शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति सग्रहकार ।^{१३} सम्भवतः अपभ्रंश शब्द का सबसे प्राचीन उल्लेख यही है । व्याडि ने अपभ्रंश की प्रकृति (मूल) संस्कृत का माना है । भट्ट हरि इस मत से पूर्ण रूप में सहमत नहीं हैं । किन्तु अपभ्रंश पर विचार प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य व्याडि हैं ।

८ महाभाष्य २।३।६६, पृ० ४६८ कीलहार्न संस्करण

९ "तदुभय परिगृह्य दशधा अथवत्ता स्वभावभेदिका इति सग्रहे प ।" वाक्यपदीय २।२०७ हरिवृत्ति, हस्तलेख

१० महाभाष्य १। १६४, पृ० २४४

११ महाभाष्य दीपिका, पृ० ११

१२ वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति, पृ० ४२ पर उद्धृत

१३ वाक्यपदीय १।१४८ हरिवृत्ति पृ० १३४, हेलाराज, मन्वथ समुद्देश ३०, पृ० १४३, पूना संस्करण

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक का आरम्भ सिद्ध शब्द से किया है। इस प्रथम में पतञ्जलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द सप्रहस लिया है। सप्रहस मूल प्रयोग या था कि काय शब्द, अथ सिद्ध इति। १४

पतञ्जलि के अनुसार सिद्ध शब्द नियम अथ वा वाचक है। जो हो सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताना कठिन है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मूल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ मिलेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का प्रयोग के अन्त में व्यवहार आरम्भ हुआ। पिछले दो हजार वर्षों से ससृज्ज व्याकरण के ममज लेखक अपनी कृतियों के अन्त में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय पांडि को है।

कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेघा रखने वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदशन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का भी विकास अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दायसम्प्रये' एक ओर उनके दार्शनिक झुकाव को चोखित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदशन है।

व्याकरणदशन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि न गई हो। अपनी व्यापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शली का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक वाक्यों का सृजन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव आदि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेघा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी इष्टियाँ परिभाषा और व्याय का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदशन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदशन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दशनों में अर्थ है।

कात्यायन ने उत्सग अपवाद विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग, नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दार्शनिक रंग दे दिया है। कण्ठ ने अनेक स्थानों पर उसका उल्लेख किया है। विशेषकर जहाँ वार्तिककार और महाभाष्यकार में मतभेद है। जैसे

भित्तेश्चत्वाद विरोधाभावाद्भेदेऽपि प्रत्ययेन प्रदीयेनेव घटादे गार्ग्यायण्यां षष्ठ्योऽप्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकरमाथस्य द्योतनमविरुद्धं मयमानो वार्तिककार उत्सगप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमतरेणापि सामान्यविधे

वाचक विशेषविधिम यत्रादीहशत ।^{१५}

कात्यायन ने अपने वार्तिकों में प्रकृत्यथ विशेषणवाद, प्रत्ययाथ विशेषणवाद, सामानाधिकरण्यवाद, अथनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदिवादों का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया ।

प्राचीन वैयाकरणों में हेलाराज ने वार्तिका का विशेष अध्ययन किया था । उ होने वार्तिकों पर वार्तिकों में नामक ग्रंथ भी लिखा था । वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वार्तिका का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आश्रय भट्ट हरि ने लिया है । तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वार्तिका की व्याख्यामात्र है । हेलाराज ने वार्तिकों के उद्धरण दे देकर उसे स्पष्ट कर दिया है । इससे बढ़कर कात्यायन की दार्शनिक दृष्टि का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है ।

संस्कृत व्याकरणदशन की, संस्कृत भाषा की, संपूर्ण वाङ्मय की कात्यायन की एक विशेष दृष्टि है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा ।

पतञ्जलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतञ्जलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है । वह सागर की तरह उत्तान है । सागर की तरह अगाध है । सागर की तरह रत्न छिपाए हैं । भट्ट हरि की दृष्टि में पतञ्जलि तीर्थदर्शी हैं । महाभाष्य, संग्रह का प्रतिकचक्र (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी वैयाकीजों का अधिष्ठान है ।

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिताः सर्वेऽपि वैयाकीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ 'संग्रहप्रतिकचक्रके' ।^{१६}

वैयाकीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज ने लिखा है

तत्र भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेऽपि वैयाकीजानां बोद्धव्यमिति । अतएव महत् शब्देन विनोदं महाभाष्यमित्युच्यते लोके ।^{१७}

पुण्यराज ने पुन लिखा है

महाभाष्यं हि बहुविधि विद्यावादबलमाय व्यवस्थितम् ।^{१८} अर्थात् महाभाष्य में अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद हैं ।

जो कुछ वार्तिकों में है वह सब तो महाभाष्य में है ही बहुत कुछ अर्थ भी है । इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनों का आवरण ग्रंथ है । महाभाष्यकार की अलग से दृष्टि ब्रह्मानु कठिन है । जहाँ जहाँ कुछ कहा है सूत्रों और वार्तिकों के भाष्य के रूप में कहा है । जिनके मूल, सूत्र और वार्तिकों में नहीं हैं वे भाष्यकार की दृष्टि माने जा सकते हैं । अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वार्तिककार से विरोध है वे सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं । प्राचीन टीकाकारों ने ऐसे सब स्थल चुन रखे हैं

^{१५} महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२

^{१६} वाक्यपदीय २।४८५, ४८८

^{१७} वाक्यपदीय टीका २।४८५

^{१८} पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८

४ सिद्ध शब्द कात्यायन ने अपने प्रथम वातिक का आरम्भ सिद्ध शब्द में किया है। इस प्रयोग में पतञ्जलि ने बताया है कि कात्यायन ने 'सिद्ध' शब्द सप्रहसं लिया है। सप्रहसं में मूल प्रयोग या था कि वाय शब्द, अथ सिद्ध इति। १४

पतञ्जलि के अनुसार सिद्ध शब्द नित्य अथ वा वाचक है। जो हो, सिद्ध शब्द व्याकरण में एक विशेष अर्थ में स्वीकृत हुआ जिसका ठीक अर्थ बताया नहीं है। उपपत्ति, निष्पत्ति और मूल तीनों शब्दों के अर्थों को एक में मिलाकर जो अर्थ मालवेगा कुछ ऐसा ही अर्थ सिद्ध शब्द का स्वीकृत हुआ और इस शब्द का प्रयोग के अन्त में व्यवहार आरम्भ हुआ। पिछले दो हजार वर्षों से ससृज्य व्याकरण के समस्त लेखक अपनी कृतियों में अन्त में सिद्ध शब्द का प्रयोग करते आ रहे हैं और यह परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। मेरे विचार में इस सिद्ध शब्द का श्रेय व्याडि को है।

कात्यायन (ईसा पूर्व चौथी शताब्दी)

पाणिनि के सदृश मेधा रत्न के वाले कात्यायन का भी योग व्याकरणदशन में बहुत अधिक है। व्याकरण के प्रकृत स्वरूप का तो उन्होंने विस्तार किया ही व्याकरण के दशनिष्ठ पक्ष का भी विशाल अनुपम रूप में किया। उनका प्रथम वातिक 'सिद्धे शब्दायसम्बन्धे' एक ओर उनके दशनिष्ठ शब्दों को द्योतित करता है तो दूसरी ओर एक वाक्य में संपूर्ण व्याकरणदशन है।

व्याकरणदशन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिस पर कात्यायन की दृष्टि नहीं गई हो। अपनी प्रापक दृष्टि के कारण उन्होंने सूत्रों की व्याख्या की एक अपूर्व शक्ति का आश्रय लिया जिसमें केवल उक्त अनुक्त का ही स्थान नहीं था अपितु व्याख्यान के माध्यम से अनेक वाक्यों का सञ्जन था। आज जिन्हें परिभाषा कहा जाता है और सीरदेव जादि ने जिन्हें परिभाषावृत्ति में परिभाषा रूप में लिख रखा है वे प्रायः सभी कात्यायन की मेधा के परिणाम हैं। उनके वाक्य और उनकी दृष्टियाँ परिभाषा और व्याख्यान का रूप लेती हैं। कात्यायन ने व्याकरणदशन को लोकविज्ञान से सम्बद्ध किया। व्याकरणदशन अवयवावयवीभाव अधिकरण आदि की व्याख्या लोकविज्ञान के आधार पर करता है। इनकी व्याख्या दूसरे दशना में अर्थ है।

कात्यायन ने उत्सर्ग अपदान विधि प्रतिषेध, निपातन स्थानी आदेश लिङ्ग नियम आदि सामान्य—विशेष प्रकारों से अपनी व्याख्यान पद्धति को दशनिष्ठ रूप दे दिया है। कथन ने अनेक स्थानों पर उसका उमीलन किया है। विशेषकर जहाँ वातिककार और महाभाष्यकार में मतभेद है। जैसे

भित्तेश्चत्वाद विरोधाभावादनैकेनापि प्रत्ययेन प्रदीपेनेव घटादे गार्ग्यायण्यां षड्डीण्यां स्त्रीत्वस्येवाज्ञातादेरेकस्यायस्य द्योतनमविरुद्धं मयमानो वातिककार उत्सर्गप्रतिषेधं शास्ति। भाष्यकारस्तु विरोधमन्तरेणापि सामान्यविधे

वाचक विशेषविधिम यत्रादोहशत ।^{१५}

कात्यायन ने अपन वातिको मे प्रकृत्यय विशेषणवाद, प्रत्ययाय विशेषणवाद, सामानाधिकरणवाद, अथनियमवाद, प्रकृतिनियमवाद आदिवादो का समावेश किया और पाणिनि के अनेक सूत्रों का इनके आधार पर विवेचन किया ।

प्राचीन वैयाकरणो म हेलाराज ने वातिको का विशेष अध्ययन किया था । उ होने वातिको पर वातिको मेय नामक ग्रंथ भी लिखा था । वाक्यपदीय के प्रकीर्णक काण्ड की व्याख्या करते समय हेलाराज उन वातिका का उल्लेख करते चलते हैं जिनका आशय भट्ट हरि ने लिया है । तृतीय काण्ड का वृत्तिसमुद्देश कात्यायन के कुछ वातिका की व्याख्यामात्र है । हेलाराज ने वातिको के उद्धरण दे देकर इसे स्पष्ट कर दिया है । इससे बढ़कर कात्यायन की दाशनिक देन का सूचक और क्या प्रमाण हो सकता है ।

संस्कृत व्याकरणदशन को, संस्कृत भाषा को, संपूर्ण वाडमय को कात्यायन की एक विशेष देन है और वह है उनकी वाक्य की परिभाषा ।

पतजलि (ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी)

पतजलि के महाभाष्य की उपमा सागर से दी जाती है । वह सागर की तरह उत्तान है । सागर की तरह अगाध है । सागर की तरह रत्न छिपाए है । भट्ट हरि की दृष्टि म पतजलि तीर्थदर्शी है । महाभाष्य, सग्रह का प्रतिकचुक्र (प्रतिनिधिकल्प) है और सभी व्यायबीजों का अधिष्ठान है

कृतेऽयं पतजलिना गुरुणा तीर्थदर्शिता । सर्वेषा व्यायबीजानां महाभाष्ये निबधने ॥ 'सग्रहप्रतिकचुक्रे'^{१६}

व्यायबीज शब्द पर टिप्पणी करते हुए पुण्यराज न लिखा है

तत्र भाष्य न केवल व्याकरणस्य निबधनम्, यावत् सर्वेषा व्यायबीजानां बोद्धव्यमिति । अतएव महत् शब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके ।^{१७}

पुण्यराज ने पुन लिखा है

महाभाष्य हि बहुविधि विद्यावादावलमार्घं व्यवस्थितम्^{१८} अर्थात् महाभाष्य मे अनेक विद्यावाद, दशनप्रवाद है ।

जो कुछ वातिको म है वह सब तो महाभाष्य मे है ही, बहुत कुछ अय भी है । इसलिए महाभाष्य व्याकरण और व्याकरणदशन दोनो का आकर ग्रंथ है । महाभाष्यकार की अलग से देन बताना कठिन है । उन्होंने जो कुछ कहा है सूत्रो और वातिका के भाष्य के रूप मे कहा है । जिनके मूल, सूत्र और वातिका म नहीं हैं वे भाष्यकार की देन माने जा सकते हैं । अथवा जहाँ भाष्यकार का सूत्रकार और वातिककार से विरोध है व सब मौलिक विचार महाभाष्यकार के हैं । प्राचीन टीकाकारो ने ऐस सब स्थल चुन रखे हैं

१५ महाभाष्य प्रदीप ५।३।७२

१६ वाक्यपदीय २।४८५, ४८८

१७ वाक्यपदीय टीका २।४८५

१८ पुण्यराज वाक्यपदीय २।४८८

जहाँ वातिककार का मत भिन्न है और भाष्यकार का मत भिन्न है। व्याकरणदशन की दृष्टि से भी ऐसे स्थलों पर प्राचीन आचार्यों की दृष्टि गई है और भक्त हरि ने भी अनेक स्थलों पर वातिककार के दर्शन भाष्यकार के दशन और सूत्रकार के दशन की अलग-अलग चर्चा की है। वस्तुतः सूत्रकार और वातिककार आदि के मत भी पतञ्जलि की व्याख्या के सहारे ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। अतः संपूर्ण व्याकरणदशन महाभाष्य में जहाँ-तहाँ विम्वरा पड़ा है। भक्त हरि ने उन विचारों को अपने ढंग से एकत्र किया है जो व्याकरणदशन के नाम से अलग वस्तु जान पड़ती हैं। इस विषय में अभी भी अवकाश है और महाभाष्य में आए दार्शनिक विचारों का क्रमबद्ध सकलन नवीन रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें सबसे अधिक कठिनाई परस्पर विरोधी मतों के भ्रमजाल में सतप्य ग्रहण की है। व्याकरण की परम्परा से मवया अवगत, महाभाष्य में निष्णात हरदत्त मिश्र ने यह घोषणा की थी कि महाभाष्य को संपूर्ण रूप में समझना किसी के लिए दुष्कर है।^{१६} आज तो हम केवल उसका दशन ही कर पाते हैं। अस्तु जैसे व्याकरण का वस ही व्याकरणदशन का भी सवस्व महाभाष्य है। माघ ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक को शब्दविद्या का सौन्दर्य कहा है।^{१७}

महाभाष्य में वण शब्द आकृतिपदाय, द्रव्यपदाय, गुणपदाय लिङ्ग वचन सभ्या वृत्ति वाक्य वाक्याय आदि पर पर्याप्त विचार मिलते हैं। यहाँ पतञ्जलि के कुछ वाक्य लिखे जा रहे हैं जो अपने पीछे एक एक दशन छिपाए हैं और महाभाष्यकार के व्यापक भावभूमि के सकेतक हैं

सववेदपारिषद हि इदम शास्त्रम् । तत्र न क पया गव्य आस्यातुम्
—महाभाष्य २।१।५८

सस्कृत्य सस्कृत्य पदानि उत्तज्यते—महाभाष्य १।१।१

प्रातिपदिकनिर्वेशाश्चायतत्रा भवन्ति न काचिन् प्राधायेन विभक्तिम आधयति—महाभाष्य १।८।५६

न सत्ता पदार्थो व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।६४

इह व्याकरणे य सर्वान्वीषान् स्वरव्यवहार स मात्रया भवति, नाधमात्रया व्यवहारोऽस्ति । महाभाष्य ८।१।१

वसुरात (लगभग ४०० ईसवी सन्)

वसुरात भक्त हरि के गुरु थे। विभिन्न दशनों के आधार पर व्याकरणदशन की व्याख्या उन्होंने आरम्भ की थी। उन्होंने की प्रेरणा से भक्त हरि ने वाक्यपदीय की रचना की थी। वसुरात व्याडि के सग्रह से प्रभावित थे। भक्त हरि भी य। इसलिए भक्त हरि ने वाक्यपदीय को स्वयं आगमसग्रह कहा है और उसकी मायताओं को अपने गुरु की देन माना है। इस प्रसंग में पुष्कराज ने लिखा है

अयं कदाचित् योगतो विद्याम तत्रभवता वसुरातगुरुणा ममायमागम सज्ञाय वास्तत्प्रातः प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूजकमभिधातुमाह

१६. तस्य नि रोषो मन्वे प्रतिपत्तायि दुलभ । पदमञ्जरी १।१।३, पृ० ४६

१७. शब्दविद्ये नो भाति राजनीतिरपश्यता—शिशुपालवध, २।११२

‘यायप्रस्थानमार्गास्तानम्यस्य स्व च दशनम् ।

प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रह ॥^{२१}

वसुरात के स्वतंत्र मत का उल्लेख मल्लवादिभामाश्रमण ने किया है और वसुरात को भर्तृ हरि का उपाध्याय बतलाया है। मल्लवादि ने भर्तृ हरि के मत से भिन्न रूप में वसुरात के मत का उल्लेख किया है। इससे जान पड़ता है कि वसुरात के कुछ वस्तुव्य परंपर्या कुछ काल तक सजीव थे। शब्द से अय के प्रत्यायन के सम्बन्ध में और अभिजल्प-दशन के सम्बन्ध में वसुरात और भर्तृ हरि में, मल्लवादि के अनुसार, कुछ मतभेद था। मल्लवादि ने दोनों की समीक्षा की है

निरुक्ताथोऽयमभिजल्पस्य तथा घटते, नायया। आभिमुख्येन जल्पस्यर्थ शब्द, त प्रयुक्तेऽय अभिजल्पयति तदविषय एवाभिजल्प इत्युच्यते। एतदुक्त भवति अथविषय शब्द शब्दाथकल्पनाया युक्ततर स्यात्, न तु स्वत परि-कल्पिते शब्दप्रेरिते। एव तावद भर्तृ हर्षादिदशनमयुक्तम्। यत्तु वसुरातो भर्तृ हरेरुपाध्याय स च स्वरूपानुगतमयमविभागेन सन्निवेशयति। तेन द्वावपि शब्दोऽय इच्छाम्युपगताविति प्राच्याद अत्यन्ताद अदशनात् तमिरिकदशनमिद तत्त्वदष्टि प्रत्यासीदति। अभिजल्पस्वरूप तु पुनस्तेनापि निरस्तम्^{२२}।

—द्वादशारनयचक्र पृ० ८०० ८०१

भर्तृ हरि

भर्तृ हरि का काल-निर्णय

वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृ हरि के समय का ठीक ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कुछ दिना पूर्व तक भर्तृ हरि के समय के बारे में इतिहास की उक्ति प्रमाण मानी जाती थी। इतिहास ने भर्तृ हरि के ग्रन्थों और उनके चरित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है ‘वह धर्मपाल का समकालिक था। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं।’^{२३} मृत्यु वाले कथन के आधार पर भर्तृ हरि की मृत्यु का समय ६५० ईसवी सन् के आसपास ठहरता है। परन्तु इतिहास के अनुसार भर्तृ हरि और धर्मपाल समकालिक थे। उसके अनुसार धर्मपाल ने भर्तृ हरि के ‘पे इन्’ ग्रन्थ (प्रकीर्णक) पर टीका भी लिखी थी। धर्मपाल की मृत्यु सन् ७७० में हो गई थी।^{२४} यदि धर्मपाल की समकालिकता वाली इतिहास की उक्ति को महत्त्व दिया जाए तो भर्तृ हरि का समय ईसवी ५५० के आसपास ठहरता है। इतिहास के कथन के आधार पर भी भर्तृ हरि के समय में लगभग सौ वर्ष का अन्तर आ जाता है और उनका समय ५५० ईसवी से लेकर ६५० ईसवी के बीच सिद्ध होता है।

२१ वाक्यपदीय २।४६०

२२ इस विषय पर शब्दस्वरूप के विचार के अन्तर पर इस ग्रन्थ में विचार किया गया है

२३ इतिहास की भारत यात्रा सन्तराम जी० प० द्वारा प्रनूदित, १६२५ पृष्ठ २७४, २७५

२४ इत्योदकान्द्र ड वैशेषिक विज्ञानसिद्धि एकादिक ड दशपदार्थी शास्त्र, द्वारा पृ० ५०० ५०१

प्रथमभास्कर के द्वारा वाक्यपदीय के श्लोक के उद्धृत होने के कारण और प्रथमभास्कर का समय ६२६ ई० निश्चित रूप से पता होने के कारण भत हरि के समय निणय की उत्तर सीमा ६०० ई० के आगे नहीं लाई जा सकती। अब तक के उपलब्ध प्रमाणों में यह प्रमाण सबसे ठोस है। निश्चित रूप से भत हरि ६०० ई० के पहले हुए थे। अब यह विचारणीय है कि यह सीमा और कितने पीछे हटाई जा सकती है।

जनाचार्य मल्लवादि क्षमाश्रमण कृत द्वाविंशत नयचक्र महाशास्त्र भट्ट हरि के समय पर प्रकाश डालता है। इस ग्रंथ में भत हरि के गुरु वसुरात का उल्लेख है। कई स्थानों पर “इति भट्ट हर्षादि मतम् वसुरातस्य भट्ट हर्षपाद्यस्य मतं तु”, “एष तावद् भट्ट हरि दशनमुपेतम् यत्तु वसुरातो भट्ट हरेरुपाध्याय” आदि रूप में भत हरि और उनके गुरु वसुरात के मतों का उल्लेख है। यह ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य के पहले का है। विशेषावश्यक भाष्य की रचना ५०६ ई० में हुई थी।^{३०} इस दृष्टि से वाक्यपदीय की रचना ४५० ई० के पूर्व हुई होगी।

मल्लवादि की तरह पुण्यराज भी वसुरात को भत हरि के गुरु मानते हैं।^{३१} चीनी भाषा में अनूदित वसुबन्धु के जीवन वृत्तांत से यह पता चलता है कि वसुबन्धु और वसुरात दोनों समकालिक थे और दोनों में शास्त्राध्यक्ष हुआ था। श्री विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार वसुबन्धु का समय ३३७-४१७ ई० है।^{३२} ह्वेनत्सांग और इत्सिंग के अनुसार वसुबन्धु का समय ४०० ई० के आसपास होना चाहिए। इत्सिंग घमपाल और घमकीर्ति को अर्वाचीन लिखता है और वसुबन्धु और असंग को मध्यकालिक।^{३३} भत हरि व वसुरात के शिष्य होने के कारण उनका समय भी ४२५ ई० के समीप निश्चित होता है।

हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की टीका में—अ येतु शब्द ब्रह्म एवेद विवर्ततेऽवभावेन प्रक्रिया यत इत्याहु इस रूप में वाक्यपदीय की प्रथम कारिका का उद्धरण दिया है। हरिस्वामी ने अपने समय का संकेत किया है

श्रीमतोऽवतिनायस्य विक्रमस्य क्षितीशतु ।

धर्माध्यक्षे हरिस्वामी यास्या कुर्वे ययामति ॥

यदाब्दानां कलेजगमु (यदादीनां कलेजगमु) सप्तत्रिंशच्छतानि व ।

चत्वारिंशत समाश्वा यास्तदाभाष्यमिदं कृतम् ॥

इसके अनुसार हरिस्वामी ने ग्रंथ की समाप्ति ३७४० बलि वर्ष में (तदनुसार ६३६ ई० में) की थी। परन्तु अब तो मैं उस समय किसी नए विज्ञान का होना इतिहास से सिद्ध नहीं है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने पुलकेशी द्वितीय के पुत्र विक्रम प्रथम के अवति के प्रशासक होने की सम्भावना की है (प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजक्शंस आफ द सिक्स्थ ओरियण्टल

हिंदू विश्वविद्यालय का आभारी हूँ। —लेखक)

३० द्रष्टव्य विशाल भारत जून १९५६ में मुनि जम्बू विजय का लेख

३१ वाक्यपदीय २। ४८६

३२ तत्त्वसंग्रह की भूमिका

३३ इत्सिंग की भारत यात्रा पृ० २७७

का फो-स, पटना १६३० पृष्ठ ५६८)। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने पटत्रिशत पाठ अनुकूल माना है। श्री चन्द्रवती पाण्डेय पञ्चत्रिशच्छतानि पाठ का अनुमान करते हैं

‘हमारी समझ तो यह आता है कि भ्रम से पचत्रिशच्छतानि वा सप्त त्रिशच्छतानि हो गया है और चत्वारिंशत्समाश्चाया का अर्थ है अथ सवत् का ४० वष। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का अपना सवत् भी चलता था और अपने वष का भी। प्रमाण की दृष्टि से उसके मयुरास्तम्भ का यह अभिलेख पर्याप्त है श्री चन्द्रगुप्तस्य विजय राय सवत्सरे पचमे ५ कालानुवतमान सवत्सरे एकषष्ठे (सेलेक्ट इन्सक्रिप्शंस पृ० २७०)। यह गणना से ३८० ई० ठहरता है। इस दृष्टि से इस चत्वारिंशत् का मान हुआ (३८०+४०=४२०) ४१५ ई०, जो इस विक्रमादित्य का अन्तिम वष कहा जा सकता है और सामान्यतः कलि के २५०० वष बीतने का परिचायक है।’

—चन्द्रवती पाण्डेय कालिदास, पृ० १२, १६५५

परन्तु हरिस्वामी ने “अथवा सूत्राणि यथा विद्युद्देन इति प्रभाकरा” के रूप में प्रभाकर का भी उल्लेख किया है (युधिष्ठिर मीमांसक सस्कृत व्याकरण का इतिहास, पृष्ठ २५६)। कुमारिल और प्रभाकर के पीछे का अर्थ अन्तिम निगम नहीं हुआ है। स्वर्गीय श्री गंगानाथ झा प्रभाकर को कुमारिल के पूर्ववर्ती मानते थे। यदि हरिस्वामी का समय ६३६ ई० भी माना जाए तो भी यह स्मरण रखने की बात है कि हरिस्वामी के गुरु श्री स्कन्दस्वामी ने निरुक्त १।२, पृष्ठ २८ पर अपने भाष्य में वाक्यपदीय की कारिका ‘पूर्वावस्थामजहत् (साधनसमुद्देश ११६) उद्धृत किया है। अतः इस आधार पर भी वाक्यपदीयकार का समय ५५० ई० के आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

युक्तिदीपिका (साह्यकारिका की टीका) में वाक्यपदीय के श्लोक उद्धृत हैं। इस ग्रंथ में कुमारिल या धर्मकीर्ति का नाम नहीं है। इस ग्रंथ की रचना ५५० ई० के पहले की जान पड़ती है।^{३४}

वाक्यपदीय १/३१ की हरिवृत्ति में निम्नलिखित वक्तव्य है

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसन्नमा च परिणामिनी प्रतिप्रतिसन्नातेव तदवतिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तचतयोपग्रहस्याप्य बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रया बुद्धिबुद्ध्या विनिष्ठज्ञानस्य प्रवृत्तिराख्यायते।

यह वक्तव्य योगमूत्र भाष्य में भी २।२० और ४।२२ में ज्यों का-त्यों पाया जाता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह वाक्य पचशिख का है। संभव है भत हरि ने भी पच शिख ले लिया हो। फिर भी ऐसे कई उद्धरण हैं जिनसे यह जान पड़ता है कि योगमूत्र भाष्यकार वाक्यपदीय से परिचित हैं और उसकी शब्दावली ल रहें हैं।

योगमूत्र भाष्य २/६ में भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्त्योरत्यन्तासकीणयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोग कल्पते —यह वाक्य मिलता है। वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति में भी यह वाक्य मिलता है। योगमूत्र ३/१७ के भाष्य के साथ वाक्यपदीय के कई वाक्य और सिद्धांत मिलते जुलते हैं। इन्हें आकस्मिक कहकर नहीं टाला जा सकता।

वाशिष्ठा दत्ति ४।३।८८ में वाक्यपदीय का उल्लेख है। वाशिष्ठा निश्चित रूप से

४०० ई० के बाद की ओर ५५० ई० व पहले की रचना है। काशिका ५।२।१२० में केदार सिक्के का उल्लेख है। केदार नामक सिक्के को केदार सनक कुपाणो ने लगभग तीसरी शताब्दी में चलाया था।^{३४} काशिका ३।३।४२ में प्रमाणसमुच्चय का उल्लेख है जो दिडनाग का ग्रन्थ है। काशिका ३।१।३८ में 'कल्पनापोढ' शब्द का उल्लेख है। यह शब्द भी दिडनाग की प्रत्यक्ष परिभाषा से लिया गया है। दिडनाग का समय ४०० ई० है।

काशिका ६/३/३४ में दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षित्वात् सिद्धमिति समाधेयम् यह वाक्य है। इसमें रघुवश १२/१६ के 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' की ओर संकेत जान पड़ता है।

काशिका १/३/२३ में किराताजुनीय ३/१४ का 'सशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' का उल्लेख है। किराताजुनीय की रचना ४७५ ई० के पूर्व की है। यह महाराज दुवनीत (राज्यकाल ई० ४८२-५२२) की टीका से स्पष्ट है।

काशिका के टीकाकार यासकार का उल्लेख भामह (ई० ६००) ने किया है ^{३५} गिष्टप्रयोगमात्रेण यासकारमतेन च।

तूचा समस्तपण्ठीक न कश्चिदुदाहरेत् ॥

इस श्लोक में यासकार से तात्पर्य जिनेन्द्र बुद्धि से ही है। उसे कोई दूसरा न्यासकार समझना भ्रम है। जिनेन्द्र बुद्धि ने २/२/१६ और ३/२/८७ के यास में तच्च के साथ पण्ठी समास का निषेध किया है। इस दृष्टि से काशिका वृत्ति का समय ई० ५०० के बाद नहीं बढ़ाया जा सकता।

वाणभट्ट ने भी काशिकावृत्ति का संकेत किया है^{३७} और यह संकेत भी काशिका का समय ५०० ई० के आसपास सिद्ध करता है।

अतः काशिका वृत्ति के आधार पर वाक्यपदीयकार का काल ४५० ईस्वी के पहले सिद्ध होता है।

वाक्यपदीय के टीकाकार वयम के समय के आधार पर भी वाक्यपदीय पाँचवीं शताब्दी अथवा इससे पूर्व की रचना है। वयम ने लिखा है कि वह देवयश का पुत्र और विष्णुगुप्त नरेश का भृत्य था

विमलचरितस्य राज्ञो विदुष्य श्री विष्णुगुप्तदेवस्य ।

भृत्येन तदनुभाषाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन ॥

वयमेन विनोदायं श्रीवृषभेण स्फुटाक्षर नाम ।

क्रियते पद्धतिरेषा वाक्यपदीयोदधे सुगमा ॥

३४ वामदेवशरण अग्रवाल—'इष'रिति एक अध्ययन' पृ० ५४

३५ काव्यालंकार ६।३६

३७ वाणस्य चत्वारः पितृभ्यः पुत्रा आसन् प्रमत्तवृत्तयो गृहीतवाक्या कृतगुरुपदवासा न्यायवादिन मुकुण्डसम्प्रदायासगुरुको लब्धसाधुराम्दा लोक इव व्याकरणेपि परस्परमुक्तानि यलोकयन् ।

विष्णुगुप्त का समय ५३५ और ५५० ई० के बीच म माना जाता है।^{३८} (अ) यह विष्णुगुप्त सम्राट नरसिंह गुप्त का पोत्र और कुमारगुप्त ततीय का पुत्र था। उसकी एक मुद्रा नालंदा म मिली है। बराहमिहिर (४८७ ई० म जन्म और ५८७ ई० म मृत्यु) ने भी बहत्सहिता मे विष्णुगुप्त का उल्लेख किया है।^{३८} (ब) अत इन प्रमाणों के आधार पर टीकाकार वृषभ का समय ५५० ई० के समीप सिद्ध होता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वषभ वाक्यपदीय पर कई टीकाओं के होने का निर्देश करते हैं

यद्यपि टीका बह्वय पूर्वाचार्य सुनिमला रचिता ।

सात परिभ्रमसास्तयापि चनां ग्रहीष्यति ॥

अत ५५० ई० तक वाक्यपदीय पर कई टीकाओं का होना यह प्रमाणित कर देता है कि वाक्यपदीय की रचना इससे बहुत पहले हुई होगी।

भट्ट हरि का जीवन

भट्ट हरि के जन्म स्थान और उनके जीवन के बारे म प्रामाणिक रूप म कुछ भी ज्ञात नहीं है। एक श्लोक के अनुसार जिसकी प्रामाणिकता निश्चित रूप से सिद्ध है वे शबरस्वामी की क्षत्राणी पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र थे। इतिहास के अनुसार ये सात बार परिव्राजक और सात बार गृहस्थ बने थे। अत म परिव्राजक रूप मे इन्हें शांति मिली थी। इतिहास की उक्ति भा किंवदन्ती से अधिक मूल्य नहीं रखती।

इतिहास के अनुसार वे बौद्ध थे। मैक्समूलर ने इन्हें विद्यामान सम्प्रदाय का बौद्ध माना है।^{३९} वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु मे—

यदाहु बाह्या जपि परेषामस्तमाह्वयेयमग्यासादय जायते ।

मणिहपादिषु ज्ञान तदविदामानुमानिकाम ॥

तत्त्वबिन्दु मद्रास पृ० ६०

ऐसा लिखा है। यह कारिका वाक्यपदीय १।३५ (लाहौर संस्करण) की है। बाह्या से तात्पर्य वेदवाह्या अर्थात् नास्तिक या बौद्ध से है।

परन्तु व्याकरण सम्प्रदाय म कभी भी भट्ट हरि का वेदवाह्य के रूप म उल्लेख नहीं मिलता। वाक्यपदीय म श्रुति स्मृति की महिमा पर्याप्त गाई गई है और स्पष्ट शब्दों मे यहाँ तक कहा गया है कि जो शास्त्र का संस्कार है वह परमात्मा की सिद्धि^{४०} है। वाक्यपदीय के श्लोक आस्तिक हृदय के उद्गार हैं। उसमें आविर्भूतज्योति वाले ऋषियों का सादर स्मरण है और भट्ट हरि ने अनादि निधन शास्त्र तत्त्व की सिद्धि विगैय रूप म श्रुति के आधार पर ही प्रतिपादित की है। बौद्ध दशन ग्रंथों म भट्ट हरि का उल्लेख बौद्ध रूप म नही

३८ (अ) यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पोपुल गुप्त बाकाटक एज २०० ५५० ए० टी०, वाल्यूम सिक्कर, पृ० २१४

३८ (ब) सुवाकर दिवेनी, गणक तरणिणी, पृ० १५

३९ मैक्समूलर का तत्त्व कुरु क नाम पत्र, इतिहास की भारत यात्रा की प्रस्तावना में उद्धृत पृ० १०

४० वाक्यपदीय १।३३

है। जन प्रयो म भट्ट हरि का बहुत उल्लेख है किन्तु वहाँ भी बौद्ध रूप में नहीं। अतएव इतिहास वाली कथा किसी अन्य भट्ट हरि से सम्बंध रखती होगी। वाचस्पति मिश्र की उक्ति भी उपयुक्त आधार पर नितान्त चिन्त्य है। बहुत सम्भव है उपयुक्त श्लोक वाचस्पति मिश्र ने किसी बौद्ध ग्रंथ से उद्धृत किया हो। वाक्यपदीय के श्लोक सभी प्रकार के ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

हाँ, वाक्यपदीय के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन्हें किसी सम्प्रदाय से द्वेष नहीं था। वस्तुतः भट्ट हरि अत्यन्त शिष्ट व्यक्ति थे। उनके जस मुसकृत विचारक संस्कृत वाङ्मय में कम हैं। वे खण्डन-भण्डन में नहीं पड़ते। अनेक विभिन्न मतों का बहुत ही सौजन्य के साथ उल्लेख करते हैं। कहीं कहीं तो यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि भट्ट हरि का अपना मत कौन है। संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों और विचारकों में अपने प्रतिपक्षी को या नास्तिक दर्शन के मानने वाले को खरी खरी सुनाने और उनकी बुद्धि पर तरस खाने की आदत बहुत प्राचीन काल से देखी जाती है। भट्ट हरि ऐसी अहमन्यता से सबका मुक्त हैं।

वे उच्चकोटि के विचारक थे। बहुश्रुत थे। उन्होंने स्वयं लिखा है “भिन्न भिन्न आगमों के सिद्धान्तों के अध्ययन से प्रज्ञा और विवेक की प्राप्ति होती है। बुद्धि विशद होती है। केवल अपने तक और अपने दर्शन के पारायण से मनुष्य कितना जान सकता है। जो विभिन्न प्राचीन दर्शनों की उपेक्षा करते हैं और मिथ्या अभिमानवश वदजना की उपासना विद्या के लिए नहीं करते उनकी विद्या पूर्णरूप में सफल नहीं होती।”^{४१} वाक्यपदीय को ‘आगम सग्रह’ का रूप देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याकरणदर्शन तथा अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों (याय प्रस्थान भाग) का अनुशीलन कर लेने के बाद इसकी रचना की गई है। भट्ट हरि की निरहंकारिता का एक प्रमाण तो यही है कि वाक्यपदीय ऐसे प्रौढ़ और अप्रतिम ग्रंथ को उन्होंने अपनी कृति न कहकर अपने गुरु की रचना माना।

अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भट्ट हरि का सार स्मरण करते हैं। वे सदा भट्ट हरि का तत्त्वभवान् शब्द के साथ उल्लेख करते हैं। भट्ट हरि का सौजन्य, उनकी अगाध विद्वत्ता और उनकी चतुर्दिग प्रसिद्धि आदि सबका चोचने अभिनवगुप्त का निम्नलिखित उद्गार है— प्रायः देखा जाता है कि ससार में जनता लोक प्रसिद्धि के आधार पर किसी में विश्वास करती है और उसकी ओर अग्रसर होती है। यह विश्वास उसके नाम के बराबर सुनाई देने से, अथवा उसके आचरण, कवित्व, विद्वत्ता आदि की प्रसिद्धि के कारण जगता है। जस कि जब कहा जाता है कि यह उसी भट्ट हरि का श्लोक प्रबंध है जिसने यह किया था, जिसकी उदारता ऐसी थी जिसका इस शास्त्र में ऐसा सार है और इसलिए उनकी कृति आदरणीय है तब जनता उस ओर स्वयं झुक जाती है।^{४२}

४१ वाक्यपदीय २।४६२।४६३

४२ “इह बाहुल्येन लोको लोकप्रसिद्ध्या सभावनाप्रत्ययवलेन प्रवर्तते। स च सभावनाप्रत्ययो नामभवरवशान् प्रसिद्धायतदीयसमाचारकवित्वविद्वत्तादिसमनुभरयेन भवति। तथाहि भट्टहरिणोद कृत यस्यायमौदायमहिमा, यस्यास्मिन् शास्त्रे एवविध सारो दृश्यते तस्यायं श्लोकप्रबंधस्तस्मादादरणीयमेतदिति लोको प्रवर्तमानो दृश्यते इति।”

भट्टहरि के ग्रन्थ

व्याकरण भट्टहरि के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—महामाध्य निषाणी (महाभाष्य-नीषिका), वाक्यपदीय और भाष्यपदीय १, २ पर स्वागत वृत्ति। इनके सम्पादक समीक्षा नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

भट्टहरि महामाध्य के प्रथम अध्याय के तीन पाद पर व्याख्या लिखी है। तीन पाद पर होने के कारण उक्त विवरण का निषाणी कहते थे। व्याकरण सम्प्रदाय में भट्टहरि 'टीकाकार' के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। यह प्रसिद्धि इन्हीं भाष्य व्याख्या के कारण है। भट्टहरि कृत भाष्यनिषादी का उत्पन्न ब्रह्मचारी^{४३} और हेलाराज आदि ने किया^{४४} है। संप्रति यह व्याख्या केवल १।१।५३ तक मिलती है। इसमें एक हस्तलिखित की एक प्रति लिपि श्री ब्रह्मचारी जिज्ञासु के पास मिलने देती है।^{४५} प्रथम आह निषा पर ब्रह्मचारी का प्रदीप भट्टहरि की भाष्यदीपिका का सधु सस्वरूप है। कहा नहीं पूरे के-पूरे वाक्य ज्यों-के-र्यों लिए गए हैं। भट्टहरि की टीका का उल्लेख नामेन ने भी किया है।^{४६} दक्षिण ने इसे 'भट्टहरि शास्त्र' लिखा है और इसे भूषिण की व्याख्या कहा है जो टीका है। व्याकरण सम्प्रदाय में भाष्यकार भूषिणकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वयं भट्टहरि ने महामाध्यकार की भूषिणकार कहा है।^{४७} इस ग्रन्थ के कई महत्त्वपूर्ण वाक्यों का सबलन श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने सस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास में कर दिया है।

भट्टहरि कृत सम्पादकसमीक्षा का उत्पन्न उत्पल ने शिव दृष्टि की टीका में किया है।^{४८} इस ग्रन्थ के केवल दो श्लोक मिलने हैं जो वही उद्धृत हैं। इनमें से एक श्लोक भट्टहरि के नीतिशतक का प्रथम श्लोक है। उत्पल की दृष्टि से वाक्यपदीय और नीतिशतक के कर्ता एक ही भट्टहरि हैं ऐसा जान पड़ता है। उत्पल का उद्धरण यों है—

न केवलचात्रव पदपत्यभिधानेन सम्पादकानामास एव उक्तो वाक्यच्छम्पातु-
समीक्षायामपि विद्वद्भट्टहरिणा।

विषयात्तादिलक्षणेन व्यापकस्य विहृत्यते।

अवश्य व्यापको यो हि सवदिक्षु स वतते ॥

४३ भट्टहरिकाव्यपदीयप्रकीर्णकयो कता महामाध्यनिषाया यादयाना च। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २।

४४ त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदीकृता।

सम्भै समस्त विद्याश्रीका ताय हरये नमः ॥ हेलाराज, प्रतीर्षकप्रकाश के अंत में।

४५ अत्र छप चुका है।

४६ नागेश ने हरिटीका का उल्लेख इन स्थलों में किया है—महामाध्यप्रदीपोद्योत १।१।८ १।१।४०, १।३।२१।

४७ अस्मिन् दशने पाणिनिना मुखग्रहण पठितमिति दृश्यते। चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्ट (भाष्यदीपिका, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का हस्तलेख) पृष्ठ १७६।

४८ भट्टहरि के शब्दसत्त्वादित प्रथम की चर्चा अत्र भी है—तेन यदाह शब्दसत्त्वादित नाम काय भट्टहरिरास्मादित महामाध्य व्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, आर० ४४३६।

दिवकालाद्यनवच्छिन्नानतविमात्रमृतये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नम शांताय तेजसे ॥

इति लक्षणेन दिग्देशकालरवच्छेदो विशिष्यमाणता निषिद्धा ।

—शिवहृष्टि पृष्ठ ८४

भट्ट हरि की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना वाक्यपदीय है। इसमें तीन काण्ड हैं। पहला आगम काण्ड, दूसरा वाक्य काण्ड और तीसरा पद काण्ड कहलाता है। पूव क आचार्य वाक्यपदीय शब्द से वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड ही समझते थे। तीसरा काण्ड प्रकीणक नाम से भी प्रसिद्ध था। हेलाराज ने वाक्यपदीय (पहला और दूसरा काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी और प्रकीणक पर प्रकीणकप्रकाश नाम की टीका लिखी है। स्वयं भट्ट हरि वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड के अंत में पुस्तक की समाप्ति करते जान पड़ते हैं परंतु वही उन्होंने तीसरे काण्ड की भी सूचना दे दी है

यत्प्रनामत्र केवाचित वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।

काण्डे तृतीये यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

—वाक्यपदीय २।४६१

पुण्यराज ने तृतीय काण्ड की पूव के दोनों काण्डों का निष्यदभूत कहा है। वस्तुतः तृतीय काण्ड में व्याकरणदशम की अनेक मायताओं पर अथ दशमो के सिद्धान्तों के संवेत के साथ विचार किया गया है। प्रकीणक उस तरह के ग्रंथों को कहते थे जिनमें विषय विभाग ठीक ठीक बिना किए ही विचार किया जाता था (प्रकीणकत्व च ग्रन्थस्य विषय विभागेन विना प्रवृत्तत्वमुच्यते—कल्लिनाथ संगीत रत्नाकर ३।१)। इत्सिंग ने इसी को पड़न्त कहा है जिसकी पहचान सबसे पहले किलहान ने प्रकीणक से की।^{४६} प्रकीणक खण्डितरूप में ही मिलता है और पुण्यराज को भी इसके कुछ समुद्देशों का पता नहीं था। लक्षणसमुद्देश और बाधासमुद्देश इन दो का उल्लेख है पर वे मिलते नहीं हैं। पुण्यराज अथवा हेलाराज को भी वे नहीं मिले थे। लक्षणसमुद्देश का उल्लेख भट्ट हरि ने स्वयं किया है

तत्र द्वादश पट चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशो सापदेश सविरोध विस्तरेण व्याख्यास्यते

—वाक्यपदीय २।७६ पर हरिवृत्ति, पृष्ठ ४५ लाहौर संस्करण

बाधासमुद्देश का उल्लेख भी भट्ट हरि ने अपनी वृत्ति में किया था। इसका निर्देश पुण्यराज ने किया है 'यस्मादुक्तं येषमपरिणामविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यत इति'

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७ पृष्ठ ५०

भट्ट हरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर एक वृत्ति भी स्वयं लिखी थी। श्री चारण्येव शारंगी ने इस वृत्ति को लाहौर से छापा है। अब तक केवल प्रथम काण्ड

^{४६} दृष्टव्य—इण्डियन एण्ठीक्वेरी १८८३ खण्ड १२ पृष्ठ २२६, 'इत्सिंग की भारत यात्रा' के परिशिष्ट में अनूदित।

पर और द्वितीय काण्ड के एक चोपाई हिस्से पर ही वृत्ति छपी है। श्री चारुदेव शास्त्री ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भट्ट हरि ने स्वयं वृत्ति लिखी थी और बनारस की पुस्तक में प्रथम-काण्ड की वृत्ति भट्ट हरि की वृत्ति का सक्षिप्त रूप^{५०} है। भट्ट हरिवृत्ति के पोषक कई प्रौढ़तर प्रमाण मुझे भी मिले हैं जिनमें कुछ का निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग पृष्ठ २२६ पर लिखा है

तदाह तत्रभयान् भट्टहरि प्रतिसहस्रक्रमान्त सत्यव्यभेदे समाविष्टक्रमशक्ति पश्यती। सा च अचला च चला च, प्रतिलब्धा समाधाना च, सन्निविष्ट सेवाकारा प्रतिलोनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नायप्रत्यवभासासमृष्टाय प्रत्यवभासा च सर्वायप्रत्यवभासा प्रशातप्रत्यवभासा च इति।

यह अश वाक्यपदीय १।१४३ (१४४) की हरिवृत्ति पृष्ठ १२६ पर ज्या का त्यों मिलता है।

घमकीर्ति के प्रमाण कार्तिक की टीका में कणकगोमी ने लिखा है
यदाह भट्टहरि सर्वेषां पृथगप्यवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्द कृत्स्नाय परिसमाप्ते।
तथा यदेव प्रथम पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वे रूपार्योपप्राहिणि नियमानुवाद निबन्धनानि पञ्चाक्षराणि विज्ञापयति इति।^{५१}

गद्यमय होने के कारण यह अश अवश्य ही हरिवृत्ति का होगा। अब तक के प्रकाशित हरिवृत्ति में यह अश नहीं है।

पुण्यराज ने एक स्थान पर लिखा है
एतेषा च वितत्य सोपपत्तिक सन्निदशन स्वहप पदकाण्ड लक्षणसमुद्देशे
विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृत्य स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। जागमभ्र शाल्लेखक प्रमादा
दिता वा लक्षणसमुद्देशश्च पद काण्ड मध्ये न प्रसिद्ध।^{५२}

पुण्यराज का यह कहना कि ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख स्वयं किया है ठीक है क्योंकि वाक्यपदीय २।७६ की वृत्ति में लक्षणसमुद्देश का उल्लेख है।

भट्ट हरि के विवरण का उल्लेख घपभ ने भी किया है
यद्यपि च सङ्गुपात्तानादिनिधनश्रुतिस्तथापि कारिकाविवरणप्रपादयसीयते
अयद्वयागीकरणेन शास्त्रकृतोपात्तति।

घपभ, वाक्यपदीय १।१ ३ पृष्ठ
अतः भट्ट हरि ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर वृत्ति लिखी थी और चारुदेव शास्त्री ने जिन वृत्ति को प्रकाशित किया है वह भट्ट हरि की ही है।

हरिवृत्ति का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। अनेक गम्भीर विषयों का विवेचन इस वृत्ति में किया गया है। भाषा के दार्शनिक इतिहास के लिए तो वह अत्यन्त मूल्यवान है।

५० द्रष्टव्य—वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की भूमिका लाहौर संस्करण, पृष्ठ १६ १८

५१ प्रमाणवाचिक, ५० ४६४ राहुल साह्यायन द्वारा सम्पादित

५२ वाक्यपदीय २।७७ लाहौर संस्करण

उपर्युक्त ग्रथा के अतिरिक्त भट्ट हरिशतक और ब्रह्मसूत्र की टीका तथा मीमांसा-सूत्र पर वृत्ति—इन ग्रथा का भी भट्ट हरि ने लिखा था ऐसा सुना जाता है पर इन ग्रथों को व्याकरण भक्त हरि की रचना मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

वाक्यपदीय के अथ टीकाकार

भट्ट हरि की स्वोपनवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यपदीय पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गई थीं। वपभ ने पूर्वाचार्यों की टीकाओं का संकेत किया है।

वृषभदेव

इस समय उपलब्ध टीकाओं में वृषभ की टीका उल्लेखनीय है। वपभ का समय ५५० ई० है। यह ऊपर सप्रमाण निश्चय किया जा चुका है। वृषभ ने वाक्यपदीय और हरिवृत्ति दोनों पर टीका लिखी है। पहले वह वाक्यपदीय के श्लोक का भाव दत्ते हैं। इसके बाद हरिवृत्ति के शब्दों की व्याख्याएँ करते हैं। यह व्याकरणशास्त्र और अथ आगमों में निष्णात जान पड़ता है। हरिवृत्ति के अनेक दुर्लभ अंशों का परिचय वपभ की टीका के सहारे ही सम्भव है। इनकी टीका का नाम वाक्यपदीयपद्धति है।^{५३} यह टीका प्रथम काण्ड पर ही उपलब्ध है। इसे चारदेव शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित किया है।

पुण्यराज

पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड (वाक्य काण्ड) पर टीका लिखी है। उनका दूसरा नाम राजानक शूरवर्मा था। उन्होंने लिखा है कि मैंने शशाक के शिष्य से वाक्य काण्ड पढ़ा था। यह कौन शशाक है इसके बारे में विशेष पता नहीं है। पुण्यराज का समय ६०० ई० के आसपास जान पड़ता है। पुण्यराज ने अपनी टीका में अनेक ग्रथों और लेखकों का उल्लेख किया है। जैसे काशिका वृत्ति,^{५४} कुमारिल के श्लोकवार्तिक^{५५}, भट्ट हरि शतक^{५६} का एक श्लोक राघवानन्द नाटक का एक श्लोक आदि उसमें उद्धृत हैं।^{५७} राघवानन्द वैकटेश्वर की रचना है।

पुण्यराज ने 'इदोलक्ष्मस्मरविजयिन' यह श्लोक वाक्यपदीय २/२४६ की टीका

५३ गवन्कोर लाइब्रेरी के हस्तलेख न० ३०७ वाली प्रति में यह पुष्पिका है इति वृषभ रचितायां वाक्यपदीयपद्धती प्रथम काण्ड समाप्तम्।

५४ यद्येव कमणीति किं मातुर्गुणै स्मरणमिति कथं प्रत्युदाहृतम्—वाक्यपदीय २।२०० पृ० १६४, यह अंश काशिका में २।३।५२ पर है। पुण्यराज ने यहीं 'कारकान्तरे त्वेकैवेति वृत्तिकारा' भी लिखा है।

५५ वाक्यपदीय २।६४ में मीमांसाश्लोकवार्तिक का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—
यावत्तो यादृशा ये च यदथ प्रतिपादने।

वर्णा प्रज्ञातमामर्थास्ते तथैवावबोधका ॥ —मीमांसाश्लोकवार्तिक, स्फोटवाद ६६

५६ मणि शाणोल्लीड स्मरविजयी हेतिनिहत —भट्ट हरि शतक, वाक्यपदीय २।८६ में उद्धृत है।

५७ रामोऽमी भुवनेषु श्रेणीभूत विशालतालविवरोद्गीर्णै स्वैरे सप्तभिः—वाक्यपदीय २।८६।
काव्य प्रकाश की 'यादृशा चद्रिका' में यह श्लोक राघवानन्द नाटक का कहा गया है।

में उद्धृत किया है। यह श्लोक राजशेखर का कहा जाता है। परन्तु राजशेखर के ग्रंथों में नहीं मिलता। वस्तुतः यह राजशेखर का श्लोक नहीं हो सकता क्योंकि पुस्तक ने इस श्लोक को उद्धृत किया है। पुस्तक और राजशेखर समकालिक हैं। नीचे लिखे वक्तव्य से जान पड़ता है कि पुण्यराज आनन्दवदन के बाद हुए थे परन्तु थोड़े ही दिन बाद या समकालिक क्योंकि ध्वनि के भेद-उपभेद से वे पूणतया अवगत नहीं जान पड़ते

एतेन श्लोकेन प्रकारद्वयेन लक्षणा प्रदर्शिता । कदाचिमुत्पाद्यत्यागेन वा यत्स्यो-
पलक्षणमेतदेवाविवक्षितवाच्यमुच्यते । कदाचिमुत्पाद्याविरामोपायपूर्वकमया-
र्थोपलक्षणमेतदेव विवक्षितवाच्यमुक्तं वित्तयम् ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।३१५

इस उद्धरण में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य दो शब्द आए हैं जो आनन्दवदन के गढ़े हुए हैं। साथ ही इनका उल्लेख लक्षणा के साथ किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि की पर्याप्त ध्वनि पुण्यराज के समय में नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मुकुलभट्ट ने ध्वनि के उपयुक्त भेदों की लक्षणा में अतर्भाव किया था समयसमय प्रतियोगनायां तु लक्षणायां अविवक्षितवाच्यता छत्रिणो यातीत्यत्रेवोदाहार्या ।

—अभिधावतिमान्निका पृष्ठ २०

पुण्यराज ध्वनि के भेदों की लक्षणा के भीतर लेते हुए मुकुलभट्ट से प्रभावित जान पड़ते हैं। मुकुलभट्ट भट्टकल्लट के पुत्र और प्रतिहारेन्द्रराज के गुरु थे। भट्टकल्लट अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समकालिक थे (राजतरंगिणी ५।६६)। इसलिए मुकुलभट्ट का समय ९०० ई० है। पुण्यराज ९०० ई० के बाद के हैं। पर वे अभिनवगुप्त (१००० ई०) के पूर्व हुए होंगे अथवा ध्वनि की लक्षणा के भीतर स्वीकार बिना विशेष युक्ति के नहीं कर सकते थे।

पुण्यराज ने वाक्यपदीय २।२४३ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

सतां च न निषेधोस्ति सोऽस्तमु च न विद्यते ।

जगत्पतेन मायेन नञश्च प्रलय गत ॥

श्री के० गम० शर्मा ने बालभट्ट के आधार पर इस श्लोक को खण्डनखण्डखाद्य का माना है और इसी आधार पर पुण्यराज को श्री हप के बाद का बारहवीं शताब्दी का माना^{५८} है। परन्तु यह उचित नहीं जान पड़ता। मुद्रित खण्डनखण्डखाद्य में उपयुक्त श्लोक नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह बहुत प्रसिद्ध श्लोक है और अनेक ग्रंथों में उद्धृत पाया जाता है। हेलाराज ने भी वाक्यपदीय ३ पृष्ठ ११७ पर इसे उद्धृत किया है। श्री हप ने खण्डनखण्डखाद्य में दूसरों की चारिकाओं का भी उल्लेख किया है। अतः यदि किसी प्रति में उपयुक्त श्लोक मिले भी तो वह श्री हप का ही है नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः यह श्लोक धर्मकीर्ति का है।

पुण्यराज ने अपनी टीका में संक्षेप शैली को अपनाया है, फिर भी वह सौष्टव्यपूर्ण और गम्भीर है। भत हरि की तरह पुण्यराज भी भीमासा दर्शन के ममज्ञ जान पड़ते हैं।

हेलाराज

हेलाराज ने वाक्यपदीय (प्रथम और द्वितीय काण्ड) पर शब्दप्रभा नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उन्होंने कई स्थानों पर किया है।^{५६} अतः यह टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड (प्रकीर्णक) पर प्रकीर्णप्रकाश नाम की इनकी टीका है जो काशी से छपी है और साधन क्रिया समुदाय से लेकर वृत्ति समुद्देश तक द्रावकीर से भी दो भागों में शुद्ध रूप में छपी है।

हेलाराज कश्मीरी थे। वे भुवनापीठ के मंत्री लक्षण के वंशज थे और उनके पिता का नाम भूतिराज था। अभिनवगुप्त ने अपने साहित्यिक गुरु इंद्रुराज के पिता का नाम भी भूतिराज बताया है।^{५७} यदि भट्टेन्द्रुराज और हेलाराज भाई होते तो हेलाराज का समय ९७५ ई० के आसपास होना चाहिए। हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। वाक्यपदीय के वृत्तिसमुद्देश के संपादक श्री रवि वर्मा ने कैयट और हेलाराज के कई समान वाक्यों का उद्धरण किया है और संकेत किया है कि हेलाराज कैयट के बाद के जान पड़ते हैं। मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। वस्तुतः हेलाराज कैयट के बाद के हैं। हेलाराज ने कैयट के कई व्याख्यानों का उनका बिना नाम दिये खण्डन किया है। जैसे, हेलाराज ने लिखा है

‘धातुरप प्रयोजनमस्येतत्तु भाष्यव्याख्यानमयुक्तम्।’

—वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश पृष्ठ १७३

हेलाराज ने यहाँ जिस भाष्यव्याख्यान का उल्लेख किया है वह कैयट का है। कैयट ने लिखा है

धात्वय क्रिया सा अथ प्रयोजन यस्य साधनस्य तस्मिन् वतमानाद उपसर्गात् स्वार्थे धति प्रत्यय।

—कैयट प्रदीप ५।१।११८ ४।१।७८ भी द्रष्टव्य

अलंकार सवस्व (११३५ ई०) में कैयट के भाष्याब्धौ क्वातिगभीरम्' इस वाक्य का उल्लेख है।^{५८} ई० ११७२ में लिखी दुषट वृत्ति में कैयट का कई बार नाम आया है। श्री युधिष्ठिर भीमांसक ने अपने 'व्याकरण का इतिहास' में कैयट का समय ई० १०३५ के लगभग अनुमान से निश्चित किया है। श्री दिनेशचंद्र भट्टाचार्य कैयट का

५६ विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति। (वाक्यपदीय ३।४६ पृ० ३६।)

५७ "श्रीभूतिरामतनयः स्वपितृप्रसादः" तत्रालोक ३७।६०, डा० के० सी० पाण्डेय द्वारा अभिनवगुप्त देन हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी पृ० १४३ पर उद्धृत।

५८ अलंकार सवस्व अग्निम श्लोक की वृत्ति। इस पर डा० बी० राघवन् ने प्रकाश डाला था।

समय ६०० ई० मन् के आसपास मानते हैं।^{१२} इस आधार पर हेनाराज और इन्दुराज को महोदर भाई माना जा सकता है क्योंकि इन्दुराज का भी यही समय है।

हेनाराज ने वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ६ की टीका में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है

एकदेशेन सारूप्ये सर्वं स्मात् सायवेदनम् ।

सर्वरूपना तु सारूप्ये ज्ञानमज्ञानतां प्रजेत ॥

यह तत्त्वसंग्रह की १३५८वीं कारिका है। तत्त्वसंग्रह के लेखक शास्त्ररचित का समय ७२० ई० है।

माधवाचार्य ने सप्तदशमसंग्रह में वाक्यपदीय के व्याख्याता हेनाराज का उल्लेख किया है

कमप्रवनीयेन च पञ्चमेन सह पदस्य पञ्चविधत्व इति हेनाराजो व्याख्यातवान् ।

इसलिए १३वीं शताब्दी के पूर्व हेनाराज हुए थे। १००० ई० इनका समय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।^{१३}

हेनाराज अनीव प्रतिभासम्पन्न लेखक थे। शास्त्रप्रभा और प्रकीर्णकप्रकाश के अतिरिक्त इन्होंने क्रियाविवेक वार्तिकोमेष और अद्वयसिद्धि नाम के ग्रन्थों की भी रचना की थी। इन पुस्तकों का उल्लेख उनकी टीका में मिलता है।

हेनाराज की लेखनी में अद्भुत शक्ति है। वे महाभाष्य में निष्णात, आगम शास्त्र के पण्डित विभिन्न दशतों के परिचायक और वाक्यपदीय के परम भक्त हैं। इनकी टीका में जो मौलिकता और चारुता है वह अत्यन्त दुर्लभ है।

धर्मपाल

इतिहास के अनुसार धर्मपाल ने भृगु हरि के पेड़ में (प्रकीर्णक) पर टीका लिखी थी। धर्मपाल की टीका के बारे में अद्यत् कोई उल्लेख नहीं मिलता। इतिहास के अनुसार

१२ परिभाषा वृत्ति की भूमिका, पृ० ८।

१३ हेनाराज ने कई श्लोकों और वाक्यों के उद्धरण दिए हैं जो अन्य कवियों के हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है, क्योंकि वे उद्धरण उनके काल पर प्रकाश डालते हैं। इन श्लोकों और वाक्यों का मूल अभी तक नहीं मिल पाया है

स्पर्शवशेन कल्पत्वमुपागमस्य

दूरा मुखस्य तव सुन्दरि साम्यमेव ।

चेन प्रहर्षमरपूरितरूपेह

स्वाङ्गेऽपि प्रसन्नमय न माति चन्द्र ॥

—वाक्यपदीय, ३, वृत्तिसमुद्देश ३७३ में उद्धृत

रोलम्ब शवन (गरल) ब्याल समालस्यामल नभ ।

नमोनिर्मलनिर्दिश यमपाणय वे ॥

—वही, वृत्तिसमुद्देश ३७२

भट्ट हरि और धर्मपाल समकालिक थे। धर्मपाल शीलभद्र के गुरु थे। ह्वेनच्यांग (६२५ ई०) के समय में शीलभद्र इतने अधिक वृद्ध थे कि वह ह्वेनच्यांग को पढ़ा नहीं सकते थे। धर्मपाल की मृत्यु ५७० ई० में हो गई थी। धर्मपाल अपने समय में नालंदा विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य थे।

भट्ट हरि के वाक्यपदीय का अष्टादशान के क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा। छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में जितने महान चिंतक उत्पन्न हुए वे सब किसी न-किसी रूप में भट्ट हरि दशान से परिचित जान पड़ते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में एक छटकने वाली प्रथा प्राचीन काल से ही दिखाई देती है। वह है अपने संप्रदाय अथवा दशान का सर्वथा पोषण और दूसरों के विचारों का खण्डन। जो विचारक जिस दशान से नाता जोड़ लेता था, वह अपनी प्रतिभा का उपयोग उसी के समयन में करता था और अन्य मत उसे नुट्टिपूर्ण दिखाई देते थे। संप्रदायनिरपेक्ष रूप में स्वतंत्र विचारक भारतीय दशान के इतिहास में अल्प हैं। भट्ट हरि के मतों की समीक्षा भी प्रायः साम्प्रदायिक आधार पर की गई है। भट्ट हरि ने वाक्यपदीय में अष्टादशानों के भी विचारों को स्थान दिया था किंतु समीक्षकों ने उन सब विचारों को वाक्यपदीय में लिखे देखकर भट्ट हरि का ही मानकर उनकी समीक्षा की है। इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख आवश्यक है। भट्ट हरि ने वाक्यकाण्ड के आरम्भ में वाक्य के कई लक्षण एक साथ दे रखे हैं। ये लक्षण निश्चित रूप में सगृहीत हैं। भट्ट हरि ने भी स्वयं वाक्य प्रति मतिभिन्ना' कह कर स्पष्ट कर दिया है कि ये वाक्यलक्षण सगृहीत हैं। उन्होंने 'याय दर्शिताम्' शब्द से यह भी संकेत कर दिया है कि इन लक्षणों का सम्बन्ध भीमासा दशान से है। वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने भी इसे भीमासको का वाक्यलक्षण माना है और तदनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है। किंतु कुमारिल भट्ट को ये लक्षण वाक्यपदीय में दिखालाई दिए और सबका उन्होंने खण्डन कर दिया। कुमारिल के श्लोकावार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र और पाथसारथि मिश्र ने भी व्याकरणों के मत के रूप में वाक्यपदीय में दिए वाक्यलक्षण को उद्धृत कर उनका खण्डन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षा करते समय आवश्यक ध्यानवीन नहीं की जाती थी। अवश्य ही दूसरे दशान के आचार्यों द्वारा उल्लिखित वाक्यपदीय सम्बन्धी मत अनेक दृष्टियों से बहुत उपादेय हैं और स्वयं मत हरि के समझने में बहुत सहायक होते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों में धर्मकीर्ति ने भट्ट हरि की भाष्यताओं की समीक्षा की है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने भट्ट हरि का नाम नहीं लिया है किंतु उनकी भाष्यताओं का उल्लेख अवश्य किया है। प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कणकगोमी और प्रजाकर गुप्त ने भी वाक्यपदीय की अनेक कारिकाओं का उद्धृत कर उनकी समीक्षा की है। कणकगोमी की टीका में भट्ट हरि की वृत्ति का एक अंश मिल गया है जो प्रकाशित वृत्ति में सन्निहित

है। शांतरक्षित और कमलशील भी भक्त हरि से प्रभावित हैं। कमलशील ने कई कारि काओ का अर्थ स्पष्ट किया है। किसी बौद्ध आचार्य ने 'शब्दायचिन्ताविवृति' नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा था। ऐसा रत्नश्रीज्ञान रचित काव्यादश की टीका से जान पड़ता है।^{१५}

जन आचार्यों में मल्लवादिशमाश्रमण, वादिदेव सूरि, प्रभाचन्द्र आदि ने वाक्यपदीय के अनेक सिद्धान्तों पर विचार किया है। वादिदेव सूरि के सामन हरिवर्ति भी थी और इसके कुछ अंश वही मिलते हैं।

भट्ट हरि की सबसे अधिक समीक्षा कुमारिल भट्ट ने की है। श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक दोनों में स्थान स्थान पर भट्ट हरि का नाम दिए बिना किन्तु इनकी कारिकाओं के मकन दते हुए कुमारिल ने वण, पद, वाक्य प्रतिभा स्फोट सम्बन्धी वाक्यपदीय में आए मतों की आलोचना की है। भट्ट उम्बेक सुचरित मिश्र और पायसारथि ने वाक्यपदीय का कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं और उनका खण्डन किया है। भीमासकी में मण्डन मिश्र व्याकरणदर्शन के प्रति उदार हृदय रखते थे। उन्होंने कुमारिल के कई तर्कों के उत्तर दिए हैं। किन्तु स्फोटसिद्धि की रचना का मुख्य उद्देश्य मेरी समझ में व्याकरण के सिद्धान्त के समर्थन की अपेक्षा धर्मकीर्ति का खण्डन है। वस्तुतः स्फोटसिद्धि के अधिकांश वाक्यसमूह धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के हैं अल्प मण्डनमित्र के हैं। वाचस्पति मिश्र ने भीमासादशन की दृष्टि से तत्त्व विदु की रचना की है। इसमें भी वाक्यपदीय की आलोचना है।

प्राचीन नैयायिकों में जयन्त भट्ट ने व्याकरणदर्शन की कुछ भाष्यताओं की आलोचना की है। जयन्त भट्ट अच्छे व्याकरण भी थे। उनका हृदय व्याकरणज्ञान की ओर है और मस्तिष्क व्याकरण की ओर।

छठी शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी तक के प्रसिद्ध व्याकरणों में कारिकाकार (जयान्तिय और वामन), व्यासकार, कण्ट और भोज प्रमुख हैं। यद्यपि इन आचार्यों ने व्याकरणदर्शन पर यथेष्ट नहीं लिखे हैं किन्तु इनकी टीकाओं में व्याकरण दर्शन सम्बन्धी प्रचुर सामग्री है। इनमें व्यासकार बड़े ही मौलिक विचारक थे। कण्ट (ई० ६००) ने महाभाष्यप्रदीप में वाक्यपदीय का बहुत आधार लिया है और वाक्यपदीय के अनेक उलझे मतों को मोड़े में स्पष्ट रूप में रखने में वयजगढ़ हैं। महाभाष्य के दार्शनिक सन्नेताओं के स्पष्ट करत चलते हैं। ऐसे अवसर पर उनकी शाली योग्य होती है।

१५ एतच्च विस्तरेण शब्दायचिन्ताविवृतिं चिन्तितम् इति तत्त्वोपभाष्यम्।—रत्नश्रीज्ञान, काव्य सङ्घर्ष टीका—१० १४३। यह विद्वान् प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण पर भी ग्रन्थवादिमी शब्दायचिन्ता ग्रन्थ पर भी, अज्ञात है। प्रमाणवार्तिक के शब्द चिन्ता प्रकरण में उद्धृत वाक्य का सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। उद्धरण में वाक्यपदीय की भी एक कारिका है जिसमें वाक्यपदीय है। उद्धरणरूप उद्धरण में लिया की प्रमाणता निन्द की गई है।

‘भाष्यकारस्तु कुणिदशनम अग्निश्रियत’

‘ज्ञानस्य शब्दरूपत्वापत्तिरिति दशनमत्र भाष्यकारस्य’^{१५}

कयट का प्रदीप एक अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है।

भोज (१७५ ई०) के सरस्वतीकण्ठाभरण में तो नहीं किन्तु शृंगार प्रकाश में व्याकरणदशम सम्बन्धी अपार सामग्री है। भोज ने व्याकरणदशम से सम्बद्ध प्रायः सभी पक्षों पर विचार किया है। और सब जगह से सामग्री एकत्र कर उसे विस्तृत रूप दे दिया है। इस ग्रन्थ में वाक्यप्रदीप की बहुत कारिकाएँ उद्धृत हैं। सबसे अधिक हय की बात तो यह है कि वाक्यप्रदीप द्वितीय काण्ड की लगभग दो सौ कारिकाओं की हरिवर्ति शृंगारप्रकाश में विभिन्न स्थलों पर ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। भोज ने उन्हें ऐसे ढंग से अस्तव्यस्त रूप में रखा है कि प्रथम दृष्टि में उन्हें पहचानना सरल नहीं है। महाभाष्यत्रिपादी (दीपिका) के भी कुछ भाग शृंगारप्रकाश में उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक उद्धरण अज्ञात व्याकरणों के हैं। कहीं कहीं भोज ने भट्टहरि की समीक्षा भी की है। उनके प्रतिभादशन का उही के शब्दों में उल्लेख कर भोज ने उसमें असहमति व्यक्त की है। स्फोट और शब्दब्रह्मवाद का अपने ढंग से उल्लेख किया है।

ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक संस्कृत के व्याकरणों का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इस बीच कुछ ग्रन्थ व्याकरण के शासनिक पक्ष को सामने रखकर लिखे गए थे उनमें भी कुछ ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में भी प्रकाशित ग्रन्थ अल्प हैं। इन प्रकाशित ग्रन्थों के सब लेखक भी मूल रूप से शासनिक विचारधारा के नहीं थे। उन्होंने जैसे व्याकरण के अन्य पक्षों पर विचार किया वैसे ही व्याकरणदशम पर भी कुछ लिखा। किन्तु इस रूप में भी बहुत सी उपादेय सामग्री अभी तक सुरक्षित है। इस अवधि में व्याकरणदशम पर लिखने वालों में पुरुषोत्तमदेव, सायण शेष श्रीकृष्ण और भट्टोजि दीक्षित प्रमुख हैं। पुरुषोत्तमदेव (बारहवीं शताब्दी) ने व्याकरण की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनमें उनका कारक चक्र व्याकरणदशम से सम्बन्ध रखता है। सायण (चौदहवीं शताब्दी) अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने सप्तदशम सग्रह में पाणिनिदशम के नाम से व्याकरण दशम का परिचय दिया है। शेष श्रीकृष्ण अकबर के समय में थे और भट्टोजि दीक्षित के गुरु थे। उन्होंने शब्दाभरण नाम का एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा था जो आज अनुपलब्ध है। इनका ‘स्फोटतत्त्व निरूपण’ प्रकाशित है। इनके प्रक्रियाप्रकाश और पदचन्द्रिका विवरण में भी व्याकरण के शासनिक तत्त्वों की चर्चा है। पदचन्द्रिका उनका स्वतन्त्र व्याकरण है। शेष श्रीकृष्ण के पुत्र शेष नारायण ने महाभाष्य पर सूक्तिरत्नाकर नाम की टीका लिखी है। इसमें भीमासादशन और व्याकरणदशम का कई स्थलों पर तुलनात्मक विवेचन मिलता है। भट्टोजि दीक्षित (१६०० ई०) ने शब्दकोस्तुम में व्याकरण के दशम पक्ष पर भी यथास्थान विचार किया है। इनमें आई हुई कारिकाओं का सग्रह व्याकरणसिद्धांतकारिका के नाम से ज्ञात है। इनमें व्याकरण के शासनिक

पदाथ उल्लिखित हैं ।

सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक अनेक आचार्यों ने संस्कृत व्याकरणदशन की सुरक्षा में योग दिया जिनमें कुछ नयायिक भी हैं । इनमें उल्लेखनीय कौण्डभट्ट, नागेश भट्ट, जगदीश भट्टाचार्य कृष्ण मिश्र भरत मिश्र आदि हैं । कौण्डभट्ट ने व्याकरणभूषण लिखा जो भट्टोजि दोशित की वारिकाञ्ज की व्याख्या है । उसका लघु संस्करण व्याकरणभूषणसार नाम से प्रसिद्ध है । व्याकरण भूषण विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है और पहली बार एक व्याकरण ने भीमासकी, नयायिकों और वेदातिथों के आक्षेपों के उत्तर देने का प्रयत्न किया है । व्याकरणभूषणसार पर प्रकाशित टीकाञ्ज में हरिराम काले की वाशिका महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । हरिवल्लभ ने भी इस पर दण्ड नाम की टीका लिखी है ।

नागेश भट्ट (१७०० ई०) ने व्याकरणदशन पर स्वतंत्र ग्रंथ 'व्याकरण सिद्धांतमञ्जूषा' लिखा है । इसका एक लघु संस्करण परमलघुमञ्जूषा है । मञ्जूषा की कला टीका पृ० ५३० ५३५ पर गुह्यमञ्जूषा का भी उल्लेख है । नागेश ने वाक्यपदाय विशेषकर पुण्यराज और हेलाराज के आधार पर इसकी रचना की है । किंतु भीमासा और पाय के पदार्थों पर भी विचार किया है । यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । नागेश ने स्फोटवाद पर एक अर्थ ग्रंथ भी लिखा है जो अद्वयार से प्रकाशित है । नागेश की मञ्जूषा पर रामसंस्कृत त्रिपाठी व पुत्र कृष्ण मिश्र की कुज्जिका नाम की टीका है । इस पर कला टीका नागेश के शिष्य वक्षनाथ पायगुण्ड की लिखी हुई है । दोनों ही टीकाएँ सारगर्भित हैं ।

जगदीश भट्टाचार्य की 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' भी प्रसिद्ध पुस्तक है । श्री गिरिधर भट्टाचार्य रचित 'विभक्त्ययनिर्णय' और गोकुलनाथ रचित 'पदवाक्यरत्नाकर' उल्लेखनीय हैं । भरत मिश्र ने स्फोटवाद पर छोटी सी किंतु विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है । कृष्णमिश्र ने व्याकरण के अनेक ग्रंथ लिखे हैं । नागेश की मञ्जूषा पर इनकी टीका का उल्लेख हो चुका है । व्याकरणदशन से सम्बन्ध रखने वाले इनके कई छोटे छोटे ग्रंथ भी प्रकाशित हैं । इनमें वादमुधाकर लघुविभक्त्ययनिर्णय और वृत्तिनीपिका उल्लेखनीय हैं । कृष्णमिश्र के पुत्र लक्ष्मीदत्त का पदाथदीपक भी व्याकरणदशन का ग्रंथ है । मोनी श्रीकृष्णभट्ट की स्फोटचन्द्रिका, रसमनदि का वारकसम्बन्धोद्योत अञ्जलोपाध्याय का वाक्यवाद श्री हरियशोमिश्र की वाक्यनीपिका (वाक्यवाद टीका) भी उल्लेखनीय ग्रंथ हैं । बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में व्याकरणदशन पर अल्प काय हुआ है । डॉ० गोपीनाथ जोषी कविराज श्री व एस् ए अम्बर और प० अम्बिकाप्रसाद उपर्युक्त ने व्याकरणदशन पर उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं । प्रभातचन्द्र चन्द्रवर्ती की दो पुस्तकें फिलामफी आफ् संस्कृत ग्रामर और लिग्विस्टिक स्पकुलेशन आफ् द हिन्दू इग अवधि की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं । प० रामानाथ पाण्ड्य का प्रतिभादशन और प० सभाषति उपाध्याय रचित मञ्जूषा की टीका भी उल्लेखनीय हैं ।

इधर व्याकरणदशन की ओर कई विद्वानों का ध्यान गया है और इस विषय में जोधकाय हो रहे हैं । डॉ० व० रायचन्द्र पिल्लै ने वाक्यपदीय का अर्थज्ञान अनुवाद

किया है। प्रो. अय्यर ने भी प्रथम बाण्ड सवृत्ति का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। प. रघुनाथ शास्त्री ने वाक्यपदीय प्रथम बाण्ड पर वषभ के आधार पर संस्कृत में टीका लिखी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से वाक्यपदीय से सम्बद्ध विषय पर कुछ प्रवच अंग्रेजी और हिन्दी में प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें उल्लेखनीय डा० गौरीनाथ शास्त्री का 'फिलासफी ऑफ वड एण्ड मीनिंग' है।

वाक्-ध्वनि-वर्ण-शब्द

व्याकरण का सम्बन्ध भाषा से है और भाषा का मूल रूप वाक है। वाक का एक स्वतन्त्र दर्शन है। वाक के बिना जगत् सूना और जीवन पशु है। ससार के प्रायः सारे व्यवहार वाग् व्यापार पर ही निर्भर है। सम्प्रति और सस्कृति इसकी गोद में फूलती फलती हैं। वाक केवल विचारों के विनिमय का ही माध्यम नहीं, अपितु विश्व में जो कुछ सत्य है शिव है, सुन्दर है उन सब का भी व्यञ्जक है। वाक का एक स्थूल रूप है, एक सूक्ष्म रूप है। स्थूल रूप में वाक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। सूक्ष्म रूप में वाक ब्रह्ममय है, चित्ति तत्त्व है। वाक तत्त्वमेव चित्तित्रियारूपमित्यये (वाक्यपदीय १।१२७ हरिवर्त्ति)। भक्त हरि ने वाक की महिमा का उद्घाटन मुख्य रूप में तीन तरह से किया है श्रुति के आधार पर, आगम के आधार पर और भाषाविज्ञान के आधार पर। वेदों और उपनिषदों में वाक पर पर्याप्त विचार किया गया है। भक्त हरि ने श्रुतियों के उन वाक्यों को उद्धृत किया है जिनमें वाक सृष्टि का मूल तत्त्व मानी गयी है। सम्पूर्ण सृष्टि नाम और रूप इन दो वर्गों में विभाजित है। दोनों एक ही के विवर्त हैं। रूप अपने सूक्ष्म रूप में नाम है

मामवेद रूपत्वेन ध्रुवते रूप चेद नामभावेवतस्थे ।

एके तदेकमविभक्त विभेजु प्राग्विवाये भेदरूप वर्तते ॥

—वाक्यपदीय १।१२ हरिवर्त्ति में उद्धृत

वेद में वाक को सूक्ष्म और अथ सः अविभक्त तत्त्व कहा गया है और इसके नाना रूप माने गये हैं

सूक्ष्माभ्यर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेका वाचमनमित्येवमानाम ।

उताये विदुरयामिव च एता नानारूपामात्मनि सनिविष्टाम ॥

—वाक्यपदीय १।१ हरिवर्त्ति में उद्धृत

वेद को ब्रह्मराशि कहा गया है। वेद ब्रह्म का प्राप्ति उपाय है और अनुकार भी है। प्राप्ति शब्द का प्रयोग यहाँ पारिभाषिक है। भक्त हरि के अनुसार मेरा या मैं इस अहंकार ग्रन्थि का सवया उन्मूलन ब्रह्म की प्राप्ति है। कुछ लोगों के मत में विकारों का अपने मूलप्रकृतिरूप में हो जाना प्राप्ति है। प्राप्ति के निम्नलिखित नव विकल्प भक्त हरि ने वाक्यपदीय १।५ की वृत्ति में गिनाए हैं—

(१) चक्षुरप्य—चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों हाथ पर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों

बुद्धि और मन इन सब की निवृत्ति को वकरण्य कहते हैं। क्योंकि ससार का परिज्ञान इन्द्रियो द्वारा ही होता है, इन्द्रियो की निवृत्ति से ससार की निवृत्ति मान ली गई है।

(२) असाधना—वृषभ के अनुसार असाधना का अर्थ अबहि साधना है। बाह्य ससार में अनुकूल विषयो की साधना भी की जाती है। उससे भी तृप्ति होती है। परन्तु अन्त साधना का ही महत्त्व अधिक है।

(३) परितृप्ति—वह तृप्ति जिसमें कोई इच्छा नहीं रह जाती।

(४) आत्मतत्त्वम्—वह अवस्था जिसमें बाह्य परिस्थिति सवथा ओझल हो जाती है और व्यक्ति केवल आत्मानुभूति में लीन हो गया रहता है। उपनिषदों में इस परिस्थिति को प्रिय स्त्री से आलिंगित पुरुष की आत्मविभोर परिस्थिति के प्रतीक के द्वारा व्यक्त किया है (आत्मतत्त्व यदुपनिषत्सु वर्ण्यते यथेष्टया स्त्रिया परिष्वक्तो न किञ्चन वेद इति—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१—वृषभ वाक्यपदीय टीका १।५)।

(५) आत्मकामत्व—रूप, रस आदि विषय भोगों की कामना न होना और केवल आत्मा की कामना होना आत्मकामत्व है। आत्मतत्त्व और आत्मकामत्व में भेद यह है कि आत्मतत्त्व में आत्मानुभूति ही गहराई छीनित है जबकि आत्मकामत्व में बाह्य विषयों में अनासक्ति लक्षित है।

(६) अनागतुकायत्व—आगन्तुक या परिवर्तनशील भोगों में तितिक्षा का होना। श्रीमद्भगवद्गीता में सस्पृशज भोगों को उत्पन्न होनेवाला (आगामी) माना गया है।

(७) परिपूर्ण शक्तित्व—सब तरह के सामर्थ्य का होना।

(८) कालवर्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश—जन्म विपरिणाम आदि विकार कालवर्तियों के रूप हैं। कालवर्तियों के धर्मों का आत्मवर्तियों के धर्मों से पृथक् परिज्ञान कालवर्तियों का आत्ममात्रा में असमावेश है।

(९) सर्वात्मना नराश्य—सवथा निरीह होना। नराश्य परमसुख माना गया है।

प्राप्ति के उपर्युक्त भेद एक दूसरे से सवथा भिन्न न होकर एक दूसरे में मिले हुए हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वेद के प्रसंग में प्राप्ति शब्द का जो पारिभाषिक अर्थ मीमांसादर्शन में गृहीत है उससे अतिरिक्त अर्थ यहाँ भक्त हरि द्वारा गृहीत हुआ है।

वेद ब्रह्म का अनुकार अर्थात् अनुकरण माना गया है। ऋषियों ने दृष्ट श्रुत और अनुभूत अर्थों का सब साधारण के लाभ के लिए प्रवचन किया है। यह प्रवचन वाक् के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि वाक् सूक्ष्म, नित्य तथा अतीन्द्रिय है फिर भी ध्वनि-नाद के संयोग से वह अभिव्यक्त होकर भेद के द्वारा अभेद के प्रतिपादन में समर्थ होती है। सूक्ष्म और अतीन्द्रिय वाक् प्रतिभा द्वारा जन्मशक्ति के साहचर्य से ज्ञान के रूप में, अर्थ के रूप में परिणत होती है और उपदेश का विषय बनती है। अतीन्द्रिय के बाध को समझाने के लिए भक्त हरि ने स्वप्न वृत्त का उदाहरण दिया है। स्वप्न में बिना बाह्य व्यापारों के विषय अनुभूत होते हैं और उनका अवलोकन किया जाता है।

यां सूक्ष्मा नित्यामतीन्द्रिया वाचमय साक्षात्कृतधर्माणो म प्रवश पश्यति
तामसाक्षात्कृतधर्मोपरेभ्य प्रवेदयिष्यमाणा चित्तम समामनति स्वप्नयत्तमिव
दृष्टभृतानुभूतमाचिरयास त इत्येष पुराकल्प ।

—वाक्यपदीय १।५ हरिवृत्ति पृ० १३ (द्रष्टव्य निरुक्त १।२०।२)

अतीन्द्रिय प्रज्ञास्वरूप वाक कसे ज्ञान का अथवा प्रत्यक्ष का विषय होती है। इस पर भत हरि की तरह योगसूत्र १।४३ के भाष्य में व्यास ने भी प्रकाश डाला है। उनके मत में शब्द के साहचर्य से अतीन्द्रिय और असकीर्ण प्रज्ञा ज्ञान के रूप में बदल जाती है और प्रत्यक्ष का विषय होती है। योगियों को सूक्ष्म प्रज्ञा का दर्शन 'निर्विक समाधि' में होता है। किंतु निर्विक समाधिज दर्शन शब्द सकेत के साहचर्य से परिशुद्ध स्मृति में ग्राह्यस्वरूप वाला हो जाता है। बिना शब्द का सहारा लिए उस निर्विक समाधिज ज्ञान का उपदेश दूसरों को दिया ही नहीं जा सकता और न वह दूसरों से गृहीत हो सकता है। ग्राह्यस्वरूप वाली अवस्था को 'निर्विक समापत्ति' कहते हैं। दृष्ट मन्त्रों का वाणीरूप में व्यक्त होने का प्रकार यही माना जाता है। इसी पद्धति से वेद प्रकाश में आए। इसमें यास्क व्यास और भत हरि एकमत^१ हैं।

वाक की महिमा उसके व्यावहारिक दृष्टि से भी स्पष्ट है। वाक और ज्ञान के विषय में दो तरह के मत प्रचलित रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द प्रकृति है और ज्ञान उसका विकार है। कुछ आचार्य ज्ञान को प्रकृति और शब्द को उसका विकार मानते हैं। पहले पक्ष के अनुसार शब्द भावना बीज रूप में भस्तिष्क में उद्बुद्ध होती है। इसके बाद उसके अर्थ का संवेदन होता है। दूसरे पक्ष के अनुसार अर्थ ज्ञान पहले होता है। बाद में उसके लिए शब्द की सृष्टि होती है। इसलिए ज्ञान प्रकृति और शब्द उसका विकार है। भत हरि पहले पक्ष के समर्थक हैं। उनके मत में शब्द भावना अनादि है। शब्द की अभिव्यक्ति के प्रकार अर्थात् प्रयत्न भी स्वाभाविक (प्रतिभा जय) हैं।

अनादिश्च घातभावना प्रतिपुरुषमवस्थितज्ञानबीजपरिग्रहा । न ह्येतस्या
क्यञ्चित्प्रीत्येयत्व सभवति । तस्या ह्यनुपदेशाध्या प्रतिभाग्या एव
करणविधासादय ।

—वाक्यपदीय १।१२३ हरिवृत्ति पृ० ११०

शब्दानुविद्ध ज्ञान के द्वारा वस्तु का अवभास होता है। सुप्तावस्था में भी जाग्रत अवस्था की तरह ज्ञानवृत्ति व्यापारित रहती है। केवल अंतर यह है कि स्वप्नावस्था में शब्दभावनाबीज अत्यंत सूक्ष्म रूप में रहते हैं। अन उस अवस्था में आचार्यों ने तामसी अवस्था (अस्पष्ट अवस्था) कहा है।^२

सभी प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यावहारिक अनुभव के विषय

१ द्रष्टव्य-वाक्यपदीय १।१५ हरिवृत्ति पृ० १३ १४, निरुक्त १।२० और योगसूत्र यास भाष्य १।४३ और गोपीनाथ जी कविराज का लेख शैव एव शाक्त स्कूल, हिन्दी भाषा कलासपी इस्टन एंड वेस्टन, बाल्फोर प्रेस, पृष्ठ ४०१, ४०२।

२ हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२४, पृष्ठ १११।

होते हैं—(१) स्मृतिनिरूपणा (२) अभिजल्प निरूपणा और (३) आकार निरूपणा के द्वारा ।

शब्दानुविद्ध बुद्धि के द्वारा 'यह है', ऐसा है' आदि का जो स्मरण होता है वह स्मृति निरूपणा कहा जाता है। स्मृति के द्वारा शब्द और अर्थ का अभेद नान अभिजल्प निरूपणा कहलाता है। 'यह वह है' इस रूप में जब शब्द का अर्थ के साथ अध्यास किया जाता है उस शब्द का अभिजल्प कहा जाता है। भर्तृहरि ने अभिजल्प की परिभाषा यों की है

सोऽप्यमिति सम्बन्धाद्रूपमेकी कृत यदा ।

शब्दस्यार्थेन त शब्दमभिजल्प प्रचक्षते ॥

—वाक्यपदीय २।१३०

कुछ लोगो के मत में 'वह' इस तरह के अनुसंधान में स्मृति, 'यह वही है' इस तरह के बोध में प्रत्यभिज्ञा, वह उसके तरह है' इस तरह के ज्ञान में उत्प्रेक्षा, 'यह वही है' इस तरह की धारणा में अनुयोगव्यवच्छेद होता है और ये सभी विकल्प अभिजल्प के ही भेद हैं।^३

यह इसका साधन है 'यह इनका साध्य है' इसे आकारनिरूपणा कहते हैं। स्मृति निरूपणा से ज्ञान का अभिजल्पनिरूपणा से शब्द का और आकारनिरूपणा से अर्थ का निरूपण होता है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।^४

भर्तृहरि के मत में जिस तरह प्रकाशकत्व अग्नि का धर्म है चैतन्य आत्मा का धर्म है उसी तरह नान भी शब्द का धर्म है। बिना शब्द के नान हो ही नहीं सकता। यदि वाक न हो, जगत् प्रकाशित ही न हो। वाक ही प्रकाशक है। वही समस्त विद्याओं, कलाओं तथा विज्ञान का आधारभूत है। सभी विद्यार्थे वाक् रूप से बुद्धि में निबद्ध हैं। वाक न हो तो घट-पट आदि की सत्ता ही न हो। वाक से ही वस्तु का निष्पादन होता है। वह सूक्ष्म रूप में बुद्धि में स्थित है। उसकी बाह्य अभिव्यक्ति ही वस्तु है। वाक तत्त्व और चेतना तत्त्व एक ही बात है। वाक तत्त्वमेव चित्त्रियारूपमित्यये।^५

वपभ के अनुसार वाक और चैतन्य में अभेद इस दृष्टि से है कि परा प्रकृति में भावों के आकार ग्रहण के रूप में विवर्त होता है और वह चैतन्य के रूप में परिणत होता है। (यतश्च भावनामाकारपरिग्रहेण परा प्रकृति विवर्तते, तच्चैतनात्मना परिणमते इति वाक्चैतन्ययोरभेद ।—वाक्यपदीय १।२७ टीका, पृष्ठ ११४)

३ इश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, प्रथम भाग, पृष्ठ ११५

४ प्रथम, वाक्यपदीय टीका १।११६, पृष्ठ १०७ (स्मृतिनिरूपणयेति ज्ञानस्य निरूपणमाह। अभिजल्पनिरूपणयेति शब्दस्याह। आकारनिरूपणयेत्यथस्याह। सब एवैते शब्दानुविद्धाभ्यवहाराह न स्वतन्त्ररूपेणेति।)

५ वाक्यपदीय १।१२५, १२६, १२७।

तीन तरह की वाक्

वखरी

भत हरि ने वाक के तीन अवयव माने हैं। वखरी, मध्यमा और पश्यती। भत - हरि के अनुसार वैखरी सभी तरह के अभिव्यक्त शब्दों का प्रतीक है। यह व्यापाररूप और वाररूप दोनों है। व्यक्तवण और अव्यक्तवण साधुशब्द और असाधु शब्द (अपभ्रंश) गाड़ी के पहिये की चरचराहट, नगाड़े की आवाज वांसुरी की ध्वनि और घोणा की झंकार जैसे अपरिमित ध्वनि समूह का द्योतक शब्द वैखरी है और इसलिये वखरी के अपरिमित भेद सम्भव हैं।^६ चरचराहट, झंकार आदि यद्यपि शब्दभेद के रूप में गहीत होते हैं, वाक के भेद के रूप में नहीं, फिर भी अथवाद के आधार पर वखरी की व्याख्या में इनका स्थान^७ है। वैखरी शब्द का निवचन विलर शब्द से किया जाता है जिसके अनेक तरह से अर्थ किये गये हैं

(१) विलर शरीर तत्र भवा तत्पथ त चेष्टा सपादिकेत्यथ ।

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिनाविवतिविमर्शिनी भाग ३ पृ० १८७

(२) वक्तमि विशिष्टायां खरायस्याया स्पष्टरूपाया भवा वखरी ।

—वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर १।७ पृष्ठ ८६

(३) विलर इति देहेन्द्रिय सघात उच्यते तत्र भवा वखरी ।

—जयतभट्ट व्यापमजरी पृ० ३४३ चोखम्बा संस्करण १९३६

(४) विशिष्ट खमाकाश मुखरूप राति गहणाति इति विलर प्राणवायुसंघार-विनिष्ट वर्णोच्चार तेनाभिव्यक्ता वखरीति ।

—जयरय अलंकारसवस्व टीका पृ० २

वखरी सज्ञा वर्णों के उच्चारण से सम्बद्ध है। वखरी की विशेषता यह है कि यह स्वसवेद्य और परसवेद्य दोनों है। व्याकरण की दृष्टि से वखरी का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी के आधार पर साधु असाधु विचार चलता है। और कुछ आचार्य यहाँ तक मानते हैं कि वैखरी का संस्कार अथ सभी वाक के अवयवों के संस्कार का उपलक्षण है। येय वैखरी वाक तस्या सस्त्रियमाणाया सर्वा एव संस्कृता भवति तज्जातीय क्त्वात्—वपम, वाक्यपदीय १।१४३, पृष्ठ १२८) ।

६ परै सवेद्य यस्या श्रोत्रविषयावेन प्रतिनियत श्रुतिरूप सा वैखरी। श्लिष्टा व्यक्तवणसमुच्चारणा प्रसिद्धमाधुमावा भ्रष्टसंस्कारा च। तथा याऽच्चे, या दुऽदुमी, या वेणौ (या) वीण्याया मित्यपरिमाणभेदा ।

—वाक्यपदीय १।१४३, हरिवृत्ति, पृष्ठ १२६

वैखरी करणव्यापारानुग्रहः। श्रोत्रज्ञानविषया शब्दबुद्धि ।

—महाभाष्यव्याख्या, हस्तलेख, मद्रास, मार ४४३६

७ ननु वाचो भेदकथनमेतत्, न तु शब्दमात्रभेदकथनम्। तत्कथं शक्यं उपात । उच्यते, अथवाददशानादिमुपात्तम्।

—वपम वाक्यपदीय १।१४३

मध्यमा

मध्यमा को भक्त हरि ने 'अतः सन्निवेशिनी' कहा है। उसका व्यापार नीचरी है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के सहारे परिचालित होती है। उसका उपादान केवल बुद्धि है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रम रूप से प्रतिभासित हो जाते हैं। उसमें क्रमसन्निवेश नहीं भी हो सकता है। मध्यमा में बुद्धिगत आकार के अवयवों से क्रम, और एक बुद्धि होने के कारण और शब्द का बुद्धि से अभिन्न होने के कारण अक्रम दोनों रूप माने जाते हैं—(बुद्धि-स्यवान् अतः सन्निवेशित्वन्मादाकारेण प्रत्यवभासात् क्रमवत्त्वमेकबुद्धित्वादव्यतिरेका दक्रमवत्—वक्ष्यम वाक्यपदीय १।१४३, पं० १२६)। मध्यमा में यद्यपि प्राणवृत्ति का संचार माना जाता है फिर भी प्राणवृत्ति का अतिशयन कर शब्द के उपादान के रूप में केवल बुद्धिमात्र भी रह सकती है। दूसरे शब्दों में, चित्तन शब्द से जो कुछ द्योतित होता है उस मध्यमा का रूप लिया जा सकता है। भक्त हरि के अनुसार द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता इन तीनों वृत्तियों में शब्द के उच्च मन्द (गर्जन) उपाशु, परमोपाशु और सहस्रतन्त्र ये पाँच औपाधिक भेद माने जाते हैं।^{१५} इनमें उपाशु और परमोपाशु मध्यमा के प्रतीक हैं। उपाशु मौन भाषण को कहते हैं। इसमें प्राणवृत्ति का संचार रहता है। पर वाक किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा गीत नहीं हो सकती। वह दूसरे द्वारा संवधा अवश्य होती है। प्राणवृत्ति की सहायता के बिना जब शब्द अपने एकमात्र उपादान बुद्धि में ही समाविष्ट रहता है उस अवस्था को परमोपाशु कहते हैं।

तत्र प्राणवृत्त्यनुग्रहे सत्येष यत्र गद्यरूप परस्वच्छ भवति तदुपाशु ।

अतरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहे यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानएव गद्यात्मा ततः परमोपाशु ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १६

मध्यमा के भीतर ये दोनों अवस्थाएँ आ जाती हैं और इनके आधार पर मध्यमा के दो भेद माने जा सकते हैं। वाक के तीन भेद—वैखरी, मध्यमा और पश्यती में मध्यमा मध्य अवस्था को अभिव्यजित करती है और इसलिए उसे मध्यमा कहते हैं।

पश्यती

पश्यती का स्वरूप भक्त हरि ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है प्रतिसहस्र क्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्ट क्रमशक्ति पश्यती । सा चला च अचला च प्रतिलब्धा समाधाना च, आवृत्ता विगुह्या च सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नाप्रत्यवभासा ससृष्टायप्रत्यवभासा प्रज्ञातसर्वायप्रत्यवभासा चत्यपरमित-भेदा ।^१

—वाक्यपदीय १।१४३ हरिवृत्ति पृष्ठ १२६

पश्यती प्रतिसहस्रक्रमा है। प्रतिसहस्रक्रम परमोपाशु के एक डग और परे की

मन हरि न महाभारत के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है। उद्धृत श्लोकों में कुछ श्लोक महाभारत के आश्वमेधपर्व के २१वें अध्याय में पाठभेद के साथ मिलते हैं। भगवद् हरि द्वारा उद्धृत श्लोकों का सारांश निम्नलिखित है —

भारती वाणी (संस्कृत) दिव्य और अदिव्य भेद से दो प्रकार की है। उगम एक प्राण और अवाग के बीच रहती है और दूसरी बिना प्राणवृत्ति के ही रहती है और अप्रमेयमाना भी है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और प्राण में युक्त होकर वह व्यवहार का साधन बनती है। व्यवहारनिवर्धन वाक के भी तीन रूप हैं। घोषिणी, जाननिर्घोषा और अघोषा। घोषिणी और निर्घोषा में निर्घोषा का अधिक महत्त्व है। मन हरि न तीन प्रकार के वाकों लिए भी महाभारत का उद्धरण दिया है। महाभारत के अनुसार बैखरी वाक प्राणवृत्तिनिर्गम्य है अर्थात् प्राणा के आघार पर उसकी भित्ति निर्मित है। मध्यमा वाक का उपादान बुद्धि है और उगम क्रम रहता है। परंतु प्राणवृत्ति नहीं रहती। पश्यती में क्रम का उपगमन हो गया रहता है उसमें किसी प्रकार का विभाग नहीं होना। वह स्वप्रकाशा है और नियत है। वाक के स्थूल भेदों में मपृक्त होने पर भी उसमें वाद्विचार नहीं होता। वह अमृतकला है।^६

यह ध्यान देने की बात है कि मन हरि परा वाक का कहीं उल्लेख नहीं करते। वे वाक के केवल तीन अवयव पश्यती मध्यमा और बैखरी ही स्वीकार करते हैं। मन हरि के इस व्यवहार में कुछ प्राचीन आचार्यों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि व्याकरण शास्त्र में परा वाक का कोई स्थान नहीं है। अभिनवगुप्त ने लिखा—“ननु पश्यत्येव पर तत्त्वमिति जरदव्याकरणा मय ते” अर्थात् प्राचीन व्याकरणों के अनुसार पश्यती ही परमतत्त्व है परा वाक नहीं। इक्ष्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त ने व्याकरणों के साथ साक्षात् किया है और समझाने का प्रयत्न किया है कि व्याकरणों को भी परा वाक की सत्ता माननी चाहिए।^{११} धर्मराज ने भी लिखा—“नन्दब्रह्ममय पश्यतीरूप आत्मतत्त्वमिति व्याकरणा”^{१२} अर्थात् व्याकरणों के मत में पश्यती ही परमतत्त्व है। वाक के तीन प्रकार का उल्लेख सुचरित मिश्र ने भीमासाश्लोकवार्तिक की काशिका नाम्नी टीका में किया है—“त्रेधा हि वाच विभज्यते बैखरी मध्यमा सूत्रमा चेति। यथास्तम्—

नन्दब्रह्मवतेषां हि परिणामि प्रधानवत् ।

बैखरीमध्यमासूत्रमा वागवस्था विभाजत ॥ —काशिका टीका पृष्ठ २४८

मन हरि ने परा वाक का उल्लेख क्या नहीं किया, उसकी सत्ता क्यों नहीं मानी, यह प्रश्न विचारणीय है। उनके नय्या वाच पर पदम् (वाक्यपदीय १।१४६) इस वाक्य से स्पष्ट है कि वे वाक के केवल तीन ही अवयव मानते हैं। परा वाक की खोज भी उनके समय अवश्य रही होगी। उपयुक्त श्लोकों की व्याख्या में

६ वाक्यपदीय १।१४३ हारेवृत्त में उद्धृत।

१० इक्ष्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १६१।

११ द्रष्टव्य वाणी, द्वितीय भाग, पृष्ठ १६५।

१२ प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृष्ठ ४३ अनुसार संस्करण।

प्राचारि वाक् परिमिता पद्मानि' यह कथन उद्धृत किया है। इसमें यह स्पष्ट है कि ये चार भूत सञ्चलित थे। धैर्य, मध्यमा और पश्य ती व वाक् परा वाक् की प्रतीति प्रत्यक्ष चित्त की थी। सभी यही उपयुक्त मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है। मन्त्र तीन भूत मानने में उक्त मन्त्र के प्राचारि 'ग' का सामञ्जस्य नहीं रहता।

इस प्रश्न पर पहलू का कुछ विचार का ध्यान गया था। नागार्जुन ने इस प्रश्न का एक उत्तर निकाला। उनका मन में भक्त हरि के प्रतीति वाक् कहने का कारण यह है कि धैर्य, मध्यमा और पश्यती इन तीनों तक प्रतीति प्रत्यक्ष विभाग का ज्ञान होता है। यद्यपि पश्यती सोरभ्यवहार से सम्बन्धित पर है फिर भी योगिया का उगम भी प्रकृति प्रत्यक्ष का विभाग दृष्टिगोचर होता है। परा वाक् में प्रकृति प्रत्यक्ष प्राप्ति का ज्ञान योगिया को भी नहीं होता। इसलिए भूत हरि ने परा वाक् का उगम नहीं किया और वाक् की केवल तीन अवस्था धारणी माना।

पश्यती तु सोरभ्यवहारातीता योगितां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्यक्ष विभागा
यतिरस्ति, परायां तु नैति प्रम्या इत्युक्तम्

—ज्योति, महाभाष्य पञ्चगान्धर्वक।

परन्तु नागार्जुन की यह उक्ति युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भक्त हरि जब सत्-ब्रह्म और गान्धर्व सञ्चलित का विकास जस गूढ़ विचार सामने रख सकते हैं तो परा वाक् के नाम लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी और परा वाक् की सत्ता चाह जिस किसी रूप में भी मानते हुए वाक् की प्रतीति वाक् कहना असंगत होता। नागार्जुन ने प्रमाण के रूप में 'स्वरूप ज्योतिरेवान्तर परावागनपायिनी' यह वाक्य उद्धृत किया है। परन्तु वाक्यपदीय की हरिवर्ति में 'यायमजरी म और स्पष्टवादरत्नाकर में परावागन पायिनी के स्थान पर सूत्रमावागनपायिनी पाठ मिलता है। वही-वही सूत्रमा के स्थान पर सप्ता पाठ है। अस्तु नागार्जुन की उक्ति से उपयुक्त प्रश्न का समाधान नहीं होता।

हेलाराज का ध्यान इस प्रश्न पर अवश्य गया होगा। क्योंकि एक स्थान पर वे पश्यती की ही परा वाक् के रूप में व्यवहृत करते हैं

सर्विच्च पश्यतांरूपा परावाक् शब्द ब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमार्थिक-
ज्ञान मिच्छते। विवत दत्ताया तु यत्पर्यायमना भेद

—हेलाराज वाक्यपदीय ३ द्रव्य समुद्देश ११।

इससे तो इतना स्पष्ट हो जाता है कि हेलाराज के अनुसार भक्त हरि परा की सत्ता नहीं मानते और पश्यती की ही परम तत्त्व मानते हैं। परन्तु यह प्रश्न अभी बना हुआ है कि परा वाक् की स्वीकार करने में उनके सामने क्या कठिनाई थी।

एक कठिनाई का संकेत उत्पन्न न किया है। उपर्युक्त में यदि चक्राकरण प्रत्यभिज्ञादर्शन में गृहीत पश्यती के स्वरूप की मान लें तो उन्हें ईश्वर की भी सत्ता (उपगम) माननी पड़ेगी।

पश्यती च नैश्वरप्रत्यभिज्ञावत् 'पापेन शब्दनात्मिका परमेश्वरशक्तिरिष्यते
अथदि ईश्वरोपगमप्रसङ्गात् अपितु सूक्ष्मो वाच्याभेदेन स्थित वाचक शब्द
इत्येव शब्दनामासी।

—शिवप्रति २।३५ पृष्ठ ५८।

वैयाकरणभूषण के एक टीकाकार कृष्ण मित्र ने स्फोट को ही परा वाक् माना है, परा वाक् ही शब्दब्रह्म है। 'अत्र परावाक् स्फोट शब्देनोच्यते। सर्व शब्दब्रह्म इत्युच्यते' (कृष्णमित्र, वैयाकरणभूषण टीका, मैयुष्मिन् पृष्ठ १)। परन्तु ऐसा जान पड़ता है परा वाक् को वाक्यपनीय में स्थान न देने का मुख्य कारण भक्त हरि का प्रतिभावाद है। प्रतिभावाद पर आगे विवेचन किया जायगा। यहाँ केवल यह दिखलाना है कि भक्त हरि क मत से वाक् का मूल प्रतिभा है वाग विकाराणा प्रकृति प्रतिनामनुपरति (वाक्यपदीय १।१८ हरिवृत्ति, पृष्ठ २७)।

व प्रतिभा, सत्ता और महासत्ता का एक ही तत्त्व मानते हैं।

तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रमवा भाव विकारप्रकृति सत्ता साध्यसाधनवित्तियुक्ताम् सम्यगवबुद्ध य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।

—वाक्यपदीय १।१३२ हरिवृत्ति, पं० ११८।

शैवागम में विश्व का विकास परा वाक् से व्यक्त किया गया है। भक्त हरि विश्व का विवर्त प्रतिभा से मानते हैं। प्रतिभा से विश्व का विकास मानने पर उन्हें परा वाक् नाम की किसी अथ वस्तु के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। शैवागम में भी परा वाक् और परा सत्ता को एक ही माना गया है

चित्ति प्रत्यवमशक्तिमा परावाक् स्वरसोदिता।

स्वातन्त्र्यमेतमुच्य तदश्वय परमात्मन ॥

सा स्फुरत्ता महासत्ता देवकालाविनेयिणी।

सया सारतया प्रोक्ता हृदय परमष्ठिन ॥

उत्पलभारिका १३ १४।

भक्त हरि ने परमात्म का आध्यात्मिक अर्थ में केवल एक बार प्रयोग किया है और उसे प्रतिभा के अर्थ में किया है। 'भेदानुरागमात्रच परस्मिन् अमेदे शब्दात्मनि सनिवेशयति (वाक्यपदीय १।११८ हरिवृत्ति पं० १०५) टीकाकार वपम ने यहाँ परस्मिन् का अर्थ प्रतिभास्वरूपी शब्दतत्त्व किया है (परस्मिन् इति प्रतिभाएवे गदतत्त्वे—वृषभ पं० १०६)।

निवृत्तिकार उत्पल और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि ने व्याकरणा द्वारा परा वाक् के गृहीत न किए जाने पर जो आश्लेष लगाए हैं उन पर विचार करने के पूर्व कश्मीर शैवागम में गृहीत परा पश्यती आदि का संक्षेप में उल्लेख यहाँ आवश्यक है।

कश्मीर शैवागम में वाक्

शैवागम की दृष्टि में परमेश्वर ही गद राशि है। उसकी गति भिन्न और अभिन्न रूप में विविध है। मातृका के वर्णपट्ट रूद्र के गत्यष्टक हैं और पचास वर्ण रूद्र की पचाम गतिनियाँ हैं। आगमों में प्रकाश गरीर वागे विमर्गात्मा भगवान का स्वयं शान्तात्म्य

माना गया है।^{१३} शवागम म वाक् का एक सूत्र सत्ता या शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। शक्ति (शक्त्यद्वयवाद नहीं) के रूप में मानने का प्रधान कारण यह है कि कश्मीर के ग्रामासवादी वाक् को पाणि आदि की तरह इन्द्रिय रूप नहीं देना चाहते। उनके मत में संपूर्ण ज्ञान और बोध सविनमय है। 'प्रकाश और विमर्श' इन दो तत्त्वों में संपूर्ण विश्व आ जाता है। प्रकाश और विमर्श दो विभिन्न वस्तु नहीं हैं, किंतु एक ही के दो पहलू हैं। विश्व का वाच्य अंश प्रकाश है और वाचक अंश विमर्श है। वाच्य और वाचक में कोई भेद नहीं है।

न च वाच्य पथक जातु वाचकाद ध्वनिष्ठतः ।

—मानिनीत प्रवार्तिक पृ० ४० ।

इसलिए वाक् विमर्श से अभिन्न है, परंतु निर्वचक है और स्व पर प्रकाशक है— इत्येवात्मकविमर्शपदादिभिः

शब्द स्फुटत्वत इह स्वपरप्रकाशः ।^{१४}

चार प्रकार की वाक्

वाक् के चार प्रकार के भेद की खोज अथवा अन्वेषण प्राचीन है। ऋग्वेद का चत्वारि वाक् परिमिता पन्थानि यह सूत्र^{१५} उपयुक्त भेद का आधार मान लिया गया है। परंतु चार से बड़का ऋषि का तात्पर्य क्या था वह आज तक स्पष्ट नहीं हो सका है। ब्राह्मण ग्रंथों में चार प्रकार की वाक् का तात्पर्य मनुष्य की भाषा पशुप्रा की बोली पत्निया के कूजन और क्षुद्र जंतुओं जस मरीच्य आदि की चरित्रा—इन चार रूपों में बतलाया गया है।^{१६} प्राचीन वैयाकरण चार प्रकार की वाक् का अभिप्राय नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के रूप में समझते थे। याज्ञिक ने अपने समय में प्रचलित ग्रंथों का भी उल्लेख किया है।^{१७} बहुत बाद में चार प्रकार के वाक् का विवरण परा पश्यती मध्यमा और वैगरी इन चार रूपों में किया जान लगा। महाभाष्यकार पतञ्जलि (५० पू० द्वितीय अंश) तक यह अर्थ स्वीकृत नहीं हुआ था। मुक्त एका ज्ञान पटना है य चार भेद पटन पहल तत्र ग्रंथा में व्यवहृत हुए। उसका प्रसार बाद के उपनिषद् पर पटा और वैयाकरण मत हरि भी इन भेदों से प्रभावित हुए। परंतु भक्त हरि ने परा वाक् का अर्थ अज्ञान में स्थान नहीं दिया। तब तीन पश्यती मध्यमा और वैगरी—की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जा तत्र ग्रंथा में गुनी व्याख्या से बहुत दूर तक भिन्न है। शवागम के अर्थ जो सभी मत हरि के वाद हुए और प्रायः सभी मत हरि के व्याख्यान अतः संपरिवर्तित है वगैरी आदि की व्याख्या के लिए तत्रा की अथवा वाच्यपत्नीप्रसार के अधिकारणी है। अथवा ही के मत हरि के

१३ शरत्पत्रभिरुक्तिविमर्शानि त्रिंशद् भाग, पृष्ठ १६६ ।

१४ शक्तिवाच्यपदादिभिः पृष्ठ ४१ ।

१५ शरत्पत्रभिरुक्तिविमर्शानि त्रिंशद् भाग, पृष्ठ १६६ ।

१६ शरत्पत्रभिरुक्तिविमर्शानि त्रिंशद् भाग, पृष्ठ १६६ ।

१७ शरत्पत्रभिरुक्तिविमर्शानि त्रिंशद् भाग, पृष्ठ १६६ ।

विपरीत परा वाक की सत्ता मानते हैं और पश्यती आदि का विवेचन आगम की मायतात्रा के अनुसार करते हैं फिर भी वे अपने मन की पुष्टि के लिए वाच्यपत्नीय के अवतरण आदर के साथ उद्धृत करते हैं। अस्तु आगमा म वाक के चार भेद परा, पश्यती, मायमा और वखरी स्वीकृत कर लिए गए और इनकी चर्चा इतनी अधिक हुई कि वाद का सम्पूर्ण सम्स्कृत साहित्य और लोक साहित्य उनके प्रभाव में आ गए। और नय व्याख्यारणा ने भी परा का स्थान दत्त हुए चार भेद मान लिए।

वैखरी

शवागम के अनुसार वाक का वखरी रूप त्रियाशक्ति से परिचालित है। च्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ये तीन शवागम की आधारशिला हैं। त्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व वैखरी करती है। वखरी त्रियाशक्तिरूपा है। जिह्वा व्यापार वागिन्द्रिय का उपलक्षण है और वह विमल स्वभाव वाला है। सभी तरह के व्यापार या क्रियाएँ—विमल रूप के भीतर आ जाती हैं। वैखरी में वे रूप मिलते हैं। एक सघोष और दूसरा अघोष। सघोष से यहाँ तापय अथ द्वारा श्रूयमाण से है जो दूसरी द्वारा स्पष्ट सुन लिया जाता है। अघोष से तापय यथा उपायु से है अर्थात् ऐसा उच्चारण जो स्वतः सुनाई दे परन्तु जो दूसरा को न सुनाई दे सके। सघोष और अघोष दोनों रूप गन्तानुबुद्धि होते हैं। स्वतन्त्र वण के उच्चारण में सुनें जान की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है। पद भी यदि उमम अथ वण हा, अच्छी तरह सुन जा सकते हैं। परन्तु वाक्य में श्रूयमाणानुबुद्धि अस्पष्ट रहती है क्योंकि बुद्धि वर्णों के सकलन और स्मरण की क्रिया में मलग रहती है इसलिए स्फुट श्रवण संभव नहीं। अतएव वैयाकरण भी वाच्यस्फाट का बुद्धिग्राह्य ही मानते हैं।

वखरी मध्यमा का वाह्य प्रसार है। प्रमाणा का स्थान करण अभिहनन रूप जो व्यापार है वखरी पहले उसका रूप धारण करती है पुनः उन व्यापारों से संपादित गदरूप धारण करती है और श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होकर भिन्न रूप से आभासित होती हुई तथा वेद्य अथवा ग्राह्य वस्तु के स्वरूप को छनो हुई सी परिस्पष्ट होती है। वखरी व्यापार रूप और कायरूप दोनों हैं।

अभिनवगुप्त ने सामान्य वखरी और विशेष वखरी के आधार पर वखरी के कई रूप माने हैं

वचन सप्तधा । तद यथा मध्यमारूपतत प्ररोहात्मक सामा यवखर्यात्मक तत्प्ररोहात्मक विशेषगन्दात्मक वखरीस्वभाव आवेगोचित विशेषवखरीरूप तत्प्रबोध विच्छेद च ।

—अभिनवमारती तृतीय भाग, पृ० ३०७

शवागम में गृहीत वखरी का उपयुक्त स्वरूप मत हरि के मत में मल खाता है। वखरी गद का निवचन अभिनवगुप्त ने विपर गद में किया है जिसका अर्थ शरीर है।

वखर शरीर तत्रमया तत्पद्यत्त चेष्टा संपादिकृत्यय ।

—अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिनाविवनिविमर्शिनी भाग २ पृ० १८७

विशेष कर अपने तात्पर्य स्वर ध्वनि व प्रतीक होने व कारण इगला नाम
संपत्ति पड़ा होगा ।

मध्यमा

अतः प्रकरण मन् बुद्धि और महार सक्षणवाला है । मध्यभूमि म पुनः प्रमाणधार म व विग्राम करता है । विमग सतिन जब अन्त करण को प्रेरित करती है तब वह गवित मध्यमा वाक कहलाती है । विमग सतिन स प्रेरित अग करण म विकल्पना नामक व्यापार पैदा होता है, जिगके भीतर सकल्प निश्चय और सनिमा व्यापार गृहीत है । उम समय वह विमगमयी वाक सगप वस्तु (ग्राह्य अथवा वाच्य और सकल्प करते वाल (ग्राह्य अथवा भावक) को स्पष्ट रूप स प्रम स ग्रहण करती है । चैत्र के घट देखने की प्रिया म इस घट को मैं चय देग रहा हूँ इस रूप म ग्राह्य और ग्राह्य दोना का स्पष्ट भाव होता है । चितनप्रधान हान के कारण मध्यमा को चितन शब्द से भी कहते हैं । इसलिए मध्यमा नागवित रूप भी मानी जाती है । नागवित इच्छावित और प्रियावित के बीच की वस्तु है । मध्य म होन के कारण मध्यवित के प्रतीक वाक को भी मध्यमा वाक कहते हैं ।

कश्मीर महात्म्य म मध्यमा ही विकल्प भूमि मानी जाती है । विकल्प के प्राण अभिलाषता हैं, विकल्प म ही वाचक का स्वरूप निहित है जो सत्ता-भाव रूप म होता है । किसी शब्द का सकेत आदि भी विकल्प भूमि म ही होता है । अभिनवगुप्त के मत म जो शब्द सुनाई देता है, वास्तव म वह वाचक नहीं है । उसका पूर्व का मध्यमास्थित जो उसका स्वरूप है वही वाचक है । क्योंकि वाच्य और वाचक म यह वही है ऐसा अध्ययन माना जाता है । स्वतन्त्रता का स्वतन्त्रता-तर म अध्ययन संभव नहीं है । इमनिग शब्द का जो शब्द-रूप और श्रमिक रूप है वह मध्यमावस्था म ही स्फुट हो गया रहता है । श्रोत्रग्राह्य जो शब्द है वह मध्यस्थित शब्द रूप का एक विकसित या पल्लवित रूप है । विकल्प घट से बाह्यघट म कोई भेद नहीं होता । दीना का रूप एक ही माना जाता है । वही घटाभास देना आदि अथ आभासा के सत्यरे स्वतन्त्रता-भाव प्राप्त करता है । यही बात गद के विषय म ठीक है । वही शब्द स्वरूप म पूर्ण आभासित होन पर भी दूसरे आभासा स भेद करने के लिए श्रोत्रग्राह्य शरीर वाला माना जाता है । यही उसका स्वतन्त्रता है ।

अभिनवगुप्त के मत में सिमन्त मध्यमा का सूचक है क्योंकि स्मित एक तरह का भीतरी सज्ज्व है जो मध्यमा का रूप है—

‘स्मित ह्यत सजलपरूपा मध्यमा सुचरति’ —

—अभिनवभारती भाग तृतीय पृ० ३०७

पश्यन्ती

पश्यन्ती म ग्राह्य और ग्राह्यगत क्रम देश और काल दृष्टि से यद्यपि संभव है, परन्तु वह स्फुट नहीं होता। क्योंकि पश्यन्ती का विमल निर्विकल्पक होता है वह अक्रम है और इसलिए उसमें विभाग संभव नहीं है। जिस तरह प्रसेवक (बोरा) अपने भीतर अनराशि को समेट रहता है उसी तरह पश्यन्ती में भी ग्राह्य और ग्राह्यगत क्रम अतः संकुचित रहता है। अतः पश्यन्ती को सहस्रक्रम वाली कहते हैं। उसमें शब्द अतर्हीन में रहते हैं। अतः उसे सूक्ष्म भी कहते हैं। उसमें रस सर जैसे पद और देवदत्ततुरगादि जैसे वाक्य क्रमहीन रूप में पिण्डीभूत से हो गये रहते हैं। एक में मिले रहते हैं। जिस तरह सूत्र अधिक से अधिक भाव को अपने अंदर समेटे रहते हुए भी सूक्ष्म कहा जाता है उसी तरह पश्यन्ती का 'अभिज्ञत्व' भी सूक्ष्म माना जाता है। भगवद् हरि ने भी पश्यन्ती को 'प्रतिसहस्रक्रमा और समाविष्टश्रमशक्ति' कहा है।

पश्यन्ती को इच्छाशक्ति रूप माना गया है। मध्यमा तानशक्तिरूपा है और ध्वरी त्रियाशक्तिरूपा है। इच्छाशक्ति तानशक्ति और त्रियाशक्ति का अनुग्राहक है। वैसे ही पश्यन्ती भी मध्यमा और ध्वरी का अनुग्राहक है। पश्यन्ती को बोध्य और बोधस्वभावा भी माना गया है। उसमें वस्तु का अवलोकन परिपूर्ण रहता है। इच्छाशक्ति का प्रकाश रूप अप्रतिहत होता है। इच्छाशक्तिमयी पश्यन्ती विद्याशक्ति और उसके प्रसारस्वरूप बुद्धि और इन्द्रिय वगैरे को समेटती हुई निर्विकल्पक नाग को उत्पन्न करती है।

कश्मीर शैवागम की दृष्टि में पश्यन्ती में चित्त की भी सत्ता है। इसी लिए वह पश्यन्ती का परा वाक के रूप में नहीं स्वीकार करता।

यतः पश्यत्या प्रमाणोपपन्नं चित्ताभयत्वं ततः पश्यत्या परत्वं शिवदृष्टि-
शास्त्रे निवारितम्।^{१६}

मात्र ही पश्यन्ती देश और काल से उसके मत में, संकुचित है और जमा कि उसके नाम (पश्यन्ती शब्द) से घनित होना है वह दश त्रिया अथवा देखने के व्यापार के कारण सम्भव विषयगमित है। देश और काल से संकुचित वस्तु परिपूर्ण नहीं हो सकती। अतः पश्यन्ती को परा वाक का महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

शिवज्ञान के किसी किसी आगम में पश्यन्ती को अब यह परा वाक कहा गया है। परन्तु सामान्य और उत्पल ऐसे स्थिति में परा का पश्यन्ती में उपचार मानते हैं। श्रीकिरणसहिता में नाद विदु आदि के रूप में पश्यन्ती में परा का उपचरित रूप स्वीकृत है।^{१७}

पश्यन्ती को देश और काल से संकुचित इसलिए मानते हैं कि यदि पश्यन्ती देश और काल में असंकुचित मानी जाएगी तब मध्यमा में जो विकल्प होना है और

१६. ईश्वरप्रयत्तिविमर्शविमर्शनी, द्वितीय भाग, पृ० १६०

२०. शिवदृष्टि ३।१५, और उस पर उत्पन्न का टीका।

के आधार पर नहीं गना है और न उस दग काल से सीमित माना है। अभिनवगुप्त ने यह सुझाव रखा कि यदि पश्मती को दग काल से सङ्कुचित नहीं मानेंगे तो मध्यमा और वैखरी में भी वाक को असङ्कुचित ही मानना पड़ेगा।^{१४} इसलिए पश्मती को दग काल से सङ्कुचित ही मानना चाहिए। परन्तु यही तर्क शवागम की परा' के विरुद्ध भी रखा जा सकता है क्योंकि इस तर्क के अनुसार 'परा' की नियम असङ्कुचित मानि विगपताएँ वैखरी में भी आ जानी चाहिए। अभिनवगुप्त के मत में वाक को कारण रूप में मानने पर वह बर्मेन्द्रियवग की वस्तु होगी इसलिए उसे वस्तु रूप (वक्ति) में स्वीकार करना चाहिए। परन्तु भक्त हरि ने स्वयं शब्द तत्त्व को अनादि निधनब्रह्म क रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अभिनवगुप्त का उपर्युक्त आशेष नि सार है।

भाषा के व्याकरण ने परा वाक को स्वीकार कर लिया परन्तु उन पर कश्मीर शवागम का प्रभाव न पड़कर तत्रय यो का पडा। नागे' ने परा, पश्मती आदि का विवचन तत्र यथा के आधार पर किया है जो प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय के मत'या से भिन्न नहीं था।

भाषा

संस्कृत

संस्कृत का प्राचीन नाम भाषा था। बोलचाल की भाषा होने से इसे भाषा कहते थे। भाष्यत इति भाषा। बाद के व्याकरण विनम पाणिनि मुग्ध है ब्रह्म संस्कृत से अथवा ठा'स भाषा से लौकिक संस्कृत को अलग करने के लिए इस' लिए भाषा शब्द का व्यवहार करते थे। जब बोलचाल में अपभ्रंश भाषाएँ अपभ्रंश करने लगीं तो उनसे पाणिनि की 'भाषा' को अलग करने के लिए संस्कृत शब्द का प्रचलन हुआ। अपभ्रंश शब्दों की प्रकृति प्रत्यय के भ्रमेला में डालने की आवश्यकता प्रारंभ में नहीं थी। एक तरह से वे असंस्कृत थे। जिन शब्दों की प्रकृति प्रत्यय के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता था वे ही संस्कृत शब्द थे। और ऐसे शब्दों से गठित भाषा संस्कृत भाषा थी। संस्कृत शब्दों में स्वरों का व्यवहार किया हुआ के अथवा व्यक्त करता है। यास्व ने संस्कार शब्द का उल्लेख किया है और भाष्यकार ने भी पदों के संस्कार का उल्लेख किया है। (संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्तम्यन् महाभाष्य १।१।१) संस्कृत का अर्थ शुद्ध की हुई भाषा नहीं है जैसा कि बहुत-से लोग समझते हैं। यह उन शब्दों की व्यक्त करनी है जो प्रकृति प्रत्यय के द्वारा बनाए जा सकते हैं जिनकी सिद्धि की जाती है। भक्त हरि ने स्वयं संस्कार शब्द का प्रयोग किया है (शब्द ब्रह्मणो हि स्वरूपसंस्कार साधुत्वप्रतिपत्त्यय वाक्यपथीय हरिवृत्ति १।१।१) यथार्थ ने संस्कार का भाव स्पष्ट करत हुए कहा है कि किसी विगप या उत्पन्न का आधार यहा संस्कार से तात्पर्य नहीं है अपितु प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाग से है। न विगप्योत्पत्तिरसं संस्कार, अपितु प्रकृति

प्रत्ययादिविभागावाह्यानम् (ईश्वरप्रत्यभिनाविवतिविमर्शिनी द्वितीय भाग, पृष्ठ १६३) कालिदास ने सस्कृत के लिए सस्कारवत्येव गिरा, (कुमारसम्भव १।२८) शब्द का प्रयोग किया है। इस पर मल्लिनाथ ने लिखा है—सस्कारो घ्याकरणजया गुद्धि। सस्कारपूतेन पर वरेण्य (कुमारसम्भव १।६०)। इसमें भी सस्कारपूत शब्द का उपयुक्त ही भाव है। सस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में व्यवहार वारमीकि रामायण में हुआ है। साथ ही सस्कृत से इतर भाषा का भी संकेत है। पलजलि के समय में प्राकृत बालचाल में आ गई थी।^{२४} मत हरि के समय तक सस्कृत लोक जीवन से दूर जा पड़ी थी और इसलिए 'दवी वाक्' मान ली गई थी। (वाक्यपदीय १।१५५)।

अपभ्रंश

सस्कृत के व्याकरण अपभ्रंश शब्द से उन शब्द समुदायों की द्योतित करते हैं जिनके मूल (प्रकृति) सस्कृत शब्द रहे हैं। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ उनका मत में सस्कृत से विनसित हुई हैं। अपभ्रंश के निषय में वाक्यपदीय में कई उल्लेखनीय बातें दी गई हैं और अनेक तरह की विचारधाराओं का संकेत किया गया है।

मत हरि के मत में सम्स्कारहीन शब्द को अपभ्रंश कहते हैं। मत हरि ने सप्रहकार के एक वाक्य का उल्लेख किया है जिसमें सस्कृत को अपभ्रंश की प्रकृति माना गया है। शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति सप्रहकार (वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१८८)। उनका मत में ऐसे अपभ्रंश की जिसका मूल सस्कृत न हो स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (नाप्रकृतिरपभ्रंश स्वतन्त्र कश्चिद विद्यते। सवस्यव साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृति।—वाक्यपदीय १।१४८ टीका)।

अपभ्रंश शब्द के बारे में चार भूल्यवान विचार मत हरि ने व्यक्त किए हैं—

(१) गुद्ध सस्कृत शब्द के उच्चारण के असापेक्ष से या प्रमाद से उनका अगुद्ध उच्चारण चल पड़ता है और वह कालान्तर में शब्द मान लिया जाता है। गोशब्द से गावी शब्द उच्चारण की अशक्ति या प्रमाद से चल पड़ा।

(२) बहुत से अपभ्रंश शब्द प्रतीक पद्धति पर और अनुकरण के आधार पर प्रचलित हो गए। जैसे सस्कृत में गोणी शब्द आवपन (एक विशेष प्रकार की थली) के अर्थ में व्यवहृत होता था। गों के लिए गोणी शब्द का व्यवहार संभवतः इसलिए होने लगा कि उसका अर्थ गाणी के आकार में साम्य रखते थे या गाणी की तरह अधिष्ठान धारण करने में समर्थ थे (गोणी वेद्य गौ गौणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनत्वसामान्यादभिधीयते।—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१४९)।

(३) कुछ अपभ्रंश शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता थी। अतः उनकी प्रकृति का कोई

२५ महाभाष्य १।३।२ महाभाष्यकार के समय में दृषि के लिए लाक में 'किसि' शब्द और दृश्य के अर्थ में 'दिसि' शब्द प्रचलित थे। लोके हि कृष्यर्थे किसि प्रयुज्यते दृश्यर्थे च दिसिम् महाभाष्य १।३।२। महाभाष्य में देव दिव्य (देवत्व के लिये), आणवयति, वग्नि और वग्निनिये प्राप्त शब्द मिलते हैं। 'स्वपादिपु' (१।१।६१) वार्तिक अपभ्रंश मुनि शब्द को सामने रखकर लिखा गया था। सपनि—सोवड़।

पता नही था। इन्हें ही पीछे के व्याकरण देशी गुरु द्वारा यक करने लग (प्रसिद्धेस्तु रुढितामापद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव कचिदपभ्रंशं प्रयुज्यते—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१४८)।

अनभट्ट ने इस पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि सस्कृत के साथ साथ अथ भाषाओं की भी मटि हुई होगी। यवन तथा म यवन भाषा ही पहले बनी होगी। यवनों के यहाँ भी पहले सस्कृत भाषा थी बाद में अपभ्रंश का प्रयोग प्रारम्भ हुआ—यस उत्पत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

न हि तदानीं सस्कृतमेव सप्त न भाषा तरमित्यत्र मानमस्ति। तत्तद्यवनाः सिध्दो तदीयभाषाया अपि तदानीमेव सप्तत्वात्। न हि तेषामपि प्रथम सस्कृतेनैव व्यवहार पश्चादपभ्रंशरूपभाषाप्रवृत्तिरिति कल्पनाया मानमस्ति।

—अनभट्ट महामाण्यप्रौढोद्योतन प्रथम भाग पृष्ठ ४७

(८) सस्कृत गीता के विकृत या विकृतिरूप या अथ अपभ्रंश गीता भी मूल सस्कृत गीता की अपेक्षा कुछ विगिष्ट अथ रघत थे (तमपभ्रंशमिच्छति विगिष्टाथ निवर्गिनम्—वाक्यपदीय १।१८८)। इसके अनुसार गीता शब्द के लिए गीतक म जितने गायी गायी, गीता गायोतलिका आदि शब्द प्रचलित थे वे बवल गी अथ की नहीं यक्त करत थे अपितु विशेष प्रकार मा जाति के गी अथ की प्रारंभ करत थे। इनमें से प्रत्येक के अर्थ में कुछ विशेषता थी। भाषा विज्ञान के अनुसार गोपोतलिका का गी गीत का अपभ्रंश नहीं माना जा सकता। अवश्य ही लोका म गोपोतलिका गीता गाय के किसी विगिष्ट नस्ल के लिए प्रयुक्त होता होगा। पर गीता समुदाय में वह प्रचलित नहीं था। इसलिए पतञ्जलि ने लोक म प्रचलित मानत हुए उन गीतों को अपभ्रंश गीता माना।

अतः हरि ने अपभ्रंश के विषय में उक्त प्रवाण का भी उल्लेख किया है जो आज भी किसी न किसी रूप में सजीव है। अतः हरि के समय में अपभ्रंश का व्यवहार इतना बढ़ गया था कि उन्हीं की प्रवानता हो गई थी। (तरेव प्रसिद्धतरो व्यवहार) और जहाँ कहा गुरु (साधु) गीता के प्रयोग में सशय होता था उसका निणय उसके अपभ्रंश के आधार पर किया जाता था। (मति च साधुप्रयोगात्संगये यस्तस्यापभ्रंशस्तेन सप्रति निणय विधेते।—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१५४) अतः एक ऐसा वग गढ़ा हो गया था जो अपभ्रंश की ही सस्कृत का मूल (प्रवृत्ति) मानता था और सस्कृत का अपभ्रंश की विकृति मानता था। उनका मत में प्राकृत गीता का अर्थ था साधु गीता का समुदाय जो प्रवृत्ति से उत्पन्न है। विचार वाक्य में पता हुआ और स्वर सकार आदि विकृत भाषा में ही किए जात हैं। प्राकृत (मूल) भाषा में नहीं।

अनित्ययादिनस्तु ये साधना धर्महेतुत्व न प्रतिपद्यन्ते मन्त्रमयादिसङ्गो साधुधर्मस्याभ्यस्यन्ते ते प्रवृत्तो नभः प्राकृत साधुना गन्धाना समदमाचक्षते। विकारस्तु पश्चादभ्यवस्थापित यः सभिः ननुद्विभिः पुरुष स्वस्वस्वारा—क्षिभिर्निर्णयत इति।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१५५।

कुछ लोगो के मन में मसृजित भाषा कभी भी अपभ्रंश (अपभ्रंश शब्द) नहीं थी। सस्कृत और अपभ्रंश का सदा से साथ-साथ व्यवहार होता आया है। दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। व्यवहार में एक शब्द का साधु और दूसरे का अपभ्रंश उसी रूप में कहते थे जैसे एक स्त्री को गम्भीरा और किसी दूसरी को अगम्भीरा मानते थे। यद्यपि दोनों की विशेषताएँ स्त्रीरूप में मग्न में एक ही रही हैं। और दोनों का गम्भीर और अगम्भीर केवल परम्परा से परिचालित है न कि स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक है (येवामपि च नव पुराकल्पो न च द्रव्य वागसकीर्णा कदाचिदासीत्तेवामपि गम्भीरागम्भीरादिव्यवस्थावदिय साधवसाधुधवस्या नित्यमविच्छेदेन शिष्टे स्मर्यते— वाक्यपदीय हरिवर्त्ति १।१५६)।

अपभ्रंश की अथवाधवता शक्ति के बारे में भी वाक्यपदीय में मुख्यरूप में तीन तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं।

(१) अपभ्रंश शब्द साक्षात् वाचक नहीं है। उनके मुनन पर श्रुता को शुद्ध शब्द का स्मरण होना है और तब अथ वाध होता है। अतः अपभ्रंश शब्द साधु शब्द के व्यवधान से अथ प्रत्यायक होता है।

(२) अपभ्रंश शब्द प्रसिद्धिवात् रूढ़ होकर बिना साधु शब्दों की याद दिलाये ही अथ बोधन होता है।

(३) जिस रूप में साधु शब्द साक्षात् अथ बोधक होता है उसी रूप में अपभ्रंश शब्द भी साक्षात् अथबोधक होता है। वाचकत्व की दृष्टि से साधु शब्द और अपभ्रंश शब्द में कुछ भी अंतर नहीं है।

सिद्धांत रूप में तृतीय मत ही वैधान्तरणों का मान्य है। भाष्यकार ने भी माना है कि शब्द और अपभ्रंश दोनों से समान रूप से अथ का वाध होता है। केवल अंतर यह है कि साधु शब्द का प्रयोग अभ्युत्पन्न करने वाला है जब कि अपभ्रंश अथवा अपभ्रंश का प्रयोग प्रत्यवायकारक है।

समानायासार्थावगतौ शब्दनचापगतेन च धमनिग्रमं त्रियते—महाभाष्य पम्पगातिव।

भक्त हरि ने कहा है —वाचकत्वाविशेषो वा नियम पुण्यपापयो —वाक्यपदीय ३ सव धसमुद्देश ३०।

भक्त हरि ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि साधुता असाधुता का सम्बन्ध शब्दों की आकृति अथवा रूप में नहीं है। एक ही शब्द अथभेद से साधु भी हो सकता है और असाधु भी। जैसे गाणी शब्द आवपन के अर्थ में तो साधु है और गाय के अर्थ में असाधु माना जाता है (वाक्यपदीय १।१४६)

हरदत्त ने पदमजरी (प्रथम भाग पृष्ठ ८) में और भण्डाजि दीक्षित ने शब्दकोश में साधुता के चार रूप दिए हैं

अनपभ्रष्टतानादियद्वाभ्युदययोग्यता।

व्याक्रिया व्यञ्जनीया वा जाति कपीह साधुता।—शब्दकोश ५० २०
शक्ति वक्त्र के कारण किसी शब्द का अथवा उच्चारण अपभ्रंश या अपभ्रष्टता है।

उमसे रहित अनपभ्रष्टता है। वही साधुता है। महाभाष्य म अपभ्रंशं क लिङ्ग ते मुराहेलयो हलय इति कुवन्त पराबभूवु — इस ब्राह्मण-वाक्य का उद्धरण है। हेलय हेलय म क्या अपभ्रंशता है इसमें टीकाकारों में विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि प्लुत और प्रकृतिभाव इस वाक्य में होना चाहिए। (हे ३ अलय ह ३ अनय) पर उही हुआ है। जो लाग प्लुत को वभाषिक मानते हैं उनके मत में यही अपभ्रंशता पद का द्वित्व करने की अपेक्षा वाक्य का द्वित्व कर देना है। कुछ लोग हेरय (हे अरय) में २ व स्थान में ल श्रुति होना ही अपभ्रंशता मानते हैं। जनपथ ब्राह्मण १२।१।२ २४ में 'हेलवो हे लव ऐसा पाठ है। इधर हाल ही में डाक्टर वामुदेवगण अपभ्रंश न हलय शब्द पर नवीन प्रकाश डाला है। उनके मत में इन्तु ववीनानियना का एक प्रतिष्ठित देवता था। ववीलोन शब्द ववा और इल्लु स बना है जिसका अर्थ स्वर्ग द्वार था। इल्लु शब्द सभी समेटिक भाषाओं में है। हिन्दू में एल और कनाइट में इन्तु फोनीसी में एल केडियन में इल्लु और अरबी में इलाह है और सब में इसका अर्थ ईश्वर है। ववीलोन वाल युद्ध में अपने देवता को पुकारते हुए इसी शब्द का उच्चारण करते होंगे जिस पत्तजलि आदि ने हलय के रूप में ग्रहण किया है। हेलय हे अरय का अपभ्रंश नहीं है। (द जरनल आफ द यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी वाल्यूम २३ पाठ १।२, १६५०)।

अपभ्रंश को साधु शब्द के समानार्थक माना गया है। (अपभ्रंशोद्भवाक प्रयुज्यते साधु शब्दसमानार्थक — कथं मन्त्रभाष्य ३।१।८) किन्तु व्याकरण अपभ्रंश का अर्थ वाक्यान्त नहीं करते और न उसे साधु शब्द के पर्याय ही मानते हैं। नागेश के मत में व्याकरण की दृष्टि से शब्द का जरा सा भ्रंश अनपभ्रंशता है (अपभ्रंशत्वव्याकरणानुगत — शब्दस्थेयं भ्रंश एव प्रसिद्धम्) — नागेश पस्पशाह्निक पृष्ठ २३ गुरुप्रसाद) अथवा अनादिता साधुता है। जिस शब्द के आदि का पता नहीं है जो अनन्तकाल से जिस रूप में आ रहा है वही उसका साधुरूप है। जो गन्त पोस्पेय सकेत का रूप रखते हैं वे अनादिता साधुता के रूप में गृहीत नहीं हो सकते।

अथवा अभ्युदय योग्यता साधुता है। जिन शब्दों के उच्चारण में अभ्युदय होता है वही साधु शब्द हैं।

अथवा साधुता एक तरह की जाति विशेष है। जिस तरह रत्नों को बार बार पहचानने से उनकी शुद्धता पहचानने की योग्यता आ जाती है उसी तरह भाषा के बार बार परिशीलन से विद्वानों को साधु भाषा की पहचान हो जाती है। साधुता एक तरह से जाति विशेष है।

यह चारों प्रकार की साधुता निर्दोष मानी जाती है और व्याकरणगम्य है। इसी तरह अपभ्रंशता भी चार प्रकार की है। अपभ्रंशता सादिता प्रत्ययामयता और तदवच्छेदक जातिविशेष।

टि घृ आदि सत्ता भाषा न तो साधु मान जाते हैं और न अपभ्रंश। किसी किसी के मत में अनपभ्रंशरूपसाधुता उनमें भी है। भव्य भाषा सौत्र निर्देश और कृत्वा कम्मान भवति आदि भाष्य के वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

सज्ञा शब्द

वाक्यपदीय में सज्ञा शब्द के विषय में कई तरह के विचार हैं। लोक में देवदत्त आदि सज्ञा शब्द प्रचलित हैं। देखा जाता है कि केवल दत्त कहने से देवदत्त का, कवन मामा कहने से सत्यमामा का बोध हो जाता है—ऐसा कस हुआ है? क्योंकि सज्ञा के एक देश का जैसे देवदत्त में देव का लोप किसी शास्त्र में विहित नहीं है और केवल दत्त सज्ञा भी नहीं की गई है। पुनः दत्त आदि सज्ञा किसी दूसरे की भी हो सकती है। अतः दत्त शब्द देवदत्त का बोधक कैसे होना है? यह प्रश्न कद रूप में सुनझाया जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शब्द-स्वरूपों का अपने सभी अवयवों के साथ सभी प्रकार के सन्धियों के साथ समकाल संबन्ध होता है। जिस तरह समुदाय अर्थात् पूरा शब्द सन्धियों का बोधक है उसी तरह उसका अवयव भी सन्धियों का बोधक है। अतः शब्द का एक देश भी सम्पूर्ण का अर्थ प्रत्यायक है और इसलिए दत्त शब्द भी देवदत्त का वाचक है। (वाक्यपदीय २।३५६) इस पक्ष में दा दाप माने जाते हैं। यदि एक देश (अवयव) को भी प्रत्यायक माना जाएगा तो वर्णों का अर्थ जान मानना पड़ेगा। देवदत्त शब्द का एक वर्ण भी देवदत्त अर्थ को कहने लगगा। फिर समुदाय से अलग हाकर उसमें वाचकता भी नहीं आ सकेगी। अतः एक देश से अवयव एक देश के तुल्य में सज्ञा का प्रत्यायन सम्भव नहीं है।

इसलिए दूसरे आचार्य मानते हैं कि देवदत्त, देवदत्त शब्द बार बार सुनते रहने पर कभी केवल एकदेश दत्त आदि के भी सुनने पर पूरे शब्द (देवदत्त) की स्मृति आ जाती है। अतः सज्ञा शब्द का एकदेश, स्मृति के सहारे समुदाय का अर्थ का अभिव्यक्ति करते हैं। इस पक्ष में यह दोष माना जाता है कि सघात के अवयवों में बँट जाने पर अवयवों से स्मृति सम्भव नहीं है क्योंकि स्मृति सदृशदृश्य से होती है। सघात या समुदाय से ही सादृश्य सम्भव है, छिन भिन्न सघात से सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह कि स्मृति प्रतीयमान वस्तु (देवदत्त) का अभिधायक नहीं हो सकती। जो कर्णोद्भूत गोचर होता है वही अभिधायक होता है जो प्रतीयमान है वह नहीं।

अतः तीसरा मत, जो सिद्धान्त के रूप में माना जाता है यह है कि सज्ञा शब्द के जो अवयव हैं वे एकदेश के तुल्य (एकदेशस्वरूप) हैं। वे अनुनिष्पादी (नातरीयक) हैं। और समुदाय के सभी लिंग (गुणों) से युक्त हैं। इसलिए देवदत्त शब्द जिस सज्ञा को बतलाता है, दत्त शब्द या देव शब्द भी उसी सज्ञा को बतला सकता है। यह ठीक है कि देव शब्द देवता अर्थ को भी कहता है और किसी (देवदत्त) से अर्थ व्यक्ति का भी वाचक हो सकता है इसी तरह दत्त शब्द क्रिया शब्द भी हो सकता है, सज्ञा शब्द भी हो सकता है फिर भी शब्द सामर्थ्य से ये नियत अर्थ वाले मान लिए जाते हैं। अतएव शास्त्र में लोप आदि काय उनके किये जाते हैं। देवदत्त शब्द से स्वतंत्र देव (देवता बोधक) और दत्त (क्रियायक) अनुनिष्पादी नहीं होने के कारण देवदत्त शब्द के अवयव के रूप में गृहीत नहीं हो सकते। ~~क्योंकि~~ के लिए

तरह साम्प्रतीय वृद्धि आदि सज्ञायें भी सभी तरह के अर्थ प्रकाशन में समर्थ हैं परन्तु दूसरी सज्ञाओं से भेद दिखाने के लिए और व्यवहार में भुविधा के लिए नियम कर दिया जाता है कि आदव की ही वृद्धि सना मानी जाए। जिस तरह से विज्ञेयण विज्ञेय में नील उपल में नीलादि योग कोई पुरुष नहीं करता स्वाभाविक है उसी तरह वृद्धि आदि सनागत्या का भी सबंध स्वाभाविक है कृत्रिम नहीं।

व्यवहाराय नियम सज्ञाना सज्जिनि ववचित् ।

निस्थ एव तु सम्ब धो डित्यादिषु गवाक्षित ॥

वद्व यादीना तु नास्त्रेस्मि द्यवत्यवच्छेद लक्षण ।

अकृत्रिमोऽभिसम्ब धो विज्ञेयणविज्ञेयवत् ॥

—वाक्यपदीय २।३६६, ३७० ।

सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का विचार

सज्ञाशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त के विषय में भाष्यकार ने यह माना है कि प्राथमिक कल्प के सज्ञी के गुण और त्रिया सज्ञा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त होगा। (कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्यो डाम्मिट्टश्चेति । तेन कृता त्रिया गुण वा य कश्चित् करोति स उच्यते डित्यत्व त एतडडाम्मिट्टत्व त एतत्—महाभाष्य ५।१।११६) प्राथमकल्पिक में वृत्ति कैसे होगी इस पर भाष्यकार ने विज्ञेय प्रकाश नहीं डाला है केवल यह कहा है कि जिस उसका (सना शब्द का) प्रयोग होता है वैसी किसी तरह उसमें वृत्ति भी हो जाएगी (यथैव तस्य कायवित्क प्रयोग एव वृत्तिरपि भविष्यति। —महाभाष्य ५।१।११६)

भग्नहरि के अनुसार सनागत्या के प्रवृत्ति निमित्त उनके स्वरूप है। सभी सना शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त उनके स्वरूप ही होते हैं। वही तो उसमें अर्थ का सा निश्चय भी निमित्त रूप में रहता है और कभी-कभी अर्थशून्य भी स्वरूप निमित्त होता है। एकाक्षर सना ही या बनी सना हा इस विषय में उनमें भेद नहीं है। शास्त्र में महुँतों सना करने के कारण यह अनुमान होता है कि उनके शास्त्रस्वरूप ही प्रवृत्ति निमित्त है और उनके अवयवों का प्रत्यायक है। अनुमान का रूप तीन रूप में देखा जाता है। आवृत्ति के रूप में, शास्त्रों के रूप में और शक्तिभेद के रूप में। एक ही सज्ञा शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है। एक के द्वारा स्वरूप निरूपित सनी का जान होना है और दूसरे के द्वारा अवयवाधनिबन्धन जान होता है। शास्त्रों के कारण आवृत्ति का अनुमान होता है। अथवा दो बार शब्द का उच्चारण हुआ है इसी का अनुमान करते हैं। उनमें एक से स्वरूप से आच्छादित सनी का जान होना है। दूसरे से अवयवाधनिबन्धन प्रतिपत्ति होती है। अथवा वही एक शब्द दो शक्तियों में उच्चरित हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं। इनमें एक से सनी की प्रतिपत्ति और दूसरे से अवयवाध की समिति होती है।

कयट ने प्रवृत्तिनिमित्त के प्रश्न को दो तरह से सुलभाया है। उनके मत में शब्द के स्वरूप में अर्थ का अध्यास कर यह डित्य है ऐसा सना सनि सम्बन्ध करते

है। शब्द स्वरूप के आगम से जित्य शब्द का जिन तरह छिपे अथ म व्यवहार होता है उसी तरह शब्दस्वरूप अथ म भावप्रत्यय होता है। कुछ लोग मानते हैं कि छिपे अर्थ सची म भी जाति रहनी है। उत्पत्ति स तत्पर अत तब कुमार योजन आदि अवस्थाभेद म भिन्न द्रव्य म सम्बन्ध सम्प्र ध से रहने वाली जानि छिपे म है ही जिसके कारण वाचक छिपे का युवा अवस्था म देगन पर यह वही छिपे है एमी प्रतीति हाती है। वही जानि सत्तागण की प्रवृत्तिनिमित्त है उमी म प्रत्यय होता है। यहच्छा शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गण स्वरूप भी माना जाता है (कपट महाभाष्य ५।१।११६)।

बुत्व अर्थ के विषय म कपट ने लिखा है कि गण और अथ म अथ मान कर सची के सत्तास्वरूप म प्रत्यय का अध्यास होता है। निमी किमी के मन म सत्तासत्ति सम्बन्ध म प्रत्यय होता है (कुत्वमित्यालो सत्ता स्वरूप सत्तिध्वयस्त प्रत्यय अथेतु सत्तासत्तिसम्बन्ध इत्याहु —कपट महाभाष्य ५।१।११६) नानात्न सत्त्व योगपद्यत्व जस शब्द म उनका अथ प्रवृत्तिनिमित्त होता है और उसी म प्रत्यय होता है (नागेश ५।१।११६)।

सत्ता शब्द के चार प्रकार

व्याकरण शास्त्र म सत्ता गण चार रूप म गहीत हाते हैं—(१) वृत्रिम रूप म (२) अकृत्रिम रूप म (३) वृत्रिम और अकृत्रिम उभयरूप म और (४) अकृत्रिम का वृत्रिम रूप म।

शास्त्रीय परिभाषा जित सत्ताशब्दों की दी गई है व वृत्रिम हैं और वृत्रिमरूप म शास्त्र म व्यवहृत है। जस कम्पण ३।२।१ मे कम पारिभाषिक है परन्तु कतरि कम व्यतिहारे १।३।१६ मे अकृत्रिम का ग्रहण है। व्यतिहार की यहाँ वृत्रिम सत्ता उपयुक्त नहीं है। अत कम भी लौकिक कम है पारिभाषिक नहीं। कतु वरणयोस्ततीया २।२।१८ म वरण शब्द वृत्रिम सत्ता है जबकि गणवरकलताअवर्णमेषम्य करण ३।१।१७ मे करण शब्द अकृत्रिम है। सत्य विषयक सूत्रो म लौकिक और शास्त्रीय अकृत्रिम और वृत्रिम दोनों तरह के सत्ता शब्दों का निर्वाह हो जाता है उसे बहुगण बहुवृत्ति सख्या १।१।२३ म सरथा शब्द वृत्रिम और अकृत्रिम दोनों रूप से समानरूप म गहीत है। कभी कभी लौकिक अकृत्रिम सत्ताशब्द शास्त्रीय वृत्रिम सत्तागण का प्रत्यायक होता है जैसे एकश्रुतिदूरात सम्बुद्धो १।२।३३ म सम्बुद्धि पद लौकिक अकृत्रिम होता हुआ भी कृत्रिम शास्त्रीय वृत्रिम सम्बुद्धि पद का भी प्रत्यायक होता है (वाक्य पत्नीय २।२५६ २७७)।

सत्ता-सत्ती शक्ति के अवच्छेदक

जिस तरह एक ही वस्तु निमित्त भेद से भिन्न भिन्न हो जाती है उसी तरह सत्तामनिसम्बन्ध भी निमित्त भेद से भिन्न भिन्न भासित होता है। लोक म बुद्धि प्रकल्पित भेद को मान कर सत्ता की अगूठी (सुवर्णस्य अगुलीयकम्) कहते हैं भेदनिबन्धन पण्ठी

विभक्ति का प्रयोग करते हैं। इकोपणचि ६।१।७७ म भी इकारादि चार की इक् सना है। यकारादि चार की यण सना है। यहाँ भी सनी से सना भिन्न रूप है। इनम इक् या यण उच्चारण के कारण कमश स्यानी या आदेश नहीं है अपितु उनसे प्रत्यायित सनी काय के पात्र होत ह। भाव यह है कि वद्धि शब्द सना नहीं है अपितु वद्धि शब्द से प्रत्यायित जो वद्धि शब्द वह सना है इसी तरह आदेश शब्द से प्रत्यायित जो आदेश के सनी हैं।

वद्धयादयो यथा शब्दा स्वरूपोपनिबन्धना ।

आदेश प्रत्यायित शब्द सम्बन्ध याति सन्निभि ॥ —वाक्यपदीय १।६०

सनी के सम्बन्ध से पहले सना अपना स्वरूप की छोटिका हाती है और इसलिए पण्टी और प्रथमा विभक्ति का निमित्त होती है। सना शब्द में प्रथमा विभक्ति का व्यवहार किया जाता है क्योंकि स्वरूप से अविच्छिन्न होने के कारण अव्यक्त्व है। सोऽयम इस रूप में सनी के द्वारा शब्दव्यवच्छेदलक्षण सम्बन्ध नियमित होता है। जैसे गोवा हीक सिंहा माणवक जैसे वाक्या में शक्ति का अवच्छेद किया गया है। वाहीक शब्द के द्वारा विगिष्ट गा का और पुरुष शब्द के द्वारा सना शब्द का शब्दव्यवच्छेद किया गया है। (वाक्यपदीय १।६० ६८)

सना शब्द और अनुकरण शब्द में भेद

सना शब्द और अनुकरण शब्द में कुछ दूर तक साम्य है। अनुकरण शब्द भी सना शब्द की तरह स्वरूप का प्रयायक होता है। सना शब्द और अनुकरण शब्द में भेद यह है कि अभिधेय के उच्चारण किय जान पर अनुकरण होता है। सना के लिए अभिधेय प्रत्यायक होना है उच्चायमाण नहीं। (अतएव अनुकरण शब्दात् सना शब्दस्य विधेय स्पष्टो भवति। उच्चायमाणे मिधेयेऽनुकरणम्। सनायास्तु प्रत्याय्यमेवाभिधेयम् नोच्चायमाणमिति—वपभ—वाक्यपदीय टीका १।६६ पृष्ठ ६८)

इस भाव की समग्रकार न भी व्यक्त किया है

न हि स्वरूप शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे सनिविगते । तत्तु नित्यमभिधेयमेवाभिधानसनिवेशे सति तुल्यरूपत्वादसनिविष्टमपि समुच्चायमाणत्वेनावसीयते ।

मग्रह वाक्यपदीयवृत्ति में भक्त हरि द्वारा उद्धृत १।६५ पृ० ६६ ७०

गोरित्ययमाह इत्यादि अनुकरणात्मक वाक्या मे केवल स्वरूप वाच्य का निर्देश रहता है। उनमें अवयवा के निर्देश की भावना नहीं रहती। क्योंकि अवयवा में काय (प्रत्यय आदि) नहीं हान। जैसे अग्नेद्वय में अग्नि शब्द से प्रत्यय जोता है न कि अग्नि शब्द के अवयवा से। ठीक यही बात अनुकरण शब्दा के लिए भी है। यदि अनुकरण शब्द में भी अवयवनिर्देश माना जाएगा तो वे अलग अलग समझीन जान पड़ेंगे। गौ इस अनुकरण शब्द में म्यिन ओहार से ओगव के ओकार की प्रतीति होने लगती।

अनुकरणव्यपि यद्यप्यया उपादितता ते पृथगनियतप्रमा प्रतीयेरन्निति ।
गौरित्थमाहेत्यत औपगवमित्यत्र स्थिता औपारादय प्रतीयेरन् ।

—वपम वावयवदीप टीका १।४४ पृष्ठ ५६

अनुकरण 'ग' प्रत्यायव होने के कारण सना है और अनुकाय प्रत्यायव होने के कारण सनी है । सना सभी सनी को नहीं छाड़ती (न सना सगिन व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।५६) जिस तरह गो आदि 'ग' सास्ना, तागूल वाते अथ (व्यक्ति) को जातात हुए उस अथ जाने के अथ म अनुप प्रत्यय लाते हैं जस गोमान् उगी तरह अनुकरण शब्द भी अपने अथ अनुकाय को बताते हुए उसको द्वारा अनुकाय वाते के अथ म छ प्रत्यय लाते हैं । अनुकरण शब्द जाति समवेत अथ को यत्न करता है । यह जाति शब्द है । यह बात लकार वार्तिक म (भाष्य म) कही गई है । (कथं—महाभाष्य ५।२।५६)

भट्टोजि दीक्षित ने भी अनुकरण शब्द को जाति शब्द माना है । अनुकरण शब्दाश्च जाति शब्दा एव तत्रानुकायनिष्ठजाते प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।

—शब्दकोशभू, १।१।१

अनुकरण शब्द और आम्नाय शब्द में भेद

अनुकरण शब्द का आम्नाय शब्द से भेद स्वर, वर्णानुपूर्वी, देश और काल की दृष्टि से किया जाता है ।

आम्नायशब्दानामायभाय स्वरवर्णानुपूर्वीशेकालनियतत्वात् ।

वार्तिक ५।२।५६

अनुकाय और अनुकरण म अथभेद स भेद होता है । इस दृष्टि स आम्नाय शब्द और अनुकरण शब्द म भेद है ही । स्वर आदि की दृष्टि से भी भेद है । आम्नाय शब्द के स्वर नियत ह जबकि अनुकरण शब्द एक भुति रूप म नी देसे जाते हैं । अस्यवाम शब्द आम्नाय म प्रत्ययस्वर से अतोदात्त है । अस्य भी अतोदात्त है । वाम भी अतोदात्त है । अनुकरण अस्यवाम शब्द प्रातिपदिकस्वर स अतोदात्त है । इसम दो उदात्त न होकर एक ही उदात्त है । क्योंकि यहा अनुकरण के रूप म अस्यवाम शब्द एक पद है । आम्नाय शब्द म वर्णों का क्रम नियत रहना है । अनुकरण शब्द म उनका उच्चारण व्युत्क्रम रूप म करने पर भी अनुकाय की प्रतीति हा जाती है । आम्नाय शब्द के उच्चारण के लिए देश काल नियत हैं । इसलान म आम्नाय नहीं पटना चाहिए अभावस्था को अध्ययन नहीं करना चाहिए आदि । जब कि अनुकरण शब्द के लिए देश काल का बंधन नहीं है । आम्नाय शब्द म पद के एक देश का तथा विभक्ति का लोप भी देखा जाता है अनुकरण शब्द म विभक्ति के अभाव म उनका लोप सम्भव नहीं है । नागेश मानत है कि आम्नाय शब्दों के ध्रुवण स गूढ़ा का प्रापश्चित्त होता है । जब कि अनुकरण शब्द सुनने से उह प्रापश्चित्त नहीं हाना (अनुकरणअर्थन गूढस्य प्रापश्चित्तत्वाभाव इत्यपि औघम ।—नागेश, महाभाष्य ५।२।५६) ।

अनुकरण शब्द और अपशब्द में भेद

अनुकरण शब्द में और अपशब्द में भेद यह है कि शिष्ट अनुकरण साधु माना जाता है। अशिष्ट अनुकरण न तो दोषजनक माना जाता है और न अभ्युत्थजनक। जबकि अपशब्द का प्रयोग अयबोधक होते हुए भी प्रत्यवायजनक माना जाता है। 'अविरविक्रयाय (महाभाष्य ४।१।८८) शब्द में अवि शब्द, कण्ठ के अनुसार, विभक्त्यन्त रूप में अनुकरण है। अनुकरण हाने के कारण समास होने हुए भी विभक्ति का लोप नहीं हुआ है।

अविरविक्रयायेनेति । अथवा विरित्यस्य विभक्त्यन्तस्यानुकरणमविरिति । ततो नुकार्येणार्थेनाथवत्त्वाद्वा विभक्तिरुपपद्यते तस्या द्विधातर्भावात्लोपः, न तु पूर्वस्या अनुकरणत्वात्सुपत्वाभावात् । यथास्वयामीयमिति पठ्या लुगभावः । अथवा भाष्यकारवचनप्रामाण्यादस्य साधुत्वम् ।

—कथम् महाभाष्य ४।१।८८

व्याकरण

शिष्ट प्रयुक्त साधु शब्दों का अ वाक्यान्त व्याकरण करता है। (शिष्टप्रयोगानुविधायि इव शास्त्रम्—महाभाष्य दीपिका प० १२६) अपभ्रंश के भी व्याकरण वाच्य में बने किन्तु सम्भृत के व्याकरण व्याकरण का लक्ष्य परिनिष्ठित शब्दों का ही मानते थे। भत हरि न व्याकरण शास्त्र को आगम माना है और इसके प्रति अत्यन्त मनोरम भाव व्यक्त किया है। विद्या का अधिष्ठान वेद है। वह एक है। पर उसके परिकल्पित भेद किए गए हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषिणा ने साधारण ज्ञान वाले प्राणी के द्रिष्ट वेद का कई रूप में अवाक्यान्त किया है। वह लोक का प्रकृति (मूल) है। वही लोक का उपपत्ति है। लोक की सभी व्यवस्थाओं का विधाता है। वह प्रणवमय है। वह सब शब्द अथ की प्रकृति है। सभी तरह के विद्याभेद उसी से उद्बुद्ध हुए हैं। विद्याभेद ज्ञान के हेतु हैं। उनमें पुष्प का सम्भार होता है। उनकी बुद्धि का उनके ज्ञान का संस्कार होता है। ये विद्याभेद वच के अग के रूप में प्रसिद्ध हैं और उन अगों में भी उपाग हैं जिनसे स्वप्न, पाक, योनि आदि का ज्ञान होता है। उपाङ्गैश्च स्वप्नविज्ञानपाकयोनिज्ञानादयो विद्याभेदाः प्रसिद्धा लोके—वाक्यमनीय हरिवर्णि १।१०

इन अगों उपागों में सर्वप्रथम स्थान व्याकरण का है (प्रथम छ दसामगमा हु योकरण बुधा—वाक्यपदीय १।११)

वेद शब्दमय हैं। व्याकरण शब्दों का ही सम्भार करता है। इसलिए शब्दों के साक्षात् उपकारी होने का कारण वेद का समीपी है। इसीलिए अक्षर ममाम्नाय के ज्ञान मात्र से सब वेद की पुण्यफल प्राप्ति कहा जाता है। इसलिए अगों में व्याकरण को प्रधान माना है।

शब्द समूह को भत हरि न वाणी का परमरस कहा है (यो वाच परमोरस) वह पुण्यतम ज्योति है। व्याकरण उस परम ज्योति का ऋजु भाग है। स्वरूप और पररूप के चोतक तीन तरह के प्रमाण होने हैं। एक अग्नि का प्रमाण। दूसरा पुष्प

शब्दों के रूप में अनुशासन कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का नामन उल्लेख कर प्रकृति प्रत्यय आदि के रूप में उसका संस्कार किया जाता है। पाणिनि आदि सूत्रकारों के लक्षण इसी काल में आते हैं जहाँ 'अनेक' इस सूत्र के द्वारा अनुशासन कहा जा रहा है उसे हम शब्दवती अनुशासन पद्धति कह सकते हैं।

परन्तु सहाय्य में यह है जिनके बारे में अनुशासन उपलब्ध नहीं है। ऐसे भी बड़े शब्द हैं जिनमें लक्षण ठीक नहीं बैठते फिर भी वे साधु माने जाते हैं। ऐसे शब्दों का अनुशासन गिष्ठा के व्यवहार के आधार पर मान लिया गया है। यद्यपि शब्दों उनका उल्लेख विधि के रूप में नहीं है फिर भी वे शब्द अपने प्रकृत रूप में शास्त्रकार का दृष्ट है। इसीलिए हम वाक्य मिलते हैं। दृष्टमेवतदगोनर्दीयस्येति—महाभाष्य ३।१।६२। इस तरह के अनुशासन को भन हरि ने अशब्दा स्मृति कहा है।

हमारे शास्त्र में हम कह सकते हैं कि आचार्यों अथवा शिष्टों द्वारा दो प्रकार से व्याकरण अथवा अनुशासन आरम्भ किया गया। पहला उपायनिर्देश के द्वारा और दूसरा उपायनिर्देशों के द्वारा। उपायनिर्देश का भाव निपातन जैसी प्रक्रिया है। बहुत से शब्द हैं जिन्हें पाणिनि आदि ने निपातन से सिद्ध किया है अर्थात् वे शब्द जैसे मुने जाते थे जिस लक्ष्म में प्रचलित थे उनका उसी रूप में उल्लेख कर दिया गया। प्रकृति प्रत्यय का विचार उनके बारे में ठीक से नहीं किया गया। निपातन के बारे में निम्न लिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धातुसाधनकालानां प्राप्स्यथ नियमस्य च।

अनुबन्ध विचारणां स्वरूपश्च निपातनम् ॥

—कण्ट ५।१।११४ में उद्धृत

उपायनिर्देश में तात्पर्य विधि से है प्रातिपदिक आदि से प्रत्यय आदिका विधान कर शब्दों के साधुत्व प्रदान में है। शास्त्रकारों ने प्रकृति और प्रत्ययों में अनुबन्ध की कल्पना विशेष दृष्टि से की है। प्रकृति के प्रकार आदि अनुबन्ध उपग्रह आदि के संकेत की दृष्टि में किए गए हैं। घञ् अण आदि प्रत्ययों में अनुबन्ध बद्ध उदात्तादि स्वर आदिके संकेत के लिए किए गए हैं। बन्धुत गिष्ठाओं को निमित्त मध्य समुदाय को प्रकृति प्रत्यय आदि की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रों की ठीक पहचान उन्हें लाभ व्यवहार से पर-परया मिल जाती है। जनाराज के अनुसार शिष्टों की प्रतिभा निमल रहती है। उनकी बुद्धि सब को यथायथ्य में ग्रहण करने में स्वभावतः समर्थ होती है। इसलिए उन्हें प्रकृति प्रत्यय के उपाय की आवश्यकता नहीं होती। उनके लिए उपायनिर्देश (निपातन से शब्द सिद्धि) भी अत्यन्त ही है।

जब ऐसी बात है गिष्ठा के व्यवहार से ही काम चल जाएगा, शब्दानुशासन की अपेक्षाधी आदि व्याकरण ग्रंथों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि गिष्ठा प्रयोगों का कोई उल्लेख नहीं करे इसलिए उन गिष्ठाओं द्वारा प्रयुक्त शब्दों का ही व्याकरण लक्षण द्वारा समझना है। व्याकरण स्वयं शब्द नहीं गन्ता। लक्ष्म में प्रयुक्त शब्दों का ही अनुशासन करता है। किसी नियम के रहने पर गिष्ठा मध्य लोक मानमाना व्यवहार कर सकते हैं और भाषा के परिनिष्ठित रूप में विच्छेद खलना ला सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि गिष्ठा का भी विषय शब्दों के बारे में भ्रम हो सकता है। भ्रम के निराकरण के लिए भी आकर शब्दों की आवश्यकता है। इसलिए भन हरि ने कहा है कि जो शिष्ट प्रयोग के साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं अथवा वे हैं, उनके लिए शास्त्र ही दृष्टि है (शास्त्र चतुरपश्यतामन्वाक्यपरीय ३ वृत्ति समुद्देश ७६)। जो लक्षण जानते हैं परन्तु लक्षणनिर्देश रूप में ही साधु शब्दों का व्यवहार करते

है। उह भी पतजलि न सिष्ट कहा है। उनक एस व्यवहार स उनके गिष्ट होने का अनुमान कर लिया जाता है। अत व्याकरण सम्प्रदाय म लभ्यलक्षणे व्याकरणम और स्यागिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी' य दोना ही उभितया प्रचलित और माय हैं। (हेलाराज वाक्यपदीय ३ वतिसमुद्रस, ७८ ७९)।

व्याकरण द्वारा शास्त्र का अवास्यान किया जाता है। इस सम्प्रदाय म दो तरह के मत हैं। एक मत है कि व्याकरण द्वारा शास्त्र का अवास्यान पत्र अवधि है। दूसरा मत यह है कि अवास्यान वाक्य अवधि है। मत हरि न दोना पक्षो का उत्तर दिया है

केपाचित पदावधिरमवास्यानम, वाक्यावधिकमेकेयाम ।

पाणिनि आदि के अनेक वस्तव्य पद के अवास्यान और वाक्य के भी अवास्यान म प्रमाण है। पत्र सस्कार पत्र म एक शास्त्र दूसर शास्त्र स निरपेक्ष होता है। उसका सस्कार भी निरपेक्ष रूप म ही होता है। जम गुण शास्त्र गुणवाचक शास्त्र है। मतुप प्रत्यय के लोन क होने पर शुक्ल शास्त्र शुक्ल गुण वाल वस्तु का भी बोधक है। ऐसी परिस्थिति म वह विरपण हो जाता है। किसी दूसरे पत्र क सम्पक म भी वह विरपण हो सकता है जसे गुक्ल पत्र म। अब पत्रसस्कार पत्र म शुक्ल शास्त्र को विरपण क रूप मे भी नपु सक लिंग और एकवचनात होना चाहिए कयाकि निरपेक्ष रूप म एकवचन और नपु सक लिंग ही स्वाभाविक है और अनरग होने के कारण तथा श्रुति अत्रेक्ष के कारण विरपण अथ मे वतमान गुक्ल शास्त्र म भी वे ही उपस्थित हो जाएगे। इस दोष को हटान के लिए विरपणाना चाजाते १।२।५२ यह नियम बनाया गया। अर्थात् गुणवचन शास्त्रो का आश्रय क अनुसार लिंग वचन होते हैं। आश्रय का वहिरग और भावी होना इसम बाधक नहीं है। अत विरपणाना चाजाते १।२।५२ यह सूत्र पदसस्कारपक्ष का समर्थक है। वाक्यसस्कारपक्ष म गुण का आश्रय म अत्यन्त ससृष्ट होने के कारण उनका अलग विवेक न होन के कारण गुण का कोई सामाय रूप ही संभव नहीं है। आश्रय क भान हाने क साथ ही साथ गुण का भी भान होगा कयाकि गुण तनिष्ठ है और वसलिए द्रव्यगत लिंग और वचन भी स्वभावत सिद्ध हो जाएगे। इस पक्ष म सूत्र कवल अनुवाद मात्र ह।

पदसस्कारपक्षे वाचनिकमेतत् । पदे हि पदा तरनिरपेक्ष सन्नियमाणे नपु सर्कलगतसयनामप्राप्तमेकत्व च वस्तुत्तरनिरपेक्षत्वात् सनिहितमिति गुक्ल पटा इति प्राप्ते भाविनो वहिरगस्याश्रयस्य लिंगसत्त्वेऽनेन प्रतिपाद्यते ।

यदा तु वाक्यसस्कार तदायमनुवाद एव ।

पाणिनि न तदगिष्य सज्जाप्रमाणत्वात् १।२।५३ सूत्र स भी उपयुक्त सूत्र की निरयक्ता द्योतित की है।

वाक्यायन ने पदसस्कारपक्ष का मान कर दृढ समाम म प्रत्यय अवयव के सस्कार की दृष्टि स दृढ बहुपु लुग वचनम कहा और वाक्य सम्प्रदाय क आधार पर न वा सर्वेषा दृढ बहुपुल्यत्वात् यह कहा (वातिक महाभाष्य २।४।६२)।

उपमानानि सामायवचन २।१।५५ जस सूत्र और भवति क लिए भू भूति न अति आत्मी की कत्पा पत्रावधि अवास्यान पत्र म ही ठीक है।

मत हरि ने सप्रहकार का निम्नलिखित वस्तव्य वाक्यावधि अवास्यान पत्र क समर्थन म उद्धृत किया है

—कथं महाभाष्य १।२।५२ हरिवृत्ति पृष्ठ ३८ ।

न हि किञ्चित् पद नाम रूपेण नियतं व्यवहितम् ।

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥

यासकार ने भी कौस्तुभ योस्तु इति शब्दों की सिद्धि पदसंस्कारपक्ष में दुर्लभ
चतात हुए वाक्यसंस्कारपक्ष पाणिनि को अभिप्रेत है ऐसा माना है

किं पुनरिदं राजासन्नं पदसंस्कारपक्षे गद्धानुशासनं कतव्यमिति । अथ
शास्त्रकारस्य वाक्यमभिप्राय इति चेत् । न । शास्त्रकारेण हि युष्मद्युपपदे समा
नाधिकरणे स्यात्तत्रापि मध्यम (१।४।१०५) इति युष्मदाद्युपपदे मध्यमादि-
पुरुषविधानात् वाक्यसंस्कारप्रयुक्तमपि शास्त्रमेतदिति सूचितम् ।

—यास १।१।५८ पृष्ठ १११।

पुरुषोत्तमदेव न भी पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों को आचार्य-
सम्मत माना है ।

इह प्रातिपदिकाय मात्रे प्रथमा विवदता आचार्येण नाप्यते पदसंस्कारकमिदं
याकरणमिति । तथा वाक्यसंस्कारकं चेदं याकरणमाचार्यस्याभिमतमिति
धातु सम्बन्धे प्रत्यया (३।४।१) इति सूत्रकरणात् ।

—पुरुषोत्तमदेव नापक समुच्चय पृष्ठ ६७ ६८ ।

पदावधिक अ-वा-ग-यान और वाक्यावधिक अ-वा-ग-यान में हलाराज के मत में,
भेद यह है कि सम्बन्ध सामान्य की अपेक्षा में पदावधिक अ-वा-ग-यान और सम्बन्ध
विशेष की अपेक्षा से वाक्यावधिक अ-वा-ग-यान किया जाता है ।

सम्बन्ध (सम्बन्ध) सामान्यापेक्षायां पदावधिकं तद्वाच्योपात्तसम्बन्ध
विशेषापेक्षायां तु वाक्यावधिकम-वा-ग-यानमिति इयाननयो पक्षयो विशेषः ।

—हलाराज वाक्यपटीय ३ माघनसमुद्देश ३, पृष्ठ १७६ ।

यद्यपि पदसंस्कारपक्ष और वाक्यसंस्कारपक्ष दोनों ही गृहीत हैं । फिर भी
याकरणशास्त्र प्रकृति प्रत्यय आदि व द्वारा पदसंस्कार ही करता है । गत विभाग पद
में ही सम्यक् हैं । वाक्य में अनेक पदों के होने के कारण वाक्य का सामान्य अ-वा-ग-यान
उतना उपयुक्त नहीं है । दशम भेद से दोनों पक्षों में भेद होने पर भी पदसंस्कार को
ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि पद का स्वल्प व्यवस्थित है ।

दशमभेदात् भेदेऽपि व्यवस्थितं रूपत्वात् पदमेवावाख्येयम् इति ।

—वपभ वाक्यपटीय १।२२६ पृष्ठ ८३ ।

व्याकरण लोकपक्ष को महत्त्व देता है

गद्धानुशासन की प्रक्रिया में सत्र तरह के व्यापक सिद्धांत काम में लाए
जाते हैं । फिर भी व्याकरण दशम 'लोकविज्ञान' को भी महत्त्व देता है । पाणिनि
वाक्यायन और पतञ्जलि लौकिक पक्ष को समर्थक हैं । जहां सभी शास्त्रीय सिद्धांत
और लोकप्रसिद्ध व्यवहारों में विरोध होता है व्याकरण ज्ञान लोक प्रसिद्ध पक्ष का
ही प्रथम देता है । उदाहरण के लिए सभी दशम मानते हैं कि अवयव में अवयवी
रहता है । इस सिद्धांत के अनुसार गद्या में वक्ष्य है वक्ष्य में गद्या नहीं । किन्तु लोक
में सदा वक्ष्य में शाखा यही रहती है । अतः वषाकणा न शास्त्रीय आधारधेय भाव
को ठुकराकर लोकपक्ष को ही अपनाया है और उसके अनुसार यों गद्या यही
बहती है ।

एतच्च लौकिक व्यवहारानुगुण्येन शास्त्रेऽस्मिन् युत्पाद्यत । शास्त्रात्तरं प्रसिद्धा
व्यवस्था लोकविरुद्धा । लोके हि गवि शृङ्गं वक्षे गत्या इति व्यवहारः ।
तथैव याकरणव्याधार सप्तमी । शास्त्रात्तरं तु अवयवेऽवयवीति शृणु गौ

गालाया दक्ष इति स्यात् ।

परतु विचार क लिए —हैलाराज वाक्यपदीय ३ जाति समुदाग ११।
दीक्षित ने लिखा है कि जिस कोई वराटिका (कौटी) दूतन चल और उसे चिन्तामणि
मिल जाए उमी तरह ग = विचार म प्रवत्त भन हरि न प्रसग म विवतवा आदि का
भी अ नायान किया है जिममे वयाकरणा का भी अद्वतनह्य क विषय म परिचान हा ।
तदेव वराटिका वेपणाय प्रवत्तदिच तामणि लब्धवानिति वसिष्ठरामायणोक्ता
भाणक यापन ग = विचाराय प्रवत्त सन प्रसगाद्वते ग्रहण्यपि व्युत्पद्यता
मित्यभिप्रायेण भगवान भन हरिविवतवादादिकमपि प्रसङ्गाद्व्युत्पादयत ।

परतु भट्टोजि दीक्षित की उक्ति उतनी सही नहीं है । वस्तुतः भन हरि ने
ग = विचार एव दार्शनिक की भाति आरम्भ किया है और वाक्यपदीयक आरम्भ म
ही उसकी प्रतिष्ठा कर दी है । निवचन की सूक्ष्मता और यापकता क आधार पर
मभी तरह क मौलिक विचार दशन के क्षेत्र म आ जात है । ग = अनुसामन की प्रनिया
क मून म छिप हुग गहन विचारा का निश्चेपण अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है । वाक्य
पदीय का दशन एक प्रामाणिक दशन नहीं है । अपितु भाष्याधिधीयूपच्छाच्छुरित
याकरण दशन का रस है ।

—गन्धर्वोस्तुभ पाठ १२ ।

ध्वनि

ध्वनि को परिभाषा

भन हरि क अनुसार जो स्फोट का अभि यजक है उस ध्वनि ग = स
यक्त करत ह । दूसरे ग = श = क यजक को ध्वनि कहत ह । महाभाष्यकार
न प्रतीतपदायक ध्वनि को ग = माना है (प्रतीत पदायको लोके ध्वनि शब्द
इत्युच्यत —महाभाष्य पक्षपात्तिक) । अर्थात् लोक म जो ध्वनि समूह पत्ताय
वाचक के रूप म प्रसिद्ध है जो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य है और वणरूप है वह ग =
है । हम दष्टि स ध्वनि और ग = म कोई भेद नहीं है । किन्तु सूत्र १।१।७० म
भाष्यकार ने ध्वनि ग = को ग = का गुण कहा है (स्फोट ग = ध्वनि ग = गुण) ।
ध्वनि को ग = क गुण मानने का भाव है कि ध्वनि ग = का उपकारक अथवा
यजक है । भाष्यकार न उभयतः स्फोटमात्र निदिश्यतरश्रुतलश्रुतिभवेति इम
वाक्य म स्फोट ग = का व्यवहार किया है । आकृतिनियत्ववाच्यो क मत म हम
वाक्य म स्फोट ग = स अथ ग = गृहि अभिप्रत है । शब्दत्व और ग = गृहि म भेद
यह है कि ग = त्व सभी ग = म रहने वाला घम है सब ग = साधारण है । ग =
कृति विशेष ग = से सम्बद्ध है । व = अमगवि स उदबुद्ध एक ग = कर मुनाई दन
वाला और उमी अम स गहीन वणों स गठित होती है । य (उपलधि
निमित्त सस्कार) उमम कपित होत हैं वास्तविक नहीं । ग = ध्वित उत्पन्न होत
है । उनम स्वय अपन आप का अभि यजन करने की क्षमता नहीं होती परतु व
स्फोट का चालित करत है । स्फोट को चोतिन करन वात ग = यक्ति का नाम ध्वनि
है (वाक्यपदीय १।६४ हरिवर्ति) । नाकगतिकार क अनुसार स्फोट ग = है और
ध्वनि उसका व्यापाम (विस्तार) है ।

स्फोट ग = दो ध्वनि तस्य व्यापाम उपजायत ।

—वाक्यपदीय १।२२ की हरिवर्ति म उद्धत ।

कुछ नागा के अनुसार जातिस्फोट के व्यञ्जक को ध्वनि कहत हैं।

अनेक व्यवस्यभिः यस्या जाति स्फोट इतिस्मता
वञ्चित व्यवस्य एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ।

—वाक्यपदीय १।६४

नाग के अनित्यत्व और नित्यत्व के विचार से भी ध्वनि के रूप में कुछ भेद दृष्टिगत होता है। भक्त हरि ने इस निम्नलिखित रूप में व्यञ्जन किया है—

य सयोगविभागस्या करणरूपजयते ।

म स्फोट शब्दजा शब्दा ध्वनयो यद्वाहता ॥—वाक्यपदीय १।१०३
अनित्यपक्षे स्थानवरणप्राप्तिविभागहेतुक प्रथमाभिनिय तो य श द स स्फोट इत्युच्यते। तज्जातास्तु सवदिकस्तद्रूपप्रतिबिम्बोपग्राहिण सद्यद्व्याणा स्वनात्मना निरवयवत्वात् आकाशस्यापि सख्यसमवायिदेशवत् सयोगि द्रव्या तरङ्गप्रविभागोपचारे सति देशनरतयप्रत्यासत्याकायकारणसत्ताना विच्छेदेन यथोत्तरमपचोद्यमानपूवप्रतिबिम्बोपग्राहणशक्तयो मन्दप्रदीपप्रकाशित-रूपकल्पा क्रमेण प्रध्वसमाना ये वणध्रुति विभजति ते ध्वनय इत्युच्य ते । नित्यपक्षे तु सयोगजविभागजध्वनिव्याप्य स्फोट । एषा सयोगविभागजध्व निसंभूतनादाभिः य । स्फोटरूपानुग्राहिणस्तु यथोत्तरमपचोद्यमानाभि-व्यवहितसामर्थ्या द्रुतादित्तिभेदव्यवस्था हेतवोऽपचयात्मका ध्वनय ।

—वाक्यपदीय १।१०३ पर हरिवर्नि

अनि य प र म स्थान और करण क सयोग विभाग क हनु स निव त्त का गद कहत ह । उसकी प्रथम अभि यन्ति हाती ह । उस गद का स्फोट कहत है । अपन गमवायी आवाज की तरह वह भी निरवयव है परंतु जमे आकाश में घट आदि सयोगी द्रव्य में देग भेद हात के कारण पूवारर व्यवहार होता है उभी तरह गद में भी पूवापर व्यवहार आरोपित रहता है । शब्द क चान जो पैदा हाती है वे ध्वनिया ह । वे वणध्रुति का विभजन करती हैं । अर्थात् प्रतिभजन स्पुट अक्षर वाली होती हैं । वे गद क प्रतिविम्ब में युक्त रहती है और सत्र गिगाग्रा म फनती हैं । उनके फनन की दा पद्धतिया मानी गई ह । बीचिनरगवत् और कम्पव कारकत्त । जैसे एक लहर दूसरी लहर को पत्ता करती हुई विस्तार पाती है वैसे ध्वनि भी एक ध्वनि लहर से दूसरी ध्वनि लहर उठानी हृद रातत रूप में फलती है । बद्धम्वकोरक का मन मानने वाला का अभिप्राय यह है कि गित तरह कम्प क कोरक एक एक चारा तरफ समान रूप से सितारत ह वम ही ध्वनियाँ चारा तरफ समान रूप से फनती हैं । बीचिनरगयात्र और यन्त्रसारक वायमभेद यह माना जाता है कि पहने मत क अनुसार चारा गिगाग्रा म फनने वाली ध्वनि की एक लहर सी होती है जयकि दूसर मत क अनुसार चारा आर फलन वाली ध्वनि अलग अलग मो होती है । ध्वनि का स्वभाव यह है कि वह जमग क्षीण होती जाती है और अन्त में क्रम में नष्ट होती जाती है । भक्त हरि ने इनका उपमा मन्द प्रदीप क प्रकाश म ली है । यद्यपि ध्वनि दीपक क तुल्य है व्यञ्जक होन क कारण न कि प्रकाश क । फिर भी जैसे मन्द प्रकाश दूर पड़न पर क्रमग क्षीण और विलीन होन जाने हैं वस ही ध्वनि की भी बात है । यही दोना म साम्य है ।

गद क नित्यत्वपक्ष में ध्वनि यथोत्तर अपचय प्राप्त हात वाली अभियन्ति म गमय द्रुतादित्तिभेद व्यवस्था का कारण और अन्त में विनश्वर होती है । अनित्य पक्ष और नित्यपक्ष में ध्वनि के स्वरूप में भेद न होकर गद अर्थात् स्फोट क स्वरूप में भेद है । अनित्य पक्ष में गद पदा होना है तब ध्वनि फलती है । नित्य पक्ष में गद ध्वनि स गम्य है । गद व्यक्ति का ही स्फोट मानने वाले सयोगविभागज ध्वनि

ध्वनि को और कुछ बहुत ध्वनिया का जन्म देकर विलीन होती है। इसलिए शब्दकाल ध्वनिकाल से भिन्न है। इसी आधार पर द्रुता मध्यमा आदि वक्तियां म ध्वनिभेद ही माना जाता है। स = भन् नहीं (स्यात्वाद रत्नाकर ४।१० पृष्ठ ६७६/१)। द्रुता मध्यमा और विलम्बिता ये तीन वक्तियां मानी जाती हैं। प्राचीनकाल में समय नापने की एक प्रकार की नाडिका थी। एक कटोरे में पानी भरा रहता था। उसमें से पानी चूने का प्रयत्न था। चूने वाले जब त्रिदुग्गा को पानीय पल कहते थे। द्रुतावत्ति पढ़ने के उस ढंग का कहते थे जिसमें एक श्रृंखला के पत्तन के काल में नव पानीय पल चू जाते थे। मध्यमावत्ति में द्रुतावत्ति के तीन भाग आधे समय लगता था। अर्थात् यदि द्रुतावत्ति में ९ पानीय पल का समय लगता था तो मध्यमा में १२ पानीय पल का समय लगता था। त्रिन्ध्विता वत्ति से पत्तने पर १६ पानीय पल का समय लगता था। (नागेश ने नाडिका का अर्थ सुस्पष्ट किया है। और पानीय पल को ब्रह्माण्ड से समतुल्य माना है। पीछे के व्याकरणों ने व्याकरण दर्शन को किस तरह रहस्यात्मक बना दिया है उसका यह भी एक दृष्टांत है। नाडिकाया मुपुम्नाया इत्यथ। पलानि त्रिन्ध्व। ब्रह्माण्ड सम्बद्धा साऽमनवि दुर्गाविणीति प्रतिद्विर्गोणिनाम—नागेश महाभाष्य १।१।७०।)

वक्तियों में ध्वनित्व भन् होने हुए भी वण का काल एक ही रहता है। एक ही वण को कोई शीघ्रता से उच्चारण करता है और कोई देर से उच्चारण करता है। जिस तरह से गति भेद से माग में भेद नहीं माना जाता उसी तरह से वक्ता के उच्चारण भेद से वणों में उपचय का अपचय नहीं माना जाता। हाथी का हाथी के साथ और मत्तक का मत्तक के साथ सन्निकष एक सा है। उनमें भेद उ के शरीर की मात्रा पर निर्भर करता है। घन् बार बार देखे जान पर भी वही रहता है। उसमें भेद नहीं होता। उसी तरह द्रुततिलम्बित आदि वक्तियां म प्रकार प्रकार के रूप में प्रकार हो जाती हैं। उसमें कोई भेद सम्भव नहीं है। इसलिए वक्तिभेद हाते हुए भी वणभेद नहीं होता यह सिद्धांत है। इसीलिए सभी वक्तियां म तत्काल (एक ही वणकाल) माना जाता है जबकि ह्रस्व दीर्घ और प्लुत में काल भेद माना जाता है जसा कि ऊपर उक्त किया जा चुका है।

वपम के अनुसार द्रुता मध्यमादि वक्तियां म भेद बुद्धि कृत है। उनके मत में स्फोटग्राहिका वद्धि उपाधि रूप में कालभेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होती है और मन्त्रिण द्रुतादि वक्तियां म भेद हो जाता है (अभिनेऽपि स्फोटे ता एव बुद्धय उपाधि भूता कालभेदेनावतमाना मिथ्ये ते। तत्कताश्च द्रुतादि वक्तिभेद—वाक्यपनीय टीका १।७६ पृष्ठ ७८ लांघोर संस्करण)

उपयुक्त विवरण वण की नित्य मान कर उल्लिखित है। वण के उत्पत्तिवाक्य पक्ष में भी वण की अभिव्यक्ति के बाद दूर से भी ग्राह्य किसी ध्वनि की सत्ता माननी ही पड़गी। उस ध्वनि के कालभेद से वक्तिभेद माना जाना चाहिए। (वर्णोत्पत्तिपक्षतु तदननिष्पादो दूरादपि ग्राह्य कश्चिदध्वनिरवयाम्युपेय। तस्यैव कालभेदाद वक्ति भविष्यम ग त्तोस्तम १।१।७०)

वक्तियों का उद्देश्य निम्नलिखित श्लोक में किसी ने लिखा है
अध्यासार्थे द्रुतावत्ति प्रयोगार्थे तु मध्यमा।
निष्पाणा तूपदेनाय वक्तिरिष्टा विलम्बिता।—तत्त्वोक्तम् १।१।७० म उद्धृत

तत्त्व की अभिव्यक्ति का प्रक्रिया के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि उत्पन्न होकर वर्णोद्देश्य में एक अपूर्व शक्ति का संचार करती है।

कान का सम्कार करती है। उसमें सुनने की शक्ति पैदा करती है अथवा उसमें स्थित शक्ति को जगा देती है। दा तरह का सम्कार देखा जाता है।—लौकिक (प्राकृत) और अलौकिक। ये दोनों ही सम्कार चानिद्रिय में होते देखे जाते हैं। उनमें विषय नहीं। आख में अजन लगाने से आख की शक्ति बढ़ती है। यह आँख का लौकिक सम्कार हुआ। कभी कभी कोई व्यक्ति अपनी आँखों से बहुत सूझ बूझ देखे अथवा अत्यन्त दूर की भी वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। यह आँख का कोई अलौकिक सम्कार है। ये दोनों ही सम्कार चानिद्रिय में होने हैं न कि विषय में। यदि विषय में सम्कार होने तो बिना अजन आदि के द्वारा और बिना दिव्य दृष्टि आदि अलौकिक शक्ति के द्वारा भी सबको उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होना। ऐसा होता नहीं है। इसलिए चानिद्रिय में ही सम्कार होने के कारण चानिद्रिय का ही सम्कार होता है और तब शक्ति का श्रवण हो पाता है।

इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि सम्कार विषय में ही होना है चानिद्रिय में नहीं। पृथ्वी पर जहाँ जल छिड़कते हैं उसमें से गंध निकलती है और उसका ग्रहण घ्राणद्रिय करती है। तल को जब किसी सुगन्धित द्रव्य से चामित करते हैं तब वह सुगन्धित जान पड़ता है। इसीलिए विषय में ही सम्कार मानना ठीक है अथवा घ्राणद्रिय में सम्कार मानने से संस्कृत असंस्कृत सभी प्रकार के विषयों में कोई भेद जान नहीं हो सकता। इसलिए हम मत के अनुसार ध्वनि के समग्र में शब्द का ही सम्कार होता है और तब वह कणोच्चर होता है।

कुछ लोगों के मत से विषय और इन्द्रिय दोनों का सम्कार होता है। जो लोग चक्षु को अप्राप्यकारी मानते हैं उनके मत में अधकार में स्थित पुस्तक का प्रत्यक्ष प्रकाश नहीं होता है। प्रकाश माना विषय का सम्कार करता है। जिनके मत में चक्षु प्राप्यकारी है उनके मत में तुरन्तजातीय तेज (प्रकाश) से नयन रश्मियाँ का अनुग्रह होता है। सूक्ष्म रश्मियाँ आँख के प्रवाहरूप में निकलकर बीच के तल परमाणुओं से जा 'यापक' होने के कारण सबका है मिल कर एक तरह की सूक्ष्मतर और भिन्न कोटि की रश्मियाँ पैदा करती हुई वहाँ तक जाती हैं जहाँ तक आलाक है। फिर उस आलाक से उन रश्मियों का सम्कार होता है ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं।

ध्वनि के अभिव्यञ्जक के बारे में भी तीन तरह के विचार हैं। कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि सदा स्फोटसप्तसक्त ही गृहीत होती है। स्फोट से अलग वह कभी भी ग्राह्य नहीं होती। तो स्फोट और न ध्वनि ही परस्पर विभक्त रूप में जान जा सकते हैं। जिस तरह से विषय और आलाक एक दूसरे से सप्त गृहीत होते हैं पर व्यवहार में आलाक सूर्य किरण से जन्म है और विषय स्तम्भ आदि काष्ठज है ऐसा उनमें भेद वर्तित है उसी तरह तालु आदि स्थान से ध्वनि पैदा होती है और स्फोट नित्य होने के कारण अकारण है ऐसा उनमें भेद करते हैं परन्तु उनका ग्रहण अलग अलग न होकर मत्त सप्त ही रहता है।

कुछ लोग मानते हैं कि ध्वनि अगृहीत रूप में ही शब्द का अभिव्यञ्जक है। ध्वनि का रूप कभी गृहीत नहीं होता। वह अगृहीतरूप में ही शब्द के ग्रहण में निमित्त होता है। हम दोनों के मत में इन्द्रिय और इन्द्रिया के गुण अनुमय होते हैं। उनका प्रत्यक्ष नहीं होना। विषय का प्रत्यक्ष होता है। उसका कोई साधन अवश्य है। इससे इन्द्रिया का अनुमान कर लिया जाता है। उसके मत में इन्द्रिया भौतिक हैं और उनके शक्ति रूप आदि अपनी अधिकता से समान जातीय रूप आदि के ग्रहण में हेतु होते हैं। पृथ्वी गन्धत्व ज्ञान में गन्धमयी होने के कारण हनु और गन्ध की अधिकता होने के कारण

हनु है। घ्राणद्रव्य की गंध उपलब्धि मतिमित्र पक्षी का समवेत गंध है जो अपने समवायि कारण इन्द्रिय को व्यपन करता हुआ (समुत्पन्न) गंध की उपलब्धि मतिमित्र होता है परन्तु स्वयं समवेत गंध का मयत्न नहीं होता। उसी तरह ध्वनि भी समवेतित्व मतिमित्र की विभी दूसरे उपाय से स्फोट की उपलब्धि मतिमित्र होती है। (तत्र यथा घ्राण द्रव्यस्य पृथिवीभूमिष्ठगन्धस्यात समवेत गन्धस्ततः समवायि कारणमिन्द्रियमनुगृह्णन् गन्धोपलब्धिनिमित्तम्। न च समवेतो गन्धः सवेद्यः। तथा ध्वनिरसवेदित एवायनोपायेन स्फोटोपलब्धिनिमित्तम् भवतीति—वपम वाक्यपदीय १।८२ पं० ८३)

कुछ लोग मानते हैं कि केवल ध्वनि का भी स्वतन्त्र रूप में ग्रहण होता है। इस मत में दो तरह के विचार हैं। एक तो यह कि स्फोट (शब्द) के अवधारण में परिणाम के बिना भी दूर से केवल ध्वनि का ग्रहण देखा ही जाता है। दूसरा यह कि ध्वनि स्वयं शब्द की उपलब्धि की तरह है (गन्धोपलब्धि कल्प एवासावित्त्वपरे—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।८२)। दया जाता है कि रेगिस्तान जैसे स्थानों में छोग भी टिल्ला पवत की तरह गिराई देता है। चन्द्रमण्डल बहुत बड़ा है पर दूरतः मयत्न लघु जान पड़ता है। देशविशेष और सम्बन्ध विनाश के कारण भिन्न आकार और अवस्था वाली वस्तु उससे भिन्न आकार अवस्था वाली मान्य पड़ती है। स्फोट और ध्वनि अलग अलग हैं। जब वण-बोध रहित केवल अनुरणन रूप ध्वनि रहती है उस समय इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्पष्ट है। अकार आदि स्पष्ट वणबोध के समय वह स्फोट से सस्पष्ट जान पड़ती है।

प्रयत्नविशेष से उदबुद्ध ध्वनि वणसम्बन्ध भी होती है, पदसम्बन्ध भी होती है और वाक्यसम्बन्ध भी होती है। दूसरे शब्दों में, वणस्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट की बुद्धि में आरोपित करती है। बुद्धि के सहारे ही वणों के पोषाण का पान होता है। अथवा वणों के विनाशाल हान के कारण उनमें क्रम सम्भव नहीं है। अतः उनका परिणाम भी सम्भव नहीं है। क्रम से उत्पन्न वण भी अति अवस्थित रहते तो उनमें भी उसी तरह वण का अपदेश सम्भव था जिस तरह ज्येष्ठ मध्यम और वनिष्ठ में होता है। किन्तु उच्चारण के बाद प्रवृत्त हो जाने के कारण वण अतवस्थित हैं और इसलिए तत्त्वतः उनमें पूर्वापर भाव नहीं है। शब्दों के पूर्वापर का व्यवहार बोद्धिक है। वणों के विषय में सावयव और निरवयव सम्बन्धी विचार हम यहाँ में अत्र किया गया है।

वपम के अनुसार भन हरि वणों की भागश रूप में बुद्धिग्राहिता स्वीकार करते नहीं जान पड़ते। वण की अभिव्यक्तिपक्ष में और वण की उत्पत्तिपक्ष में भी भागश अभिव्यक्ति मानने पर भी उनके समुदाय का ग्रहण नहीं हो सकता। उत्पत्ति वादियों के मत में वण के विभाग परमाणुवत्त्व है इसलिए क्रम से उत्पन्न होने पर भी वे अतीन्द्रिय ही रहेंगे। फलतः उनका समुच्चय रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

वण के निरवयवपक्ष में भी और उसके भागों की इन्द्रियग्राह्य मानने हुए भी उनके समुच्चयभाव की स्मृति नहीं हो सकती। वे क्रम से उत्पन्न होत जायग और नष्ट होते जायेंगे इस कारण उनका समुच्चय ही नहीं हो सकता। एक एक के अनुभव होने पर भी

समुदाय का अनुभव सम्भव नहीं है। अनुभव न होने में उनकी स्मृति भी नहीं हो सकती। पुनः वण ने भाग में स्मृति जगाने की शक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके बारे में किसी प्रकार का अभ्यास नहीं दिया जाता।

निरवयव वण के अभिव्यक्ति-वाद के पक्ष में भी सकल शब्द का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अभिव्यक्त स अभिप्रेत का ग्रहण होता है किन्तु अतः में उन समुचित व्यक्तियों की सत्ता न रहे सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग स्फोट की भी भावना अभिव्यक्ति मानते हैं और उसे भाग वाला मानते हैं उनके मत में भी यह दोष है।

यदि यह कहा जाए कि पूर्व उच्चरित वण आगे वाले वण में अपना मस्कार डालते चलते हैं और जब अन्तिम वण उच्चरित हो जाता है तब उन सबका समूह लवनात्मक मस्कार बुद्धि में पैदा हो जाता है और शब्द का ग्रहण होता है—तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि अभिप्रेत वस्तु मस्कार ग्रहण करती है, जबकि आगे वाला वण अनभिप्रेत है। वही मस्कार का आधान कम सम्भव है और जब आगे वाला वण अभिव्यक्त होता है उस समय पूर्व का वण अनभिप्रेत हो जाता है। इसलिए भी मस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति में मस्कार का आधान होता है, अनभिप्रेत में नहीं। अतथा नित्य हान के कारण सबका सबका आधान होने लगे (वपम, वाक्यपदीयटीका १।८५)।

ध्वनि और नाद

वाक्यपदीय में ध्वनि और नाद शब्दों का समान अर्थ में प्रयोग हुआ है। भक्त हरि ने इनमें अन्तर केवल यह किया है कि नाद ध्वनि का विवर्त है।

तच्च सूक्ष्मे व्यापिनि ध्वनौ करण व्यापारेण प्रचीयमाने स्थूलेताभ्रस घातवदुपलभ्येन नादात्मना प्राप्तविवर्तेन ।

—हरिवर्त्ति वाक्यपदीय १।८८, पृष्ठ ५८

दूसरे शब्दों में प्राकृत ध्वनि का ध्वनि और वृत्त ध्वनि को नाद शब्द से प्रकट करते हैं। इन दोनों ध्वनियों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ध्वनि ह्रस्व दीर्घ आदि का व्यवस्था हेतु है और नाद द्रुता मध्यमा आदि वृत्तिभेदों में व्यवस्था स्थापित करता है। भक्त हरि ने प्राकृतनाद और वृत्तनाद शब्दों का भी प्रयोग किया है।

नादादि प्राकृत शब्दात्मनि प्रत्यक्षमानस्यतिरूपो भेदस्याग्रहणाय ह्रस्व दीर्घस्तुतकालभेद-प्रवहार-प्रवस्थाहेतुः । यक्तस्तु नादो बाह्यद्रुतादिवृत्तिकाल व्यवस्था प्रकल्पयति ।

—वाक्यपदीय हरिवर्त्ति १।१०२ पृष्ठ ६७, ६८

द्रव्याभिधात स, तान्नादिस्थान में जिह्वादि के अभिधान से कम्प पैदा होता है। कम्प के बाद नाद पैदा होता है। अभिधान वृत्त वायु के स्पन्दन को कम्प कहते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि जिस तरह ज्वाला में ज्वाला पैदा होती है उसी तरह स्फोट से ध्वनियाँ पैदा होती हैं। कम्प से उत्पन्न शब्द के समानान्वित ध्वनियाँ स्फोट का सम्भार

करती है। उनके बाद प्रकाशित होने वाली उनके अनुपम म भाषित होने वाली ध्वनिया का नाम कहते हैं

द्रव्याभिधानात्प्रचिनी भिनी दीघन्तुतावपि ।

कम्पे तूपरते जाता नादा धर्तृविशेषका ॥

अनवस्थितकम्पेऽपि करण ध्वनयोपरे ।

स्फोटादेवापजायते ज्वाला ज्वालातरादिव ॥

—वाचस्पतीय १।१०६ १०७

वपभ के अनुसार नाद सूत्रम है क्याकि नाद के भाग परमाणु कल्प है (परमाणु कल्पत्वा नादभागानाम्—वपभ वाक्यपट्टाय टीका १।६८) । नाद के भाग सकल व्योम व्यापी है। नाद क्रमवान है। म्यान और वरण (जिह्वादि) के अभिघात क्रमवागे है। उनके सहारे अभिव्यक्त नाद भी क्रमवाला माना जाता है। नाद उपसहृत क्रम के रूप म प्रचयरूप म प्रतिवध और अभ्यनुज्ञा ध्वनिया के द्वारा स्फोट को व्योतित करता है।

भत हरि के मत म नाद और ध्वनि दोनों से बुद्धि म गद का अवधारण होता है। नाद से बुद्धि म जिम उत्कष का आधान होता है उस मत हरि ने अनुगुण सस्वार भावनाबीज कहा है और अन्त्य ध्वनि से जो उत्कष का आधान होता है उसे परिच्छेद सस्वारभावनाबीज वलिलाभप्राप्तयोग्यता कहा है। सस्वार से तात्पर्य महा शक्ति विशेष से है। गति ही चित्त का सस्वार करती है (शक्त्य चेत सस्कुर्वति विणिष्ट जनमति इति सस्वार शब्दोक्तः । —वपभ वाक्यपट्टाय १।८५) विगम बुद्धि के जनन हान के कारण बीज और तद्रूप की भावना हान से उह भावना भी कहते हैं। अन्त्य ध्वनि के वाद शब्द के विशिष्ट स्वरूप का गौ आदि गद का अवधारण होता है। इसलिए बुद्धि-सस्वार का स्फोट का परिच्छेद या परिच्छेदोपाय भी कर्त है। बुद्धि म स्फोट के स्वरूप के अवधारण की योग्यता आ जाना बुद्धि का परिपाक कहा जाता है। अन्त्य ध्वनि से एसी योग्यता-संपन्न बुद्धि म गद का आकार (स्वरूप) उद्बुद्ध होता है। इसे ही बुद्धि म गद का अवधारण होना कहते हैं।

नाद (ध्वनि) और स्फोट

गान्धियवादिना के मत म नाद और स्फोट म अन्तर यह है कि नाद ध्वजर है और स्फोट व्यग्र है। गान्धियवादी प्रथम अभिघातन ध्वनि का गद अथवा स्फोट कहते हैं और उससे उत्पन्न हान पर उससे भिन्न ध्वनिया का ध्वनि या नाद कर्त है। प्रथमो-अभिघातजस्तारतर गद तदयं नाद इति स्पष्ट एव भेद

—वपभ वाक्यपट्टाय १।१०५

वर्ण

म्यान-वरण के अभिघात से ध्वनि पैदा होती है। ध्वनि पथ-गमन प्रपन्न से पथ-गमन रूप म अभिव्यक्त होती है। पथक प्रपन्न जय ध्वनि का वर्ण कर्त है।

पथक प्रयत्ननिवर्त्य हि वर्णमिच्छति आचार्य ।

—वागिका-एग्रीच ।

वर्ण नाम वधा पडा यह स्पष्ट नहीं है । हरदत्त के अनुसार वर्णन किये जाने के कारण इसकी सत्ता वर्ण है (वर्ण्यते उपलभ्यते इति वर्ण —पदमजरी ७।४।५३)

कुछ लोगों के अनुसार वर्ण वज्र से बना है (वर्णो वर्णात्) । यामकार के अनुसार वचन गङ् भी वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त होता था । उनके अनुसार मुखनामिका-वचनाऽनुनामिक १।१।८ में वचन शब्द वर्णपरक है (उच्यते इति वचना वर्णो वर्णात्) ।^{२६}

वर्ण की निष्पत्ति के प्रकार

वर्ण की अभिव्यक्ति के विषय में भक्त हरि ने अनेक वादा का उल्लेख किया है । शिक्षासूत्रकारों में कुछ मानते हैं कि आभ्यन्तर प्रयत्न से ऊपर उठाया हुआ प्राणवायु आन्तरिक उत्पत्ति से युक्त होता है । फिर शरीर के भीतर की नाडियाँ के छिद्रों में स्थित सूक्ष्म गन्धवायु को प्रेरित करता है । जिस तरह वायु से प्रेरित धूम के अवयव एकत्र होते हैं वैसे ही प्राण वायु से प्रेरित गन्धवायु घनीभूत हो जाते हैं । फिर किसी विशेष प्रकार की मात्रा के सहारे अतः स्थित शब्द के बिम्ब को ग्रहण कर वर्णरूप में अभिव्यक्त होते हैं । अतः मातृशब्द के कारण वर्ण के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप में भेद नहीं है ।

अतवर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरित प्राणो वायुस्तेजसानुगहीत शब्दवह्नाभ्यनुपिभ्य सूक्ष्मांश धूमसत्तानवत्सहति । स स्थानेषु शब्दधन राह्यमान प्रकाशमाश्रया कयाचिदत सनिवेशित शब्दस्याविभक्त बिम्बमुपगह्णाति ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

आपिण्णालीय निष्ठा के अनुसार नाभि प्रदेश से प्रयत्न प्रेरित वायु ऊपर उठती हुई उरस्थ कण्ठ आदि स्थानों में किसी स्थान पर टकराती है उसमें शब्द की निष्पत्ति होती है

नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितो वायुर्ध्वमाश्रयमान उरस्थादीनां स्थानानामग्रतः स्थानभिहति । ततः शब्दनिष्पत्ति ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

जिसी दूसरे प्राणिशास्त्रकार का मत है कि वायु कोष्ठस्थानगत ध्वनि विशेष (अनुप्रदान) का प्राप्त होती है । वही कण्ठ में पहुँचकर श्वास नाद आदि के रूप में परिणत हो जाती है

वायु कोष्ठस्थानमनुप्रदानमापद्यते । स कण्ठगत श्वासता नादता वा इत्यादि ।

—वाक्यपदीय १।१।१६ की हरिवृत्ति में उद्धृत

इस मत के अनुसार कण्ठ में विद्यमान पर श्वास और सवत हान पर नाद

^{२६} अभिनवगुप्त ने वाक् तत्त्व के अन्तरग विद्यमान को नाद और बहिरग विद्यमान को वर्ण माना है —

की मण्टि हाती है। इस दृष्टि में श्वास और अनुप्रदान भेद में तो तरह का वर्ण होने है। वपभ के अनुसार यह मत वह वचप्रातिशाख्य में शौनक ने व्यक्त किया है

यथा वह वचप्रातिशाख्ये शौनक — वायु प्राण कोष्ठयमनुप्रदान कण्ठ विवर्ते सवर्ते चापद्यते श्वासता नादतां च वपत्रीहायामुभय चातरे तदपीति ।

वह वचप्रातिशाख्य—वपभ द्वारा वाक्यपदीय १।१।१६ की टीका में उद्धृत ।

अनुप्रदान शब्द के विभिन्न अर्थों का यासकार ने उल्लेख किया है
उपरिवर्तिनी तौश्वासनादौ अनुप्रदानमिति केचिदाचक्षते । वणनिष्पत्तेरनु पश्चात् प्रतीयत इत्यनुप्रदानम् । अथे तु ब्रुवते अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्वयवत् ।

—यास १।१।१६ पृष्ठ ५७

किसी अन्य प्रातिशाख्य के अनुसार मन से अभिहत कायाग्नि प्राण को प्रेरित करती है । वह प्राणवायु नाभि से उठती है । मूधा से जाकर टकराती है । पुनः एक दूसरी उठती हुई वायु में टकराकर क ख आदि ध्वनियों का रूप ग्रहण करती है

मनोभिहत कायाग्नि प्राणमुदीरयति । स नाभेरुध्ममूधनि अभिहतोऽयेन पुनरुद्यता मरताभिहृत्यमानो ध्वनि सपद्यते क इति वा ख इति वा ।

—वही उद्धृत

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जब किसी वस्तु को शब्द द्वारा कहने की इच्छा होती है पक्ष वद्धि मन का सहाय होता है । मन कायाग्नि पर आघात करता है । कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है । वायु उरप्रदग्ग में मद्रस्वर करती है और आग बढ़ती है । कण्ठ स्थान में पहुँचकर मध्यम स्वर करती है और शीघ्र स्थान में पहुँचकर तारस्वर करती है । फिर भुर्ना से टकराकर वह लोट आती है और मुख में विशेष स्थानों में टकराकर विशेष वर्णों को पदा करती है ।

आत्मा बुद्ध या समेत्यार्थामनो युक्तेष्विवक्षया ।

मन कायाग्निमाहति स प्रेरयति मारुतम् ॥

मारुतस्तूरसि चरमद्र जनयति स्वरम् ।

प्रातः सवनयोग त द्यौः गायत्रमाश्रितम् ॥

कण्ठे माध्यदिनमुग मध्यम अण्मातु

तार तार्तीयसवन शीघ्र जातानुगम् ॥

सोदीर्णो मूध्यभिहतो वपत्रमापद्य मारुत ।

वणाञ्जनयते तेषां विभाग पञ्चधा स्मृत ॥

—पाणिनाय नि ता ६८

वाक्यपट्टायकार ने नि ताताग के विभिन्न मन्त्रों की समीक्षा कर उक्त किया है किमो प्रकार मान मन का सहायक है — प्रतिपाद्य नितामु भिन्न आगमन्त्रान दयमान सव प्रपचेन समययितव्यम् ।

—वाक्यपट्टाय १।१।१६ हरिवन्ति पृष्ठ १०८

वायुशब्दत्वापत्तिवाद

किसी दशान के अनुसार वायु की गन्धत्वापत्ति होती है। वायु प्रकृतिमात्राया (ऋकतय पृष्ठ १) वायु ध्वना के इच्छाजय प्रयत्न में नियामील हाकर तावादि स्यातो म टकराकर गन्ध रूप में परिणत हो जाती है। वायु के वर्ग में ध्वनि का उद्भूत होना कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वायु गतिमान है। उसके वर्ग में मारवान वस्तुएँ पर्वत आदि तक विभक्त हो जाते हैं फिर उसके प्रकप में तालु आदि में ध्वनि के प्रकट होने में कोई बाधा नहीं — (वायुपत्नीय १।१०८ ११०) ।

अणु शब्दत्वापत्तिवाद

भन हरि ने एक ऐसे दशान का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार अणु ही गन्ध रूप में परिणत हो जाते हैं। शब्द परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे स्वगतिमान हैं। मयान और विभाग उनकी क्रियाएँ हैं। जब किसी निमित्त से उनका संयोग हो जाता है व परिणत होने लगते हैं। जब अलग होते हैं परमाणु की छाया में अवस्थित रहते हैं। यद्यपि अणु गन्धत्वापत्ति गति-युक्त है फिर भी प्रयत्न में महियमाण हाकर ही व गन्धरूप को प्राप्त करते हैं। गन्धरूप में परिणत होने के कारण उन अणुओं का गन्ध कहते हैं।

अणु के वाक्य तत्त्व में बदलने का मिद्वान जनदशान का है

आहतास्त्वाह सूक्ष्म गन्धपुद्गल आरधगरीर गन्ध स्वप्रभवभूमे निष्कस्य प्रतिपुष्ट्य कणमूलमुपसपतीति—यायमजरी, चौखम्बा मस्वरण १८३६, पृष्ठ १६८

गन्ध परमाणु आनेन्द्रिय ग्राह्य होकर गन्धरूप में परिणत हो जाते हैं। इस मिद्वान का बोद्धदशान भी मानना है।

गन्धपरमाणव एवं सहता ओत्रेन्द्रियग्राह्या शब्दाकारा ।

—जिनेन्द्रबुद्धि प्रमाणममुच्चय टीका पृष्ठ ७३

ज्ञान शब्दत्वापत्तिवाद

कुछ विचारकों के अनुसार ज्ञान ही गन्ध रूप में परिणत हो जाता है। ज्ञान सूक्ष्म है। उसमें और सूक्ष्म गन्धतत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञानात्मा और वागात्मा एक ही चीज है। सूक्ष्मता के कारण अनेन्द्रिय है। ज्ञान जब अपने का स्थूल रूप में व्यक्त करता चाहता है गन्ध रूप में उसका विवर्त होने लगता है और वह अनेन्द्रिय ग्राह्य होने लगता है। वह पञ्च मनोभाव को प्राप्त होता है। पुन आन्तरिक रूप से उसका पाव होता है जिसमें उसमें विषय के ग्रहण की शक्ति आ जाती है। फिर वह प्राण वायु में प्रवेग करता है। प्राण वायु अन्न करण के तत्त्व में युक्त होती है। अज्ञान मना मय रूप धारण करती है और जिस तरह इधन अग्नि के संयोग में इधनरूप का उत्पन्न कर अग्निमय बन जाता है वही तरह प्राण-वायु भी अपना स्वरूप छोड़ कर मनोमय हो जाता है। पुन भिन्न भिन्न धुनिया (विशेष ध्वनियों) में अपने स्वरूप को विभक्त

करती हुई प्राणवायु वणों का व्यापन कर वणों में हा जान हा जाता है । प्रधान प्राण वायु वण का रूप में अभिव्यक्त हा उठती है । अगानि पान की विवृति में मन्त्र प्रकाश माना जाता है ।
(वाक्यपटीय १।११३ ११६)

कथं क अनुगार आत्मनापयोग १।६।२६ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने भी पानात्मनापत्तिवात् ता मन्त्र किया है । महाभाष्यकार ने अध्यापन पान के उपाध्याय के पानका माननकथा है और उस ज्योति की तरह माना है । जिम तरह ज्योति लगानार अविच्छेदरूप में निरलती हुई भिन्न भिन्न होती हुई भागात्म्य के कारण एक ही एक सन्तान में जान पड़ती है उसी तरह उपाध्याय के पान भी भिन्न भिन्न है और भिन्न भिन्न गन्त स्वस्व को ग्रहण करत है और अगानि उग मन्त्र कहत है

यथा ज्वालादप ज्योति अविच्छेदेन उत्पद्यमान सादृश्यात् तत्त्वेन अध्यवसीय मान सतत तथैव उपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि भिन्नगद्दरूपताम आपद्यमानानि सतता पृच्छ्यते । ज्ञानस्य गद्दरूपापत्तिरिति दर्शनमथ भाष्यकारस्य ।

—कथं महाभाष्य १।६।२६

एक दूसरे प्रवाद के अनुसार गन्त निय (अजस्रवन्ति) के सूक्ष्म होने के कारण उसकी स्वतन्त्र उपलब्धि नहीं होता । जिम तरह वायुपरमाणु व्यक्त या निमित्त के अभिघात से महति का प्राप्त होत है वस ही सूक्ष्म गन्तपरमाणु कारण (आम्यन्तर प्रयत्न) के अभिघात से सह्यमाण होकर गन्तरूप में एक होत है ।

—(वाक्यपटीय १।११७)

ध्वनि या गन्त की निष्पत्ति के बारे में भक्त हरि ने एक और मत का निर्णय किया जा उनका अपना जान पड़ता है । निष्पत्ति की दृष्टि से गन्त दो तरह का है । प्राणाधिष्ठान और बुद्धि अधिष्ठान । प्राणमात्रागति और बुद्धिमात्रागति दोनों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और तब श्रवण का आभास होता है । बुद्धि गति से प्राण गति का अनुग्रह (सहभाव) होता है । वह प्राण में विणय शब्दाकार का डाल देती है जिसमें प्राण विणिष्ट स्थान पर टकराकर विणिष्ट ध्वनि या वण का पदा करता है । यदि बुद्धिगति से प्राण का अनुग्रह न हा—उसमें किसी विणय गन्त की भावना न हा ता प्राणगति के आघात से केवल अश्रवणाश्र ध्वनि पदा होती है । प्राणगति के द्वारा भी बुद्धिगति का अनुग्रह हाता है । क्योंकि बुद्धि गन्तकागन्त पाणगति के बिना गन्तरूप में परिणत नहीं हा सकती । प्राणगति ऊपर उठे हुई जिम वण विषयक प्रयत्न में प्ररित रहती है उस स्थान पर जाकर चाल करती है । तब तरह से वण की निष्पत्ति होती है । वह विवत के रूप में पृथ्वी केनन प्रप्राथ धाय आदि भक्त को ग्रहण करता है और गन्त तत्त्वरूप प्रतिभा में ता वास्तव में इन भेदा की छाया ही (अनुराग) रहती है

गद खलु प्राणाधिष्ठानो बुद्धि अधिष्ठानश्च स तु द्वाभ्या प्राणबुद्धिमात्रागतिभ्या प्रतिलब्धाभिव्यक्तितरथ प्रत्यापयति । तत्र प्राणा बुद्धि तत्त्वेनांतराविष्ट । स धोषमभिप्रवृत्तो ज्वालावद्वणस्थानेषु आक्षेपकप्रयत्नानुविवाधो प्रतिविघातविवर्तेन नित्यगदोपग्राहिणा विवर्तते । स च ससष्टप्राप्तशक्ति

विवृत पृथिवीकललयप्रोधधानादिवदभेदमुपगच्छति । भेदानुरागमात् च परस्मिन्भेदे शब्दात्मनि सनिवेशयति ॥११८॥

—वाक्यपत्नीय, हरिवृत्ति १।११८ पृष्ठ १०५

वर्ण सावयव और निरवयव

प्राचीन वैयाकरणों ने वर्ण के सावयव और निरवयव पक्ष पर भी विचार किया है। यद्यपि सावयव और निरवयव दोनों रूप में वर्ण पर विचार किया गया है परन्तु सिद्धान्त रूप में निरवयव पक्ष को अधिक मायना दी गई है। भक्त हरि ने वर्ण के लिए विभाग शब्द का भी प्रयोग किया है। विभक्त किए जाने के कारण वर्णों का विभाग कहते हैं। (विभज्यते इति विभक्ता वर्णा) और कहीं कहीं वर्ण के अवयवों के लिए मात्रा शब्द का भी व्यवहार किया है। निरवयववर्णपक्ष में मात्रा विभाग कल्पित होते हैं तत्तद्व्याप्य निरवयव वेष्टु वर्णेषु मात्राविभागाध्यवसाय —वाक्यपत्नीय हरिवृत्ति १।८६) ।

भक्त हरि ने वर्णतुरीयाश (वाक्यपदीय १।६३ हरिवृत्ति) और तुरीयतुरीयक (वाक्यपत्नीय १।७३ हरिवृत्ति) शब्दों का व्यवहार किया है जो वर्ण के सावयव पक्ष में ही मायक हो सकते हैं। वर्णमय अनुसार तुरीयतुरीयक का अर्थ वर्ण की पाठ्यीकता है (तुरीयतुरीयमिति चतुर्थस्य चतुर्थो भाग षोडशी कला पृष्ठ ७६) । व्याकरण संप्रदाय में वर्ण की चतुर्थ या पाठ्यी कला प्रसिद्ध नहीं है। परन्तु भक्त हरि के समय में तत्त्वों में इस तरह के विचार प्रारंभ हो गये थे जिसका प्रभाव भक्त हरि पर पड़ा है। वर्ण की पाठ्य कलाओं का उल्लेख शिवागम में मिलता है

अग्नी चाकाराद्या स्थितिमात्र प्राणो तुष्टिषोडशकादिस्थित्या एका तुष्टि सधो कस्यार्धाधभागेन प्रत्ययोदययोर्बहिरपि पञ्चदशदिनात्मककालरूपता तत्तत इति तिस्र्य कलाश्चोक्ता षोडशेव च कला विसर्गिता ।

—परात्रिनिष्ठा पृष्ठ २००, २०१

कश्मीर शिवागम में विसर्ग ह्कार का आधा माना जाता है और विसर्ग उसका भी आधा। वर्ण जब निरवयव है उपयुक्त मत कम ठीक है? इसके उत्तर में अभिनव गुप्त का कहना है कि सब कुछ अनवयव है क्योंकि सब एक चिन्मय में अवभासित है। तथापि स्वतन्त्र के कारण ही अवयव के अवभास होने पर भी अनवयवता ही अविनश्यरी (अनपायिनी) है। इस ही वर्ण के विषय में भी समझना चाहिए। वर्ण की उत्पत्ति हाँ एमा है। अथवा दन्त्य आष्ठ्य कण्ठ्य, तालय आदि वर्णों में क्रम से प्रसारित होने वाली वायु कम कठ का हनन कर तानु पर आघात करती है। यदि दोनों स्थान पर युगपत् आघात मान तो दोनों ध्वनियाँ समकालिक हो जाएँगी और कण्ठस्थान में उत्पन्न ध्वनि तालयज जान पड़ने लगेगी। पश्चात् प्रतीयमान होने के कारण श्वाभ और नाद को अनुप्रदान कहते हैं। जिस तरह द्विमात्रिक त्रिमात्रिक के गम में एक मात्रिक द्विमात्रिक पड़ ही रहते हैं उसी तरह मात्रिक में भी अवभासा आदि का योग मानना चाहिए। इस तरह वर्ण में षोडश कलाएँ संभव हैं। ये ही कलाएँ ह्लादनामात्र चित्तवृत्ति के अनुभावक होकर स्वर कहली जाती हैं

वर्ण सार्थक और निरर्थक

वयाकरण वर्ण को साधक और निरर्थक माना मानत है। जहाँ अथर्व्य व्यतिरिक्त के आधार पर वर्ण साधक जान पड़ता है वहाँ वह अर्थवान् है। अथर्व्य अर्थहीन माना जाता है। वर्ण के अर्थयुक्त होने का मुख्य आधार तब है। पद जो वर्ण समुदाय है साधक देखा जाता है। यदि वर्णों का सघात साधक है तो उसका एक अर्थवच, वर्ण भी साधक है। भाष्यकार न इसके समयन में कहा है कि यदि एक तिल में तेन निबन्धन मक्ता है तो एक पसेरी तिल में भी तेन निबन्धन मक्ता है। यदि एक मिश्रता-वर्ण में तेल असम्भव है तो बालू की ढेर में भी तेल असम्भव है। अतः यदि वर्ण-समुदाय साधक है तो प्रत्येक वर्ण भी अर्थयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त एक एक अक्षर वाले धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात साधक दखे जा सकते हैं। वर्ण व्यत्यय (एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आ जाना) से दूसरा अर्थ दखा जाता है और एक पद में एक वर्ण का हटा देने में अर्थ बदल जाता है। इन कारणों से वर्ण की साधकता भिन्न होती है।

वर्ण का निरर्थक मानने वाला का कहना है कि प्रत्येक वर्ण का अर्थ अनुभव में नहीं आता इसलिए वर्ण का साधक नहीं मानना चाहिए। वर्ण के व्यत्यय (एक पद में वर्ण का स्थान परिवर्तन) अपाय (लाप) उपजन (आगम) और विकार (आदेश) होने पर भी कभी-कभी वही अर्थ देखा जाता है। इससे भी वर्ण की अर्थहीनता चोत्थित होती है। यदि प्रत्येक वर्ण साधक है और उदाहरण के लिए कूप सूप यूप में विशेष अर्थ का और य का मान लिया जाय तो उप शब्द पक्ष हो जाता है। इसलिए प्रत्येक वर्ण में अर्थवत्ता न मान कर वर्णों के सघात में ही विशिष्ट अर्थ की ओर ध्यान देना चाहिए।

न कूपसूपयूपानाम-व्यो-यस्य विद्यते।

अतोऽर्थांतरवाचित्व सघातस्यैव गम्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१७० (लाहौर मस्वरण)

अभिनवगुप्त ने वर्ण की वाचकता का समयन करत हुए कहा है कि सकार परमानन्द अमृत स्वभाव वाला है। वह अपने आविर्भाव के साथ सम्पूर्ण वर्ण समुदाय का आशेष कर उत्पन्न होता है। देखा जाता है कि हमारे के अभिप्राय और इगित का गीघ्र ही समझ जाने वाले व्यक्ति गगन गवय गो आदि शब्दों के आदि में अथवा ग्रीच में स्थित ग आदि वर्ण या मात्रा में ही अभीष्ट समझ जानें हैं—अथवा ग मुक्त ही वक्ता का अभिप्राय गगन से है ऐसा समझ जानें हैं—उनमें मात्रा से सत्य का संकेत हो जाता है। वस्तुतः प्रत्येक वर्ण में वाचकता होती है। नीचे कहा है—

शब्दाथप्रत्ययाना इतरेतराध्यासात् सकार । ततः प्रविभागसमयात् सवभूत कृतज्ञानम् ।

—यागसूत्र १।७

अ च आदि एक वर्ण मात्र निपात विभक्ति आदि वाचक दखे जाते हैं। वे मायापद में रहते हुए भी पारमाथिक प्रमाणपद में गीन रहते हैं। और इन्ना से पदार्थ -

मुच्य अतत्त्वभूत कभी निषेध के रूप में और कभी समुच्चय के रूप में नियत या समुच्चय के अर्थ को व्यक्त करता है। भन्तृहृत् का भी ऐसा अभिप्राय है जो वे वाक्य-विचार के प्रसंग में कहते हैं—

पदमाद्य पथकस्य पद साक्षाक्षमित्यपि (वाचस्पतीय २।२)। इसलिए वे व्याकरण में सावागमों में मात्र लोका आदि के शब्दों में अभावण के साम्य पर निवचन किया जाता है। तथा च वेदव्याकरण पारमेस्वरपु आरम्भेषु मन्त्रोभादिशब्देषु अक्षर-वर्णमाभ्यात निवचनमुपपन्नम्।

—पराश्रितिका २३६ २४१

शब्द

शब्द शब्द का प्रयोग नती घाप आदि के रूप में भी किया जाता है। किन्तु व्याकरण दान में विचार के क्षेत्र में शब्द शब्द मदा उस ध्वनि के लिए आता है जिसके उच्चारण से किसी विषय अर्थ का ज्ञान होता है। भन्तृहृत् न तो शब्दों के लिए उपादान शब्द का प्रमाण किया है। वाच्य शब्द को उपादान कहते हैं। वाच्य शब्द अर्थ का ग्रहण होता है अथवा उसमें अर्थ अपने स्वरूप में अध्वारापित होता है अथवा वाच्य शब्द स्वतः माना अध्वारा हा जाता है क्योंकि वक्ता अर्थ के आकार से पहचान सक्षम होकर शब्द का उच्चारण करता है इसलिए माना शब्द स्वयं अर्थमय हा जाता है।

सप्रह में उपादान का विनियोग दा-तीन तरह से किया गया है। अयुत्पत्तिपक्ष में शब्द अपने स्वरूप का ही निमित्त मान कर अर्थ का जताना है। इसलिए यह उपादान है वाच्य है। अयुत्पत्तिपक्ष में वह अर्थ को ध्यान में रखकर निमित्त होता है शब्द की अयुत्पत्ति का प्रयोजन होता है। जो शब्द अयुत्पत्तिपक्ष में गमनशील अर्थ रखता है। इसलिए गमनशील गोजानिरूप अर्थ का वह निमित्त होता है। इस दृष्टि से वह स्वरूप से भिन्न है और उपादान अध्वान मूल कारण है। कुछ लोगो के मत में उपादान शब्द होता है क्योंकि वह वह है तथा व्यवस्था के द्वारा सम्बन्ध निधय में समर्थ होता है।

एव हि सप्रह पठ्यत—वाचक उपादान स्वरूपवान् अयुत्पत्तिपक्षे। अयुत्पत्ति पक्षे स्वर्भावहित समाधित निमित्त शब्दअयुत्पत्तिवमणि प्रयोजकम्। उपादान श्रोतक इत्येके। मोक्षमिति ध्यपदनेन सम्बन्धोपापागस्य शब्दत्वान् इति।

सप्रह वाचस्पतीय १।४४ इतिवन्ति म उद्धत

वपभ य अनभार प्रयोजक उपादान —तथा पात्र होता चाहिए।

भन्तृहृत् के मत में शब्द का उपादान ध्यान में रहते हैं कि उसमें समुदाय वर्ण गमन का उपादान होता है। स्वरूप पद में ध्वनयदा से वाच्यता होता इसलिए ध्वनों से अनन्त ध्वनय जान ना अर्थान्तर होता है।

उपादानो वा समुदाय उपादान। तथाहि स्वर्णपदायकषु ध्वनयवानामनुपादपत्तवाह विभाणानामप्रतिपत्तिः।

—वाचस्पत्ययन इतिवन्ति १।४४

उपादान शब्द का तरह का होता है। यह भेद कल्पित है वास्तविक नहीं। शब्द के उच्चारण के बाद शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ के अवधारण में दा तरह की क्रिया मन्वी जाती है। इस आधार पर दा तरह के उपादान शब्द का अनुमान किया जाता है। एक प्रत्यायन का निमित्त होता है और दूसरा अर्थ का प्रत्यायक, प्रतिपादक होता है। पहला प्रत्यायन का निमित्त इसलिए माना जाता है कि ये प्रत्यायन के आश्रय होते हैं और श्रुति द्वारा शब्दार्थ की प्राप्ति प्रत्यायन द्वारा ही होती है। दूसरे उपादान का प्रतिपादक या प्रत्यायक इसलिए कहते हैं कि वह केवल प्रत्याय्य परतन्त्र होता है। स्थान-कारण के अभिधान से शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर शब्द में अर्थ के आकार का प्रातिविम्बिक संक्रमण हो गया रहता है शब्द अथाकार सा हो गया रहता है और उसमें अर्थप्रकाशन की शक्ति की पूर्णता आ गई रहती है। निमित्त और प्रतिपादक में थोड़ा भेद है। कुछ लोग लघुानुसंहार का निमित्त और उपजनितक्रम को प्रतिपादक या प्रत्यायक मानते हैं। क्योंकि एक पद में स्थित वण अलग अलग रूप में केवल निमित्त होते हैं। परन्तु अन्तिम वण के उच्चारण होते होने ममुदित रूप में एकाकार बुद्धि में जब भावित हो उठते हैं वाचक कहे जाते हैं। दूसरे शब्दों में अन्तम को निमित्त और क्रमवान को प्रतिपादक कहते हैं। वक्ता की दृष्टि से अन्तम क्रमवान का निमित्त होता है। परन्तु श्रोता की दृष्टि से यह क्रम उलट जाता है। अर्थात् क्रम अन्तम का निमित्त होता है। क्योंकि उच्चरित शब्द क्रमवान के रूप में श्रोता तक पहुँचता है परन्तु उस क्षण श्रोता की प्रत्याय्य प्रत्यायक शक्ति अन्तरूप में ही रहती है। कुछ प्राचीन आचार्य निमित्त और प्रतिपादक में स्वभावतः भेद मानते हैं। जो लोग काय-कारण में भेद वाल मिद्धात के अनुगामी हैं उनके अनुसार निमित्त और प्रतिपादक में भेद काय-कारण में भेद के अनुसार है। कुछ लोग का मत में निमित्त और प्रतिपादक एक ही शब्दात्मा के दो पहलू हैं। दो तरह की शक्तियाँ में दा तरह की बुद्धि भावना का हो जाने के कारण एक ही दो रूप में स्थित होता है। कुछ आचार्य शब्दावृत्ति का निमित्त और शब्दव्यक्ति का प्रतिपादक मानते हैं। उनके विपरीत कुछ चिन्तक शब्दव्यक्ति को निमित्त और शब्दावृत्ति का वाचक मानते हैं। पुनः कुछ आचार्य शब्दावृत्ति और शब्दव्यक्ति में भेद और कुछ आचार्य उनमें अभेद मानते हैं।

उपादान शब्द निमित्तरूप में भी स्वरूप और परम्प का प्रकाश ११११ । जैसे अरणि में दीजरूप से स्थित प्रकाश दूसरे प्रकाश का कारण होता है ११११ । में व्यक्त होता है उसी तरह बुद्धि में दीजरूप में स्थित शब्द परिग्रह ११११ । कारण के अभिधान से ध्वनिरूप में व्यक्त होकर स्वरूप और परम्प ११११ । है। भनहरि का मत में बुद्धि में विभिन्न शब्दों की भावना रहती है ११११ । स्पष्टता और मुख्यता उसका परिपाक है। विवक्षा हान पर वह ११११ । प्रकट होता है। ध्वनिभेद से उसके आकार में भेद और ११११ । वक्ता की दृष्टि से पहले शब्द का बोद्धि का ग्रहण होता है और ११११ । पहले उस शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर ११११ ।

तरह अन्न वणा के सघात से उनकी मूल अभिव्यक्ति हानी है वैसे ही नाद परमाणुओं के सघात से नाद की स्थूल अभिव्यक्ति हानी है। शब्द आद्यग्राह्य होता है। शब्द अपने आप में अविकृत है जबकि नाद या ध्वनि विनियामक है। नाद के रूप में विघटन होने से उसमें नादगन गुणों का क्रम आदि का आभास होता है और वह विकार को प्राप्त होता हुआ जान पड़ता है। जम जलजल चंद्र प्रतिबिम्ब जल की चंचलता से चंचल जान पड़ता है परंतु वस्तुतः उसमें चंचलता नहीं है। उसी तरह अभिनात्मा शब्द भी भेदमयी नादवृत्ति के कारण विचित्र अवस्था को प्राप्त हुआ जान पड़ता है।

ज्ञान में ज्ञान का स्वरूप और ज्ञेय का स्वरूप दोनों निश्चिद होते हैं। ज्ञान नय परतंत्र होता है। और ज्ञान के स्वरूप का स्मरण होता है। इससे ज्ञान के स्वरूप का अनुभव अवश्य होता है। इसी तरह शब्द में शब्द के स्वरूप और अर्थ स्वरूप दोनों नाशित होते हैं। जम ज्ञान ज्ञेय परतंत्र है वैसे शब्द भी अभिधेय परतंत्र है। अर्थ के लिये शब्द का प्रयोग होता है। इसलिये शब्द अर्थ और अर्थ के स्वरूप दोनों को व्यक्त करता है। व्याकरण की दृष्टि में अर्थ में प्रत्यय आदि न हो सकने के कारण स्वरूप का प्रधानता दी जाती है। (वाक्यपदीय १।६७।१)।

अनर्थक शब्द की अभिव्यक्ति में काम करने वाली क्रियाशक्ति का बार बार उल्लेख किया है। शब्द पढ़ने क्रमवान होता है। शब्द स्वतंत्र रूप में अपने अवयवों से परिपूर्ण है। किंतु जब वक्ता की बुद्धि में लीन रहता है उसके सभी भाग एक में मिल गए रहते हैं। सभी अवयवों का उपसंहार रहता है वह अश्रम हो गया रहता है। किंतु विवक्षा जगत् पर अश्रम रूप में वर्तमान शब्द पर वाक्य आदि के घम को ग्रहण करता हुआ अपने प्रत्येक अवयव का ध्यान करता हुआ श्रमवान का रूप बना है। यह व्यापार जिस शक्ति के द्वारा होता है उस क्रियाशक्ति कहते हैं जिस तरह वक्ता के शब्द की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में शब्द श्रमवान श्रम और पुनः श्रमवान होता है उसी तरह श्रोता की दृष्टि में भी अभिव्यक्ति के उपयुक्त तीन रूप लभ्य होते हैं। श्रोता जब शब्द सुनता है शब्द श्रम रूप में जान पड़ता है, पूरा सुनने पर शब्दों के अवयव एक में मिल जाते हैं और विभाग मिट जाता है श्रम का ज्ञान मंद पड़ जाता है। पुनः दूसरा का वर्तनात ममम शब्द श्रमवान हो उठता है। ध्वनि के मग्न अभिव्यक्ति हानि के कारण शब्द का श्रम रूप में जान पड़ना स्वाभाविक है। एकबुद्धिनिवृत्ति के रूप में शब्द का प्रतिमहत्तरम के रूप में ज्ञान भाव स्वाभाविक होता है किंतु श्रम पूर्व की अवस्थामें भी शब्द का श्रमवान जाना विलम्ब है।

तत्र स्वयं ग्राह्य भी होता है और ग्राह्य भी होता है। शेष में घट का प्रयत्न होता है और स्वयं प्रकाश का भाव। शब्द भी एक तरह का घट प्रकाश है। श्रमम भी शब्द का शक्तिशाली है। वयं प्रकाशक है। वयं प्रकाश है। वयं वाक्य भाषी वाच्य भी है।

प्रकाशकप्रकाशयत्य वाक्यकारणरूपता।

अन्तर्मात्रात्मनस्तत्त्वमिदं नदत्तव्यं सदा ॥ - वाक्यपदीय १।७०

भौतिक तज म गद तज में अन्तर यह है कि भौतिक प्रकाश वस्तु उम प्रकाश म मवथा भिन्न है। सकती है जैसे दीप के प्रकाश स गद प्रकाश म प्रकाशित वस्तु भत हरि क मन म उम प्रकाश म भि पडती है पर वस्तुन भिन नहीं है।

अयमन्तर्मात्रा शब्दोऽनपायि यपायिनोम्या द्वाभ्या शब्दशक्तिभ्यामनुगत । तस्थन-
स्मिन्नात्मयविभवतमपि प्रकाशकत्वे प्रकाश्यत्वे विभक्तमिव प्रत्यक्षमासते ॥

—वाक्यपदीय २।३२ पर हरिवृत्ति, लाहौर संस्करण

जब भत हरि शब्द और अथ (प्रकाश और प्रकाश्य) की अभिनता की चचा करते हैं उम समय व उम दगन का मानत जान पडत हैं जा अथ (वस्तु) को बुद्धिमत्तात मानता है। बिना बौद्धिक अयभावना के बाह्य अय-व्यवहार सम्भव नहीं है। बुद्धि मत्तात अथ बुद्धिमत्तान्त गद का एक पहलू है। दाना एक ही तत्त्व के रूप हैं।

एकस्यात्मनो भेदो शब्दार्थाव पृथक्स्थितौ ।

न हि प्रतिल घाय रूपविपर्यासा बुद्धिमारेण बाह्य वस्तु व्यावहारिकीष्यथ
त्रिषामु समथ भवति । तस्मादतर्निविष्ट रूपेणार्थेन सर्वो व्यवहार क्रियते ।

—वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति ला० म० पृष्ठ २८

वाक्यपदीयकार के मन मे ध्वनि के उच्चारण और गद स्वरूप के परिमाण क बीच म कुछ गद जान व महायक साधन है। व कर्ष हैं पर उनका स्वरूप समझता कठिन है। मवत्न और प्रत्यक्ष क बीच म जस कुछ मानसिक क्रिया जानी है वग ध्वनि मवत्न और गद प्रत्यक्ष क बीच भी अवश्य जानी जानी ।

प्रत्ययरनुपास्येष्यप्र हणानुगुणस्तथा ।

ध्वनि प्रकाशित शब्दे स्वरूपमवधायते ॥

शब्द के आकार-ग्रहण का प्रकार

करण को मानते हैं। इस तरह क बौद्धिक अवधारण को वातिककार न (अमकीति और उनक व्याख्याता प्रनावर गुप्त) चित्र बुद्धि' कहा है

अवधारणापरपरायि ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यात करणाधिकरणमिति साध्या
मयते । एतच्चावधारण चित्रबुद्धिरिति वातिककारोया मयते ।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण का समस्त वण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिचय ही अवधारण है

अवधारण समस्तवण विषय स्मरणमित्याचक्षते । परमाथतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेवतत ।
ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात् । न अयथा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति ।

—चाण्डेव गार्गी द्वारा वा० प० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भत हरि के अनुसार शब्द का आकार अमकितके द्वारा पाव भागा में निम्न रूप में वक्ता और श्रोता दोनों में मूलमान होता है। गन रूप में उच्च रूप में उपागु रूप में परमापागु रूप में और सनिहितक्रम रूप में। इनमें शन और उच्च अभिव्यक्त ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात आदि की शक्ति पर निर्भर करता है। बलाघात के तार या मन्द से ध्वनि भी उच्च या गन रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२८) में आयामो दाहण्यम अणुता खस्येति उच्च कराणि शब्दस्य निष्ठा है। गात्रा का निग्रह (स्तब्धता) आयाम है। स्वर की स्थिता (अग्नि स्थिता) दाहण्य है। कण्ठ की मवतता अणुता है। य सब गान के उच्च करण है। नीच ध्वनि के विषय में वही निष्ठा है—अववसर्गो मादवम उरुता खस्येति नीच कराणि शब्दस्य। गात्रो की गिथितता का नाम अववसर्ग है। स्वर की स्निग्धता मादव है। कण्ठ की महता उरुता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निकल जाती है)। फलतः गलावयव गुप्त न हो पाते हैं और स्निग्ध बन रहते हैं—याम (१।२।३०)। महाभाष्यकार के अनुसार उरु कण्ठ और गिर के ममान प्रथम पर भी उच्च निच भाव अवस्थित है। कैट के मत में प्रथम का अर्थ स्थान है। गन (वक्ता) के तानु घाति स्थाना में जो ऊँच और अधरभाग में युक्त है उच्च भाग में निष्पन्न ध्वनि उच्च (उगात्) है और अधर भाग से निष्पन्न नीच (अनुगात्) है। उच्च और नीच गान उच्च और अधरभाग के उपरान्त हैं। षड्ज आदि स्वर त्रिषेध की तरह उच्च-नीच का प्रभुत्व भी अभ्यासयोग्य है। (कथं महाभाष्य १।२।२६ ३०)। उपागु गान का उग अवस्था का कहना है किमम प्राणशक्ति का मवगता रहता है किन्तु दूसरा का ध्वनि उग मवगजय ध्वनि का ग्रहण नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूसरे में अवगद्य होती है

तत्र प्राणव्यनुग्रह सत्यय यत्र गानरूप पररगयेद्य भवति तदुपागु ।

—वासरगाय १।८ टिप्पणी, लाटीर सम्मरण पृ० १३

जब गान प्राणशक्ति के मवगता से न बचने बुद्धि में मवान्त रहता है और

बुद्धि गक्ति म ही संचालित रहता है उस अवस्था का परमापाणु गन्ध स च्यातिन करत है—

अन्तरेण तु प्राणवत्तनुग्रह यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्धयुपादान एव गन्धात्मा तत् परमोपाणु ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १७ ।

अव्यक्त गन्ध म आरोपित क्रम का बुद्धि द्वारा मा ताजार तो होता है परन्तु अभिव्यजक किसी भी निमित्त स उसका सम्पर्क नहीं होता वह निम्पद पर बुद्धिग्राह्य क्रममय रहता है । उस अवस्था का प्रतिसहृतक्रम कहत हैं

यत्र तु प्रतिसहृतक्रमगक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तात्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे ध्यारोपित हि गन्धाना क्रमरूपमिव साक्षात्त्रियते तत् प्रतिसहृतक्रमम् ।

—वही पृ० १८ ।

इससे परे भी एक अवस्था होती है । बुद्धि म गन्ध जत्र क्रमरहितरूप म अवस्थित रहत है, सवथा उसमें लीन हो गए रहत हैं वे अनिवचनीय में हात है और व्याख्यान गक्ति से परे हैं

गन्धाना क्रमरूपोपसंहार विषयाया बुद्धावसम्प्रख्यात तत्त्वमिव प्रतिपद्यमा नायामारम्यत गन्धातीतो यवहार ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा हान पर प्रवक्ता का गन्ध बुद्धि म प्रयत्न म प्राण मे, जिह्वेन्द्रिय म क्रमगन्धोपापारित हाता हुआ प्रयत्न होता है और श्राना का भी क्रमरूप मे भासित हाता है ।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीघता परिमाण है । अल्पनिष्ठ गुण है । द्रव्य के समवायी है । गन्ध ता एक दृष्टि स स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (दीघता) कस सम्भव है ? दूसरे शब्दों म अल्प और दीघत्व मूल पदार्थ के धर्म है । गन्ध तो अमूल है । अतः शब्द अल्प या महत् कसे कहा जा सकता है ? भन हरि न इस प्रश्न का उत्तर दा तन्त्र से दिया है । पहला तो यह कि शब्द अल्प या महत् उपचार (लक्षणा) के कारण कहा जाता है । एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है । एक पक्क बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है । इस सादृश्य के सहारे जा गन्ध कम स्थान मे फैलता है वह अल्प और जा दूर तक फैलता है उसे मग्न या दीघ कहत हैं । शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है । दूसरा यह कि व्याकरणद्वारा लक्षणगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है । सवत्र अथव्यवस्था का कारण लोक प्रमिद्धि है । लोक का छोटा देने पर पदाय व्यवस्था के निणय म कठिनाई पडता है । क्योंकि तब अनवस्थित ह उसका निश्चय डावाडोल है और गान्ध्या मे मिद्वान्त विषय परस्पर मतभेद पाया जाना ह । इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है । लोक म शब्द का अल्प और महत् गन्ध से व्यक्त करत हैं । अतः गन्ध को अल्प या महत् कहा जाना है (वाक्यपदीय १।१०४, हरिवृत्ति और वपम टीका) ।

करण को मानते हैं। इस तरह के बौद्धिक अवधारण को वार्तिककार ने (यमकीर्ति और उनके व्याख्याता प्रनाकर गुप्त) चित्र बुद्धि कहा है

अवधारणापरपर्यायि ज्ञानमपि बुद्ध्याख्यातकरणाधिकरणमिति साध्या मयते । एतच्चावधारण चित्रबुद्धिरिति वार्तिककारीया मयते ।

—स्फोटसिद्धि, टीका पृ० १३३

स्फोट सिद्धि की व्याख्या में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने यहाँ अवधारण का समस्त वण विषयक स्मरण माना है। उसके मत में श्रवण के बाद शब्द का स्पष्ट परिचय ही अवधारण है

अवधारण समस्तवण विषय स्मरणमित्याचक्षते । परमाथतस्तु प्रत्यक्षज्ञानमेव तत् ।

ध्वनिसंस्कृतश्रोत्रेन्द्रियजनितत्वात् । न अथवा स्फुटप्रकाश उपपद्यत इति ।

—चाण्डोदेव गान्धी द्वारा वा० पृ० १।८५ की टिप्पणी में उद्धृत पृ० १३३

भक्त हरि के अनुसार शब्द का आकार श्रवणशक्ति द्वारा पांच भागों में निम्न रूप में बहता और श्रोता दानों में भूतमान होता है। गान रूप में उच्च रूप में उपागु रूप में परमापागु रूप में और सनिहितक्रम रूप में। इनमें गान और उच्च अभिव्यक्ति ध्वनियों के पीछे रहने वाली प्राणशक्ति अथवा बलाघात शक्ति की शक्ति पर निर्भर करना है। बलाघात के तार या मात्र से ध्वनि भी उच्च या गान रूप में भासित होगी। उच्च ध्वनि के विषय में महाभाष्य (१।२।२८) में आयासो दाहण्यम अणुता खस्येति उच्च करणि शब्दस्य लिया है। गात्रा का निग्रह (स्तब्धता) आयास है। स्वर की स्थिता (स्थिति स्थिता) दाहण्य है। कण्ठ की सख्यता अणुता है। य सत्र शब्द के उच्च करण है। नीचे ध्वनि के विषय में वही लिया है—अववसर्गो मादवम उस्ता खस्येति नीचे करणि शब्दस्य। गात्रा की स्थिति का नाम अववसर्ग है। स्वर की स्थिति मात्रा है। कण्ठ की महत्ता उस्ता है (कण्ठविवर के महत् होने के कारण वायु शीघ्र ही निवृत्त जाती है। फलतः गलावयव गुप्त न हो पाते हैं और स्थिति बन रहते हैं—याम १।२।०)। महाभाष्यकार के अनुसार उक्त कण्ठ और गिर के समान प्रथम पर भी उच्च निच्य भाव अवस्थित है। कथन के मत में प्रथम का अर्थ स्थान है। एत (वस्ता) के तालु शक्ति स्थाना में जो ऊँचे और अधरभाग में युक्त हैं ऊँचे भाग में निष्पन्न ध्वनि उच्च (उगत) है और अधर भाग में निष्पन्न नीचे (अनुगत) है। उच्च और नीचे गान उच्च और अधरभाग के उपरि गान हैं। पञ्च शक्ति स्वर विषय की तरफ उच्च-नीचे का अनुभव भी अनुभवयोग्य है। (कथन महाभाष्य १।२।२६ ०)। उपागु गान का उग अवस्था का कथन है जिसमें प्राणशक्ति का गमन होता रहता है किन्तु दूरी का स्थिति उग सख्यजय ध्वनि का स्थिति नहीं कर सकता है। वह सूक्ष्म होती है और दूरी में अवस्थित रहती है

तत्र प्राणवत्यनुगत गायत्र यत्र गानरूप परमवद्य भवति तदुपागु ।

—वाचस्पत्य १।२ इति नि तादौ गमनं पृ० १३

यत्र प्राणशक्ति के गमन में स्थिति बहने बुद्धि में गमन रहता है और

बुद्धि शक्ति से ही मंचालित रहता है उस अवस्था का परमोपाय शब्द से व्यक्तित्व बनता है—

अतरेण तु प्राणवत्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्धयुपादान एव शब्दात्मा ततः परमोपायः ।

—वाक्यपनीय २।१६ हरिवृत्ति पृ० १७ ।

अथवा शब्द में आरोपित श्रम का बुद्धि द्वारा या तात्कार तो होता है परन्तु अभिव्यञ्जक किसी भी निमित्त से उसका सम्पर्क नहीं होता वह निष्पद पर बुद्धिग्राह्य नममय रहता है । उस अवस्था का प्रतिसहृतश्रम कहते हैं

यत्र तु प्रतिसहृतश्रमशक्तियोगया बुद्ध्या निमित्तात्तरोपसम्प्राप्तमव्यक्ते शब्दे ध्यारोपितं हि शब्दानां श्रमरूपमिव साक्षात्प्रपद्यते तत् प्रतिसहृतश्रमम् ।

—वही पृ० १-१ ।

श्रम पर भी एक अवस्था होती है । बुद्धि में शब्द जब नमरन्तिरूप में अवस्थित रहते हैं मवथा उमम लीन हो गए रहते हैं वे अनिवचनीय स हान हैं और व्याख्यान शक्ति से परे हैं

शब्दानां श्रमरूपोपसंहार विषयायां बुद्ध्यावसम्प्रसूयात् तत्त्वमिव प्रतिपद्यमानायासारमप्यते शब्दातीतो व्यवहारः ।

—वही पृष्ठ १७

विवक्षा हान पर प्रवक्ता का शब्द बुद्धि में, प्रयत्न में प्राण में निह्वेन्द्रिय में श्रमग व्यापारित होता हुआ व्यक्त होता है और श्रोता का भी श्रमरूप में भावित होता है ।

अल्प शब्द और महत् शब्द

अल्पता और दीघता परिमाण है । श्रमण गुण है । द्रव्य के समवायी है । शब्द तो एक दृष्टि से स्वयं गुण है इसलिए उसमें अल्पता या महत्ता (नीघता) कम सम्भव है ? दूसरे शब्दों में, अप्रत्यक्ष और दीघत्व मूल पन्था के धर्म हैं । शब्द तो श्रमण है । अतः शब्द अप्रत्यक्ष या महत्त्व कस कहा जा सकता है ? भन हरि न इस प्रश्न का उत्तर तो तर्क से दिया है । पन्था तो यह कि शब्द अल्प या महत्त्व उपचार (तन्त्रणा) के कारण कहा जाता है । एक सुई छोटी कही जाती है क्योंकि वह अल्पस्थान घेरती है । एक पर्वत बड़ा कहा जाता है क्योंकि वह अधिक स्थान घेरता है । इस सादृश्य के सहारे जो शब्द कम स्थान में फैलता है वह अल्प और जो दूर तक फैलता है उस महान या दीघ कहते हैं । शब्द की यह व्याप्ति अनुमान से जानी जाती है । दूसरा यह कि व्याकरणद्वारा नामगत व्यवहार को आधार मानकर चलता है । मवत्र अथव्यवस्था का कारण लोक प्रसिद्धि है । लोक का छोड़ने पर पदाय व्यवस्था के निणय में कठिनार्द्र पड़ती है । क्योंकि लोक अनवस्थित है उसका निश्चय डीवाडोन है और शास्त्रों में भिन्नान्त विषय परस्पर मनभेद पाया जाता है । इसलिए लोकविज्ञान उपयुक्त आधार है । लोक में शब्द को अल्प और महत्त्व शब्द में व्यक्त करते हैं । अतः शब्द को अप्रत्यक्ष या महत्त्व कहा जाता है (वाक्यपनीय १।१०४ हरिवृत्ति और वृषभ टीका) ।

शब्द का स्वरूप

ऊपर ध्वनि व आधार पर गाने का स्वरूप पर प्रमाण डाला गया है। अथ व आधार पर भी उसके स्वरूप पर विचार किया जाता है। गाने का उच्चारण अथपञ्चान व निष्पत्ति किया जाता है। अथ अथ व आधार पर गाने के स्वरूप का अन्वय प्रमाणित है। पन जलि न भी एसा ही किया है। गाने के स्वरूप व अथ म उनसे प्रमाणित वक्तव्य है।

“येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूल ककुदपुरविषाणिनां सप्रत्ययो भवति स गान्द ।”

प्रतीतपदाथक लोके ध्वनि गाने इत्युच्यते ।”

—महाभाष्य पृ० १ कीलहान मन्वरण

इन दाना वाक्या व अथ म प्राचीन काल से ही निवाचन चला आ रहा है। पहल वाक्य का सरल अर्थ यह है—जिसके उच्चारण से साम्ना लाङ्गूल ककुद गाने और गाने वान का बोध होता है वह गाने है। इसमें गान्ना लाङ्गूल आदि का उच्चारण गाने व प्रमाण म पतजलि ने किया है उस हटा दन पर उनसे मत म गाने की परिभाषा का रूप या होगा येनोच्चारितेन (कस्यचित्) सप्रत्ययो भवति स गान्द ।

इसमें उच्चारण और सप्रत्यय य दाना गाने गाने व लक्षण पर प्रमाण डालत है। गाने वह है जो उच्चारित होता है और किसी अर्थ का प्रत्यायक हो। उच्चारण शब्द गाने के ध्वन्यात्मक स्वरूप को सामने लाता है। सप्रत्ययगाने गाने व सावैतिक रूप को व्यक्त करता है।

पतजलि व दूसरे वक्तव्य का अर्थ है कि प्रतीतपदाथक ध्वनि का गाने कहा जाता है। प्रतीतपदाथक का अर्थ है लाक प्रचलित अर्थ। लाक प्रचलित अर्थवाल ध्वनिका नाम शब्द है। पतजलि न महाभाष्य म अर्थ दा स्थाना पर प्रतीतपदाथक गाने का प्रयोग किया है।

द्वयोहि प्रतीतपदाथकयो लोके विनोपणविशेष्यभावो भवति। न आदच शब्द प्रतीतपदाथक ।

इहहि व्याकरणे ये वक्ते लोके प्रतीतपदाथका शब्दा त निर्देशा क्रियते पशु अपत्य देवतेति। या वता कृनिमा टिपुभस ताभि ।

—महाभाष्य १।१।१।५० ३६

—महाभाष्य १।६।२३ पृ० ३२३ कीलहान)

इन उद्धरणों से दो बात स्पष्ट हो जाती है। एक तो यह कि आदच टि प म आदि प्रतीतपदाथक गाने कहा है। दूसरी यह कि पशु अपत्य देवता आदि प्रतीतपदाथक गाने हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीतपदाथक गाने का अभिप्राय ऐसे गाने से है जो मवसाधारण व लिए समान अर्थ रखते हैं और निरपत्य रूप से व्यवहार म आत हैं। प्रतीतपदाथक गाने व लिए यहा पतजलि ने प्रतीतपदाथक ध्वनि गाने का व्यवहार किया है। वस्तुतः प्रतीतपदाथक गाने स्पष्टताय व लिए प्राचीन समय म व्यवहृत होता था जमा कि कौनसे व निम्नलिखित वाक्य से स्पष्ट है

‘प्रतीतशब्दप्रयोग स्पष्टत्वम्’

—वौटल्य अथनास्त्र अधिकरण २ अध्याय १०, प० १३०

भाग १ त्रिवेद्रम सस्करण ।

इसलिए स्पष्टायक ध्वनि का शब्द कहा जाता है । यह अभिप्राय महाभाष्यकार का जान पड़ता है ।

पहले वाल वस्तुय म दूसर वस्तुय म थोडा भेद है । यदि सप्रत्ययक ध्वनि को गण्य माना जाएगा गि, घ, भ आदिब्रजिम सनाएँ भी गद मानी जाएँगी । क्याकि टि आदि म भा सप्रत्यय किसी-न किसी का होता ही है । किन्तु टि आदि सबके लिए शब्द नहीं है । इसलिए सप्रत्यय के स्थान पर प्रतीतपदायक रखना पतजलि को अधिक उपयुक्त जान पड़ा होगा । दूसरा भेद लाक शब्द म ध्वनित है । शब्द की दूसरी परिभाषा म पतजलि न लाक गद भी रखा है । अर्थात् दूसरी परिभाषा लाक व्यवहार को सामने रखकर की गई है । पहली परिभाषा क अनुसार वृजिम सनाएँ भी शब्द है । दूसरी परिभाषा के अनुसार सामान्य रूप म व शब्द नहीं हैं । पहली परिभाषा म सप्रत्यय प्रधान है । दूसरी परिभाषा म ध्वनि रूप प्रधान है ।

इस विषय पर महाभाष्य क कनिषध व्याख्यानार्थ के मत का मन्त्रेप म उक्तम् किया जा रहा है ।

येनोच्चारितेन सप्रत्यय भवति—

—इस वाक्य के तीन अभिप्राय भत हरि न भिन्न भिन्न मत क के रूप मे दिखाए है ।

केचित मयते योवायमुच्चायते क्रमवान् अवर कश्चिदय अक्रम शब्दात्मा बुद्धिस्थो विगाहते । तस्मादथप्रतीति कुत यथवार्थात्तरनिबधनो नार्थात्तर प्रत्यापति एव स्वरूपनिबधनो नोत्सहते प्रत्याययितुम् ।

—महाभाष्यत्रिपादा प० ३, पूना सस्करण

इसका अभिप्राय है कि कुछ लोग के मत म जिसका उच्चारण किया जाता है वह नमदान है । इससे भिन्न एक सहतक्रम अथवा अमरहित रूप है जिसम वर्णों के क्रम अक्रम रूप मे रहन है वहा गण्य है । वह बुद्धि म रहता है । उसी से अर्थ की प्रतीति होती है । जस एक अर्थ म निश्चित गद किसी दूसर अर्थ का प्रत्यायन नहीं करा सकता वसे ही उच्चरित शब्द अपन स्वरूप का ही प्रत्यायन करा सकता है उसम अर्थ किसी वस्तु का प्रत्यायक वह नहीं हो सकता ।

दूसरे आचार्य मानत है कि वण म भी भाग हाते है वण का तुरीयभाग वण जाति का व्यजक हाता है । इसी तरह पद म वद वण होते है तुरीयवण शब्द जाति का व्यजक हाता है । वण अमजमा हात है । एक समय म नहा हात । अतिम वण पदस्थ जानि क व्यजक है । वक्ष गद क उच्चारण स वक्षत्व व्यजित होता है । अर्थात् जाति से अर्थ की प्रतिपत्ति हानी है । यह अर्थ का स्वरूप स्फाट कहलाता है । यह शब्दात्मा है । यह नित्य है ।

कुछ अन्य आचार्यों की मान्यता है कि शब्द म दो प्रकार की शक्ति है—आत्म-प्रकाशन शक्ति और अर्थप्रकाशन शक्ति । जम दीप अपने का व्यक्त करता हुआ अर्थ

अर्थों का भी प्रकाशन है। इन्द्रिय म बाह्य अर्थ के प्रकाशन की शक्ति तो होता है किन्तु आत्मप्रकाशन शक्ति नहीं होती। इनके मत में उच्चारित शब्द का अर्थ है—उच्चारण और प्रकाशन।

इन तीनों मतों को मशेष में या कहा जा सकता है। पहला मत कि अनुमात्र शब्द ध्वनि समूह के पीछे छिपी हुई बुद्धिस्थ शक्ति विशेष है। दूसरे मत में शब्द जानि है। शब्द जाति का ही नाम स्फोट है। तीसरे मत के अनुसार शब्द वह ध्वनि है जो अपने स्वरूप का साथ ही अर्थ वस्तु का प्रत्यायक होता है।

कवट शेषनारायण अन्नभट्ट, नागेश आदि ने यहाँ स्फोट अर्थ माना है। उनका मत में पदस्फोट अर्थवा वाक्यस्फोट वाचक है।

महाभाष्यकार के प्रतीतपदायक शब्द भन हरि के अनुसार प्रतीतपदायकता के लिए प्रसिद्धि के लिए हैं। जो शब्द प्रसिद्ध है वही शब्द शब्द में यहाँ अभिप्रत है। उद्दान प्रतीत पदायक को प्रतीत पदायक (कमधारय) रूप में लिया है और ध्वनि को इसका अभिधेय माना है। शब्द ध्वनि में ही अपना स्वरूप पाता है। इसके लिए उस अर्थ प्रकरण शब्दान्तर की अपेक्षा नहीं होती।

शेषनारायण ने प्रतीतपदायक शब्द में बहुव्रीहि समाप्त माना है

प्रतीत पदायकं यस्येति विग्रहः । युक्तं प्रतीतस्य पदाभस्यायमिति वा विग्रह इति तन्न ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

अन्नभट्ट के अनुसार प्रतीतपदायक शब्द के आगे शब्दशब्द छिपा हुआ है। अर्थात् प्रतीतपदायकशब्द शब्द शब्द का विशेषण है।

नागेश ने प्रतीतपदायक को पदायकबोधक रूप में लिया है। उनका अनुसार पदायक बोधक रूप में प्रसिद्ध श्रोत्रग्राह्य ध्वनिसमूह का नाम शब्द है। किसी के मत में प्रतीतपदायक वाला वाक्य उन लोगों के लिए है जो स्फोट को नहीं मानते हैं किन्तु श्रोत्रग्राह्य ध्वनि को शब्द मानते हैं। उनका मत में समुचित ध्वनिसमूह का किसी वस्तु विशेष बुद्धि द्वारा उपपादित सस्कार शब्द है। (सूक्ति रत्नाकर हस्तलेख)

शब्द नित्य है। सस्कृतव्याकरणज्ञान में शब्द को वाच्य मानकर भी विचार किया गया है और शब्द को नित्य मानकर भी विचार किया गया है। किन्तु मिथ्या रूप से शब्द नित्य ही माना जाता है। जहाँ शब्द द्रव्य के रूप में माना जाता है वहाँ भी प्रवाहिनित्यता रूप में नित्यत्व अप्रतिष्ठित रहता है।

पाणिनि ने तदर्थित्व सङ्गाप्रमाणत्वात् १।२।५३ वचन के रूप में शब्द की नियता का सक्त किया है। याडि ने नित्य और अनित्य विषय पर पर्याप्त विचार कर शब्द की नित्यता का समर्थन किया था। कात्यायन ने 'सिद्धे शब्दायसम्बन्धे' इत्यप्रथम वाक्य द्वारा शब्दनित्यत्व का उद्घोष किया है। शान्तातिशयकार ने भी 'स्फोट शब्दो ध्वनिस्तस्य ध्यायामादुपजायते' के रूप में शब्द का नित्य माना है। भट्ट हरि ने (नित्या शब्दायसम्बन्धः—वाक्यपटीय १।२३ आदि वाक्या द्वारा शब्द के नित्यत्व की चर्चा की है।

शब्द के नियतक के विषय में कुछ तक भी लिए जाते हैं। सबसे पहला सम्भवतः

वेदवादिना ने गान की निग्रता का समर्थन किया था। मीमांसका और व्याकरणकारों ने नद के नित्यत्व के विषय में जो तर्क दिए जाते हैं, नैयायिकों और बौद्धों ने उनका बड़ी निन्द्यता से स्पष्ट किया है। जमिनि के लक्ष्य तर्कों पर तरस खाते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है

तस्य तावदोदृश प्रज्ञास्वलित कथं वत्तमिति सविस्मयानुक्कम्य न चेत् । तम परेप्यनुवदतीति निदयायात्तभुवन धिग व्यापकं तम ।

—प्रमाणवातिक ५० ८० वाराणसी सम्मरण

अथान जमिनि जस विचारक ने इतने हलके स्तर के तर्क उपस्थित किए यह देख कर हमारा मन विस्मय और अनुकम्पा से भर जाता है। उस दूसरे भी ठुहराने चैन आ रहा है। आह समाज में कितना गहरा अज्ञान का अधकार है।

भत हरि ने नियम के सम्बन्ध में बड़ महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए हैं।

उन जिनो भी कुछ ऐसे आचार्य थे जो प्राकृत को मूल भाषा मानते थे और मस्कृत को उसका विकृत रूप मानते थे। उनके मत में प्राकृत प्राकृतिक भाषा है और इसलिए नित्य है।

‘केचिदेव मयते, य एवते प्राकृता गद्दा त एवते नित्या । प्रकृतो भवा प्राकृता ।

—महाभाष्य निपादी (टीपिका) ५० २० पूना सम्मरण

गान की निग्रता पर विचार आकृति और द्रव्य पदार्थ की दृष्टि में भी है। यदि शब्द स आकृति की अभिव्यक्ति हाती है गान नित्य है क्योंकि वक्ष्य आदि आकृति नित्य है। द्रव्यपक्ष में भी शब्द नाम में अभिव्यक्ति के रूप में नित्य माना जाता है। आश्रय भेद से भेद की प्रतीति होती है। स्वरूप में भेद नहीं होता। निग्रता अनिग्रता के विषय के रूप में भी स्वीकार की जाती है। भत हरि ने तीन प्रकार की अनिग्रता का उल्लेख किया है—समगानित्यता विपरिणामानित्यता और वस्तुविनाशानित्यता।

स्पष्टिक का दूसरा द्रव्य के संयोग से अपने शुद्ध स्वरूप की अनुपलब्धि समर्ग नित्यता है। बदरी पत्र के अपने श्याम रंग को छोड़कर रक्तरंग का आश्रय विपरिणामानित्यता है। वस्तुविनाशानित्यता मवात्मना विनाश का नाम है। कयट ने इसका लिए प्रध्वसानित्यता गान रखा है। इन तीनों प्रकार की अनित्यता के विपरीत जा हो वह नित्यता है। अथवा जा ध्रुव है कूटस्थ है^२ अविचालि है, जिसमें अपाय उपजन, विकार उत्पत्ति वद्धि और व्यय नहीं हात वह निय है। गान में इन सब बातों के मिश्रण से वह भी निय है। अथवा वह भी निय है जिसमें तत्त्व का विघटन नहीं हाता। यह वही है यह ज्ञान ही तत्त्व है। इसी को प्रवाहनित्यता भी कहा जाता है। गान भी गान और काल भेद से उच्चरित हान पर भी यह वही है इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का

२७ कृटे राशरूप तिष्ठति न किञ्चिदयं चलति कृटं वदन्त अनुलक्षणीयं तिष्ठति, न क्वचिदयथा क्व रानयम कृटं विश्वतो दाहं विनाशकारणोपनिषत्पि तिष्ठति कृटं व्याजऽपि अपह्वामनि प्रियमाणं तिष्ठाननयथा भवतीति अचलरूपतया भवन् कृटं यनि यमुच्यते ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी भाग १ पृष्ठ १२६

प्रियय म्ना रहता है। अतः प्रवाहनिमित्तता व महार गन् नित्य माना जाता है। अथ भी जातिरूप म नित्य है। सम्प्रत्य भी व्यवहारपरम्परा म अनानि के कारण नित्य माना जाता है।

किमी के मत म शब्द और अर्थ म सम्प्रत्य का कर्ता कोई नहीं जाना। जिस शब्द के उच्चारित होने पर जिस किसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वही उस शब्द का अर्थ है।

“अथे मय त नेह कश्चित् शब्दापसम्बन्धस्य कर्ता।

—वाक्यपदीय २।३२६ हरिवर्ति, हस्तलघु

शब्द म चाह अर्थ का ज्ञान ही अर्थवा मिथ्या का प्रतिपादन होना ही शब्द अपन अर्थ स नित्य सम्बद्ध है।

अस्तथा प्रतिपत्तौ च मिथ्या का प्रतिपादने।

स्वरथे नि यसम्बद्धान्ते त शब्दा व्यवस्थिता ॥

—वाक्यपदीय २।३३७

कोई आचार्य शब्दजाति का सम्प्रत्य अर्थ स मानत हैं, कोई शब्द-व्यक्ति का सम्बन्ध अर्थ स बतात हैं। किमी के मत स जाति अथवा व्यक्तिमाधना क्रिया अभिप्रेत होती है। वाच्यवाचक सम्बन्ध व आधार पर बुद्धिस्थ शब्द का बुद्धिमय अर्थ स विनियोग होता है अर्थात् अनन्त अर्थ म स किसी एक के साथ सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शब्दजन उक्ति के महार अभिव्यक्त होता है।

इह कश्चिदाचार्या शब्दजातिसमयसम्बन्धिन मय त। केचित् शब्दव्यक्तिम्।

अथेया तु जातिसाधना वक्तिसाधना वा क्रिया सप्रत्यफला। तत्रानेनाय वक्तव्य इत्युभयो परिग्रह कृत्वा बुद्धिस्थशब्दो बुद्धिस्थ यत्र विनियुज्यते प्रयोज्यते स यप्यनेकार्थत्वे तत्रास्य सामर्थ्यमवच्छिद्यते।

—वाक्यपदीय २।४०६ हरिवर्ति हस्तलघु

शब्द और अर्थ का यौद्ध मानकर भी अनन्त नित्यत्व दिखाया जाता है। भन हरि ने इस विषय म अनेक प्रवाणों का अनेक स्थान म प्रमाणों उल्लेख किया है। कुछ दर्शन म व कुछ वास्तविक मानत हैं। हम पण म शब्द विनिष्ठा म भाग का स्पष्ट करता है और उसका अर्थ मे निधारण (विभाग) करता है। कुछ अर्थ दर्शन किसी वस्तु की मना नती मानते। इस पण म शब्द उन उन अर्थों की प्रकल्पना करता है।

अथ कश्चित् वास्तव सय न्ति प्रययितम्। तस्य तु विनिष्ठा ममागोपनिषा तिन शब्दा ता ता शक्तिमवच्छिन्ति इति प्रतिपत्ता। अपरे पुन नव वस्तु किंचिदस्ति। शब्दा एव तु प्रवत मानास्त तमथ प्रकल्पयति।

—महाभाष्यविपादा १।१।४४

कुछ अर्थ विचारक मानत हैं कि कवन शब्द मुनन मात्र म बुद्धि म अस्थित अर्थ का वाध नहीं होता। अथवा अनुमान की प्रक्रिया म होता है। शब्द स जिस बुद्धि का उद्भव होता है, उससे सन्निहित अप्रभुक्त पण अर्थ का दूसरी बुद्धि जानी है उस बुद्धि के महार अर्थ का प्रतिभाग होता है।

अपरे तु मयते नावश्य भूत एव गच्छे बुद्धौ सनिपतितमथ प्रत्याययति ।
सवथा बुद्धौ सनिविष्ट प्र स्मिन्नेव शब्देविशिष्ट रूपे या बुद्धिरुत्पद्यते
तया व्यवहित बुद्धयन्तर बुद्धौ प्राप्तसनिधान तदथ प्रतिपत्तिनिमित्त भवति ।
अपरे तु पद —वाक्यपदीय २।३२८ हरिवर्ति हस्तनेत्र^{२८}

कुछ अथ विचारका क मत म एक ही अर्थात्मा होती है। अथ एक है। वह
मवसाधारण है। जैसे मयोगमज्ञा दो मे भी होती है, समुदाय म भी हाती है वस ही अथ
एक म, दो म मवम अवस्थित रहता है। केवल सनिधान म अभियक्त होता है

केचित्त मयत्त यथा सयोग सना द्वयो द्वया समुदाये चावतिष्ठते । तथा
प्रत्येक द्वयो समुदिनेषु च स एवकार्यात्मा व्यवस्थित एव । स तु सनिधानेन
यज्यते । —वाक्यपदीय २।४०१ हरिवर्ति हस्तलेख

जस आग्र म मव कुछ देखने की शक्ति है किन्तु जिस जिसको ज्यपना ईप्सित
हाना है उस उममे माध्यम से देखा जाता है उसी तरह गद मे मव अथ व्यक्त करने की
क्षमता है। जो अथ अभीप्सित हाना है उस वह प्रवाणित करता है अपन आप मे अभि
व्यक्त करना है (वाक्यपदीय २।४०७) ।

अथवा गद अभिधान (करण) ह। अथ अभिधेय (कर्म) है। जाना म अभिधा
नियम है।^{२९}

अथवा शब्द और अथ का कोई भीधा सम्बन्ध नहीं है। अथ के स्वरूप का परि
चान गद म सम्भव नहीं है। अथ का अवधारण अगद होता है। दाह शब्द मे जो कुछ
अथभाषित होता है उसम और यथाथ रूप स आग मे जनन होने पर जो कुछ अनुभव
म आता है उसम आवाग पाताल का भेद है। हिम गद के उच्चारण म और वफ से
ठिठुरन म बहुत भेद ह। गद केवल अथ का आभास मात्र कराते है अथवा किसी मादश्य
के आधार पर अथ की स्मृति मात्र जागत है (वाक्यपदीय २।४२४) ।

अथवा शब्द वस्तु का उपलक्षण मात्र ह। जस हम वाक मे वदत्त क गह का
वतलाल है वम विशेष शब्द मे विशेष वस्तु को वतलाया जाता ह। गद म ऐसा शक्ति
नहीं ह कि वह पदार्थ की समग्रता को छू मके। जयवा शब्द स वस्तुमात्र निविशेष रूप
म विशेष धमग्रहित रूप म बनाया जाता ह। गद पदार्थ का (वस्तु का) किसी रूप म
उपकारक नहीं है। गद म पदार्थ के किसी भी धम के स्पष्ट करने की क्षमता
नहीं ह —

वस्तुमात्रमनाश्रितशक्तिविशेषमपरिगही तत्त्वधमक येन सविनानपदेनोप
लक्ष्यते । न तदवस्तुकृताना शक्तिना यदुपकारिरूप तत् स्यापार स्व कार्येण
शक्नोती चक्रतुम् । न हि स वस्तुमात्र सस्पशित्वान भेदका युपकारिणि
शक्तिरूपाणि सस्पति । —वाक्यपदीय २।४४२ हरिवर्ति हस्तलेख

२८ पुण्य राज न २ नुसार भृगु हरि का अभिप्राय यहा श्रुताथापत्ति से है।

२९ अभिधानियम तामाश्रितानाभिधेयो । वाक्यपदीय २।४०८

अभिधानियम शब्द को अभिधावृत्ति का मूलरूप समझना चाहिये।

शब्द का अर्थ

उपयुक्त विभिन्न मतों का स्वरूप और सामर्थ्य पर प्रकाश डाला है। गान्धर्व का अर्थ क्या है? इस प्रश्न पर भाष्यकारों ने विचार किया है। और पुनरागत न उक्त है प्रयोगों में सीटा है। ये प्रयोग भी शब्दों का अर्थ में सन्देह उत्पन्न करते हैं और अन्तर्भाव प्रकाश है कि अर्थभेद पक्षों पर।

गान्धर्व का अर्थ क्या है? अगर उक्त में किसी धारा का मत माना जाय तो गान्धर्व का अर्थ क्या है? नहीं कहा जा सकता। कथन गान्धर्व होना जो माना जाय तो गान्धर्व का अर्थ क्या है? गान्धर्व निरर्थक होता है। शब्दों का जो अर्थ, उस शब्द पर ही धारित रूप में होता बतलाया जा सकता है। स्वयं गान्धर्व शब्दों में अर्थ का धारण होता है उस शब्द नहीं जा सकता क्योंकि स्वयं शब्द ही। गान्धर्व में धारण गान्धर्व धारणात्मक में गान्धर्व विचार का अर्थ है व्यवहृत होता है किन्तु उक्त बतलाया नहीं जा सकता। स्वयं गान्धर्व का अर्थ कथन अर्थ रूप में जाना जा सकता है यह क्या है? क्या है? गान्धर्व जाना जा सकता है। यही बात गान्धर्व पर गान्धर्व धारण की भी है। गान्धर्व कथन अर्थ की गता मात्र का प्रत्यापन है। गान्धर्व में गुणन में धारण धारण का भान नागरीय रूप में होता है। वह गान्धर्व का अर्थ नहीं है। गान्धर्व अर्थ ही होता है धारण का मत ही अर्थान्तर गान्धर्व में जो प्रयोग है उनका कथन अर्थान्तर मात्र गान्धर्व में व्यक्त होता है। पर पर शब्दों में धारण के प्रत्यक्ष का भाव प्रयोग द्वारा अर्थान्तर धारण गान्धर्व होता है। ये मतान्तर माध्य हैं। गान्धर्व का व्यापार उन तर नहीं है।

अस्त्यथ सवगन्धानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अप्रुखदेयतास्वर्गं समसाहुगवादिषु ॥

— वास्यपत्नीय २।१२०

इसकी समीक्षा में कुमारिन का कथन है कि गान्धर्व का अर्थ निश्चित होती है। अर्थापत्ति के आधार पर गान्धर्व की वाचक शक्ति निश्चित अर्थ विषयक होती है। किन्तु कुमारिन भट्ट ने उपयुक्त मत का भाव अर्थार्थ रूप में लिया है। उपयुक्त मत में सभी गान्धर्व का अर्थ सत्ता मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि गान्धर्व का अर्थ कोई अर्थ नहीं है उसका अभिप्राय केवल अर्थान्तर है कि गान्धर्व का अर्थ होता है क्या होता है इस चीज ठीक नहीं कहा जा सकता। किसी अर्थ धारण का मत है कि गान्धर्व में जो कुछ अर्थ भासित होता है उस अर्थ के साथ अनुनिष्पात्ति रूप में जो कुछ भासित होता है वह भी शब्द का अर्थ है। जिस शब्द का अर्थ जाना है तो उस जाति के प्रयोजक प्रति भी शब्द का अर्थ होगा। कुछ लोग व्यक्ति का अनुपग रूप में लय है। जाति गान्धर्व में व्यक्तिगत धर्म बोध कराने की क्षमता नहीं होती। गान्धर्व सम्पूर्ण विशयताओं में युक्त अर्थ का बोध नहीं करा पाता है।

न हि सकलविशेषसहितमथ शब्द प्रत्यापयितुमलम् ।

— पुण्यगज २।१२४

किसी अर्थ विचारक के मत में गान्धर्व का अर्थ वह सब कुछ है जिसके बिना अर्थ

म अथवन्ता ही नहीं आती है। इस मत में कुछ अक्षरों का प्रत्यायक और कुछ अक्षरों का नातरीयक नहीं माना जाता। अपितु शब्द का अभिधेय सब आकार सहित अथ है। केवल कहीं किसी पक्ष का प्राधान्य और कहीं किसी स्वरूप का गौणभाव अभिप्रेत रहता है।

इसी तरह किसी के मत में शब्द का अभिधेय समुदाय है किन्तु उसमें विकल्प या समुच्चय का स्थान नहीं है। वन शब्द से धव, खादिर आदि का समुदाय अभिधेय है। ब्राह्मण शब्द से तप, विद्या जाति आदि से युक्त समुदाय अभिधेय है। वन शब्द से धव है कि खदिर है इस रूप में विकल्प रूप में प्रतीति नहीं होती। वन धव भी है खदिर भी है इस रूप में समुच्चय रूप में भी प्रतीति नहीं होती। अपितु साकल्य रूप में एक प्रतीति होती है। इसलिए विकल्प समुच्चय रहित समुदाय शब्द का अर्थ है।

कार्द कार्द शब्द का अर्थ समग मानते हैं। समग जाति गुण और क्रियात्मक अर्थ का असंयभूत रूप है। द्रव्य का द्रव्यत्व आदि के साथ जो सम्बन्ध होता है वह गद का अर्थ है। वह सम्बन्ध सम्बन्धियों के शब्दात्त्व होने के कारण असत्य माना जाता है। अथवा तप श्रुत आदि का एक में सस्मष्ट रूप में भान होने से उनका परस्पर समग, ब्राह्मण शब्द में असत्य है। अथवा घट आदि शब्दों से घट आदि की जाति आदि समग कही जाती है। अलग रूप में वह असत्यभूत मानी जाती है। सस्मष्ट पदार्थ ही सत्यभूत है। किसी अर्थ मत में असत्य उपाधि में अवच्छिन्न सत्य ही शब्द का अर्थ है —

असत्योपाधि यत सत्य तद्वा शब्दनिबन्धनम् ।

—वाक्यपदीय २।१२८

इस वक्तव्य पर पुण्यराज ने प्रकाश नहीं डाला है किन्तु जिस आचार्य की यह भाष्यता है उसने बहुत गूढ़ तर्क अल्प में व्यक्त कर दिया है। उसने गददशन और सत्यदशन का एक कर दिया है। शब्द अपने अन्तिम विस्मरण में सत्य है। इसलिए निरूपण रूप में गद का अभिधेय यदि सम्भव है तो वह सत्य है।

कमलशील ने सुवर्ण को सत्य और वलय, अंगूठी आदि का असत्य माना है। गद का प्रवृत्तिनिमित्त स्वर्ण की तरह सामान्य रूप सत्य है। वही उसका अभिधेय है। अथवा गद का अभिजल्प स्वरूप गद का अर्थ है। मैं अवगम यह वह है इस रूप में गद के स्वरूप का अर्थ में अग्र्यास किया जाता है। अग्र्यासवर्ग गद और अर्थ एकाकार हो गया रहते हैं। गद के इस स्वरूप का नाम अभिजल्प है। अभिजल्प गदार्थ है। वह गद ही है। गदार्थ के एकाकार रूप में होने के कारण उनका कार्द रूप कही प्रधान रूप में अवगत होता है और कही उनका कार्द अर्थ रूप अवगत होता है। तब भी उनका अर्थरूप अधिक गहरा होना है। साम्य में गद और अर्थ माना रूप विवक्षा के आधार पर गहीन होना है। लोक में अग्निमान्न वाक्य में अग्नि रूप अर्थ अभिप्रेत रहता है। साम्य में स्त्रीम्यो ढक (८।१।१००) कहने में स्त्री वाचक साधक गद का बाध होना है।

दण्ड में और उत्प्रेक्षा में अर्थ का अभिधेय के रूप में ग्रहण कर गदार्थ

अपनी शक्ति का नियंत्रण कर इस भाग में यह कहा गया है इस भाग में बुद्धि में भवता हुआ बाह्य ध्वयात्मक श्रुत्यन्त की प्रवृत्ति में हनु होता है। अभिज्ञाप भाग विज्ञान भाग है। आंतर भाग है। मल्लवादि के अनुसार यह मन भव हरि का है

दशानोप्रेक्षाभ्यामथमभिपेक्षेनोपगृह्य तत्र यगभूतस्वशक्ति बुद्धौ परिप्लवमान श्रयभित्यमनेन शब्देनोच्यत इत्यातरो विज्ञानसंज्ञा शब्दात्मा श्रुत्यन्तरस्य बाह्यस्य ध्वयात्मकस्य प्रवृत्तौ हेतुः । त अभिज्ञत्वाभिधेयाकारपरिग्राहो बाह्यात शब्दादय इति भवेत्तर्ह्यदिमतम् ।

—द्विभाषाग्रन्थचक्र पृ० ३३८

अथवा अथ अमवशक्तिः । अथ म शक्ति नही है । भाग के द्वारा अथ में नियत शक्ति का आधान होता है। जिस रूप में शब्द अथ की शक्ति की अभिप्रति चालना में उसी रूप में अभिव्यक्ति होती है। इसलिए भाग का अथ स्वशक्ति से उत्थापित अथ है। एक ही अथवस्तु एक ही क्षण में अनन्त शक्तिया द्वारा अनन्त रूप में प्रवृत्त की जाती है। इस सौजन्य पक्षों की श्रिया का भिन्न भिन्न व्यक्ति या कह सकते हैं -- ओदन पचति । पाक ओदनस्य । पाक निवर्तयति । करोति निवर्तयति पाकस्य । अत यदि भाग से अथवस्तु की अभिव्यक्ति होती तो एक ही ओदन की एकनाथ कथ के रूप में सम्बन्ध के रूप में भिन्न भिन्न विरोधी रूप में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। इसलिए मान लेना चाहिए कि अथ में शक्ति नहीं है। शक्ति भाग में है। भाग अपनी शक्ति का बुद्धि के द्वारा अथ में आरोपित कर देता है। अत भाग द्वारा नियत शक्ति ही भाग का अथ है। अथवा अथ अशक्त नहीं है। वह अवशक्तिसंपन्न है। भाग से केवल उसकी नियत शक्ति का अभिधान होता है। शक्ति के द्वारा अथ कभी श्रिया के रूप में प्रकाशित होता है कभी कारक के रूप में प्रवृत्त होता है। ज्ञाना मवया भाग द्वारा ही अथशक्ति नियत होती है। मल्लवादि के अनुसार यह मन वसुधात का है

वसुधातस्य मन ह्युपाध्यायस्य मतम् तु स च स्वरूपानुगतमथरूपमंतर विभागेन सतिवेद्यमिति—अशक्ते सप्रवृत्तेर्वागदरेव प्रकल्पितः । एकस्याथस्य नियता क्रियादि परिकल्पना ।

—वाक्यपदीय १।१२३ द्विभाषाग्रन्थचक्र पृ० ३८०

अथवा भाग का कोई बाह्य अथ नहीं होता। भाग का केवल बुद्धि उपाध्याय बौद्ध अथ होता है। यह बौद्ध अथ बाह्य वस्तु के लिए होता है उसका रूप बुद्धि उपाध्याय ही होता है किन्तु अमवश बुद्धिगत अथ का बाह्य अथ समझ लिया जाता है। अथवा भाग का प्रवृत्त अथ हात है जो वस्तु सूत है आकारवान है उसका अथ आकार विषय के रूप में जात होता है। जो वस्तु धूम्र है निराकार है उसका अथ केवल शक्ति है। अथवा भाग का अथ आकारमहित अथ भाग है। शक्ति (ज्ञानमात्र) ही है।

अथवा भाग का वाग नियत अथ न होता। अपनी अपनी वासना मन्वा के वर में आता भिन्न भिन्न अथ एक ही भाग का प्रवृत्त संपन्न है। इसलिए भाग अथ अपने भाव के अनुरूप विभक्त विभक्त भासित होता है। एक ही वस्तु का एक ही ममव में भिन्न भिन्न प्रथक भिन्न रूप में लय सकते हैं। अत हा पक्ष एक ही व्यक्ति या

कालान्तर में भिन्न जान पड़ सकता है। इसलिए शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता। शब्द के अर्थ के साधन भी अव्यवस्थित हैं। वे भी नियत नहीं हैं। इसलिए एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यही कारण है कि एक ही पदार्थ भिन्न भिन्न दशानाम्ना में विभिन्न रूप से व्याख्यात है।

यह मत भाषाविद्वानों के इस सिद्धांत के अनुकूल है कि अर्थ एक समझना मान है। विभिन्न भाषाओं में एक ही प्रकार की ध्वनियाँ विभिन्न अर्थ व्यक्त करती हैं। शब्द का अर्थ सामाजिक रूप में स्थापित तत्त्व है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

गौ शब्द कहने में गौ शब्द का गौरूप अर्थ का और गौरूप जान का एक साथ एक में मिला हुआ सा आभास होता है (गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति ज्ञानम्—यागसूत्रभाष्य ११७) यह आभास सम्बन्धमापन है। जय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विचार किया जाता है तब अर्थ में अभिप्राय वस्तु से न होकर अर्थ के शास्त्रमय रूप से होता है। प्रतीति के कारण ऐसा होता है। शब्द के कारण भ्रम नहीं होता।

शब्द का अपन स्वरूप और अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध माना जाता है। वक्ता की दृष्टि में (वाच्य अर्थ न मानकर बुद्धि उपाशब्द अर्थ) शब्द और अर्थ में वाच्य-कारणभाव सम्बन्ध माना जाता है। एक अर्थमात्र सम्बन्ध की भी चर्चा की जाती है जो वास्तव में याग्यता और वाच्यकारणभाव सम्बन्ध का निष्कर्ष है। इनमें भिन्न नहीं है। भक्त हरि के अनुसार अर्थ के प्रवृत्तितत्त्व का शब्द निर्वचन है। अर्थ की प्रवृत्तित्व के कई अभिप्राय हैं। अर्थ के प्रवृत्तित्व विवक्षा है। मन्त्र के रूप में अर्थवाच्य अमन्त्र के रूप में वस्तु का स्वरूप अर्थ का प्रवृत्ति तत्त्व नहीं है। विवक्षा याग्य शब्द पर निर्भर करती है। कुछ कहने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति जिस वस्तु को अभिधेय मानकर कुछ कहने की अभिधापा रखता है वह उस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए याग्य शब्द का आश्रय लेता है। अर्थ व्यक्त करने की श्रमता योग्यता है।

अर्थवाच्य के व्यवहार में जो निमित्त होता है उसे अर्थप्रवृत्तितत्त्व कहा जाता है। निमित्त के आधार पर निमित्तवान् अर्थों का निमित्तस्वरूपमय जान जय उत्पन्न होता है अर्थ द्वारा व्यवहार सम्भव होता है। गाव निमित्त है। गाविष्ठ निमित्तवान् है। जानिरूपानुकारी निमित्तस्वरूप है। जय तब पृथक्-पृथक् गाविष्ठ गाव से अनुरजित नहीं होता तब तक द्रव्यरूप में उनमें व्यवहार की सम्भवा नहीं आती। जानिनिष्पन्न बुद्ध द्रव्य केवल्य की तरफ अर्थवहाय योग्य। दूसरे शब्दों में जानि के आधार पर अर्थ व्यवहार के विषय बनते हैं।

अर्थवाच्य के व्यवहार का तत्त्व समग्र है। मन्त्र में रहित अर्थ का व्यवहार सम्भव नहीं है। समग्र क्रिया और वाच्य के परस्पर सम्पर्क का नाम है। अर्थ साधन रूप में होता है और वाच्यरूप में होता है। नाम पद क्रिया सम्पूर्ण साधन का प्रतिपादन रहता है। क्रियापद साधनसम्पूर्ण क्रिया की अभिव्यक्ति रहता है। दूसरे पदों के

प्रमाण कारक और विद्यापन के साथविद्याप के उपमहार के लिए हात है। इस तरह ममग सभी पदों का सम्पन्न किए रहता है।

अथवा अथ स तापय केवल वस्तु स है। उसका प्रवृत्तित्व को ममग कहा जाता है। अथवा जान अथ के आकार के रूप में वाह्य वस्तु में आरापित होता है। यही अथप्रवृत्ति का तत्त्व है।

हजारों ने सम्बन्ध के प्रसंग में सम्बन्ध को पश्यती आदि वाक् के भेदों के साथ नियमों का पद्यन किया है। उनका अनुसार चित्तगति का वाक्नाम का व्यापार होता है। उसका दूसरा नाम गान्धारी है। गान्धारी व्यापार ध्वनि रूप में न होता हुआ भी व्यापार प्रमाण में गान्धारी कहा जाता है। वही वाचक माना जाता है। गान्धारी जब अपने अविभागापन तथा में रहता है जब वह गान्धारीमय रहता है जब उदभेद आरम्भ नहीं हुआ होता तब वह अपने स्वरूप में पश्यती (परवाक) के रूप में स्थित रहता है। वाक् में वह प्राणवृत्ति में अनुप्राणित और मन की भावना से अवलम्बित होकर अपने आप का वाच्य और वाचक इन दो भावनाओं में विभक्त करना हुआ स्थित रहता है। यह मध्यमा की अवस्था है। उसमें परामर्श व्यापार होता है। परामर्श वाचक गान्धारी है। परामर्शात्मा वाचक गान्धारी चतुर्थ अर्थात् पश्यन्ती से सम्बन्ध निश्चित नहीं किए जाता है। उसका सम्बन्ध चतुर्थ में विकल्पित किन्तु अविभक्त पश्यती में भी अभा पना रहता है किन्तु वह अपने स्वरूप का ही वाच्य के रूप में परामर्श करने लगता है। यह परामर्श सामानाधिकरण्य रूप में होता है। यही अथ है। इसलिए उस वाच्य अथ का वाचक का अर्थान्त वाक्नाम कहा जाता है। उसके पश्चात् वही परामर्श गान्धारी पूर्व अवस्था का पकड़े हुए ही स्थान वर्ण आदि के रूप की धारणा में अवलम्बित द्वय द्वारा गान्धारी स्वरूप के रूप में अपने आपका ढालकर वाच्य और वाचक रूप में विभक्त होता हुआ व्यक्त होता है। गान्धारी (परवाक) का निष्पन्न है। पश्यन्ती के प्रभाव से उसमें गान्धारीमय व्यापार होता है। उस व्यापार के चल से वह अपने विषय स्वरूप में विभिन्न अर्थान्तरों का देना का प्राप्त कर लेता है। उसका प्रकार सामानाधिकरण्य अथ का सम्पन्न और अभा रूप में एक ही व्यापार का होता है। अथ गुणन पद उस वाच्य में गुणगुण से अवलम्बित विषय पद का परामर्श एक साथ हो जाता है। गुणगुण का अर्थ में परामर्श नहीं होता। उसी प्रकार पद अर्थ में पद के स्वरूप का परामर्श प्रधानभूतविशेष्य में स्पष्ट रहता है। अर्थात् गान्धारी और अथ का एक ही गान्धारीमय प्रतीति होता है। कर्माकर्मा गान्धारी का अपने स्वरूप में ही विराजित रहता है। उस अर्थान्तक ४।१।२३ में। यही गान्धारी का स्वरूप ही अनुपाद है। वही प्रधान है। वाह्य अर्थ के प्रतिपादन का अर्थान्त स्वरूप और अर्थ का अर्थ के रूप में अवलम्बित होता है। गान्धारी अपने का व्यक्त करता है और अर्थ का भी प्रकाशित करता है। अर्थ का प्रकाशित अभिप्रेतमान रूप में करता है। अपने स्वरूप का अभिप्रेत गान्धारी अभिप्रेत रूप में करता है। अर्थात् अर्थ का विषयभाव प्राप्त कर लेता अभिप्रेत का रूप लेता है। जो गान्धारी के अभिप्रेत का विषय होता है उस अभिप्रेत कहा जाता है किन्तु अर्थ के साथ स्वरूप का सामानाधिकरण्य स्वरूप का

अथ के रूप में परामर्श आवश्यक है। वाचकता में अभिव्यक्तमानता नहीं होती। पश्यती (परवाक) के कृत भूमि उपारूढ परामर्शमय प्रवागस्वभावावाचक होता है। उसमें परामृश्यमानात्मक वाच्यता का अविराध होता है। जो कृत शक्ति से युक्त होता है वही कमशक्ति का आधार उभी समय नहीं होता। क्योंकि स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य एक साथ एक समय में नहीं रह सकते। जो प्रतिपादक है वह प्रतिपाद्य नहीं।

इस तरह शब्द और अर्थ के सामानाधिकरण्य से अभेद अध्ययन नाम का सम्बन्ध व्यक्त होता है। याग्यता और कायकारण में भी फल की दृष्टि से अध्ययन सम्बन्ध ही प्रमुख है।

जैसे इन्द्रियों की अपने विषय में योग्यता अनादि सिद्ध है उसी तरह शब्द का अर्थ के साथ याग्यता-सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। यद्यपि इन्द्रियों का कारण हान का कारण अज्ञात ज्ञान की ही उत्पन्न करती है, शब्द चापक है वह अपने ज्ञान द्वारा अर्थ बुद्धि का हेतु होता है फिर भी पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा न होता दोनों में समान है।

शब्द और अर्थ में कायकारण भाव भी है। क्योंकि शब्द अर्थ का कारण है, शब्दपूर्वक अर्थ की प्रतीति होती है। ज्ञान का मन में जो अर्थ शब्द सुनने के बाद भवता है उस अर्थ का जनक शब्द है। अर्थ भी शब्द का कारण है। क्योंकि वक्ता पहले मन में अर्थ को रखकर ही उसके लिए शब्द का प्रयोग करता है। इसलिए ज्ञान और अर्थ कायकारण भाव होने का कारण शब्द और अर्थ का अग्रिम लक्षण अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि उपारूढ है। ओदन भुक्त जन्म वाक्य में भी शब्द और अर्थ का परिज्ञान बुद्धि अधीन है। इसी दृष्टि में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के नष्ट होने पर भी अभिव्यक्तता के रूप में नियतत्व बना रहता है। घट आदि शब्दों के उच्चारण से अथाकार ज्ञान सदा उदबुद्ध होता है। इसलिए प्रवाहनियता के रूप में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

अनीन अनागत आदि शब्दों के भी अर्थ होते हैं और इस आधार पर यहाँ भी सम्बन्ध नित्यता है। शब्दविषय आदि अमन पदार्थ में भी बुद्धि परिकल्पित होता रहती है और इस आधार सम्बन्ध वहाँ भी है। उपचारमत्ता के आधार पर भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की उपपत्ति की जाती है।

सर्वोपचारसत्तारूढ एव शब्दाथ इत्युक्तं भवति।

क्रियाकारकभावेनापि चार्थानां निरूपणं बौद्धमेव॥

—हेतुताराज वाक्यपदीय = सम्बन्ध समुद्देश ५१

शब्द चाहे भाव-बोधक हो अथवा अभाव-बोधक हो अर्थ का अभिव्यक्ति प्रयत्न होता है। अस्तु प्रवाहनित्यता के आधार पर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य माना जाता है।

शब्द और अर्थ के अनित्य सम्बन्ध का मानने पर अथवा शब्द का नित्यत्व

कर वाय मानन पर गन् और अथ की व्यवस्था लक्षण व अनुसार होनी है ।

वार्या शब्द इति दर्शने लक्षणादेव शब्दानामथ-वस्था ।

—कयट महाभाष्यप्रतीप २।१।६

सम्भृतव्याकरणदशम लोकाविज्ञान लाकमत को प्रमाण मानता है इसलिए गन् और अथ के सम्बन्ध के विषय म भी लाक ही प्रमाण माना जाता है

शब्दाथसम्बन्धे लोक-यवहार एव प्रमाण, नायत ।

—कयट, महाभाष्यप्रतीप ४।१।६३

लाक म अथ के लिए गन् का प्रयोग किया जाता है । इसलिए व्याकरणदशम म भी उसका सामने रखकर ही विचार किया जाता है । गन् स अथ नहीं बनाए जात । अथ के लिए गन् का आश्रय लिया जाता है

न हि शब्दरर्था उत्पाद्य ते । यथोक्त न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्

—कयट महाभाष्यप्रतीप २।२।२६

अवश्य ही दानानिक धरातल पर अथशब्द से वस्तु अथ न नकर गन्नाय रूप अथ लिया जाता है

इह हि व्याकरणे न वस्तुवर्थोऽथ, अपितु शब्दावर्थोऽथ ।

—हेलाराज वाक्यपनीय क्रियासमुद्देश १

कभी कभी गन्तरूप को सामने रखकर अथ व्यवहार जोक म लेवा जाता है और व्याकरण म भी उसे उसी रूप म अग्रनाया जाता है । जैसे भ्रमर के लिए द्विरेफ गन्द का व्यवहार किया जाता है । भ्रमर गन्त म दो रेफ है । उस दो रेफमय गन् लक्षण व आधार भ्रमर को द्विरेफ कहा जाता है

यद्यप्यर्थे शब्दस्य गुणमावादयत एव साम्यं यादयं तथापि शब्दधर्मेणाप्यथस्य व्यपदेशो दृश्यते यथा भ्रमर गन्दस्य द्विरेफत्वात् द्विरेफो भ्रमर । तथा द्वयक्षर मास द्वयक्षरमस्थि ।

—कयट महाभाष्यप्रतीप १।१।१०

गन् और अथ व नित्य सम्बन्ध का अधिक मन्त्रत्व इन के कारण अथपरिवर्तन जस विचार सम्भृत व्याकरणदशम म सम्भव नहीं थ । गन् कभी भी अग्रना अथ लाड कर दूसरे अथ का नहीं बताता

न तु गन् स्वयं परित्यज्यार्यान्तरं वक्तुं समर्थः शब्दाथसम्बन्धं धर्म्यानिर्णयता प्रसपात ।

कयट महाभाष्यप्र १।२।१६ १।१।११५

जहाँ अथ म परिवर्तन निर्मातृ होता है उस स्थाना व निग प्राचीन व्याकरण वर्क अपाय काम म नात है । भन हरि उस स्थाना पर गन् व भूत अथ म एक दूसरे अथ का आश्रय करत है । उता अनुसार गन् व अथ म परिवर्तन सम्भव नहीं है अथ का अग्रना म आधाराय सम्भव है ।

अथवा त्रिन गन्ना व अथ म भन् गन् निर्मातृ होता था उन गन्ना का अग्रनाम अथवा गन् मान निग जाता था । प्रवीण कुपत प्रतिनाम अनुनाम आनि ननर म

एक शब्द है

तुलया समित तुल्यम् । व्युत्पत्त्यथमेव तुलोपादीयते । रुद्धिशब्दस्त्वय सट्टश
पर्याय । यथा प्रवीण कुशल प्रतिलोम अनुलोम इत्यवयवार्थाभाव
एव तुल्यशब्देऽपि ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप १।१।६

अपनी मायना के कारण वे कभी-कभी कठिनार्थ में पड़े जान पड़ते हैं । तिल
गन्ध से तल गन्ध तिल के तेल के अर्थ में निष्पन्न होता है । किंतु सपत्तल, इट गुनी
तन का भी लाल में व्यवहार होता था । कायायन ने इस समस्या का तलच प्रत्यय की
मृष्टि कर सुलभाया था । पतञ्जलि ने तल का सम्बन्ध तिल से न मानकर उस स्वनत्र
अयुपन गन्ध माना था

तल गन्धश्च प्रत्ययो न वक्तव्य इति । प्रकृत्यन्तर तलशब्दो विकारे
वतत । एव च कृत्वा तिलतलमपि सिद्ध भवति ।

—महाभाष्य ५।२।२६

कयट ने उल्लेख किया है कि कुछ लोग तिल के विकार को ही मुख्य रूप में
तल मानते हैं । दूसरे तन भी तिल-तल के सादृश्य से तन कह जाते हैं किंतु भेद दिखाने
के लिए इड गुन्ध तन जिस शब्द से व्यवहृत किए जाते हैं । किंतु कयट इसमें सहमत नहीं
हैं । पतञ्जलि के अनुकरण पर वे तल शब्द का रुद्ध शब्द ही मानते हैं

उपमानाश्रयेणापोडगुदतलमित्यादि सिध्यति । तिलविकारे मुख्य तल, तत
सादृश्यादयदपि तलमिडगुदादिभिर्विशिष्यते । गौणसम्भवे च मुख्यतलप्रतिपाद-
नाय तिल विशेषणात् तिलतलमित्यपि भवतीति केचिदाहु ।

व्युत्पत्त्युपाय एव तिलतल विकार तलमिति । रुद्धिशब्दस्त्वय स्नेहद्रव्य
वति ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

प्रवीण गन्ध की भी यही कहानी है । प्रकृत्यो घीणाया प्रवीण इति व्युत्पत्ति-
मात्रं विधत्ते । कौशल त्वस्य प्रयत्तिनिमित्तम् ।

—कयट, महाभाष्यप्रदीप ५।२।२६

अथवा मय गन्ध महा प्रकार के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है सर्वे सवपदादेगा
—(महाभाष्य १।१।२०) नास्त्व्यवहार के आधार पर किसी गन्ध का किसी विशेष
अर्थ में नियम करने किया जाता है

सर्वार्थान्निधानं शक्तिपुक्तं शब्दो यदा विनिष्टेभ्यो सव्यवहाराय नियम्यते तदा
तत्रैव प्रतीति जनयति ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप—१।१।२०

अथवा गन्धगति के नियम विषय में भी वे कभी-कभी स्वीकार कर रहे हैं—

नियतविषया शब्दानां शक्तयो दूष्यते यथा द्विदगा इत्यादौ कृत्वोर्था
रुमिधानमिति ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप ५।२।२०

जहाँ साधनिक या प्रतीयमान अर्थ होता है उन्हीं के गन्ध के स्वाभाविक वति में
हा समझा की चला करता है

भवति हि पदात्तरसम्बन्धेन गदस्यार्थात्तरे वत्ति यथा सिंहो माणवक ।

—यास ८।१।२४

अभूतवाक्यायै च पदाना वत्ति दश्यते । —कयट महाभाष्यप्रदीप २।२।२४

अस्तु गन् और अथ के नित्य संबंध की रक्षा संस्कृत के व्याकरण किसी न किसी प्रकार करन आए है । ऊपर कहा जा चुका है कि वायदशन भी उनका विचार धर्म के बाहर का नहीं है । इसे कयट ने स्पष्ट कर दिया है

यद्यपि नित्या गन्दा तथापि गान्प्रक्रियायां क्वचिदुत्पत्तस्य तोषादित्वादेण निवृत्ति क्रियते । पवचिदपवादविधानेनोत्सगस्यानुत्पत्ति ज्ञाप्यते । ततो निवृत्तिपक्षो नानुपपन्नः ।

कयट, प्रदीप ३।१।३१

शब्द के प्रकार

महाभाष्य व्याख्याप्रपञ्च के लेखक के अनुसार भूत हरि न बारह प्रकार के गन् भेदों का निरूपण किया था । भूत हरिणा द्वादशप्रकारा शब्दा निरूपिता योगिका योगरूढाश्च रूढा ।

—परिभाषावत्ति (पुष्पोत्तमदेव) पृ० १३४

इनमें योगिक यागरूढ आदि भेद थे । इस तरह के को भेद वाक्यपीठ में उपनयन नहीं है । व्याकरणदर्शन में चार भेद की चर्चा अवश्य है । वे चार भेद योगिक रूढ योगरूढ और योगिकरूढ है ।

योगिक शब्द वह है जो अवयवगति से ही अथ का प्रत्यायक होता है । योगिक गन् के लिए अमिधेय की तरह हाते है । जैसे लवण गन् । लवणा यवागृ । लवण मूष । यहा लवणगन् लवण से समृष्ट अथ में है । इसलिए योगिक गन् है लवणेन सस्सष्टमिति सस्सष्ट इति ठक (४।४।२२), तस्य लवणा लल्लुगिति (४।४।२४) लुक । अतएव तद्विताथयोगे भूतत्वात् योगिकोत्र लवणशब्द

—यास २।४।३१

रूढ शब्द—केवल समुदाय गति से अथप्रत्यायक रूढ हैं । रूढ गन् की उत्पत्ति की जाती है किन्तु उत्पत्ति से उनका अथ का कोई सम्बन्ध नहीं होता । जिन गन् के विग्रहवाक्य में अथ अथ होता है और वत्ति में अथ के रुद्धिशब्द है रूढाना हि धम नियमाय यथाकथञ्चित् युत्पत्ति क्रियते । न तु युत्पत्तिवशेन रूढयोवतिष्ठत ।

—शृंगार प्रकाश पृ० ६७

कयट के अनुसार रूढ गन् की उत्पत्ति असदर्थ के आधार पर नहीं की जाती चाहिए । जहा सदर्थ सम्भव हो वन्त असदर्थ का आश्रय रुद्धि में भी नहीं लेना चाहिए । जहा किसी भी प्रकार से अथ का सम्बन्ध नहीं बट पा रहा है वन्त असदर्थ अथ के आश्रय से उत्पत्ति की जा सकती है । जिस तलपायिका आदि गन् में ।

—कयट, प्रदीप १।२।६

यागरूढ अवयवगति और समुदायगति दोनों के द्वारा एक अथ के प्रत्यायक गन् माने जाते हैं । (संस्कृत गन्) ।

योगिक रुढ़ शब्द व कह जाते हैं जो कभी रुढ़यथ की उपस्थापना करत है कभी योगिक अर्थ की। जसे मण्डप शब्द गृहविशेष का भी बोधक है और योगिक अर्थ के रूप में मण्डपान करने वाले पुरुष के अर्थ में भी आता है। कुछ लोग इस भेद को नहीं स्वीकार करते।

शब्द-वृषभ

पतञ्जलि ने शब्द स्वरूप के प्रसंग में वृषभ का प्रतीक रखा है जिसमें शब्द के सभी अवयवों का परिचय हो जाता है। वृषभ आता है —

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे गौर्ये सप्त हस्तास अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मत्स्या आविवेश ॥

—शृङ्गा ४।५।३

इस मंत्र में चार शृङ्गा तीन पाद दो सिर मान हाथ तीन म्यात्र पर बद्ध ग द करने किसी वृषभ का चित्रण है। व्याकरण के क्षेत्र में, यहाँ वृषभ, शब्दस्वरूप का प्रतीक माना जाता है और उसके अनुरूप इस मंत्र की व्याख्या पतञ्जलि आदि ने प्रस्तुत की है।

चार सिंग से अभिप्राय चार पदजाता से है—नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। कुछ लोग कमप्रवचनीय को भी पदजात मानते हैं। चार पक्ष में कमप्रवचनीय का निपात में अन्तर्भाव समझना चाहिए। कुछ लोग केवल दा ही पदजात मानते हैं— नाम और आख्यात

कमप्रवचनीया निपातध्वेवात्तभूता इति चत्वार्युच्यन्ते। अयेषा द्वे पदजाते नाम आख्यात च ।

—महाभाष्य टीपिका प० १३

उपसर्गशब्देन कमप्रवचनीया इह गृह्यन्ते। क्रियायोगमन्तरेणापि प्रयोग दृश्यात ।

—मूर्तिरत्नाकर हम्बलम्

कुछ लोग चार सिंग का अभिप्राय चार प्रकार के वाक्यों से मानते हैं। आचार्यों का एक ऐसा भी वर्ग था जो नाम आदि की व्याख्या वाक्य भेद के आधार पर करता था उसका उल्लेख मलवादि ने किया है

न हि काचिदपि चेतना अशब्दास्ति। अनादिकालप्रवृत्तशब्दयापाराभ्यास वासितत्वाद विज्ञातस्य। चतयमेव पश्यत्यवस्था मध्यमा वक्ष्ययोरवस्थयो रूत्याने कारण नामेत्युच्यते। कारणात्मकत्वात् कायस्य ।

—द्वाद्वारनयचक्र प० ७७८

इसका अभिप्राय यह है कि चेतना शब्दमयी ही होती है। कोई चेतना अशब्द नहीं है। विज्ञान (चतय) अनादिकाल से शब्दयापार के अभ्यास से, पुनः पुनः प्रवृत्ति से वासित होता है। चतय ही पश्यनी अवस्था है। वह मध्यमा और वक्ष्ये के

शब्द के रूप में गृहीत होना चाहिये। गाय का वाधक गो शब्द और इंद्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न भिन्न हैं। उनमें एकता का भान सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है।

शब्द के कायत्व पक्ष में और नित्यत्व पक्ष में एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने-अपने सिद्धांत अपनाए रहते हैं।

एकत्ववादी दशन के अनुसार जाति-व्यक्ति व्यवहार की संभावना नहीं है। क्योंकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी। इसलिए उनके मन में जाति भेद निबन्धन सत्तामनि-सम्बन्ध भी नहीं है।

एकत्ववादी के अनुसार शब्द के नित्यत्वपक्ष में एकत्व मुख्य होता है, अर्थात् उपचार से एकता नहीं होती बल्कि स्वाभाविक रूप में होती है। कभी कभी कारण-भेद से प्राप्त भेद में उपचरित एकत्व मानना पड़ता है किंतु भेद में भी अभेद ज्ञान के सदा हान में प्रकटित एकत्व मुख्यसदृश ही है। शब्द के कायत्व पक्ष में भी एक वण या एक पद के एक बार उच्चारण के बाद पुनः उच्चारण करने पर यह वही वण है वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है। इस अभेद बुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है।

एकत्व दशन का ही मान कर कायायन न एकत्वादकारम्भसिद्धम (वार्तिक अइउण) कहा है। उपलब्धि के व्यवधान से वण या शब्द की एकता नष्ट नहीं होती। वस्तुतः व्यवधान उपलब्धि में होता है, वण में नहीं। वण की अभिव्यक्ति के साधन की क्रियाशीलता से वण की उपलब्धि होती है, अर्थात् नहीं होती। जैसे भिन्न दशा में स्थित द्रव्य में एक साथ ही गृहीत सत्ता मत्ता के रूप में एक ही रहती है अपना एकत्व नहीं छोड़ती वस ही वण भी भिन्न काल में उच्चरित होकर भी अभेद प्रत्यय के कारण एकत्व नहीं छोड़ पाता है।

नानात्ववादी दशन के अनुसार शब्द के नित्यत्व या कायत्व पक्ष में, नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है। नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पड़ता है। क्योंकि शाब्दिक व्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नहीं होना। एक शब्द का उच्चारण किया गया पुनः उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया। अब यदि उस शब्द के प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाए तो अर्थ में गड़बड़ी संभव है। एक व्यक्ति जब गो शब्द कहगा और उस गो शब्द के अर्थ को पहले से जानने वाला व्यक्ति उसका अर्थ समझ जाएगा, परन्तु किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का वही व्यक्ति नहीं समझ पाएगा क्योंकि उस उम अर्थ व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का संकेत जान नहीं है। अतः नानात्ववादी भी गौण-रूप में एकत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। गो शब्द के लगभग नव अर्थ होते हैं। इन नव अर्थों में नव तरह के गो शब्द हैं। किंतु गो द्रव्य का वाधक गो शब्द एक ही है। इसी तरह किरण द्रव्य का बोधक गो शब्द एक है। इसी तरह विभिन्न अर्थों के साथ उनका एकत्व लगा हुआ है। भिन्नार्थक एक पद में और भिन्न पदों में स्थित एक ही वण में, नित्यत्व और काय व दोनों पक्षों में नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक है।

वणमात्रमेव पदम् । तेषामपि सावयवत्वात् त्रयप्रवृत्तावयवानामाद्यवहारविच्छेदात्तुरीयतुरीयकविमर्त्यपदेश्यरूपव्यवहारातीत अस्ति इति न वणपदे विद्येते ।

—वाक्यपदीय १।७३, हरिवर्त्ति, पृष्ठ ७५

अत्र वण का समुदाय उपयुक्त दृष्टि में समभव नहीं है, परिच्छिन्न रूप वाली और सीमित अथवा सीमा नाम की कोई वस्तु भी नहीं है ।

नानाववादी मानते हैं कि पद में वण नहीं होता और न वण में अवयव होते हैं । वाक्य में पदा का कोई अत्यन्त अलगाव नहीं होता । वे इस बात का तो मानते हैं कि वण की विवक्षाजय ध्वनि से अभिव्यक्त वण की प्रतिपत्ति (ज्ञान) पद की विवक्षाजय अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है । क्योंकि पद में समुदाय विषय प्रयत्न की जरूरत पड़ती है वण के उच्चारण में उतनी नहीं । फिर भी तुल्य स्थान वण आदि के कारण वणों की ध्वनिया में एक सादृश्य आ जाता है । फलतः वण-विभाग का ज्ञान पद की प्रतिपत्ति में आभासित होता है । अर्थात् पद जिसमें कोई विभाग नहीं है विभाग वाला जान पड़ने लगता है । वस्तुतः पद एक है । अविच्छिन्न है । नित्य है । अभेद्य है । वह अन्तिम वण (तुरीय वण) से मानो अभिव्यक्त होता है । वणों के तुरीय (वह अन्तिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है) कल्पित है क्योंकि वे व्यवहारातीत और अपदेश्य हैं । इसलिए शास्त्र-व्यवहार में उनका एकत्व प्रसिद्ध है । परन्तु लौकिक व्यवहार में वाक्य का प्रयोग होता है । वाक्य प्रतिपत्ति में उपायस्वरूप पद प्रतिपत्ति है । वाक्य अविच्छिन्न है । निर्भाग है । वाक्य के उच्चारण करने पर वण पद आभास वाली क्रमवृत्ति जो बुद्धि पदा होती है वह अनात्मिक है । वाक्य में अभिधेयनिर्गन्धन भेद के अभाव के कारण उसमें पद वण का विषय अवास्तविक है । सप्रहकार ने कहा है

न हि किञ्चित्पद नामरूपेण नियत इव चिन्तितम् ।

पदानामयं रूपं च वाक्यार्थदेव जायते ॥

—सप्रह वाक्यपदीय २।३१८ में पुण्यराज द्वारा उद्धृत

और वाक्यपदीय १।२६ हरिवर्त्ति में भक्त हरि द्वारा उद्धृत ।

पद के भेदाभेद दर्शन को वातिकार और महाभाष्यकार दोनों ने अद्भुत सूत्र के विवेचन में स्पष्ट किया है । कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए एतत्वाकारस्य मिद्धम यह वातिक लिखा है और नानात्वदर्शन का मानते हुए 'आद्यभाष्य तु कालशब्दप्रवाधान' यह दूसरा वातिक लिखा है ।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरममात्मनाय में पठित अक्षर अनुवृत्ति (गाम्य का लक्ष्य में प्रवृत्ति) में उपलब्ध अक्षर और धात्वादि स्थित अक्षर एक है । अक्षर मूल वाल प्रत्यय जैसे अण क आदि में अनुबोध काय साम्य नहीं हो सकेगा क्योंकि उनमें विधेय स्थला के लिए विशेष अनुबोध इसी दृष्टि से किया गया है कि कितने आदि के स्थान में गिन आदि काय न होने पावें और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रहे । यह आशेष कि जहाँ एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नहीं ले सकते उसी तरह वण एक-व

मानन पर एक वण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नहीं कर सकत ठीक नहा ह । जिम तरह एक ही घट के दशन और स्पग जसे काय अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकत है वमे ही अकार आदि वण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत कर सकते हैं ।

भाष्यकार ने नानात्व पण का भी समथन किया है । कालव्यवधान स गदव्यवधान स (शब्द के व्यवधान म भी कालव्यवधान रहता ह) और उग तादि गुणा के भिन्न भिन्न होने से अकार को भी भिन्न भिन्न मानना चाहिए । भिन्न होते हुए भी उमका प्रत्यभिज्ञान अत्व आदि सामान्यनिबधन ह । अकार अश्व अक्र, अथ जस विभिन्न पदस्थला म एक साथ ही उपलब्ध हा जाता ह । एकत्वदशन क अनुमार एमा सभव नहीं ह । एक ही देवत्त एक साथ ही मुध्न और मथुरा म अवस्थित नहीं देखा जा सकता । अकार विभिन्न स्थला म एक साथ देखा जाता ह । अत अनेक हैं एक नहीं । यह नहीं कहा जा सकता कि जस एक ही मूय अनेक स्थाना म युगपत देखा जाता ह वम एक ही अकार विभिन्न पदा म युगपत देखा जा सकता ह क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत मूय को एकसाथ ही नहीं देख सकता । ग् प्रयोगमय ध्वनि स अभिव्यक्त हाता ह ओत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती ह बुद्धिद्वारा उसका ग्रहण होता ह और उमका नेश आमाग ह । जिम तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरा के आधार पर विभिन्न दश का व्यवहार होता ह उसी तरह एक ही आकाश म विभिन्न समीची द्रव्या की सीमा के कारण अनेक आकाशग का व्यवहार होता है । अनेक अविवरणस्थ मूय की तरह अनेक अधिकरणस्थ गकार की भी युगपत उपलब्धि नहा हा सकती ।

गभद पण का मान कर भाष्यकार ने लिखा ग्राम ग् क बहुत अर्थ है—गागा समुत्पन्न वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा क लिए उनक चारा और का घेरा) मनुष्य और अरण्यवाला सीमावाला और जमीन वाला । पुन अभे पण को मानत हुए यह कहा जत कहा जाता ह कि ये गाना ग्राम एक म मिले हैं ता वही ग्राम ग् स ता पय सारण्यन समीचीन मस्यपिण्ड म ह । —महामाष्य १।१।३

व्याकरणज्ञान दोनों पणा का ग्राह्य मानता ह । धुनि क अभे म अनराधत्त म भा एक ग् और अयभ से एर धुनि होने पर भी अनक ग् मानने है । एक क मत म भे ओपचारित और एकव मुख्य । दूसर क मत म एग्न व्यावर्गित और पयसत्त (भे) मुख्य ह । एमा तरह अनक ग्नितयाग और एर ग्नितयाग क विषय म भी विरप ।

भनृहरि न एवववा और नानावशा का वरि वा मय म भा ग्गियाया । विवृति याग म प्रयाग (किमी क मत म एवाग्न) सामर्थेना कृत्ताए गाना है । गमिधनाथ हान क कारण कृत्ताया का भी गामरना क्त है । इनम प्रथम और धनिम कृत्ताया का तीन-तीन बार आवृत्ति का जाता । त्रिगम इनकी मस्या मत्र (प्रगवा प) हा जाती ह । आवृत्ति म क्या ह कृत्ताया की सस्या म एग्न ग् कि एग्न कृत्ताया की विभिन्न (स्वतन्त्र) माना गया । एम ग्गभवा व म भा एगनाया गया जान पता ह । एमा तरह एक ही मत्र विविदा क म म भिन्न भिन्न

माना जाता है जमा कि ऊहमत्रा म भी दखा जाता है
 सामिधेय तर चवमाव ताचनुयज्यते ।
 मत्राश्च विनियोगेन तन्मते भेदमूहवत ॥

—वाक्यपनीय २।२६०

इसी तरह सावित्री मंत्र सस्कार म दूसरा यन म दूसरा और जप में भी
 भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पड़ता है
 अया सस्कारसावित्री कमण्य या प्रयुज्यते ।
 अया जपप्रवधेषु सा त्वेकव प्रतीयते ॥

—वाक्यपनीय २।२६३

इसके विपरीत कुछ नाग वद मत्रा म अथ ही नहीं मानते । इसलिए उनके
 लिए अथ भेद म गान्धेय भेद की चचा का मूल्य नहीं है । कुछ लोग गान्धेय-स्वरूप का ही
 अथ मानते हैं

अनथकाना पाठो वा शेषस्त्वय प्रतीयते ।

गान्धेयस्वरूपमथस्तु पाठोऽयमपच्यते ॥

—वाक्यपनीय २।२६१

वाक्यपनीय में एक गान्धेय म शब्दोपचार प्रसिद्धि अप्रसिद्धि निमित्तक माना
 गया है और अर्थोपचार स्वरूपायत्व और बाह्याय व भेद से दो तरह का माना गया
 है । इस प्रसंग में भक्त हरि ने गान्धेय के गौण मुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि
 गौण मुख्य का स्वरूप गान्धेय के भेदाभेददान म प्रभाविन है ।

गौण-मुख्य विचार

गान्धेय एकवादी के मत में गौण मुख्य भाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आधित
 है । गौवाहीक शब्द में गो शब्द का ही अथ बाहीक भी है । अंतर इतना ही है कि
 गो के अथ म गो गान्धेय अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है और बाहीक के अथ म कम प्रसिद्ध
 है (वाक्यपनीय २।२४१) ।

यदि केवल शब्दोपचार माना जाए तो शब्द और अर्थ के मवध में अनिरयता लोप
 आ जाएगा इसलिए भक्त हरि ने अर्थोपचार भी माना है । गान्धेय का अथ दो तरह का
 होता है—स्वरूप और बाह्य । गौवाहीक म गो शब्द का अथ गो व है । जाडय आदि
 के आधार पर गांव बाहीक स भी जुट जाता है यही बाह्यार्थोपचार है । अंतर केवल
 इतना ही है कि गो में गोत्व मुख्य है और बाहीक में उपचरित है ।

—वाक्यपनीय २।२५७

इसी तरह गान्धेय का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुपगत होता है । मवत्र गान्धेय
 का उसका अपना स्वरूप ही है । गो गान्धेय का अथ अपना गो शब्द-स्वरूप स्वरूप है । वह
 स्वरूप कभी गो जाति म जुटता है और कभी बाहीक जाति म । इसमें किसी की
 मुख्यता और किसी की गौणता प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है ।

गान्धेयवादी (नाना उवादी) के अनुसार गौण अथ यकन करने वाला गो शब्द

अथ ह और मुग्र अथ व्यक्त करन वाला गौ गत् अथ ह । शब्द भट्ट वाट पाकिरण दशन के एक माय सिद्धान्त पर अवलम्बित है । पाकिरणशा म शब्द और अथ म अध्यासलक्षण संबन्ध माना गया ह । यदि एक गत्वाद माना जाएगा तो एक शब्द का किसी एक अथ म अध्यास माना जाएगा और वह उस अथ स अभेद प्राप्त कर नगा फिर एक अथ के साथ अभेद होकर वह किसी अथ के साथ वस अध्यास प्राप्त करेगा ? अतः गत्भट्ट पक्ष मानना चाहिए । महाभाष्यकार ने भेद पक्ष और अभेद पक्ष दोनों का स्वीकार किया ह (एतच्च भेदाभेदस्वाभावात् दानद्वय गन्तव्यं भाष्यकारेण वार्तिकव्याख्यानावसरे दर्शितम् । (पुण्यराज वाक्यपनीय २।२।६) । भट्ट भेद दान पर भाष्यकार के मतों का ऊपर विचार किया जा चुका ह ।

अनन्त गणितान व पश्य म अथभ स गभे मानन व कारण गीण अय
अय ह और मुख्य अय अय ह एगा माना जाता है।

गोण—मुख्यभाउ क संबंध म एतत्वाद् और अनक एतत्वाद् म एत मोलित भूत यह भा उक्ति अनक एतत्वाद् क अनुसार एतत्वाद् ही उपयुक्त माना जाता है क्योंकि उसके मत म सारूप्य के कारण अभेद प्रतीत होना है मुख्य अर्थ के अधिन प्रसिद्ध होन क कारण उसक वाचक एत म उपसार मानना उचित है । जबकि एकत्व वाद् क अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है । एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय एत और अर्थ के सम्बन्ध म अनि वनायोग क निवारण क नियतन है । भन चरि न एतत्वाद् और अर्थोपचार नाना का यथा असर आश्रय लिया है (पुष्कराज वाक्यपथ २।२६३) ।

गौण मुख्य भाव का निमित्त क्या है—गौण मुख्य का टाट स्वल्प गया है मग पर भवे चरि न अनन्य भवे वा उदय गया है । कुछ प्रगल्भ मत निम्नलिखित है

अर्थप्रकरणशब्दात्तरसन्निधानपक्ष

एक मंत्र व अनुगारमन्त्रा तन्त्र व अथ द्वावर्ग मन्त्र मन्त्र का गीत मुख्य विभाग निमित्तका होता है । निमित्त व साधारण व अथ गान्धर्व मन्त्र और अथ गीत कहा जाता है । ये निमित्त अथ प्रत्येक और गान्धर्व मन्त्र है । गान्धर्व मन्त्र मन्त्रा सागुन वात अर्थ का द्वावर्ग करता है मन्त्र वात का भाव द्वावर्ग करता है । इनमें मुख्य और गीत द्वावर्ग अर्थ और अर्थ और अर्थ है ।

महत्कार का प्रमाण मुझ को ही यह है कि मैं निराला हूँ। अतएव मैं
ना स्वाध का अभिप्राय ही। जो जहाँ अपना अभिप्राय कहता है। प्रमाण प्रयत्ना
है। अतएव मैं कहता हूँ कि मैं ही हूँ। यह ही है। यह ही है।

नृदुःखोत्थारणं ह्येष अग्निहोत्रं यमं तमसः ।

सु माय इति श्रुत्वा कदापि निराश्रयः ॥

वाराणसीय प्रजापतेः धनार्थिः निपुणः ।

अथ त्रिभिः साधनैः गणनाय विविधेति त्रयम् ॥

इसका कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि निमित्त तात्पर्य अथ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ साम्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करने वाले गो शब्द के सम्बन्धी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिए उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों में जहाँ शब्द की गति स्वलित नहीं होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्वलितगति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार पक्ष में एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योंकि एकशब्दद्वय पक्ष में शब्द भेद संभव नहीं है।

परन्तु भक्त हरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विभाग को प्रथम नहीं दिया है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का निष्पन्न अर्थ प्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है जैसे पुरा, आरात आदि। पुरा और आरात शब्द का अर्थ भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरण मत्तय अर्थ को गौण माना जाए तो पुरा आरात में भी गौण मुख्य भाव होने लगेगा पर होता नहीं है। इसलिए अर्थ प्रकरण के आधार पर गौण मुख्य विवेचन उतना युक्ति युक्त नहीं है।

एकशब्दवाद और अनशब्दवाद दोनों पद और पदार्थ का मत्तय मान कर चलते हैं। परन्तु अखण्डवाक्यवाद्या के मत में पद और पदार्थ असम्बन्धित हैं। फलतः पद और पदार्थ पर अन्वित गौण मुख्य भाव भी संभव नहीं है। गौर्वाहीक यह अखण्ड वाक्य है और इसमें गौणतम से अवच्छिन्न वाहीक लक्षण अर्थ अखण्ड रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी निया चरित (छिपी) रहती है। इसीलिए कोडयम के प्रश्न में गौ (अस्ति), अश्व (अग्नि) आदि के रूप में निया छिपी रहती है। इसलिए एक अखण्ड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपाङ्ग पद्धति का आश्रय लेकर पद पदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि अप्रसिद्धि के आधार पर गौण मुख्य विभाग किया जाता है।

न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौण मुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मा का न्यून भाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परन्तु भक्त हरि के मत में यह मत अवज्ञानिक है। क्योंकि न्यून और अधिकभाव अनवस्थित है। किसी धर्म का अधिकत्व या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है इसलिए न्यून अधिक भाव का गौण मुख्य विभाग का निमित्त नहीं माना जा सकता।

सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत में गौण मुख्यभाव में निमित्त सादृश्य है। वाहीक में गौण भाव नहीं है। फिर भी गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि गो व्यक्ति के

जाड्य माद्य आदि गुणों का बाह्य गत जाड्य माद्य आदि गुणों से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गानाद गाव रहित वाणीय के लिए भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी प्रयुक्त नहीं है क्योंकि वादयपप्रतिवृत्ति वादयप जैसे स्थला में सादृश्य निमित्त तो है परंतु गौणता नहीं है। इसलिए मवत्र सादृश्य को गौण मुख्यभाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।

विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवचन में एक मत विपर्यास पर भी अवलम्बित है। बाह्य रूप अथ विपर्यास से मानो गो रूप हो जाता है। बाह्य का गो रूप होना अर्थात्तर होना है। इसलिए उसका वाचक गो गत गौण है। विपर्यास दो तरह में होता है—अध्यारोप रूप में और अध्यवसाय रूप में। गौवाणीक इस गत में गो गत गुणों का बाह्य में अध्यास होता है। अतः यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। रजत रजस इमम विपर्यास अध्यवसाय रूप में है। अध्यारोप और अध्यवसाय में अन्तर यह है कि अध्यारोप में आरोप्यमाण और आरोपविपर्यास दोनों का भेद अपहृत नहीं होता जबकि अध्यवसाय में आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविपर्यास निगौण (अतः कृत) होता है। अध्यारोप में दा वस्तुआ में भेद होना हुआ भी तादृश्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जबकि अध्यवसाय में सबथा अभेद का परिचय प्रयोजन होता है। वस्तुतः जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौण मुख्यभाव हो सकता है परंतु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौण मुख्यभाव स्पष्ट नहीं होता। इसलिए केवल अध्यारोपलक्षण विपर्यास को गौणमुख्यभाव का निमित्त माना जा सकता है।

रूप-शक्ति

गत रूप और शक्ति से स्वभावतः संपन्न रहता है। औपत्तिकस्तु शक्त्या येन सम्बन्ध (मीमांसा सूत्र १।१।५) इस वाक्य में भी गत में स्वाभाविक शक्ति निहित है। गत रूप और शक्ति दोनों में उत्पत्तिकाल में ही युक्त रहता है। गत में अनेक शक्तियाँ हैं। इसलिए गत अपनी शक्ति केवल में अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारकों के मत में गौण मुख्य-व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। मीर (हल) मुसल खग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी कभी अन्य अर्थ को प्रकट करती हैं। जम किसी के गग लाओ नम वाक्य से लड़ाई की बात आ गई है इस अर्थ को अभिप्रेक्षित होती है। यह अभिप्रेक्षित रूप शक्ति की महिमा है। रूप शक्ति के वन से गौण मुख्य विभाग को प्रकिया यह है कि गत श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ का व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधान शक्ति के द्वारा हुआ भा अग्रमिद्धि के कारण प्रकरण आदि के कारण यन्पूर्वक उसका अर्थ अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है।

भूतिमात्रण यथास्य तादात्म्यमवसीयते ।

मुख्य समथ मयते गौण परतोपपादितम् ॥

—याज्ञवल्क्य २।२८०

अनभट्ट व अनुसार मुख्यता और गौणता यमन गान्तर निरूपण और गान्तर सापथ अध प्रतीति के आधार पर माननी चाहिए

यथा अग्रेषु मुख्यस्य प्राधाय तथा शब्दान्तरनिरपेक्षतया प्रतीयमानस्य मध्यस्य प्राधायनम् । शब्दस्यापि स्वशक्तिविषय-सादृश्याय प्रतिपादकत्वेन मुख्यत्वम् ।

—अनल भट्ट महाभाष्यप्रतीपाद्योक्त द्वितीयभाग प० २३

व्याकरण मप्रदाय के अनन्त आचार्य गान्ध का चौद्ध मानत है । उनका अनुसार गान्ध म गौण मुख्य विभाग मभव नहीं है । वक्ता जिम अभिप्राय स गान्ध का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द म यो अर्थ का ज्ञान होगा अतः सबस गान्ध मुख्य रूप म ही रहगा कभी गौण न हो सकेगा । फलतः गौण मुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा । परन्तु अतः हरि इस मत को प्रत्यय नहीं करे । एक तरह व गान्ध या ज्ञान होने पर भी ज्ञान म सत्य और असत्य का भेद दखा जाता है । दायन म मृग मरीचिका म जल दिखाई पड़ता है परन्तु मगमरीचिका जल नहीं है चित्रा म नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते हैं परन्तु चित्रगत उच्चता या निम्नता म प्रतिघात आदि काद वायभेद नहीं होता । देग वान दृष्टिमगत भेद म वस्तु अथवा रूप म (अपन मुद्ररूप व विपरीत) दिखाई पड़ती है परन्तु जोर म प्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथाथ) रूप म ही ग्रहण होता है । वस्तुतः जो सत्य व विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनों में अन्तर नहीं होता । गान्ध लाक व्यवहार के निमित्तभूत होते हैं । इसलिए प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा भ्रमनदगति या अस्वननगति के आधार पर गान्ध के चौद्ध होने पर भी गान्ध के गौण मुख्य विभाग सम्भव हैं ।

गौण मुख्यभाव मानकर ही गौणमुख्ययो मुख्ये काय सप्रत्यय (परिभाषा वृत्ति सागदव १०३) यन् परिभाषा प्रतिष्ठित है । अग्ने ढक (४।२।३३) यम सूत्र म मुख्य अग्नि शब्द से ढक प्रत्यय होता है अग्निमणिवक् जस उपचरित (गौण) अग्नि शब्द से नहीं होता । अग्ने गौ सपद्यते गोऽभवत् जस स्थाना म गौणाय होन के कारण शब्दतः के निषानन होने पर भी श्रोत (पा० १।१।१५) स प्रगृह्य सत्ता नहीं हानी ।

वार्तिककार ने गोऽभवत् जस स्थला मे प्रवृत्तिभाव के निषेध के लिए श्रोतश्च प्रतिषेध इस तरह का प्रयत्न किया है । इससे यह जान पड़ता है कि वार्तिककार के मत म गोऽभवत् म अर्थ लक्षण गा गान्ध का मुख्य अर्थ ही है । सभी अर्थ मुख्य ही होने हैं । अतः गौण मुख्य भाव विभाग सम्भव नहीं है परन्तु महाभाष्यकार ने गौण मुख्य याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य सत्ता का निर्देश किया है । असी तरह अग्निषोम शब्द म स का पता होता है परन्तु अग्निमामो माणवकौ म नहीं होता कयाकि दूसरा गौण हो गया है । महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिए कहा है कि यम गोरनु-

(४।१।६२), भाव (३।३।१८) जैसे स्थला म पुलिग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपु सकलिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नहीं हाना चाहिए। इसके उत्तर म भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और सख्या नातरीयक हैं, अतः अविवक्षित है। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति 'तुप और पलाल सहित' गालि लाता है पुनः उसम से अन्नादि जो कुछ लान योग्य होता है उस लेता है। शेष को छाड़ देता है। अथवा जिस तरह मासार्थी शकल और कण्ठक सहित मस्य लाना है क्योंकि गङ्गा और कटक नान्तरीयक हैं पुनः लेने योग्य अन्न को लेकर गङ्गा कटक आदि का फल देता है उसी तरह गान्धशास्त्र म भी तद्धिताय निर्देश आदि म तद्धिताय का ता ग्रहण किया जाता है और नातरीयक रूप म व्यक्त लिंग और सख्या को छोड़ दिया जाता है। वे विवक्षित नहीं हात। इसी का पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा' कहा है।

कयट क अनुमार कहो-वही सख्या विवक्षित होती है जस सुपसुपा म —

सबत्रव हि शास्त्रास्मिन् नातरीयकत्वाद्धुपात्त लिंगसख्य न विवक्ष्यते।
कचचित् सख्या विवक्ष्यते यथा सुपसुपेति।

—कयट महाभाष्य ४।१।६२

सकलपदार्थ अविवक्षा यहाँ हाती है जहाँ शब्द क द्वारा उपात्त पदार्थ का त्याग कर दिया जाना है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होना है। जस तस्यादित उपात्त मद्ध ह्रस्वम (१।२।३२) मे अद्ध ह्रस्व गन्। अद्ध ह्रस्व का अर्थ ता होना चाहिए ह्रस्व का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीघ और स्वरित क अद्धमात्रा का ग्रहण नहीं होगा परन्तु होना चाहिए। इसलिए अद्ध ह्रस्व गन् का अर्थ अद्धमात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ह्रस्व गन् उपलक्षण है दीघ और स्वरित का भी अद्ध ह्रस्वमित्यनेन अद्धमात्रा लक्ष्यते, ह्रस्वग्रहणमतत्रम।

—काशिका १।२।२२

कुछ लोग ऊवालो जम्ब्वदीघप्लुत (१।२।२७) म ह्रस्व दीघ और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ह्रस्व शब्द से दीघ और प्लुत भी लभित है एमा मानत हैं। कुछ लागा के अनुसार अद्ध ह्रस्व प्रमाण के अर्थ म रुति शब्द है। निरवयव है अद्धह्रस्व शब्द प्रमाणवाची रुदिगन्ध। 'पुत्पत्यथ च ह्रस्वस्यापादानम्। अद्धमानात्त्वोनामधीयते।

—कयट महाभाष्य १।२।२२

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अर्थ अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नातरीयक का एक प्रकार है। जत्र कोई कहता है अभी बहुत चलना है मूय का देखा तो उसका उद्देश्य दिन के अप्र शेष भाग का खिलाना रहता है। उस स्थला म प्रधान अर्थ ही अर्थ अर्थ का उपलक्षण हो जाना है। इसी तरह वाक्य मे दधि की रक्षा करो इस वाक्य का वाक्य गान्ध अर्थ जीवा जस कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। गान्ध म भी विध्यत्यधनुपा इस वाक्य म अधनुपा पद से करणमामाय मात्र का निर्देश माना जाता है। भाजनमस्योपाद्यताम म वाक्य क कहने पर नान्तरीयक क रूप म आभनन्तान पात्र प्रक्षालन, आनि भाजन क अर्थ के रूप म भामिन

हान ही है।

पुण्यराज के अनुगार मकनगन्ध अविदग्धा और उपात्तपत्न्या के अपरिस्वयाग द्वारा अयमय का उपलक्षण यदा मुख्य-नान्तरीय के विभाग अविदग्धा वाच्यलक्षणा (ध्वनि) और विवितापरवाच्य लक्षणा (ध्वनि) के सूचक हैं—

—वाच्यपत्नीय २।२१५

मुख्य और गौण मरधी उपयुक्त मना म पुण्यराज न निम्ननिमित्त चार को अधिन महत्व दिया था

१ प्रमिद्ध अप्रमिद्धि गहित प्रवरणानि ।

२ प्रवरणानि गहित प्रमिद्धि अप्रमिद्धि ।

३ अध्यारोपनक्षण विपर्याय ।

४ रूपगति ।

भन हरि तशन म ग न अनवधमा है सवगविनमान है। एक हा गा ग न कभी जाति विरोध का अभिधायी होता है तब गौरनुबध्य म और कभी जातिविनिष्ट द्रव्य का अभिधायक होता है जैसे गौ आनायताम म। कुछ लोग इस केवल जातिमात्र का वाचक मानते हैं। कभी गौ ग न परिच्छिन्न द्रव्य विरोध के लिए प्रयुक्त होता है जैसे अस्त्यत्र काचित् गा पश्यमि म। वही रूढ सम्बन्धो म त्रिया गुणा म गो ग न का प्रयोग लेखा जाता है जैसे जाडय के कारण अथवा उच्छिष्ट (भाजन के कारण) अथवा सब कुछ सह लेने के कारण अथवा बहुत अधिक भोजन करने के कारण बाहीक को गौ कहा जाता है। इस तरह गो ग न सवगविनमान है। उसका सामर्थ्य दूसरे निमित्तों के कारण नियन्त्रित होता है। इसलिए गौणभाव प्रमिद्धि अप्रमिद्धि पर निर्भर करता है। ग न सुनने मात्र से ही जिस अर्थ म वह अवतरद हा जाता है किसी दूसरे शब्द स वाच्य प्रसिद्ध अथा तर को नहा समेटता, वह मुख्य माना जाता है।

जहा शब्दान्तर से अभिधेय अथान्तर का अवलम्बन कर लोक म अर्थ गृहीत होता है वहाँ गौण माना जाता है।^{३३}

३२ एक एवाय गोशब्दो वाक्ये ववचित्नातिनिशेषामिनायं

त न यथा गौरुवच'य' इति । ववचित्ना युपसजने

द्रव्यमात्रे वतते । न यथा गौरानीयताम्' गौ दुध्यनामिति ।

नचिदत्र नातिमात्राभिव्याप्त्ये मय ते । त न यथा वचित्

गोशब्द परिच्छिन्न एव द्रव्यविशेषे वतते । त न यथा

अस्त्यत्र काचित् गा पश्यन्तीति महति गोमटले आसीन यदा

गोपातक पृच्छसा (ती) नि । ववचित् रूढि सम्बन्धेषु त्रियागुणेषु

गोशब्द प्रयुज्यमानो दृश्यते । तद यथा नाट्या औद्भिष्ट्याय (१)

सप्तसहस्रान महारान्बाद् वा गौवाहीक इति ।

तस्य शब्दशब्दे गोशब्द निमित्तान्तरावच्छिद्यमान

साप दरय प्रसि यप्रसिद्धिभ्या गौणत्व विव्रायते ।

वाक्यपदीय २।२५५ हरिवृत्ति, हरनलेख शृंगार प्रकारा पृ० २५८ में भी उपलब्ध ।

किमी आचार्य के मत में गद की वृत्ति स्व विषय में मुख्य में होती है। मुख्य में अयत्न नहीं होती। केवल रूपान्तर का अध्यारोप अर्थात्तर में किया जाता है। और इसका आधार बुद्धि का विपर्यास है। जस समाह अथवा भ्रम से रज्जु में सप के विपर्यास हो जाने पर सप शब्द स्वविषय में (मुख्य विषय में) प्रयुक्त होता है। इसी तरह में भूतकाल में दम्ने गय किमी धर्म का सादृश्यता में, अथवा भविष्य में हान वाले भूत सम्पर्क किमी धर्म से बुद्धि में विपर्यास हो जान में बाहीक में गात्व लाकर सास्नावाले गो पिण्ड में ही गो शब्द का प्रयोग करता है। यहाँ केवल अथ रूप मात्र विपर्यास है। गद का अपन मुख्य विषय में व्यभिचार नहीं है।^{३६}

महाभाष्यकार ने भी ताद्रूप्य का समर्थन किया है। जैसे तस्य इदं सम्बन्ध होता है वम ही में अयम के रूप में भी सम्बन्ध होता है। यह वह है सम्बन्ध चार प्रकार से होता है—तानस्थ्य से तात्पर्थ्य से, तन सामीप्य से और तत साहचर्य में। महाभाष्य में इन चारों का उदाहरण दिया है

तात्स्थ्यात् मचा हसति । गिरि दह्यते ।

तादधर्मात् जटिन पीन ब्रह्मदत्त इत्याह ।

तत्सामीप्यात् गगाया घोष । कूपेगगकुलम् ।

तत साहचर्यात् कुतान प्रवेशम् । यष्टी प्रवेगम् ।^{३७}

महाभाष्यकार की यह उक्ति लक्षणा शक्ति का बीज है। यही से लक्षण का विकास हुआ है। भत मित्र ने महाभाष्यकार की इस उक्ति के आधार पर पाँच प्रकार की लक्षणा का उल्लेख किया था

अभिधेयेन सामीप्यात् सारूप्यात् समवायत् ।

वपरीत्यात् क्रिया योगात् लक्षणा पचधा मता ।

—ध्वयानोक्त लोचन में उद्धृत प०, २८

उपचार के रूप में भी लक्षणा के संकेत महाभाष्य में मिल जाते हैं

ध्रुवत्व लोके ईप्सितं पूजेत्युपचयते^{३८}

लोके हि सख्या पवत मानामुपचरति^{३९}

४४. पण्यभाष्यकारा मुख्यात् स्वविषयादन्यत्र शास्त्रस्य वृत्तिः नास्ति ।
रूपान्तरा यारोपन्तु अर्थान्तरे स्थित । यथैवैकं मनोहानं रज्जुव्ये
प्रान्तविषयासं सपशब्दं स्व विषये प्रयुक्ते । विषया तरे तु विषयान्तर—
रूपमध्यारोपयति । तथा करयचिदेव सत्य धर्मस्य भूतस्य दर्शनान् भाविनी
वा भूतपदामगात् गोत्वमासाद्य (आसज्य) बाह्यके प्र त रूपविषयामा
बुद्धौ गोशब्दं सान्नादिमत्येव पिण्डे प्रयुक्ते । तत्राथ रूपमात्रविपर्यासः ।
शब्दस्य तु विषये व्यभिचारो व दृश्यते वाक्यपदाद्यं २०५६
हरिवृत्तिः हस्तलेख । १२ गार प्रकाश ६००५६ में भी उपलब्ध है ।

४५. महाभाष्य ४।१।४८

४६. महाभाष्य ४।१।६३

४७. महाभाष्य ४।१।६३

द्वय पर लक्षणा का स्थिति है

उपचारतीत्यनेन लक्षणाद्योजसम्बन्ध प्रदर्शनम् ।^{३८}

लक्षणा गङ्गा का मूल भी महाभाष्य में मिला जाता है और वह है मन्त्रभाष्य
कार का 'लक्ष्यत', शब्द का प्रयोग — अथास्य सत्यपि सोके लक्ष्यत महामाष्य २।१।६६

मुख्य और गौण के आधार पर मुख्य वृत्ति और गौणी वृत्ति का गङ्गा वृत्ति
के रूप में विचार प्रारम्भ हुआ । मुख्य के आधार पर मुख्य और जपन के आधार पर
जपन का वृत्ति की कल्पना बहुत पहले की जा चुकी थी । जपन का गङ्गा का प्रचलन कम
पड़ता गया और उपचार गङ्गा का ही प्रचार दान के क्षेत्र में अधिक रहा । धीरे धीरे
गुण गङ्गा उपचार का स्थापित होता गया । प्रारम्भ में गुण-कल्पना और उपचार-कल्पना
समानाधिकार थे । कागिका वृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में
हुआ है

द्विगु निमित्तको तर्हि गुणकल्पनाया

—कागिका वृत्ति ४।१।८८

यासकार ने यहाँ गुण कल्पना का उपचार कल्पना माना है

गुणनिमित्तः कल्पना गुणनिमित्तकल्पना । सा पुनरुपचारात्मिकव धेदितध्या

—यास ४।१।८८

किन्तु बाद में गुण-कल्पना और उपचार कल्पना में थोड़ा भेद माना जान लगा । गुण
कल्पना का संबंध विशेष्य से और उपचार कल्पना का संबंध विशेषण से होता है ।
गुणवृत्ति का अतभाव उपचारवृत्ति में नहीं होता किन्तु उपचारवृत्ति का अतभाव गुण
वृत्ति में हो जाता है ।^{३९} इसी तरह लक्षणा और उपचार गङ्गा के भी प्रयोग प्रारम्भ में
समानाधिकार रूप में देखे जाते हैं ।

जयादित्य और वामन ने लक्षणा और उपचार के समानाधिकार प्रयोग किए हैं

यदा तु लक्षणया वत ते तदा पुन्येण समानाधिकरणम् भवति

कागिका १।२।२२

यासकार के अनुसार यहाँ लक्षणा का अर्थ उपचार है—लक्षणा उपचार —
याम १।२।२२ । यासकार ने अत्र भी लक्षणा का उपचार के रूप में लिया है ।

लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा । सा पुनरिहोपचार एव ।

—याम ४।१।८८ पृ० ८८८

कुमारिल भट्ट ने लक्षणावृत्ति और गौणीवृत्ति में भेद माना है । अभिधेय से
सम्बन्ध में प्रवृत्ति को लक्षणा कहा जाता है अभिधेय से लक्ष्य गुण के योग से गौणी
वृत्ति होती है ।

३८ महामाष्य प्रतीरोद्योत ४।१।६३

३९ तर्हि विशेष्यपु गुणकल्पना विशरणधूपचारकल्पनेति प्रदर्शित
पुरस्तात् । न च गुणवृत्तिपरवृत्तावर्तमानेति अपि उपचारवृत्ति
गुणवृत्तौ गङ्गा प्रकाश, पृ० ३५८ मैथिल मन्त्रालय ।

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिलक्षणेऽप्येते ।

सक्षयमाणगुणधर्मोपाद यत्तेरिष्टा तु गौणता ॥^{४०}

अभिधेयसम्बन्धित्वरूपापरित्यागप्रदशानायाऽविनाभूतगद्व

—यायसुधा, पृ० ४६५

अभिनवगुण न भी लक्षणा और गौणीवृत्ति म भेदगूचर वक्तव्य उद्धत

किया ह

यदाह गौणे शब्दप्रयोग, न लक्षणाया मिति ।^{४१} कथ न भी गौणीवृत्ति का

आशय लिया है (गौणीवृत्तिरुत्तरादम्भाशययणीया—प्रदीप ४।४।६२) किंतु अधिकतर इनका एक मानवर विशेष विचार हुआ है। यायसूत्रकार ने लक्षणा को भी उपचार रूप म लिया है ।^{४२}

व्याकरणदशन म अखण्ड वाक्याय की महत्ता होन के कारण लक्षणा की स्वतंत्र सत्ता नही स्वीकार की गई है किंतु कल्पित पद पदाय विचार के अवसर पर उसके स्वल्प के मक्त अवयव मिलत हैं जसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। नागेन ने लक्षणा पर विस्तृत रूप म विचार किया है। किंतु वह साहित्यशास्त्र की छाया से सस्पष्ट है। भत हरि न मुख्यावृत्ति और गौणीवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है ।^{४३}

भतृ हरि न नानात्व वाद के प्रसंग म प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का सकेन किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवधन का 'ध्वनि सिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द ही सदा प्रत्यायक नही हाता अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।

केचित्तु मयते नावश्य श्रूयमाण एव शब्द प्रत्यायक । किं तर्हि । निधमेना अनुमीयमानो पि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति ।^{४४}

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी न विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहा हो सकता ।^{४५} इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त का बीज व्याकरणदशन म मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नही आनन्दवधन के अविवक्षित वाच्य आदि वादा का भी मूल भतृ हरि के वचन है। भतृ हरि न प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होत हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है ? स्वयं उसका उत्तर घटप्रदीप याय के आधार पर दिया है। दीपक का उपयोग घट आदि द्रव्य वस्तु के लिए किया जाना है। दीपक घट के साथ साथ

४० तत्त्वार्थक, पृ० ३१८ काव्यप्रकाश से 'अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्ति' पाठ मिलता है जो अशुद्ध ह।

४१ ध्वनिलोकलोचन, पृ० १५३, चौखम्मा संस्करण

४२ यायसूत्र २।२।६३

४३ वात्परिच्छेपेऽग्य मुरयावृत्ति । पुरुषादिषु तु गौणी ।

—महाभाष्यनिपादा पृ० १३८ पूना संस्करण ।

४४ दक्षिणपदीय २।३६५ हरिवृत्ति हरतलेख

४५ कथ प्रतीयमान स्याच्छब्दोऽर्थस्याभिधायक ।

—वाचस्पदीय २।३६३

गन्निहित तूष्ण षोडशानि को भी व्ययन कर देता है। प्रकाशन शक्ति केवल स्मित का ही अभिव्यक्ति नहीं है। किंतु सभी अभिव्यक्त इष्ट नहीं भी हो सकते हैं। अविश्लेषित अर्थ का यही आधार है

तत्रेव विचार्यते । अथमभिधीयमानोऽथ गन्धवान् अविश्लेषित इति । तस्मादिव प्रशस्यते । प्रदीपो हि प्रकाशनगत्या युक्त तमसि यस्य प्रकाशस्य तस्यैव घटादेरपत्तिस्तस्य अथस्य दग्नायमुपादोयते । ततो सौ अर्थात्तरस्यापि सयोगिन समानदेशस्य तण्णामुकीटसरीसपादे घटादिवदेव प्रकाशन करोति । न ह्यत्र प्रकाशनगतिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति ।^{४६}

यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवधन न भी वायु और प्रतीतमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है ।^{४७}

४६ वाक्यपदाय २।३०० हरिवृत्ति हस्तलेख

४७ आलोकार्थी यथा दीपशिखाया मनवान् जन ।

पदार्थ-विचार

अपन देश क विचारको विरोधकर वयाकरणा की यह मायना रही है कि पदार्थ सत्ता के निर्देशक ह (न पदार्थ सत्ता व्यभिचरति—महाभाष्य ५।२।६४)। शब्द-प्रयोग सत्तापक्ष ही होता है। भूत हरि भी इस बात का मानते हैं कि सभी गद्दों की प्रवृत्ति में मूल कारण सत्ता है।^१ अतः शब्द के आधार पर भी अभिधेय का विवेचन किया जा सकता है। अभिधेय के रूप में सम्पूर्ण विश्व ही है। इसके विवेचन के लिये पदार्थों का वर्गीकरण किया जाता है। वयाकरणों में शब्द की प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थों का उल्लेख किया है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। और इसी के अनुसार शब्द प्रवृत्ति भी चार तरह की मान ली गई है जाति शब्द, गुण शब्द क्रिया शब्द और द्रव्य शब्द (यदच्छा शब्द)। ये चार भेद प्रायः स्वीकृत हैं। वस्तुतः शब्द प्रवृत्ति के वर्गीकरण के विषय में विवाद है और वह प्राचीनकाल से ही है। जिनब्रह्मि के अनुसार, निरुक्तकार और शाकटायन त्रयीशब्द प्रवृत्ति को मानने वाले हैं। उनके मत में जाति शब्द, गुण शब्द और क्रिया शब्द हैं। यदच्छा शब्द नहीं है। कुछ लोग केवल क्रिया शब्द मानते हैं। जाति शब्द और गुण शब्द भी क्रिया शब्द से ही विकसित हुए हैं। अतः शब्दों की प्रवृत्ति एक ही है और वह है क्रिया शब्द।

तदेव निरुक्तकारशाकटायनदशनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दा गुण शब्दा क्रियाशब्दान् च। न सति यदच्छा शब्दा इति। अथवा

जातिगुणशब्दानामपि क्रियाशब्दत्वमेव। धातुत्वात्। ततश्चक्रव शब्दानां प्रवृत्तिः क्रियाशब्दा इति।

—याम ३।३।१, पृष्ठ ६७४

कुछ आचार्य केवल जाति शब्द ही मानते हैं। उनके मत में तथा कथित गुण शब्द क्रिया शब्द और यदच्छा शब्द भी जाति शब्द ही हैं। क्योंकि पय शब्द, वनाश आदि में परमायत भिन्न रूप में स्थित शुक्ल गुण का शुक्ल रूप में नान शुक्लत्व के आधार पर होता है। गुड तण्डुल आदि की पाक क्रिया में भी पाकत्व सामान्य है। यदच्छा शब्द इत्य आदि में भी नित्यत्व है। शब्दों की दृष्टि से बाल वृद्ध, शुक्ल

^१ प्रवृत्तिहेतु सर्वेषां शब्दानामवधारिकान्।

सर्वा सत्ता पदार्थो हि न कश्चिदनिवर्तते ॥

आदि क द्वारा विभिन्न रूप में उच्चरित शब्दों में अनुगताकार प्रत्यय इत्येव क गतारे ही सम्भव है। अथ की दृष्टि से भी उगम शिष्टाव वाल वृद्ध आदि अवस्था भेद से भेद होत हुए भी यह वही शिष्ट है इस प्रकार के पात्र हान के कारण गवधा सम्भव है। शक्तिय सभी प्रकार के शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति की ही मानना चाहिये। इस दृष्टि से महाभाष्य का अनुपपत्त्यो शब्दप्रवृत्ति वाला मत ठीक नहीं बैठता। अतः महाभाष्यकार के समय केवल जाति शब्दवादियों का उत्तर स्त हुए कहते हैं कि गुण शब्द शिष्टाव आदि का ग्रहण जाति शब्दों के रूप में नहीं किया जा सकता। क्योंकि पप, शय, बलात् आदि का गुण गुण परमायत भिन्न भिन्न नहीं है। उनमें भिन्नता आश्रयभेद से जान पड़ती है जस एक ही गुण का प्रतिशिष्ट सङ्ग सुबुर आदि आश्रय भेद से भिन्न भिन्न जान पड़ता है। वस्तुतः गुण गुण एक ही है। गुण व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घट ही नहीं सकता। इसी तरह किया भी आश्रयभेद से भिन्न भिन्न जान पड़ती है। वस्तुतः वह भी एक ही है। इसलिये केवल जाति शब्द न मान कर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए।

गुणप्रियायदच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयो शब्दप्रवृत्तिनात्पपद्यत।
अत्रामिधोपस्ते-गुणप्रियाशब्दसन्निव्यक्तोनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेका
कारतावगतिनिबन्धनत्व न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्याश्रयिमतम्।

—मुकुलभट्ट अभिधावृत्तिमातका, पृष्ठ ५

पाणिनि द्वारा भेद मानते जान पड़ते हैं। जाति गुण और क्रियापरक तो उनका अनेक सूत्र है। यदच्छा शब्दों की मायता का आधार कैयट के मत में उनका अथ वदधानुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् (१।२।४५) सूत्र है। पतालि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। परन्तु इस सूत्र की रचना से जान पड़ता है पाणिनि अयुत्पन्न यदच्छा शब्दों की सत्ता स्वीकार करते हैं—

अथवत सूत्रारम्भाच्च अयुत्पन्ना यदच्छा शब्दाः सतीत्यवगम्यते।

—कयट प्रदीप महाभाष्य प्रत्याहारसूत्र श्रुलेक

यदच्छा शब्दों का ग्रहण शब्दावृत्ति के आधार पर होता है। शब्द की आवृत्ति का अर्थ में वह यह है (मोज्यम) के रूप में आरोप करते हैं। शब्दावृत्ति का ग्रहण कस होता है इस पर दो तरह के मत हैं। पहले मत के अनुसार एक शब्द में कई वण होते हैं। क्रम से उनका उच्चारण करता करता है। अन्त्यवण के उच्चारण के बाद एक विगिष्ट सम्स्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान को अन्त्यवणावतम्बन जान कहते हैं। या तो पूर्व के वणों से भी कुछ न-कुछ सम्स्कार जाना ही है परन्तु वह सम्स्कार धुधला होता है या अस्पष्ट होता है। अन्तिमवणजयज्ञान पूर्ववणजयज्ञान की सहायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवण जान को भुष्यता नहीं देता। उनमें अनुसार सभी वणजानों से जिसमें अन्त्यवण जान भी गृहीत है बुद्धि विगम सम्स्कार वाली हो जाती है। अन्त्यवण के जान के बाद एक विगम प्रकार का जान पदा होता है जो जाति का ग्राहक होता है (अनेक दानम्। केचित् मायते अत्यवर्णाव

सम्बन्ध यजज्ञान तत्त पूववणज्ञानाहितसस्कारसहाय जातेर्ग्राहकम् । अपरे मयते
अत्यवणज्ञानसहित सर्वैरेवपूववणज्ञान सस्कारारम्भ । अत्यवणज्ञानान्तरतुजाति
ग्राहक ज्ञानमुत्पद्यते—वपभ वाक्यपदीय टीका १।२३, पृष्ठ ३३) य ग्राह्यता की मत्ता
म प्रमाण यह है कि गुण ग्राह्यता, मनुष्य आदि द्वारा उच्चरित वश आदि विनियोग
यह वही वश आदि ग्राह्य हैं इस ज्ञान को जगता है । इसी अनुगताकार प्रतीति या अभेद
ज्ञान के आधार पर ग्राह्यता की मत्ता का अनुमान किया जाता है । (तस्यास्तु ग्राह्य
कृतेरितित्व गुणग्राह्यतामनुष्यादिप्रवृत्तु यक्षादिग्राह्यव्यवितविनियोगेषु स एवायमिति
प्रत्ययभेदादनुमीयते—वाक्यपदीय हरिवर्ति १।१५ पृष्ठ ३३) । जो नाग ग्राह्यता
अथवा ग्राह्य के सहजतमस्वरूप की मत्ता को मानते उनका मन म भी वक्तव्यदृष्टामति
वर्गित काल्पनिक समुदाय रूप इत्य आदि ग्राह्य सत्ता के अभिधान म समय होन ही हैं
(ययामपि च डकारादिवणव्यतिरिक्तसहजतमस्वरूपामावान न इत्यादिग्राह्यस्वरूप
सहजतम सज्जत्वध्यस्यत इति दग्धन तेषामपि वक्तव्यदृष्टामिव्यव्यमानगवितभेदा
नुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य इत्यादि शब्दस्य तत्त तत्त सत्ताभिधानाय प्रवर्तमा
नत्वाद मदच्छाशब्दत्व इत्यादीनामुपपद्यत एव—अभिधावनिमातका, पृष्ठ ४) ।

महाभाष्यकार ने त्रयी ग्राह्यप्रवर्तिवाल पक्ष का भी उल्लेख किया है और
यच्छा ग्राह्यता की सत्ता नहीं भी स्वीकार की जा सकती है इसका उल्लेख भी किया
है । कथट ने भाष्यकार का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रसम्पूरणा क्रिया
और गुण के अग्यारोप से त्रयीपक्ष मानने पर भी काम चल सकता है ।

सम्बन्ध पदार्थ

कुछ लोग सम्बन्ध को भी पदार्थ के रूप में मानते हैं । कुछ बौद्ध आचार्य द्रव्य
ग्राह्य के स्थान पर सम्बन्ध को मानते हैं

यापि जाति गुण क्रिया सम्बन्धभेदेन चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति साप्यनेनव
वस्तुधमभेदेन सगहीता —वणवगामिन प्रमाणवार्तिक टीका पृष्ठ १४१) ।
कथट ने स्वाथ के रूप में सम्बन्ध को स्वीकार किया है ।

स्वोऽथ स्वाथ । स चानेकप्रकारो जातिगुणक्रियासम्बन्धस्वरूपलक्षण

—कथट महाभाष्यप्रदीप ५।३।७४

सादृश्य पदार्थ

मीमांसका म प्रभाकर के अनुयायी सादृश्य को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में
मानते हैं । व्याकरणो म नागश ने सादृश्य पदार्थ की सत्ता व्याकरण की दृष्टि से भी
मानी है । गम्भीरश्यामा दण्डवत्ता के भाष्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है

“सादृश्यमतिरिक्त पदार्थ इति मतेनेदम् ।”

—महाभाष्य प्रदीपोद्योत, २।१।५५

मजूपा म भी नागेन ७ लिखा है

"सादृश्यं तु साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोग्यं सादृशादिपदव्यवहाराद्वैततया सिद्धम्, सादृश्याने साकारोद्बोधकत्वस्य तत्त्वमतत्वेन तत्वेन तत्प्रापणता-वच्छेदकतया च सिद्धमपण्डमतिरिक्त पदार्थः ।"—मजूपा पृष्ठ ६३४ ६३५

नागेन व मन म सादृश्यको अनिरिक्तपन्था मानत म मौनम यणागानि गुहीत पन्थों की सत्ता के साथ विरोध नहीं होगा क्योंकि मौनमौन प्रमय पन्था म उमगा अन्तर्भाव हो जायगा ।

वाक्यप्रकाश म उपमा पर विचार करत हुए भी नागेन न सादृश्य पन्था की आवश्यकता रवीनार की है

सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा, सादृश्य चातिरिक्त पदार्थ इति ।

इसी तरह पन्थिराज जगन्नाथ की—

अनैवालकारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थांतरं न तु साधारणधर्म रूपमिति विज्ञापते

—रसगंगाधर, पृ० ४२३

इस उक्ति पर टीका करत हुए नागेन न कहा है कि आलकारिका के साथ साथ वया करणा के मत म भी सादृश्य अतिरिक्त पदार्थ है

अपिना वयाकरणादिसमुच्चयः । निरूपितं चततं कुवलयानन्दव्याख्यायामञ्जु पायाञ्च ।

—रसगंगाधर की ममप्रकाशिनी टीका पृ० ४२३

"नन्विद्युक्तमयसदृशाधिकरणं तथा ह्युपमिति — इस परिभाषा की व्याख्या म नागेश व गिष्य वचनाथ न भी सादृश्य पदार्थ का सत्ता स्वीकार की है ।

अभाव आदि पदार्थों का गुण में अन्तर्भाव

वैयाकरण अभाव का अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानत । म उस गुण व अतगत मानते हैं । द्रव्य, जाति और क्रिया के अतिरिक्त अय सभी पदार्थ गुण के भीतर मान लिये गये हैं ।

एवमप्यभावस्य कथं गुणवहिर्भावः ? जातिक्रियाद्वयान्तिरिक्तस्यैव चतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्तिरिति वदद्भिः वयाकरणं तदनुसारमिदं च आलकारिकगुणत्वा गीकारात्

—वचनाथ कुवलयानन्द की चन्द्रिका टीका पृ० ४८

तत्त्ववाधिनीवार न भी द्रव्य, जाति और क्रियापदार्थ से अतिरिक्त पदार्थों को गुण माना है ।

सत्ता जाति क्रिया गन्तान् हित्वाये गुणवाचिनः । चतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्तिरित्याकरप्रथित्कर्पादिव निगम इति ।

—मिहान्त कीमुदी तत्त्ववाधिनी वक्तस्वर प्रस वम्बइ, १६३६ पृ० १४८

चतुष्टयो शब्द प्रवृत्ति के आधार पर चार पदार्थ ही प्रमुख रूप म माय रह हैं । कालिदास न इसे या यक्त किया है

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमोरिता ।

प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्थां चतुष्टयो^२ ।

—कुमारसम्भव २।१७

भर्तृहरि के अनुसार अष्ट पदाथ

भर्तृहरि के स्वतन्त्र दशन में पत्न्याय एक ही है और वह है शक्ति । शक्ति का ही रूपांतर माधन, क्रिया दिक् काल आदि है

शक्तिरूपे पदाथनामत्यन्तमनवस्थिता ।

दिक् साधन क्रिया काल इतिवस्त्वभिधायिन ॥

—वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १

परन्तु व्याकरण का लौकिक दशन से सम्बन्ध हान के कारण उसके विवेचन के लिये भर्तृहरि ने अपनी स्वतन्त्र विचार परम्परा के अनुकूल आठ पदाथों की कल्पना की है और इन आठ पदाथों में व्याकरण का सवस्व आ जाता है । वाक्यपदीय में आठ पदाथों का विवेचन है । आठ पदाथ इसके गरीर हैं

इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वात् वाक्यपदीयस्य

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१

य आठ पदाथ निम्नलिखित हैं—

- (१) अपोद्धाग पदाथ
- (२) स्थित लक्षण पदाथ
- (३) अवाच्यय पदाथ
- (४) प्रतिपादक पत्न्याय
- (५) कायकारण भाव
- (६) योग्यभाव सवस्व पदाथ
- (७) धर्म
- (८) साधु असाधु ज्ञान (अथप्रतिपादन) प्रयाजन पदाथ

इन पदाथों का उल्लेख भर्तृहरि ने स्वयं किया है ।^३

वयम्भ ने भी इन आठ पदाथों का शास्त्र का गरीर माना है

तदेव शब्दाथसम्बन्धफलानां प्रत्येक द्विविध्याद् अष्टौ पदार्था भवन्ति ।^४

२ भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार ने ब्रह्मा के चार मुख के आधार पर चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को मायना कहा है क्योंकि सम्बन्ध आदि भी शब्द प्रवृत्ति के भीतर आ जाते हैं । उसके मत से जिन मानुष का 'समय' (यवहार) ही शब्दप्रवृत्ति है—

तथा चोक्त ब्रह्मणश्चतुस्तु शोन चतुष्टया शब्द प्रवृत्ति चरितार्थेति न नियम । अन्ये हि सम्बन्धस्य शब्दानां तत्त्वद्विकिरपि । अन्तः समये दिव्यमायुषै शब्दप्रवृत्ति रिति ।

—पुराणोक्त परिभाषा वृत्ति ऐपेण्डिकम ३, पृ० १२७

३ वाक्यपदीय १।२४ २६

४ वाक्यपदीय १।२४, वयम्भ टीका पृष्ठ ३६

अपोद्धारपदाथ

अपोद्धार विभाग को कहते हैं (अपोद्धारो विभाग) ५ । एउ म अविभक्त रूप म ग्रथित वस्तु के अवयव को लेकर विचार करन की अथवा एउ अखण्ड वाक्य क अलग अलग शब्दो पर विचार करने की पद्धति अपोद्धार नाम से प्रसिद्ध थी । परन्तु अपोद्धारपदाथ के ठीक ठीक अभिप्राय के विषय मे टीकानारा म भी मनभेत् है । प्रसिद्ध टीकानार वपभ को भी कुछ सशय था क्योंकि उसने उसके अथ कई प्रकार स किये हैं

अपोद्धिय ते इत्यपोद्धारा पदार्थाश्चति । अपोद्धताना वा पदार्थानामर्था । अपोद्धारेण परिकल्पिता वा अर्था इति शाकपाथिवादि । अपोद्धारसम्बन्धिनो वेति पठोत्तमास । ६

वपभ के अनुसार यहा पदाथ गत्त म पद पारिभाषिक नहीं है । अपितु जिसस अथ जाना जाए उसक अथ म है । पद्यते नेनाथ इति पद न पारिभाषिकम् । तस्याथ पदार्था १७

भत हरि के मत म अपोद्धार पदाथ उम अनुमानित अथवा कल्पित प्रक्रिया का नाम है जिसस किमी अत्यन्त ससष्ट वस्तु के उमक सम्बन्धो के आधार पर विभाग किय जात है । अत्यन्त अविभक्त वस्तु व्यवहारातीत होती है । परन्तु अपनी परम्परा अथवा अपने आगम के आधार पर लाग उत्प्रेक्षा स काम लेते हैं और भावना अभ्यास से व्यवहारातीत के भी व्यावहारिक रूप काल्पनिक ही मही दे दते हैं । उसी तरह गत्ता म जो अपने यथाथरूप म अविभक्त है काम चलाने क लिये कल्पना द्वारा विभक्त मान लिया जाता है । अवयव्यतिरेक के आधार पर समुदाय क भीतर से अलग अलग उमके रूपो की कल्पना की जाती है । १८

तत्रापोद्धारपदार्थो नामात्य तत्ससष्ट ससर्गादिनुमेयन परिकल्पितेन रूपेण प्रकृत प्रविवेक सनपोद्धियते । प्रविविक्तस्य हि तस्य वस्तुनो व्यवहारातीत रूपम् । तत् स्वप्रत्ययानुकारेण ययागम भावनाभ्यासवशादुत्प्रेक्षया प्रायेण व्यवस्थाप्यते । तथैव चाप्रविभागे गद्दात्मनि कार्यायम वयव्यतिरेकाभ्या रूपसमनुगमकल्पनया समुदायादपोद्धतानां गद्दानामभिधेयत्वेनाश्रीयते । ६

हताराज न अपाद्धार पदाथ क विषय म वाक्यवाणी और पञ्चांग दाना क मना का विवचन किया है । वाक्यवाण्या क मन म वाक्य अग्रह है । उसकी व्युत्पत्ति

५ वाक्यवाक्य, ११०४ वृषभ टाका, पृष्ठ ३५

६ वहा, पृष्ठ ३५

७ वहा, पृष्ठ ३६

८ वृषभ ने प्रविविक्त क ग्यान पर प्रविनान पाठ रत्ता है । उसक अनुसार यहा वाणी का है कि प्रविभक्त पदाथो म प्रकृति नेवृत्तिरूप व्यवहार मभव नता है (उक्तनते पदाथे न प्रकृतिरिति लक्षणा व्युत्पत्ति) । परन्तु द्वा अथ भत हरि क मूल अभिप्राय म द्वा नता गता ।

९ वाक्यवाक्य हरिकृति ११०४ पृष्ठ ३६

के उपाय के रूप में उपोद्धार का आश्रय लिया जाता है और अपोद्धार अग्रण्ड वाक्य सन्त का कल्पना-वृद्धि में अनग वर उसे पन्थाम देने का नाम है। इस मत में पन्थ्युत्पत्ति काल्पनिक है।

पदवाक्यों के मन में पद अग्रण्ड है। कल्पना द्वारा पद में प्रवृत्ति, प्रथम, आगम, आत्मा आदि की व्यवस्था की जानी है। पदवाक्यों के मन में वाक्य का अग्रण्ड मान कर पन्थ्युत्पत्ति करना इसीलिए उपयुक्त नहीं है कि वाक्य अनन्त है और इसलिये उह आधार मान कर पद व्युत्पत्ति करना महज नहीं है। परन्तु मन्थ पद के द्वारा पन्थ्युत्पत्ति समझना अप्रत्याहत महज है।

परन्तु पदवादी और वाक्यवादी दोनों ही अपोद्धार को अग्रण्ड मानते हैं। यही इनमें समानता है। दोनों पन्थ में अपोद्धार के लिये अग्रण्ड-प्रतिरेक का आश्रय भी समान है। अपोद्धार के लिये अग्रण्ड-प्रतिरेक का उन्नेय वाक्यकार न भी सिद्ध 'त्वग्रण्ड-प्रतिरेकाम्याम' के रूप में किया है।

अपोद्धार का पन्थाय और वाक्याय की दृष्टि में विवेचन स्वयं भत हरि ने भी किया है। उनके मत में कवन एक शब्द कहने में उसका अर्थ भी सत्ता या अमत्ता का परिचय ठीक से नहीं होता। केवल वक्ष शब्द कहने में वक्ष है कि नहीं है यन् सदेह बना रह सकता है। ऐसे स्थला में हम अस्ति (है) या नास्ति (नहीं है) जैसे किया पन्थ का आक्षेप करते हैं और तब वही अर्थ स्पष्ट होता है (वर्षभ के अनुसार वस्तुतः क्रियापद का आक्षेप नहीं होता अपितु क्रिया लक्षणरूप अर्थ का ही स्वाय के रूप में आक्षेप होता है। केवल 'स' पद में अभिधेय होने के कारण उस पद से क्रियापद का आक्षेप कहा जाता है अथवा आक्षेप फल होने के कारण वसा कहा जाता है)। वाक्य से ही ऐसे स्थलों में भी बोध होता है इसलिये वाक्यायरूप अपोद्धार उपयुक्त है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने पूर्वपन्थाय उत्तरपन्थाय प्रातिपदिकार्थ, धात्वर्थ प्रत्ययार्थ जस शब्दों का व्यवहार किया है और एक ही शब्दों की व्युत्पत्ति के लिये विभिन्न तरह की कल्पनाएँ की हैं इससे पन्थाय के रूप में भी अपोद्धार लक्षित होता है।^{११}

अपोद्धारपन्थाय शब्द अपोद्धार और अर्थ अपोद्धार दोनों रूप में गीत है। हलाराज के अनुसार अर्थ अपोद्धार ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वाक्य से उद्धृत पद का वाक्यार्थान्तर के रूप में कल्पना की जानी है। अर्थ अपोद्धार ही पन्थ अपोद्धार का निमित्त है। यदि अर्थ अपोद्धार को पद अपोद्धार का निमित्त न माना जाय वण अपोद्धार भी होने लगेगा और उसकी व्युत्पत्ति की चिन्ता करनी पड़ेगी

अर्थ अपोद्धार एव हि पदापोद्धारस्य निमित्तम् । अनिमित्ते हि तस्मिन् वर्णा पोद्धारस्यापि प्रसगात्तेषामपि व्युत्पाद्यता स्यात्^{१२}

१० हलाराज, कियपन्थीय ३, नासिमुदेश १

११ कियपन्थीय हरिवर्षा ११२४ पृष्ठ ३७

१२ हलाराज, वाक्यपन्थाय ३ नासिमुदेश ५

स्थितलक्षण पदार्थ

स्थित लक्षण पदार्थ उगका कहत है जिगसा लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है जा अपन स्वरूप स च्युत नहीं होना। यूपम क अनुसार मनभेद स स्थितलक्षण पदार्थ भी होना है और वाक्याथ भी। प्रकृति और प्रत्यय क अर्थ पदार्थ स तिराहित हो जात हैं पर पदार्थ तिरान्ति नहीं होता। इगलिय पदार्थ स्थित लक्षण है। इसी तरह वाक्य वाक्या की दृष्टि स पदार्थ वाक्याथ की प्रतिपत्ति स उपाय मात्र है, वाक्याथ क जान हो जात पर क विभक्त रूप स पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़त उनका वाक्याथ स तिरा भाव हो जाता है जत्र कि वाक्याथ ज्यादा लया रहता है। इस दृष्टि स वाक्याथ स्थित लक्षण है। हेलाराज न वाक्याथ का स्थित लक्षण क रूप स ग्रहण किया है उस निरूप माना है साथ ही उस त्रियास्वभाव स संपूर्ण कारकगरीरवाला भा माना है।

वाक्याथश्च स्थितलक्षण निरूप कारकोत्कलित गरीरत्रिया स्वभावतः ।^{१३}

भत हरि न यात्रणदगान स स्थित लक्षण को पदार्थ और वाक्याथ दाना रूप स मानन का आधार सग्रहकार और महाभाष्यकार को माना है। सग्रहकार न कहा है कि पदनाम की कोई निश्चित वस्तु नहीं है। पद का रूप और उसका अर्थ वाक्याथ स उत्पन्न होने ह।

न हि किञ्चित्पद नामरूपेण नियत क्वचित् ।

पदाना रूपमर्थो वा वाक्यार्थादिव जायते ॥^{१४}

महाभाष्यकार न भी न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (१।२।६४) और यदत्राधिक्य वाक्याथ स (महाभाष्य २।३।४९) कहा है जिसस पदार्थ और वाक्याथ दोनों के स्थितलक्षण होने की पुष्टि होती है।

परन्तु भत हरि का भुकाव स्थितलक्षण को वाक्याथ रूप स लने की ओर है। स्थितलक्षण का विवरण देत हुए भत हरि ने कहा है कि वह वाक्य रूप का उपग्रह अथवा उपग्राहक (वाचक) है। उसके उद्देश्य विभाग (क्त आदि) कल्पित होने हैं। वह विगिष्ट (नियताश्रय) है। एक है। किया उसकी आत्मा है। वह अविच्छिन्न निरन्तर उच्चरित गाना के अर्थग्रहण का उपाय है। अथवा विच्छिन्न (अपाद्धार पद्धति स उद्धत) पदा क अर्थ के ग्रहण का उपाय है। विच्छेद प्रतिपत्ति जस नमस्यति स नम तथा करोति के रूप स अलग अलग प्रतिपत्ति यद्यपि अर्थ कहने के लिए किया और साधन भेद स जान पड़ती है परन्तु वस्तुतः वहाँ इस तरह का किया नायन भेद नहीं है। विनोपकर प्रतिभा क उपसहार काल स अर्थात् अर्थ के जान काल स अभिन्न एकाकार प्रतिभा के परिवोध स वाक्याथ स्थितलक्षण मिद्ध होना है। हेलाराज क अनुसार स्थितलक्षण और अपाद्धारपदार्थ स भेद यह है कि स्थितलक्षण स प्रक्रिया

^{१३} हेलाराज वाक्यरत्नोद् ३, नातिममु १ श १

^{१४} वाक्यपदीय हरिवृत्ति १।०४, पृष्ठ ४० पर उद्धृत ।

भेद से भेद नही होता अपादार म होता है ।

—वृत्ति समुद्देश २४८

अन्वाख्येय पदार्थ

अन्वाख्येय पदार्थ भी दो रूप म स्वीकृत हैं । पद अवधिक अन्वाख्यान और वाक्य अवधिक अन्वाख्यान के रूप म । इस पर अथर्व विचार किया जा चुका है । पद के अन्वाख्येय पक्ष म ही प्रातिपदिक गण की व्यवस्था का जानी है । उसी पक्ष म विशेषणविशेष्यभाव ठीक से बैठता है । नीलो पत्र गद्द म नील म विशेषणता और उत्पल गद्द म विशेष्यता है । यदि पद अन्वाख्यान पक्ष नही मानगे तो हम स्थला म विभाग की पहचान सम्भव न होगी फलतः विशेषण विशेष्यभाव भी न हो सकेगा । वाक्यसंस्कार पक्ष को मान कर वार्तिककार न न वा सर्वेषा द्वन्द्वे बह्व्यत्वात् (महाभाष्य २।४।६२) कहा है । युगपदधिकरण त्रिविधा म द्वन्द्व होता है ।

चाहे पद अन्वाख्यान पक्ष हो अथवा वाक्य अन्वाख्यान पक्ष हो दाना म अनियम देखा जाता है । पद म प्रवृत्ति प्रत्यय के विभाग म अनियम देखा जाता है जस मन्त इन्द्र एकागारिक, गिरिण आदि शब्द म । मन्त शब्द म कुछ लाग मरताश्च्य सन्ति इस अर्थ म तप्पवमन्तम्याम (महाभाष्य ५।२।१२३) से तप् प्रत्यय मानत है । कुछ नाग मरुद्धि दत्त इस अर्थ म प्रत्यय मानत हैं । इसी तरह गिरिण शब्द गिरी गत इस अर्थ म ड प्रत्यय से बनाया जाता है, गिरिश्रयति इस अर्थ म क प्रत्यय से बनाया जाता है । भन हरि न गिरी गिरा एक ऐसा भी विग्रह गिरिण शब्द के त्रये किया है (वाक्य पदीय २।१७२ हरिवृत्ति) । वाक्य अन्वाख्यान पक्ष म भी कल्पितपदा द्वारा अर्थ निर्णीत होता है

अर्थात् पद साभिधेय पदात् वाक्याभिनियम ।

पदसघातज वाक्य वणसघातज पदम ॥^{१५}

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ

कार्यकारणभावपदार्थ और योग्यभावपदार्थ शब्द के निमित्त रूप और उसका योग्यरूप पर आश्रित हैं । पक्षभेद से सम्बन्ध के स्रोतक है । कार्यकारणभाव सम्बन्ध और योग्यभाव सम्बन्ध दाना ही व्याकरणदर्शन म मान्य हैं । अथाकार बुद्धि का वस्तु क साथ अध्यवसाय हान पर उम अर्थ के उदवाधन म शब्द निमित्त होता है । इसी तरह अर्थ (वस्तु) के दर्शन म भी शब्द स्वरूप का उसके अर्थ से यह वही है (सोऽयम्) इस रूप से अध्यवसाय करत हैं । यहा नाद से अभियक्त पर वस्तुतः अन्तःकरण सनिवेशी शब्द की प्रवृत्ति म अर्थ दर्शन ही कारण है । दूसरे शब्दो म, गा आदि वाय हैं और नाद कारण है तथा गान् वाय है और गो आदि कारण हैं । भनृ हरि इस मत के पोषक है कि वाक ही गो आदि म परिणत हो जाती है अथवा गा आदि वस्तु ही

^{१५} वाक्यपदीय १।२४ हरिवृत्ति में उद्धृत । वृषभ के अनुसार यह मग्नहकार का श्लोक है । परन्तु शौनक के बृहद्देवता २।११७ में भी है ।

की साधु असाधु व्यवस्था मुनित्रय के मत पर बहुत दूर तक अवलम्बित है।

नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेन अद्यत्वे साध्वसाधु
प्रविभाग —कैयट, महाभाष्य प्रदीप ५।१।२१

भेद अभेदपूर्वक होता है इस 'याय' के आधार पर हेलाराज ने असाधु (अपभ्र १) की प्रकृति साधु शब्द को माना है। उनके मत में शब्द विद्या की भाँति है और अपभ्र १ अविद्या की भाँति। जस विद्यावस्था अभिन्नब्रह्मात्मिका होती है उसी तरह साधु-गदमयी विद्या भी। जसे विद्या के भेद मिथ्या अथवा काल्पनिक है उसी तरह शब्दविद्या के भेद भी अवास्तविक हैं। महाभाष्यकार ने जो अपभ्र १ और साधु शब्द दोनों में अर्थ बताने की शक्ति एकसी (समान) मानी है वह अविद्यादशा को सामन रख कर है।^{१६} पुण्यराज ने शब्द के छ प्रकार माने हैं और असाधु शब्द को भी उनके भीतर ग्रहण किया है। उनके अनुसार शब्द दो तरह के होते हैं। साधु और असाधु। साधु शब्द शास्त्रीय और प्रायोगिक रूप में दो तरह के होते हैं। शास्त्रीय गण तीन तरह के होते हैं—प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभयरूप। दाधर्ति आदि निपातन सिद्ध शब्द प्रतिपाद्य माने जाते हैं। प्रकृति प्रत्यय आदि प्रतिपादक माने जाते हैं। इतन्व जसे शब्द उभयरूप माने जाते हैं। इस तरह असाधु शब्द को लेकर शब्द छ प्रकार के होते हैं।^{१६अ}

उपयुक्त आठ पदार्थों में 'याकरण' की दृष्टि से अपोद्धारपदार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें पद अपाद्धारपदार्थ दो तरह का है। सिद्ध और साध्य रूप। इसी को नाम और आख्यात भी कहते हैं। सिद्ध रूप कारक से व्यक्त है और साध्य रूप क्रिया से। ये दो रूप अश और अशी की कल्पना पर आश्रित हैं।

तत्र चाशाणिकल्पनयाऽपोद्धारे कारकात्मा क्रियात्मा च प्रविभागाह इति सिद्धसाध्यलक्षणान्द्वयविषय पदापोद्धारो द्विविधो नामाख्यातरूपः।^{१७}

हेलाराज के अनुसार यद्यपि नामपदों में प्रत्ययाय की प्रधानता शब्द की दृष्टि से रहती है फिर भी अर्थ की दृष्टि से प्रातिपदिकाय रूप द्वय की प्रधानता मानी जाती है। सिद्ध रूप ही प्रधान है।

उपमग, निपात और कमप्रवचनीय का नाम और आख्यात में अन्तर्भाव हो सकता है। क्योंकि नाम सिद्ध अर्थ को व्यक्त करता है और उन सिद्ध अर्थों की विशेषता घोषित करने वाला निपात सहज ही नाम के भीतर गहीत हो सकता है। निपात चाह सिद्ध अर्थ का साक्षात् व्यक्त करना हो अथवा सिद्ध अर्थ की किसी विशेषता को बतलाता हो उसके नाम के भीतर लेने में कोई विरोध अडचन नहीं है। अव्यया में स्व आदि जस कुछ सत्त्वप्रधान (द्रव्य प्रधान) हैं इमलिय व भी नामपद ही हैं और जा क्रिया प्रधान अर्थ हैं जस हिसक आदि उनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जायगा क्योंकि केवल तिङन्त ही आख्यात नहीं है। आख्यात के भीतर वह सब कुछ गहीत है जो

१६ हेलाराज वाक्यपदीय ३ सम्बन्ध समुद्देश ३०

१६अ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।८३

२० हेलाराज वाक्यपदीय ३ आनि समुद्देश १, पृष्ठ २

त्रिया प्रधान है। इसी दृष्टि से उसमें और कमप्रवचनीय को भी आख्यातपद माना जा सकता है। यद्यपि उपसर्ग और कमप्रवचनीय साध्य अथ व द्योतक होते हैं।

कुछ लोग पञ्चपादों के चार भाग में विभक्त करते हैं। नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात। यही सत्य प्राचीन विभाग है। यास्क ने ऋग्वेद के चत्वारि वाच परिमिता पदानि^{२१} की व्याख्या व्याकरण की दृष्टि से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात के रूप में की है। महाभाष्यकार ने इसका समर्थन 'चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च'^{२२} कह कर किया है। नाम आख्यात से उपसर्ग निपात इस दृष्टि से अलग मान जाते हैं कि नाम और आख्यात साक्षात् वाचक हैं जब कि उपसर्ग और निपात साक्षात् अथवान् नहीं हैं व विशेष अथ व द्योतक मात्र हैं।

उपसर्ग और निपात में परस्पर भेद यह है कि निपात सिद्ध (कारण) और साध्य (क्रिया) दोनों के अथ विशेष के द्योतक होते हैं जबकि उपसर्ग केवल साध्य के अथ विशेष के द्योतक होते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से निपात को वाचक इसलिये नहीं माना जाता है कि च आदि निपातों का वाक्य के आरम्भ में प्रयोग नहीं होता उनका स्वतन्त्र प्रयोग भी नहीं होता जैसे इव आदि का उनके साथ पृष्ठी आदि विभक्तियों नहीं लगती लिंग और संख्या का योग भी उनके साथ नहीं होता।

व्याकरणहेतु हि प्राक्प्रयोगस्वातन्त्र्यप्रयोगमावात पठ्याद्यश्रवणा ल्लिगसंख्याविरहाच्च वाचकव्यलक्षणेन द्योतक निपाता इत्युद्धोष्यत एवेति।^{२३}

निपात का प्रयोग पाद पूरण के लिये भी होता रहा है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृतः।

सत्वाभिधायक नाम निपात पादपूरण ॥^{२४}

गान्धर्व के अनुसार उपसर्ग स्वतन्त्र रूप में भी वाचक थे। उत्तर (उत्त+तर) उत्तम (उत्त+तम) निवा (नि+वत) उद्धत (उत्त+वत्) आदि गत इस बात के द्योतक हैं कि कभी उपसर्ग भी स्वतन्त्र अथ रखत थे अथवा उनसे तर तम आदि प्रत्यय सम्भव नहीं थे। परन्तु शाकटायन यास्क के अनुसार उपसर्गों का नाम और आख्यात से अलग रूप में वाचक नहीं मानत थे। व्याकरण-सम्प्रदाय में उपसर्ग द्योतक रूप में ही ग्रहीत है।

कमप्रवचनीय भी क्रियाजनित सम्बन्ध विशेष के द्योतन के द्वारा त्रिया विशेष के प्रकाशक होते हैं इसलिए कुछ लोगों के अनुसार कमप्रवचनीय का उपसर्ग में अतः भाव सम्भव है। फलतः पद चार प्रकार के मान जात चाहिये।

कुछ आचार्य कमप्रवचनीय का चार प्रकार के अनिश्चित पाचवों पद मानते

२१ ऋग्वेद १।१६४।४५ यास्क निरुक्त १३।८ परिशिष्ट

२२ महाभाष्य भाग प्रथम, पृ० ३ कालिदास व्याकरण

२३ धन्यालोक लोचन, पृष्ठ ३५४ (नोसम्बन्ध व्याकरण)

२४ दुर्गाचर्य वृत्ति निरुक्त १।६

हैं। उनके मत में उपसर्ग और कमप्रवचनीय में मौलिक भेद है। कमप्रवचनीय अति नान्त क्रियागत सबध को द्योतित करते हैं जबकि उसमें वर्तमान क्रियागत विशेषण को द्योतित करते हैं। यहाँ वर्तमान पद का तात्पर्य क्रियाविशेष के सम्बन्ध के द्योतन से है। क्रियागतविशेषद्योतनपूर्वक हि सम्बन्धावच्छेदमत्र वर्तमानम्—हैलाराज वाक्य पत्नीय ३, जातिममुद्देश १) महाभाष्यकार ने इसके निय संपत्ति शब्द का प्रयोग किया है। अतिकांत क्रिया का तात्पर्य अप्रयुज्यमान से है। भाव यह है कि सभी प्रकार के सम्बन्ध क्रिया-कारकपूर्वक होत है। कभी तो क्रिया सम्बन्ध को उत्पन्न कर विरत हो जाती है जैसे, राजपुरुष म। यह राजा का पुरुष है क्योंकि राजा इसका पालन-पोषण करता है इसलिए पालन रूप क्रिया आश्रयआश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध का उत्पन्न कर अलग हो जाती है। कभी क्रियापद स्वयं श्रूयमाण होने हुए सम्बन्ध व्यक्त करता है जैसे मातु स्मरति में माता सम्बन्धी स्मरण के रूप में स्मृति क्रिया श्रूयमाण रूप में ही निमित्तनिमित्तभावलक्षण सम्बन्ध को उत्पन्न करती है।^{२५}

क्रियापद जब सम्बन्ध का उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है उस दशा में सदेह हो सकता है कि वह सम्बन्ध क्रियाजनित है कि नहीं। ऐसी अवस्था में कमप्रवचनीय काम देता है। वह उस अश्रयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है

“तदयमश्रुतक्रियाविषयसम्बन्धे कमप्रवचनीयाना महिमा

—हैलाराज वाक्यपदीय ३ साधन शेष ३

क्रिया कृत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के ही कारण इन्हें कमप्रवचनीय कहत है

अतएव कमप्रवचनवत्, क्रियाकृतविशेषसम्बन्ध द्योतयतीति कमप्रवचनीया उच्यते।^{२६}

अश्रूयमाण क्रिया का आक्षेपक कमप्रवचनीय नहीं माना जाता। जिस वाक्य में क्रिया का आक्षेप होता है वह कारक विभक्ति से जुड़ता है। जैसे प्रादेन विपरिलिखति' इस वाक्य में वि पाद मान क्रिया का आक्षेप करता है क्योंकि इस वाक्य से प्रादेश विमाय परिलिखति यह अर्थ भासित होता है। विमान क्रिया से प्रादेश रूप कम का आक्षेप हुआ है इसलिये उसके साथ द्वितीया का याग होता है। यदि कम प्रवचनीय के द्वारा अश्रूयमाण क्रियापद का आक्षेप होगा, उसके योग में भी कारक विभक्ति ही होगी फलत कमप्रवचनीय युक्ते द्वितीया २।३।८ इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, वह व्यर्थ होता। पुन 'आकन्त्यस्य संहितामनु प्रावपत जसे स्थना में आक्षेप संभव भी नहीं है। क्रिया कारक में ही परम्पर आक्षेप संभव है, जैसे

२५ काशिकाकार और वाक्यपदीयकार में, पुण्यराज के अनुसार मातु गुणै स्मरणम् के विषय में विवाद था। काशिकाकार अधिगद्यदेशा कमणि (२।३।५२) में कमणि शब्द का प्रयोजन यह मानते हैं कि करण में न हो। उनके मत में गुण स्मरणम् यहाँ होता है न कि गुणाना स्मरणम्। मनु हरि ध अनुमा करण की शेष विवेक्षा में गुणाना स्मरणम् गुण स्मरणम् भी होता है।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२००

२६ पुण्यराज, वाक्यपदीय २।२०१

प्रथिग, पिण्डा आदि स्थला म । गहटा म ता सवर्जाय विभक्ति है इगतिग वगी भागेय गभय गही है । इगतिग गिगामयति त्रिया व अग्रमुदमाता हाव हूय भी गहटा और प्रयपण म हनुदुमदभाव गम्बध धनु म आतिग हाता है ।

गु घति, जग घन्ता का जितम सम्बध त्रियामा घतिग गही है कमप्रवचनीय सगा उपगग और गति सगा व त्रियम व निग की जाता है जितम घनिम्नुनम् जग घन्ता म पन्त का निषेध हा जाता है । यही कमप्रवचनीय सगा स्यापनिरपण म्भ म है—

कयचितु प्रयसिनिमितामाये पि यचनसाम्भारिय सता प्रवर्तते । यपा गु पूजायामिति पत्वादिनियत्ताये गत्युपसगसता वापनार्थ ।

—कयट महामाय १।४।८३

पन्त कमप्रवचनीय त्रिया का वाचन (घात) नहा हाता । यति त्रिया का घात हाता हा उगम वारकविभक्ति (द्वितीया) स्वभावत हा जाता वह सम्बध का भी वाचन नही हाता पष्ठी व प्रपयाभूत द्वितीया स ही सम्बध उक्त हा जाता है इगतिग सम्बध का भी वाचन कमप्रवचनीय नही माना जाता । वह त्रियापद का भागेपन भी नहा माना जाता । जमाकि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है । वह त्रियाविगय घातन भी पूण रूप स नही माना जा सकता क्वाकि 'अनु हरि सुरा जस वाक्या म त्रियापद का सानिध्य नही दया जाता । इसलिए कोई दूसरा उपाय न देखकर (पारिोप्यात) कमप्रवचनीय ही त्रिया जनित सम्बध का भेत्क (विशेषन) अर्थात छोटन मान लिया जाता है । भाव यह है कि कमप्रवचनीय व प्रयोग के साथ त्रियाजनित सम्बध की प्रतीति हाती है वह सम्बध किसी अय पद द्वारा ठीक ठीक अभिव्यक्त नही किया जा सकता है क्वाकि उन पदों की शक्ति सीमित है और वे अपना स्वाभाविक अय ही व्यक्त कर सकते है । अत सम्बध के छोटक किसी अय के न होने व कारण अन्तत कमप्रवचनीय ही त्रियाजनित उस सम्बध का छोटक मान लिया जाता है । जहाँ अधिक अय की अभि व्यक्ति होती है वहाँ उस अधिक अय को वाक्याय भी माना जाता है । परन्तु शाकत्यस्य सहितामनु प्रावपत म त्रियाजनित सम्बध को वाक्याथ नही माना जा सकता । क्वाकि अधिक रूपम वाक्याथ सदा उपात्त साधन का उपात्त साध्य के ससग के रूप म होता है अथवा उपात्त विशेषण का उपात्त विशेष्य व ससग के रूपम होता है । यहा तो अनुपात्त पदाथ का वाक्याथ स प्रतीति होती है । इसलिए अपदाथ रूप वाक्याथ के रूप म सम्बध का ग्रहण यहा सम्भव नही है । अनु की केवल पदचादभाव मात्र अथ म शक्ति मान कर क्रियाजनित सम्बध के अवच्छेत्क व रूप म उस स्वीकार करना उचित है । भत हरि के अनुसार सम्बध का निमित्तनियम शद से सदा गृहीत नही हाता । निमित्त विशप के प्रटण के लिए ही माना कमप्रवचनीय है—

निमित्तनियम गदात सम्बधस्य न गृह्यते ।

कमप्रवचनीयस्तु स विनेयेऽनुरूप्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, शेष समुद्देश ३

क्रियाया द्योतको नाम सम्बन्धस्य न वाचकः ।

नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः ॥

—वाक्यपदीय २।२०६

कमप्रवचनीय के सम्बन्ध के भेदक के विषय में भी दो तरह के विचार हैं । एक तो यह कि कमप्रवचनीय के द्वारा सम्बन्धान्तर विलक्षण सम्बन्ध स्वरूपतः अवच्छेद्य होता है । दूसरा यह कि क्रियाविशेषजनितत्व के रूप में सम्बन्ध कमप्रवचनीय द्वारा अवच्छेद्य होता है । सम्बन्ध के स्वरूपतः अवच्छेद के पक्ष में विशेषक्रियाजनितत्व की प्रतीति सम्बन्ध विशेष के पर्यालोचन से हो जाएगी । जैसे, अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला इस वाक्य में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है । यहाँ ब्रह्मदत्त का स्वामी (ईश्वर) है । पञ्चाल जनपद (स्व) है । दोनों का सम्बन्ध परिपालन करदान आदि क्रिया द्वारा ही प्रभावित है । इसी तरह अभिमयुरजुनतः प्रति इस वाक्य में सादृश्य लक्षण सम्बन्ध प्रति द्वारा द्योतित है । फिर वह सम्बन्ध सप्रहरण आदि क्रिया कृत है यह पर्यालोचना से जान पड़ता है । शाक्यन्यस्य सहिनामनु प्रावपतः इस वाक्य में, स्वरूप पक्ष के अनुसार अनु स हेतुहेतुमदभाव सम्बन्ध द्योतित है । अधिक-से अधिक अनु का इतना ही व्यापार है । इसके आगे अनु की शक्ति नहीं है । सहिता के पाठ विशेष रूप में होने के कारण निगमन क्रिया की प्रतीति होती है । 'सहिता पाठ स वपा हुइ यह जान ही विशेष क्रिया से प्रभावित होना ध्वनित करता है ।

जो क्रियाजनितत्व पक्ष के पक्षपाती है उनके अनुसार अनु का व्यापार निगमन क्रिया की अभिव्यक्ति तक है । सहिता और प्रवर्णन में जो हेतुहेतुमदभाव संबन्ध है वह निगमयति क्रियाजनित है इतना अनु से द्योतित है । अधिब्रह्मदत्ते पञ्चाला में परिपालन क्रिया हेतुवाला स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अधि से द्योतित है । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए । हेलाराज ने इसी मत का प्रथम दिया है । उनके अनुसार क्रियाफलरूप सम्बन्ध का द्योतन कमप्रवचनीय का कार्य है । उनके अनुसार भन हरि का भी यही पक्ष जान पड़ता है—

‘वस्तुतः क्रियाफलस्यैव सम्बन्धस्य प्रकाशनात् । यथा तु तत्रमवदमत हरे-स्तत्र तत्राभिप्रायो लक्ष्यते तथा निमित्तविशेषावच्छेद एव कमप्रवचनीयकृत इति राद्धात् ।’

—हेलाराज वाक्यपदीय ३।१ पृष्ठ ५

कमप्रवचनीय पर मग्नहृत्कार के मत का उल्लेख भट्ट हरिन अपनी वृत्ति में किया है । कमप्रवचनीय सम्बन्ध निर्धारण में हेतु मान जात हैं । मग्नहृत्कार के अनुसार दो प्रकार के सम्बन्ध हात हैं

निरोधन क्रियापद और मनिहित क्रियापद । निरोधन क्रियापद से अभिप्राय क्रियापद के अग्ररूपमाण रूप से है । दो द्रव्यों के परस्पर सम्बन्ध में क्रिया स्वरूप के निरोधन होने पर भी सम्बन्ध अभिव्यक्त रहता है । सम्बन्ध क्रिया के आधार

पर होता है। कारकशक्तियों की अनभिव्यक्तता में भी क्रिया उनके सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करा सकती है। जैसे राजपुरुष शब्द में राजा में कब गति है वह पुरुष का कुछ बताता है। पुरुष में सम्प्रदान शक्ति है, वह राजा से कुछ लेता है। 'राजपुरुष' में दोनों शक्तियों के तिरोहित होने पर भी ददाति क्रिया स्वस्वामिभाव सम्बन्ध को प्रकट कर देती है। दान आदि क्रिया के अश्रुत होने के कारण यहाँ सम्बन्ध अभ्युपगम्य क्रियाविषय माना जाता है। अनिहित क्रियापद सम्बन्ध वही होता है जहाँ कारकपद और क्रियापद में सम्बन्ध दिखाया जाता है। इसका उदाहरण मातु स्मरति वाच्य है। यहाँ क्रियापद अभ्युपगम्य है और क्रिया और द्रव्य में सम्बन्ध दिखाया गया है। वस्तु की अविवक्षा में स्मरण के प्रति मातु शब्द का विशेषण भाव प्रतिपादित होता है। क्रिया दो अर्थों की जाड़न वाली मानी जाती है। इसलिए किसी के मत में, मातु स्मरति में भी क्रिया और द्रव्य में उपलक्ष्य के लिए किसी क्रियात्वर का आधार होना चाहिए। दूसरे आचार्य मानते हैं कि क्रिया अर्थ अनिर्दिष्ट क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। क्रिया सम्बन्ध के लिए क्रियात्वर की अपेक्षा नहीं रखनी है। दो काष्ठों के संलयन में जल आदि द्रव्य तो आवश्यक हैं किन्तु जल और काष्ठ के संयोग में अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। सग्रहकार का मूल उद्देश्य निम्नलिखित है

कमप्रवचनीयविषयविभागप्रदर्शनाय सम्बन्धोपपादय । द्विविधो हि सम्बन्ध सग्रहे पठ्यते । तिरोभूतक्रियापद, अनिहितक्रियापदश्च । एव ह्याह—
'उपपद्यताथ द्रव्य सम्बन्धेषु क्रियातासु नष्टरूपानु मिना धमतो विगुणेष्वय सम्बन्धात्मा प्रकाशते । श्रूयमाणक्रियावद् द्रव्ययो सम्बन्ध विषयभूतत्वाद् क्रियाया' इति । —वाक्यपदीय २।१६६ हरिवर्ति हस्तनख भत हरि ने एक दूसरा उदाहरण भी दिया है जो सग्रहकार का जान पड़ता है किन्तु स्पष्ट रूप में नाम का उल्लेख नहीं है

तथैव केचित् पक्षपञ्जातानि नामाख्यातोपसगनिपातकमप्रवचनीया इति पठति । तयामप्यथभेदेनोपसगनिपातेभ्य उत्कष्य क्रियते, अत आह—'क्रिया रूपनामे न तिरोभवती य सम्बन्धमुपजनयति तस्या निमित्तभूताया क्रियाया सहचारी वाक्यातरेषु विषेपदष्टसामर्थ्य कमप्रवचनीय क्रियाविशेषोपादानेन सम्बन्धमवच्छिनत्ति, निमित्तानुग्रहानुगममात्राया सम्बन्धरूप नियमवतीति ।

—वाक्यपदीय १२०१ हरिवर्ति हस्तनख

पाणिनि ने कमप्रवचनीय ग्यारह गिना लिए हैं—अनु उप अथ परि आड प्रति अभि अधि, सु अनि, अपि । और चतुर्ष्वान् अर्थ लिए हैं—'अनुपगम्य मातु हीराणा आदिना दान मदागचन ताण त्यभूतागान नाग रिप्ता प्रतिनिधि प्रतिदान आनयक्य पूजा अतिश्रमण, पत्नय सभायना अत्रवगण गता समुच्चय स्वाम्य और अधिवार । स्वय पत्नय सम्भायता और अत्रवगण अत्रय प्राचान पात्रमय के गत हैं जितना उन निना विषय अर्थ होता था और पाणिनि ने १।४।८६ में उन्हें अर्थों में चतुर्ष्वान् प्रयोग किया है ।

श्रीदुम्बरायण दर्शन

वाताग्न और श्रीदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आग्यान उपसर्ग और निपात रूप में पदविभाग का अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अखण्ड मानते थे। उसका भी समप्रयय (पान) बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है। गान्धर्व (वाक्य) बौद्ध है। अथ भी बौद्ध है। गान्धर्व भी बुद्धि में समृष्ट रूप में रहता है अथ भी समृष्ट रूप में रहता है। बुद्धि में जो कुछ जाना जाता है वह सब समृष्ट रूप में रहता है अर्थात् बौद्ध भी समृष्टाप्रययानुसंगिनी है। समृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदनामा का कल्पना भी अवास्तविक है।

समृष्ट शब्द अथवा समृष्ट अर्थ के परिचय का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपोद्धार पद्धति के आधार पर लोक में और गान्धर्व में भी व्यवहार के लिए वाक्य को पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म अवहित विप्रकृष्ट उपाधांतर में जिसे किसी तरह में नहीं समझा जा सकता, उन सब अर्थों के जानने का साधन गान्धर्व है। व्याप्ति और गान्धर्व के आधार पर गान्धर्व का आशय लिया जाता है गान्धर्व व्याप्तिमान है क्योंकि वह मूल अमूल सत्त्वा स्पर्श करता है। गान्धर्व लघु है क्योंकि वह एक में अनन्त का अर्थ में महान का अवबोधक है। एक एक गान्धर्व अपने समानधर्मा अनन्त गान्धर्व के प्रतीक है। अत्यन्त समृष्ट अर्थ का अर्थवा अत्यन्त जटिल गान्धर्व के परिचय के लिए अपोद्धार का कल्पना कर ली जाती है। परंपरा में जो गान्धर्व में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपोद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आग्यान नियत आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है

एतस्माद् एव श्रीदुम्बरदशनात् तत्र चतुष्टय नोपपद्यत इत्युच्यते। यद्यत्र तु व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकारेण व्याप्तिरनुम आशयेषु लाघवात् शब्दव्यवहारो लोक प्रसिद्धि गत, एवमत्यन्तसमृष्टे पदार्थात्मसु शब्दसु वा विभक्तेषु अपोद्धार कल्पित। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके गान्धर्वे च रुद्धि प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।

—वाक्यपनीय २।२४८ हरिदत्ति हस्तनेत्र

१. श्रीदुम्बरायण 'सप्तमवाक्यशान्ति' के इसका पुष्टि महाभाष्य का एक शब्दांत नामगान्धर्व प्रकाशित 'वाक्य' से भी होता है—

निर्भाषा फोक्लोरिनु भावः श्रीदुम्बरायणमनानुसारिण एवमाह ।

महाभाष्य आख्या, हस्तनेत्र, पृ० २१ मद्रास ओरिएण्टल मनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी न० ग्रान् ४४३ ।

अतस्मिन् ने भी इसका पुष्टि का है—'ह' के द्वितीया दशातिरिक्तात् पदार्थमकारप्रयय निर्भासमानायननरद्वयाह द्युतया 'य' 'द्वयामे' 'दि' 'द्वया' इत्यनेन न्यायन प्रसिद्धमपि भगवद्दुम्बरायणाद्यदिगान्धर्वभावमात्र ।

—फोक्लोरि, पृ० १

श्रीदुम्बरायण दर्शन

वाताय और श्रीदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने नाम, आख्यात उपमग और निपात रूप में पदविभाग का अनुपपन्न माना था। वे वाक्य को अक्षण्ड मानते थे। उसका भी सप्रत्यय (तान) वृद्धि में समृष्ट रूप में रहता है। गद (वाक्य) वीद्ध है। अथ भी वीद्ध है। गद भी वृद्धि में समृष्ट रूप में रहता है, अथ भी समृष्ट रूप में रहता है। वृद्धि से जो कुछ जाना जाता है वह सब समृष्ट रूप में रहता है इसलिए वृद्ध भी समृष्टाथप्रत्ययावर्णिनी है। समृष्ट का प्रविभाग अवास्तविक होता है। अतः चार पदनाता की कल्पना भी अवास्तविक है।

समृष्ट शब्द अथवा समृष्ट अर्थ के परिचय का एक कल्पित साधन है जिसे अपोद्धार कहा जाता है। अपाद्धार पद्धति का आधार पर लोके में और गाम्भ्य में भी व्यवहार के लिए वाक्य का पद में विभक्त किया जाता है। सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट उपायांतर से जिस किसी तरह से नहीं समझा जा सकता उन सब अर्थों का जानने का साधन गद है। गद और वाक्य के आधार पर शब्द का आशय लिखा जाता है। गद व्याप्तिमान है क्योंकि वह मूल अमूल सबका स्पष्ट करता है। गद नष्ट है क्योंकि वह एक से अनन्त का अप से महत् का अवबोधक है। एक एक गद अपने समानधर्मा अनन्त गदों का प्रतीक है। अतः समृष्ट अर्थ का अथवा अयन्त जविभक्त गद के परिचय के लिए अपाद्धार की कल्पना कर ली जाती है। परंपरा से लोके में और गाम्भ्य में भी पद-व्यवहार प्रसिद्ध है। अपाद्धार रूप में पद की सत्ता मानकर नाम आख्यात, नियात आदि के रूप में पद का विभाग उपपन्न होता है।

एतस्माद एव श्रीदुम्बरदर्शनात् तत्र चतुष्टय नोपपद्यत इत्युच्यते। यद्यपि तु व्याप्तिमत्त्वात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टैस्त्वर्थेषु बहुभिरपि प्रकार दण्डिषुम् अन्वयेषु लाघवात् गद-व्यवहारो लोके प्रसिद्धि गत, एवमत्यंतसमृष्टे प्वर्थात्मसु गच्छेसु वा द्विसक्तेषु अपाद्धार कल्पित। पदव्यवहारो व्याप्तिमत्त्वात् लघुत्वाच्च लोके गाम्भ्ये च हृदि प्रसिद्धो व्यवस्थित इति।

—वात्सपनीय २।१८८ हरित्ति हम्पनेख

१ श्रीदुम्बरायण पन्था-विचारणीय धर्मका पुष्टि महाभाष्य का एक अर्थ नाम-गो अन्वका गित था या से जा होना है—

निर्भाषा कावन्ति-तु भगवन् श्रीदुम्बरायणमज्ञानमारिण एवमाहुः ।

महाभाष्य यथा, हानवत्, पृ० २१ मन्त्रास ओषिण्यत्त मनुभ्रातृ लाद्वेरी

न० आर ४४२ ।

भरतमित्र में भी इसका पुष्टि का है—‘द कश्चिद् दण्डितिरिति’ पद मन्त्राकार प्रयय निभासमानन-पनन्तर-पार्थ हनुना च ‘तदागम हि इक्षवन्’ इत्यनेन ‘यानन प्रसद्धमपि भगवन् श्रीदुम्बरायणावर्णि टात्पन्थाभावमपि ।

—पद्मसिद्ध, पृ० ३

नेकायस्याक्षा पादा भाषा इत्यादावभिधानद्वानेप्येकपक्षतरेणादौ नाद यजेत इत्यादौ च कृतिकापयोपु मपल्लिङ्गभिधोयमानयोरपि विगेषण विगेष्यभावस्य प्राप्ताकररम्पुगमात्तद्वदेव विगिष्टाभिधान मयत् ।
—पञ्चमजरी २।३।१ पृष्ठ ४१८

चतुष्क प्रातिपदिकाय पक्ष की व्याख्या दो तरह से की जाती है । स्वाथ द्रव्य त्रिग और कारक रूप म तथा स्वाथ द्रव्य त्रिग और सन्धा रूप म । इसमें प्रथम चतुष्क सन्धा के छात्र पक्ष में घटित हो है (कथं महाभाष्यप्रदीप ४।१।१) ।

वस्तुतः व्याकरणशास्त्र में भाव्यदन्तानुसार कभी त्रिग पक्ष का और कभी चतुष्क और कभी पञ्च प्रातिपदिकाय पक्ष—य सभी माय रह हैं । नागेश के अनुसार भाष्यकार विभक्तिशा की छात्रक रूप में मानत हैं छोटक पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है । अस्माद भाष्यात् छोटकपक्ष एव सिद्धान्त इति मयत् । नागेश—महाभाष्य ४।१।१०

कथं क अनुसार प्रातिपदिकाय हो अनन्त गतिनाग के कारण कर्म आदि गद म वाच्य होता है । जिस हम विभक्ति विपरिणाम कहत है वह भी वस्तुतः प्रातिपदिक का ही विपरिणाम है । विभक्ति का विपरिणाम कर्मल औपचारिक रूप में होता है

प्रातिपदिकाय एव हि नानाशक्तियोगात् कर्मादिगदवाच्य इति स एव विगिष्ट गतितुक्तो विभक्त्यतवाच्य । अथवा तात्त्विकेऽपि भेद गदस्य सात्त्व्यात् तत्त्वाध्यवसायाश्रयेण विभक्तिप्रत्ययत्वागोपादानाम्ना प्रातिपदिकस्य विपरिणामयवहारोऽवसीयते । विभक्तेस्तूपचरितो विपरिणामप्रवहार । न हि प्रथमाया सप्तमीहोण विपरिणाम सम्भव ।

—कथं, महाभाष्यप्रदीप ५।३।६०

प्रातिपदिकाय स्वाथ अनन्त प्रकार का है स्वाथ गद म स्व गद आसीय का वाचक है और अथ गद अभिधेय का वाचक है । (स्वाथ स्वाथ) । वह स्वरूप जाति द्रव्य गुण क्रिया सम्बन्ध रूप म कई तरह का होता है । जब गौ एमा गदस्वरूप म विशिष्ट जाति कभी जानी है गदस्वरूप विगेषण होत के कारण स्वाथ है और जाति विगेष्य होत के कारण द्रव्य है (द्रव्य गद स यहा याकरण गतं प्रसद्ध इद तत डम रूप म परामग योग्य वस्तु से अभिप्राय है) । पटस्य गुस्लो गुण जस स्थला मे जाति मे विगिष्ट गुण का अभिधान होता है इसलिय विगेषण होत के कारण जाति महा स्वाथ है और गुण विगेष्य होत के कारण द्रव्य है । गुवन पट जसे शान्ता म गुण विगिष्ट द्रव्य का उल्लेख होत के कारण विगेषणभूत गुण स्वाथ है और विगेष्यभूत पट द्रव्य है । कभी कभी द्रव्य भी द्रव्यान्तर का विगेषण होता है जस यष्टी प्रवण्य कुतान प्रवण्य जस वास्या म । ऐम स्थला म विगेषणभावापन यष्ट्यादिक द्रव्य तो स्वाथ है और त्रिगण्यभावापन द्रव्यान्तर (पुष्पात्कि) द्रव्य ही हैं । तन्नी विपाणी तम गद म जहा सम्बन्ध निमित्तक प्रत्यय होत हैं सम्बन्ध ही स्वाथ है । कभी क्रिया भी स्वाथ मानी जाती है जस पाचक पाठक आदि म । इनम त्रिगानिमित्तक प्रत्यय हुआ है । पाचक जस स्थला म कुछ नाग क्रियाकारक सम्बन्ध को स्वाथ मानत हैं । जस प्रवृत्तिनिमित्तलिगमन्त्राधनिरित्त त्रिग और सन्धा का अभिधान होता है वह त्रिग और सन्धा भी स्वाथ है जस म नपुमकाऽभजत भावाविशति आदि स्थला म । इसी तरह वाक् भी तम वर्ण आदि के रूप में स्वाथ होता है । परन्तु जहाँ प्रवृत्तिनिमित्तव्यतिरिक्त त्रिग और सन्धा सम्भव है—जस

स्त्री पुमान् एत, दो वद्व्य आदि म- वही निगमना का प्रतिधान बना होता।

यद्यपि लार म पद के उच्चारण वस्तु ही पाँचा प्रातिपदिकों का साथ ही (पुण्यपत्र) प्रतीत होता है क्योंकि गस्त्र-व्यापार विरम विरम कर बना होता और न मय के साथ उगता सभी विधान होता है फिर भी गस्त्र म व्यवहार की गुणिता के नियमों पर मय व्यवहार के द्वारा प्रम का आश्रय दिया जाता है। प्रातिपदिक मय प्रयोग के योग्य रहा हो। उनका मयवता भी कल्पित हो है फलन तत्पिन पाय के मत पर उनका प्रम माना जाता है। गस्त्र म प्रम प्रम प्रसार का माना जाता है जैसे श्रीप्रम अधप्रम पाठप्रम ताण्डप्रम प्रयतिप्रम प्रतिपतिप्रम प्रयागप्रम बुद्धिप्रम आदि। पुण्यगज न वासपनाम १८० की टीका में इनका व्याकरणगस्त्र के उच्चारण द्वारा विधान दिया है। जहाँ तक प्रातिपदिकों का सम्बन्ध है तब प्रतिपत्तिप्रम माना चाहिये। परन्तु न हरे के अनुसार प्रातिपत्तिप्रम आता की दृष्टि में और वाता की दृष्टि से भी व्यवस्था नहीं है (न हि गस्त्रस्य मयवता विरम विरम स्वार्थादिषु कृत्ति सम्भवति। सट्टदुस्तरणात्। अथेन च नित्यमवियोगात्। प्रतिपत्तिप्रमोह्य भोतुरभिधानु वा न व्यवस्थित (वाक्यपनीय १।२६ हस्तिवृत्ति, पृष्ठ २१)। मध्यमा म जो प्रम है वह गस्त्र-व्यापार से नहीं होता अपितु वह एत तरह का कल्पित होता है। सभी-वर्मा भोता या अभिधाना को प्रम से प्रतिपत्ति नहीं है। नागहीनविशेषणा विनाय बुद्धि इस पाय के अनुसार पहले स्वाथ या तत्र विनिष्ट लिग आदि की प्रतिपत्ति नहीं चाहिये। न हरे के अनुसार प्रम ग्रहण के आधार निम्नलिखित पांच हैं—

- (१) प्रत्यासत्ति
- (२) महाविषयता
- (३) अभिव्यक्तिनिमित्तोपव्यजनपक्ष
- (४) उपलिप्ता
- (५) बीजवतिनाशानुपुण्य

प्रत्यासत्ति के द्वारा प्रातिपदिकों में प्रतिपत्ति क्रम का निर्धारण किया जाता है। प्रत्यासत्ति का अर्थ शासन अथवा समीपगत है। प्रत्यासत्ति उपरान्तभावितानी मानी जाती है। उच्चरित गस्त्र में सभी प्रातिपदिकों का साथ द्वय लिग आदि सम्पूर्ण रहते हैं। इनमें प्रतिपत्ति जिसको समीप समझता है उसको पहले अवगत करता है। प्रातिपदिकों में आमान उपकारक जानि है। जातिस्वरूप के बिना द्वय का व्यवधारण दुष्कर है। अतः सर्वप्रथम प्रत्यासत्ति के आधार पर जानि का जान होता है। जानि द्वय के बिना अभिव्यक्त नहीं हो सकती और न व्यवहार के योग्य हो सकती है। लिग आदि भी आश्रय के बिना नहीं टिक सकते। अतएव जानि के बाद परन्तु लिग सम्पदा आदि के पक्ष द्वय का भाव होता है। लिग तथा सम्पदा और वारक में निग प्रत्यासन्न है। क्योंकि लिग द्वयान्तर अनुपपन्न होता है जबकि सम्पदा और वारक दूसरा वस्तुओं की अपेक्षा गृह्यते है। दान्तीन आदि सम्पदाएँ एक वस्तु से अतिरिक्त वस्तु की अपेक्षा गृह्यता ही हैं। एक सम्पदा भी द्वित्व आदि के व्यवच्छेदक के रूप में द्वयान्तर

अपत्ता ही मानी जायगी। फलतः वहिरग सस्या और कारक की अपत्ता अतएव निग की प्रतिपत्ति पहले मानी जाती है। सस्या और कारक में सस्या सजातीय पदार्थ की अपत्ता रहती है जबकि कारक विजातीय क्रिया की अपत्ता रहती है। अतः वहिरग कारक की अपत्ता अतएव सस्या का अवधान पहले होगा। अतः प्रत्यासत्ति के आधार पर प्रातिपदिकार्यों में जाति, द्रव्य, लिंग सस्या और कारक इस तरह का क्रम होगा।

महाविषयता के द्वारा भी क्रम की प्रतिपत्ति होती है। जाति और द्रव्य में जाति का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि जाति में सब व्यक्ति में अनुगत है। स्फुटतर परिच्छेद हान के कारण पहले जाति का ही ग्रन्थ होगा। द्रव्य और लिंग में द्रव्य महाविषय है क्योंकि द्रव्य सभी लिंगों के साथ है जबकि एक लिंग दूसरे लिंग से व्यापक है। अर्थात् स्त्रीलिंग पुलिग आदि सबके साथ द्रव्य मिलेगा परन्तु जहाँ स्त्रीलिंग है वहाँ पुलिग नहीं है। लिंग और सस्या में लिंग महाविषय है क्योंकि लिंग सभी सस्याओं में है जबकि एक सस्या दूसरी सस्या से भिन्न है। सस्या और कारक में सस्या महाविषयकारी है। सस्या का सम्बन्ध प्रातिपदिक और आधान दोनों में है जबकि कारक का सम्बन्ध केवल प्रातिपदिक से है। अतः महाविषयता की दृष्टि से भी जाति, द्रव्य, लिंग आदि का क्रम मभव है।

अभिव्यक्तिनिमित्तापव्यजनप्रकरण भा प्रतिपत्ति क्रम में साधन है। अभिव्यक्ति के निमित्त में जितना ही अधिक उपयजन होगा उतना ही शीघ्र उमका ज्ञान होगा। जाति और द्रव्य में जाति के उपयजन अधिक हैं क्योंकि जाति में समाधारण हान के कारण अनेक व्यक्ति से व्यञ्ज होती है। जबकि द्रव्य अपने अवयवों द्वारा व्यक्त क्रिया ज्ञान के कारण अपव्यजनवाला है। इसी तरह द्रव्य और लिंग में लिंग और सस्या आदि में उपव्यजन क्रम में अल्प होता गया है।

उपनिष्ठा के द्वारा भी क्रम का बोध होता है। मवप्रथम जिनकी उपलब्धि इष्ट होती है प्रतिपत्ता का उमी का ज्ञान मवप्रथम होता है।

बीजवर्तिलाभ अनुगुण्य के द्वारा भी क्रम का ज्ञान होता है। प्रत्यय (ज्ञान) उत्पत्ति में जो आन्तर कारण है उम बीज वस्तु है। उमके वर्तिलाभ का तापय प्रबोध स है। आनुगुण्य का अभिप्राय वाय के उत्पादन के अभिमुख जाना है। जितने ज्ञान होते हैं वे पूर्व पूर्व आर्हित मन्त्रों के प्रबोध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जाति ज्ञान द्रव्य ज्ञान का बीजवर्तिलाभानुगुण्य है। अर्थात् जाति के ज्ञान हान पर द्रव्य का ज्ञान जाना है। इसीसे मवप्रथम जाति का ज्ञान होगा। इसी तरह व्यक्ति (द्रव्य) का ज्ञान आश्रय परतन लिंग आदि के ज्ञान का अनुगुण्य है। इसी तरह जाति व्यक्ति, लिंग आदि का क्रम बीजवर्तिलाभानुगुण्य के सहारे भी भासित होता है।

उपयुक्त क्रम का उल्लेख महाभाष्यकार ने भी किया है। प्रातिपदिक चाप्यु-पदिष्ट सामास्यभूते च वतते। सामास्ये वतमानस्य व्यक्तिरुपजायते। यत्तस्य सतो लिंगसस्याभ्यामवितस्य बाह्ये नार्थेन योगो भवति—महाभाष्य १।१।५७। भाष्यकार ने उपयुक्त मन्त्रों लौकिक आधार पर व्यक्त किया है। व्यक्ति प्रातःकाल उठ कर पहन गैर-वाय करता है। तब मित्रों का तब सम्बन्धियों का वाप करता है। यही वाप-

प्राप्तप्रम प्रातिपत्तिराशौ म भी प्राप्त दत्त है ।

फिर भी वाचस्पतीयानुसार क मत म प्रम म अनियम लगा जाता है (पाह्यासु माध्यासु अनिमयेन युद्धिप्रमो व्यतिष्ठति—वाचस्पतीय हरिवर्ति १।२६ पृ० ४२ जाति प्राप्ति की प्रत्यासक्ति म व्यभिचार लगा जाता है प्रम इयम् एतस्य एतन् कम् जस स्थिता म जाति क जिना भी निग प्राप्ति द्वय ता व्यपहार माय बनान है । भवुहरि न अपन मत की पुष्टि क निग निम्ननिम्न कारिका उद्धत की है

एको य जातिभेदेन भाषारमा प्रविभज्यते ।

युद्धियत्यनुकारेण बहुधा ज्ञानयादिभि ।।

यस्तुत भन हरि के दान म गण्यत्मा और अथात्मा का रूप विभागातीत है (समीहित पौर्वापर्योऽर्थात्मा स्वरूपादप्रत्युतोपि मयो विभागातीत तस्य एव—वाचस्पतीय हरिवर्ति २।१३) । भन हरि न प्रतिपत्ति का उपप्रममा और गुप्रममा इन दो रूपों म व्यवहार किया है । लघुप्रममा तो वह है जिसका द्वारा सामान्यविशेष क विचार के साथ विभाग क द्वारा अविभक्त की प्रतिपत्ति की जाती है । गुप्रममा उस प्रतिपत्ति का नाम है जिसका द्वारा सप्तष्ट रूप का अविभक्त रूप म ही जान जाता है । कुशल प्रतिपत्ति वही है जो भेद को अभेद क प्राप्ति क बिना ही दत्तता है (वाचस्पतीय हरिवर्ति २।१३) ।

प्रातिपदिकार्थ-जाति अथवा व्यक्ति

वाजपयान क मत म गण्य का वाच्य जाति है । व्याडि के मत म गण्य का वाच्य व्यक्ति है । पाणिनि के मत म आवश्यकतानुसार जाति और व्यक्ति दोनों हैं । भन हरि के अनुसार यदि आकृतिवाद पक्ष को माना जायगा, तब म विप्रतिषेध बाध और शब्दांतर प्राप्ति की उपपत्ति संभव नहीं है । यदि व्यक्तिवाद पक्ष माना जायगा उत्सर्ग और अपवाद प्रकार सिद्ध होंगे

‘पाणिने सवपाकृताभावात् सक्तयन विप्रतिषेधबाधन शब्दांतरप्राप्तिश्च नोपपद्यते । अथ द्वयमेव पदार्थ एवमपि सर्वासा व्यक्तीनां सर्वाभिश्चोदना भिरङ्गीकरणात् उत्सर्गपिवादौ न प्रकल्पेत ।’—महाभाष्य त्रिपाठी पृष्ठ २३ ब्रह्मदत्तजी विनोसु ना हस्तलग्न पृ० १८ पूना संस्करण

इसलिए पाणिनि न जाति और व्यक्ति दोनों का दृष्टि म रख कर सूत्र रचे हैं । लभ्यानुगोच म वही जाति का और वही व्यक्ति का आशय लिया जाता है । जाति पदार्थ पक्ष म जाति ही गण्य का अभिधत्त है उसका आधारभूत व्यक्ति की प्रतीति नातरीयक रूप म मानी जाती है । इस पक्ष म जाति क स्थानित्व आदेऽतव परम्ब, अप्रवर्धितत्व प्राप्ति धम व्यक्ति क द्वारा गण्यस्कार म उपयोगी होत है । इसलिय यरा अनुनासिकेनुनासिको वा ८।४।४५ जस लक्षण जातिमती व्यक्ति म ही प्रवृत्त होत है । कण्ठ के अनुसार स्वरूप गण्यस्यागण्यता १।१।६८ म रूप गण्य का अर्थ सामान्य भी है और व्यक्ति भी है । दोनों प्रकार क अर्थ मानने पर भी पक्ष म कर्त्तृ भेद नहीं है । क्योंकि व्यक्ति सामान्य स युक्त रूप म ही सामान्य व्यक्ति क आशय स हा प्रतीयत होता है (महाभाष्यप्रदीप १।१।६८) । भन हरि भी इस बात को मानते हैं कि जाति

और व्यक्ति के विवाद में बवल प्रतिज्ञाभेद है न कि वस्तुभेद है। तात्पर्य कि अनुभूति जाति और व्यक्ति में कोई कहीं प्रधान और कहीं नान्तरीयक होता है (तात्पर्येण तु विधक्षामिद्यते)। किञ्चदत्र प्रधानम किञ्चि नान्तरीयकमिति। तच्च प्रतिज्ञाभेदमात्रम्। जाति नास्त्रे काययोगिनी सचिकीर्विता, व्यक्ति नास्त्रे काययोगिनी सचिकीर्वितेति।

—वाचस्पतीय १।७० हरिवर्ति प ७३

व्यक्ति में अथत्रियाकारिता हात हुए भी व्यक्तिपक्ष में आनन्द्य और व्यभिचार दोष मान जात है और जसा कि मम्मट ने कहा है गो गुवन चल दित्य आदि में विषयविभाग भी न हा सरेगा। परन्तु व्यक्तिपक्ष का समर्थन करत हुए कौण्डभट्ट ने इन आक्षेपों को निराधार माना है क्योंकि जिस रूप में व्यक्तिग्रह हागा उसी रूप में पदार्थोपस्थिति भी हागी

यद्यपि काव्यप्रकाशकारेणाक्त गो गुवन चलो दित्य इत्यादीना जातिगुण क्रियासंज्ञागत्वत्वेन विषयविभाग शुद्ध यत्तिवाच्यत्वे न स्याद इति तच्चित्तम। येन रूपेणापस्थिते शक्तिग्रहस्तेन रूपेण पदार्थोपस्थिति।

उक्त च भट्टपाद अरणाधिकरण आनन्द्येऽपि हि भावानामेक कृत्वोपलक्षणम्। न च सुकरसम्बन्धो न च व्यभिचरिष्यति॥

—श्लोक वातिक वयाकरण भूषण, पृष्ठ ११६ वज्र ससृजत भीरीज।

इस सम्बन्ध में भन हरि न जाति और व्यक्ति में व्यतिरेक लिखात हुए दृष्टाभिधानपक्ष और अदृष्टाभिधानपक्ष का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य मानत है कि व्यक्ति के स्वरूप भेद निश्चित रूप में होत हैं। ऐसा नहीं होना कि व्यक्ति का स्वरूप असंवेद्य अव्यपदेश्य अथवा अविद्यमान हो। व्यक्ति ही गो है आवृत्ति नहीं। गुण ही नील है न कि गुण सामान्य नील व।

कुछ लोगों के मत में गान् जाति के रूप में ही स्वरूपवान होत हैं और जानि क द्वारा ही अव्यपदेश्यस्वरूप व्यक्ति के प्रोधक हात है। स्पष्टि देखा जाता है कि निमित्त और अनिमित्त वाले अथ में निमित्त वाल अथ का पहल जान होता है। निमित्त दृष्टाभिधानवाले और अदृष्टाभिधानवाले होत ह।

जिसके निमित्त का अभिधान दृष्ट है उसे अदृष्टाभिधान कहत है जस मोत्व आति। गो गान् गात्व की अभिधा ह (गो गद्वादयो हि तेषा अभिधा—वचन वाचस्पतीय १।७०)

जिसके निमित्त का अभिधान दृष्ट नहीं है उसे अदृष्टाभिधान कहत है। जस उत्पन्नगव आति। उत्पलगव गान् उस व्यक्त नहीं करत। क्योंकि सम्बन्ध में अवच्छिन्न सम्बन्धी का अभिधान हाता है (न हि उत्पलगध शब्दस्तदाह। सम्बन्धावच्छिन्न सम्बन्ध्यभिधानात् (वही पृष्ठ ७२)

निमित्त कभी तो एक तन्त्र में साक्ष्य में और कभी अत्यन्त सादृश्य में गान् न जान में प्रवृत्त हात है। एक तन्त्र में साक्ष्य में जस ध्वनि अथवा कोई अग अथवा चन्द्रा लखकर प्राणी गान् की प्रवृत्ति होती है। गो गान् की प्रवृत्ति और उसका जान अधिक अवयव मन्त्रिवेग में साक्ष्य में हाता है।

मुख्य ध्यान यह है कि दृष्ट्याभिधान म जाति शब्द और प्रत्यय (पान) न तीना का अनुमान होता है। दृष्ट्याभिधान म केवल जाति और बुद्धि इन दो का ही अनुमान होता है।

तत्र दृष्ट्याभिधानेषु प्रथमनुवर्तते जाति शब्द प्रत्यय इति । दृष्ट्याभिधानेषु द्वयं जातिबुद्धिर्चेति ।

—वपम वाचस्पत्योय टीका १। ०, पृष्ठ ७२

एक तरह जाति व्यक्ति म परस्पर प्रतिभाभाव रूप म वृत्ति है। इनम यदि भेद है तो वह तात्पर्यवत्ता है। जाति की वृत्ति त म जाति प्रधान है और व्यक्ति का विचार म व्यक्ति प्रधान है। यह नातन्त्रीय है। अतः जाति और व्यक्ति एक दूसरे के सम्कारक है। यही पक्ष व्याख्यान म प्रत्यय म गृहीत है और यही पक्ष भत हरि का भी अभिमत है।

कात्यायन के मत में जाति और व्यक्ति

जाति और व्यक्ति पर विचार कात्यायन न वाजप्यायन और गार्गी के आधार पर किया है। वाजप्यायन के अनुसार आहुति एक है। गार्गी म उगी का अभिधान होता है। उसकी गत्ता और उसका एकत्व का ज्ञान बुद्धि की गार्हपत्या से जाता है। प्रत्याविशेषण १।२।६४ ६। स्वतः कृष्ण आहुति रंग म भेद हान हुए भी प्रमाण जाति के भिन्न भिन्न हात हुए भी गौ व्यक्तिपक्ष म गौ गौ रूप तरह का एकाकार प्रत्यय होता है। इस अनुगताकार प्रत्यय के आधार पर सामान्य का सदभाव और उसका एकत्व माना जाता है। गार्गी से जाति का अभिधान होता है इससे प्रमाण म वार्तिककार न वार्तिक लिखा है—अथपवगगतश्च १।२।६४ ३७। अथपवग का भाव है अभेद अविच्छेद या अविशेष उसकी प्रतीति का अथपवगगति कहते हैं। गौ कहने से अथपवग गुबल नील पीत आहुति भेद का भान नहीं होता। गार्गी द्वारा जाति के अभिधान हान पर उगवे आधार से व्यक्ति म वाहन दाहन आदि अपार उत्पन्न हो जाते हैं। जाति और तत्त्वधान म अभेदापचार से गौ गुबल जस सामानाधिकरण्य व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। प्रत्याविशेषण से वार्तिककार न प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय के आधार पर जाति के एकत्व का प्रतिपादन किया है क्योंकि अतभिधीयमान भी जाति मन्त्रिधि मात्र से प्रत्याविशेषण म निमित्त हो जाती है। अथपवगगति से भी यही ध्यान सिद्ध होती है। प्रत्याविशेषण से जाति म प्रथम प्रमाण का संकेत किया है। नायक चकोषदिष्टाम १।२।६४ ३८ वार्तिक द्वारा अनुमान भी सहायक के रूप म अभिप्रेत है। देशभेद कालभेद अवस्थाभेद पिण्डभेद के हात हुए भी अवाधित रूप म अनुगताकार प्रत्यभिज्ञाप्रत्यय होता है। इसकी अथथानुपपत्ति से सामान्य की गत्ता अनुमय है। धमगास्त्र म भी जातिवाच की पुष्टि होती है। ब्राह्मण न ह्यथा स ब्राह्मण मान का नहीं मारत है। ऐसा नहीं कि एक का न मारकर गोप के विषय म कामचारिता है। धमगास्त्र च यथा १।२।६४ ३९ वार्तिक से कथक के अनुसार यह भी अभिप्रेत है कि आत प्रत्यभिज्ञा न ग्रहण की जाय। कभी कभी सादृश्य एकत्रियानास्ति आहुति के

निमित्त से भ्रान्त प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। ऐसा न हान पावे इसके लिए घमशास्त्र वाला वार्तिक है। स्मृतिवार भी जानि व आश्रय से व्यवहार का विधान करते हैं। एक का अनेक अधिकरण अथवा अनेक उपलब्धि के लिए वाजप्यायन और उनके अनुमान कायायन न एव आदित्य और विभिन्न भागां म एक वद का दृष्टांत अपनाया है। यदि गद का अभिधेय द्रव्य माना जायगा आकृति का ज्ञान नहीं होगा एक शब्द अनेक अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकगा। श्रुति स्मृति व्यवहित व्यवहार विच्छिन्न हान लगेंगे।

व्यक्ति के पक्ष म कात्यायन का वार्तिक है—द्रवाभिधान व्याडि १।२।६४ ८६। आचार्य व्याप्ति व अनुसार गद का अभिधेय द्रव्य (व्यक्ति) ह। इसी आधार पर लिंग और वचन की सिद्धि होती है। वद की आत्मा से भी द्रव्य ही अभिधेय जान पवता ह। आकृति अभिधेय पक्ष म आलभन आदि काय असम्भव है। एक वस्तु अनकाधिकरणस्य नहीं हो सकती उसकी प्राप्ति गुणपन ही हो सकती। अथवा सबका प्रादुभाव और सबका नाग एक साथ होता। एक शब्द के निधन व वाच्य शब्द की नाप लाक म मिट जाता। अभियजक व विनाग म जाति के विनष्ट हो जान के कारण उसी वग व पिण्डांतर का भान दुप्कर हो जाता। अथवा आश्रय व अपाय म आश्रित का अपाय (विनाग) अवयवी के अपाय मे अवयवी न अपाय की भानि हो जाता। गो पिण्ड से गो जानि की यदि अभिव्यक्ति मानी जाएगी तो एक गापिण्ड का दमकर सभी गापिण्ड का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त वरूप्य भी है—अस्ति च वरूप्यम १।२।६४। एक तरह के गो को किसी को लण्ड और किसी का मुण्ड कहत है। एक ही वस्तु के भेद और अभेद दोनों विरुद्ध धर्म नहीं हो सकत। गश्च गोश्च जम विहृ भा सामान्य के एकत्व पक्ष म युक्त नहीं हो सकत। क्याकि समुच्चय भेदाश्रित होता है सामान्य के एकत्व और अभिधेयत्व पक्ष म यह सम्भव नहीं ह। इसलिए द्रव्य की ही सत्ता माननी चाहिए सामान्य की नहीं।

वार्तिककार ने आकृति पक्ष पर जगाय गये दावा के निराकरण के लिए भी वार्तिक लिये ह

लिंगवचनसिद्धिगुणस्यानित्यत्वात्—गुणवचनाद्वा १।२।६४ २३, ५४ अर्थात्—आकृति पक्ष मे लिंग और वचन की अनुपपत्ति का समाधान गुण को अनित्य मानकर गुणवचन शब्दों के आश्रयगत लिंगसत्त्वा के आधार पर किया है।

अधिकरण गति सहचर्यात् १।२।६४ ५१ के द्वारा वद आनाजय आलभन आदि का समाधान किया है। आकृति पक्ष म आकृति म आलभन आदि का अचरितायता देपकर आकृति सहचरित द्रव्य म आलभन आदि क्रियाएँ होगी।

अविनाशोनाश्रितत्वात् १।२।६४ ५७ वार्तिक द्वारा विनाग और प्रादुभाव वाला आशेष का उत्तर दिया है। द्रव्य व विनाग हान पर भी आकृति का विनाग नहीं होता। क्याकि भाष्यकार की याख्या के अनुसार, आकृति और द्रव्य का शास्त्रा अनेक हैं।

वरूप्यविग्रही द्रव्यभेदान १।२।६४ ५८ के द्वारा गा गो आदि वरूप्य

कारण द्रव्य का भेद माना है। अतः प्रत्यय भेद का उपचार ग एव हा आहृति में समुच्चय विरुद्ध नहीं है।

व्ययैषु च सामान्यान्तं मिदम् १।२।६४ २६ वाक्य द्वारा अनन्तान्त शब्दों पर के आन्ति का समाधान किया है। विभिन्नार्थी में भी सामान्य माना गया वचन जाणना। विभिन्न प्रियाओं में भेद होत हुए भी अभिन्न प्रत्यय हुआ करता है उसका निमित्त सामान्य है और वही सामान्य द्रव्य में भी निमित्त है। जग पावन में आध्या तरगत नी सामान्य समस्तसमवाय का कारण द्रव्य में उपचार होता है। जग गरिषगत गोद्विष सयुक्त समवाय रूप होने पर भी गोद्विष प्र २३ का ज्ञान करता है।

इस तरह वाक्विकार ने आहृति पक्ष का नापा का प रर कर उसका प्रति अपना भकाव छोटित किया है। आहृति की दृष्ट व्यापकता का कारण नी साकरण दान सामान्य में भी सामान्य और अभाव में भी निरुपस्थित सामान्य की कानना करता है। मुख्य उत्तरासीय बात यह है कि वाक्यान्त न वचन आहृति पक्ष और व्यक्ति पक्ष का विस्तरण ही नहीं किया है सूत्रकार के अन्तर्गत सूत्रों का दृष्ट धरातल पर लाकर उनका अन्वयान किया है।

महाभाष्यकार के मत में जाति

महाभाष्य में जाति की चार परिभाषाय मिलती है—

१ जननेन सा प्राप्पते सा जाति —महाभाष्य ५।३।५५

२ आहृतिग्रहणा जातिलिङ्गानाञ्च न सवनाक ।

तद्वदात्मतानिर्वाह्या गोत्रञ्च चरण सह ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

३ प्रादुर्भावितनाशाम्या सत्त्वस्य युगपदगुण ।

असवल्लिङ्गा बह्वधा ता जानि कवयो विदुः ॥ —महाभाष्य ४।१।६३

४ यत्तर्हि तद भिन्नत्वभिन्न द्विनेष्ट्वच्छिन

सामान्यभूत स शब्द । नेत्याह । आहृतिर्नाम सा ।

—महाभाष्य पृ० १ कीलहान मस्वरण

इसमें जाति का प्रथम लक्षण जाति शब्द की व्युत्पत्ति का आधार पर गठित है। यहाँ भाष्यकार ने जाति का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से जनन से जोड़ा है और उसमें अपक्व अवस्था प्रकट नहीं माना है। कथन का अनुसार भाष्यकार का अभिप्राय अयत्नलभ्यता लिखाना मान है। अथवा परमाणु आन्ति नित्य पदार्थों में जनन का अभाव से जातित्व विरह होगा। अयत्नलभ्य अथ सत्ता है जिसमें प्रकट अपक्व नहीं होता। यत्न से उपाद्य घट आन्ति पदार्थों में जाति नित्यता का आधार पर रहती है। गुण में आश्रय भेद में भेद लक्षा जाता है इसलिए उसमें प्रकट अपक्व आश्रयभेद का आधार पर व्यक्त किया जाता है किन्तु जाति में आश्रयभेद से भेद नहीं होता। अतः जाति में प्रकट अवस्था अपक्व नहीं होता।

जाति न जनन से प्राप्त जातिलक्षण को अद्वैतज्ञान का अनुबूक माना है।

प्रवृत्तवान् के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ जय है। ब्रह्म में कोई धर्म नहीं है अतः उसमें जाति भी नहीं है। महाभाष्यप्रदीपोद्योत ५।३।५५ तथा मजूपा पृ० ४६४। नागश ने सामान्य और जाति में भेद माना है। उनके मत में 'पाचकत्व' में सामान्य है किन्तु जाति नहीं है (मजूपा पृ० ४६४)।

जाति का दूसरा लक्षण आकृति से सम्बद्ध है। जाति वह है जिसका कोई आकृति के आधार पर होना है। अर्थात् जाति अवयवमन्निवेगविशेष से व्यक्त होती है। जैसे गावः। जाति उपदेश वाच्य लिङ्ग से भी व्यक्त होती है जैसे ब्राह्मणत्व। ब्राह्मणत्व जाति गावः की तरह अवयवसंस्थान पर निर्भर नहीं करती। किन्तु विशेष चिह्न द्वारा किसी के बनाए लक्षणों को देखकर ब्राह्मणत्व का परिचय होना है। ब्राह्मणत्व जाति आरापित धर्म है। गोवः की तरह स्वाभाविक नहीं। अथवा जाति सब लिङ्ग का आश्रय न लेती है। यद्यपि तत् शब्द मवलिङ्गी है फिर भी यहाँ जाति प्रतिपादन अप्राप्तप्रापण रूप में माना जाता है इसलिए जहाँ सब लिंग संभव है वहाँ भी जाति हो सकती है और जाति असर्वनिङ्गी है वहाँ भी जाति नहीं हो सकती। जैसे क्रमशः तत् शब्द और देवदत्ता शब्द में। एक बार के कथन से ही पिण्डान्तर में भी जिसका वाद्य हो वह भी जाति का लक्षण है जैसे गौ शब्द मात्र कहने से दूसरा गावः शक्ति में स्थित गोवः का भी वाद्य होना है। चरण के साथ गावः भी जाति व्यक्त करता है। नागश के अनुसार कारिका में उल्लिखित सभी लक्षण शब्दपरक हैं

आकृतिग्रहणायक शब्द, सकृदाख्यातनिर्ग्राह्यासवल्लिङ्गायक शब्द, जाति-
शब्द इति शब्दलक्षणमेतत् —महाभाष्यप्रदीपोद्योत ४।१।२३

जाति का तीसरा लक्षण आविर्भाव से सम्बद्ध रहता है। वस्तु के आविर्भाव और विनाश से जिसका आविर्भाव और विनाश होना है वह जाति है। जब तक द्रव्य है तब तक जाति है। निगुण द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। जातिरहित द्रव्य का भी उपलब्धि नहीं होती। जाति बहुत विषयों में व्याप्त रहती है और असर्वलिङ्गी है। दूसरे और तीसरे जातिलक्षण में भेद से व्याकरणप्रक्रिया में भेद उपस्थित होना है। आकृतिग्रहण वाल पक्ष में कुमारभाष्य शब्द बनता है आविर्भाववाने पक्ष में कुमारभाष्य रूप होगा। कथन के अनुसार आकृतिग्रहण वाल लक्षण भाष्यकार का इष्ट है पूर्वोक्तमेव लक्षण भाष्यकारस्याभिमतम्, अपर आहृत्यभिधानादाह ।

—महाभाष्यप्रदीप ४।१।२०

चतुर्थ जातिलक्षण भिन्न में भी अभिन्न छिन्न में भी अछिन्न सामान्य रूप में जाति की प्रतिष्ठा करता है। यह लक्षण ब्राह्मणत्व घटव आदि में साधारण है। भिन्न में भी अभिन्न में एकत्व लक्षित है। छिन्न में भी अछिन्न कहने से जाति का नित्यत्व अभिप्रेत है। पञ्जलि ने यहाँ सामान्यभूत शब्द का प्रयोग किया है। भन-हरि के अनुसार भूत शब्द उपमावाची है। (भूत शब्द उपमावाची-महाभाष्यदापिका पृ०)। इसका आधार पर कथन में भी भूत शब्द का उपमा के अर्थ में लिया है। पञ्चन सामान्यभूत शब्द का अर्थ है सामान्य इव। सत्ताम्यमहामामा गौत्व आदि

उपमान है।^१ इस तरह भाष्यकार के इस वचन से जाति में एकत्व, तित्यत्व और अनवानुगत्य उपपन्न हो जाता है। आकृति और जाति में कुछ भेद माना जाता है। आकृति का सम्बन्ध गदा अवयवसंस्थान से होता है। जाति अवयवगस्थान निरपेक्ष भी हो सकती है। चित्तु भूत हरि के अनुसार भाष्यकार का उपयुक्त ज्ञानि लक्षण में आकृति शब्द जातिपूरक है।

आकृतिरिति न तत् संस्थानम् । किं तर्हि । जातिरेव । यथा आकृत्याभिधानं वाजप्यायन इति । आश्रियतेऽन्येति आकृतिः । आश्रित इति भिद्यते पदार्था तरेभ्य इत्याकृतिः । आश्रियते बुद्धिशब्दावस्था इति आकृतिः ।

—महाभाष्यगीषिका पृ० ३

भूतहरि दर्शन में जाति

भूत हरि का दृष्टि से जाति का स्थान बहुत ऊँचा है और हम पर उन्होंने बड़ा दृष्टिया से विचार किया है। अथ दर्शनात् जातिः कं सम्बन्धः म उम समय तत्र प्रचलित वादा का भी उन्होंने सफत किया है। व्याकरण दर्शन में गृहीत जाति की कुछ चर्चा वात्स्यायन और पतञ्जलि के विचार में उपर का हो चुकी है। वाजप्यायन के जाति पदार्थदर्शनात् क पक्ष में नामजाति आख्यातजाति कारक मियाजाति सख्याजाति गुणजाति आदि के रूप में भवत जाति-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। इसका संस्कृत पहेल किया हो चुका है और आगे भी उन उन प्रकरणा में प्रसंगवश किया गया है। जाति का त्रिपक्ष में व्याकरणदर्शन की दृष्टि से कुछ विशेष वाद हो उनमें मुख्य हैं—गण जाति और सत्ता जाति। इन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

शब्द जाति

किसी आचार्य के मत में शब्द का वाच्य शब्द का स्वरूप है। स्वरूप को ही दर्शनभेद से स्वा जाति कहा जाता है। उसी को गणजाति शब्द से भी कहा जाता है। गो गण से वाच्य गो शब्द में रहने वाली गो गणत्व जाति है गोत्व नहीं। पहले गण अपने रूप को कहता है अथ बाद में सामने आता है। गणत्व में 'बुद्धि' गणत्वस्वरूप निमग्न है वह शब्द में स्वरूप का प्रत्यायक है। इसी तरह अग्नि गण भी अपने स्वरूप का प्रत्यायक है। जब गण के स्वरूप की चर्चा की जाती है सत्ता और सत्ता का भेद के रूप में ग्रहण किया जाता है। एगी दर्शा में दा गण मान जात है। श्रूयमाण और प्रतिपाद्य। प्रतीयमान भी दा हात में सम्बन्ध प्राप्त करत वान और वार्यो। इसलिए अग्नि गण उच्चरित होकर अग्निशब्दमय अथ सामने लाता है। अग्निगणमय अथ स अग्नि गण अधवान् होता है। दाना में अभेद है। इसलिए अग्नि गण अग्निगणमय अथ नो किसी दूसरे अग्नि गण का अभिव्यक्त वनाकर तुल्यश्रुति के आधार पर अग्निगण

१. सप्त नारायण म ग्रन्थ में संगत नहीं है—यत्तु भूत शब्द उपमाधर्मात् सत्ताय सत्तामासाय । १० सामान्यारयोभान निदिष्ट सामान्यमा सामान्यभूतमिति । तत्र सामान्यभूत म । १० म यविरयवेन प्रसृतय मकोन कारणासागात्—मूर्तिरनाहर, एतन्नय ।

के सनाभाव का प्रतिपादन करता है। इस तरह सना-मनिसम्बन्ध शक्तिभेद का आधार पर कल्पित शब्द भेदाश्रित होता है। प्रत्यायक शब्द का उच्चारण परायण होना है। जिसके लिए शब्द का उच्चारण किया जाता है वह उसे वायु में नियुक्त करता है। उच्चायमाण (शब्द) का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह परतन्त्र होता है। इस आधार पर सभी प्रत्याय्य क्रिया के साधन मान जाते हैं। इसलिए जो शब्द शब्द के अभिधेय रूप में अवस्थित रहता है उनके उच्चारण में भी उसमें भिन्न अर्थ रूप की कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ दो तरह के विकल्प हैं। कुछ लोग मानते हैं कि अभिधान का आवश्यकता है। वह अपने अभिधेय से च्युत नहीं होता है। यह प्रत्याय्य है। यदि पूछा जाय प्रत्याय्य क्या है तो किसी दूसरे शब्द द्वारा उसे बताया जाना है। वही तरह शब्द का भी प्रत्यायन होता है। शब्द का वाच्य शब्द के प्रतिनिधित्व का दूसरा नहीं होता इसलिए शब्द का ही आवश्यकता है। इसी दृष्टि में अनुकरण शब्द में और मना शब्द में भेद स्पष्ट होता है। उच्चायमाण दत्ता में अनुकरण अभिधेय होता है। मना का अभिधेय प्रत्याय्य ही होता है उच्चायमाण नहीं। अभिधेय अभिधेयस्वरूप का छोड़कर अभिधायक नहीं होता। सग्रहकार का भी कुछ ऐसा ही मन है। उहाँ कहा है —

न हि स्वरूप शब्दानां गोपिण्डादिवत्करणे सन्निविष्टे । तत्तु नित्यमभिधेय
मेवाभिधानमनिवेने सति तुल्यरूपत्वादसन्निविष्टमपि समुच्चायमाणवत्त्वा
वसोयते । —वाक्यपनीय १।६६ हरिवृत्ति में उद्धृत

अथान शब्द का स्वरूप सना अभिधेय ही रहता है। जो जिसका अभिधायक होता है वह उसके कारण में सन्निविष्ट माना जाता है। शब्द का स्वरूप असन्निविष्ट है। किन्तु तुल्यरूप के कारण सन्निविष्ट सा जान पड़ता है।

इस दुरुह पाठिका पर भन हरि न शब्द जानि की पतिष्ठा की है। शब्द के स्वरूप के विषय में भी वक्तव्यारो में मतभेद था। कुछ के अनुसार शब्द का स्वरूप ग्राह्य होना है धान्य होना है प्रत्यायक होना है। उसके विपरीत दूसरे वृत्तिकारों ने माना है कि शब्द का स्वरूप ग्राह्य होना ठीक छोड़ होना है प्रत्याय्य होना है —

इह केचित् वक्तव्यारो पठति—स्वरूप शब्दस्य ग्राह्य भवति द्योत्य प्रत्याय्य
वमिति । अपरे तु स्व रूप शब्दस्य ग्राह्य द्योत्य प्रत्याय्यमिति ।

—वाक्यपनीय १।६६ हरिवृत्ति

जानिवाणी आचार्यों के अनुसार शब्द जानि में ही अपने स्वरूप का पना है और उगा रूप में वह अग्रजन्म व्यक्ति का प्रत्यायन होता है। इसलिए सभी शब्द सवप्रथम अपनी जानि स्वाजानि का अभिधान करते हैं। अपनी स्वजानि ही शब्द का अपना असाधारण रूप है। वाक्शिकार में भी उगा शब्दपूजनार्थक मप्रत्यय का कर शब्दपूजक अभिप्रेतान का समर्थन किया है।

अथवा प्राथम्य, हेनाराज के अनुसार, सम्बन्ध व्युत्पत्तिकाल की अपेक्षा से है। सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में अथ जाति से सम्बन्ध नहीं रहता गन्त जाति से रहता है। गन्त जाति का सबसे प्रथम ध्यान में रखकर विभक्ति आदि का विनियोग होता है। अतः शब्द सबसे प्रथम अपनी शब्दजाति का अभिधान करता है। यही गन्त जाति स्वरूप गन्त से और स्व जाति शब्द से शास्त्र में वर्णित है। शास्त्र में जिन शब्दों का स्वरूपपरक निर्देश है वही अपने स्वरूप के प्रत्यायक होते ही हैं जिनका अर्थपरक निर्देश है वही गन्त भी सबसे प्रथम अपने स्वरूप का ही सामने लाते हैं। हेनाराज के अनुसार जो गन्त व्युत्पन्न हैं वही भी गन्त में प्रविष्टा भाव से अवस्थित शब्द जाति के ही प्रत्यायक हैं। जिन गन्तों के उच्चारण से अथ अत्यन्त गीघ्र उपस्थित हो जाते हैं शब्द के स्वरूप के साथ ही जहाँ अर्थपरिचय होता है वहाँ भी कम रहता है और शब्दजाति का प्रथम उद्घोषण होता है अर्थजाति का वाद में होता है क्योंकि व्याकरणदशम में अथ शब्द के विवृत हैं। इसलिए शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद न होते हुए भी और शब्द और अर्थ के साथ साथ अवभास होते हुए भी उनमें एक प्रथम है। शब्द अवभास पहले अर्थ अवभास बाद में होता है यद्यपि सूक्ष्म काल के कारण प्रथम का अवधारण नहीं होता।

अथवा सम्बन्ध के व्युत्पत्तिकाल में गौ गन्त के उच्चारण से गौ अर्थ में अर्थ रूप में शब्द और अर्थ में अभेद का अध्यारोप किया जाता है। जैसे गौ वाहीक में किया जाता है। अथवा सामानाधिकरण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह अध्यारोप क्यों करता है? इसके उत्तर में हेनाराज की मायता है कि जिस वाच्यवाचक भाव अनादि हैं वही ही अध्यारोप भी अनादि है अपौरुषेय है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे दासनिका ने विशेषकर धर्मकीर्ति ने इसका खण्डन किया है। व्याकरणों के कहने का अभिप्राय यह है कि अध्यारोप पुरुष की इच्छा पर नहीं होता। पुरुष की इच्छा से जिस किसी शब्द का जिस किसी अर्थ के साथ अध्यारोप मानने से लोक-व्यवहार अर्थवस्थित हो जायगा। इसलिए पुरुष की इच्छा न मानकर लोकानुगत इच्छा प्रत्येक दशा में माननी पड़ेगी। लोकानुगत इच्छा को ही, व्याकरणदशम में व्यवहारनित्यता माना जाता है। इसलिए व्यवहारनित्यता के आश्रय से गौ वाहीक आदि स्थलों में अध्यारोप पुरुष इच्छाकृत न होकर लोककृत है। दूसरे गन्तों में वह व्यवहारनित्यत्व के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ में वह अपौरुषेय है।

गन्त जाति की अभिव्यक्ति कम होती है? शब्द वणसमूह है। प्रत्येक वण में जाति की अभिव्यक्ति नहीं दोगी जाती। वण भी असमयसमयभावी होते हैं उनकी अभिव्यक्ति में प्रथम होता है इसलिए वणों द्वारा जाति अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसका उत्तर भट्ट हरि हेनाराज आदि नवसायिक दशम के कम के आधार पर दिया है। वणविक दशम में उत्प्रेषण अवशेषण आदि कम हैं। उत्प्रेषण क्षण का भ्रमण क्षण से सात्त्विक भेद अवगत नहीं होता इसलिए उत्प्रेषण क्षण अकाल नियत जाति के अभिधान से अपने आपका असमय पाता है और दूसरे क्षण का अपेक्षा रखता है। उसमें भ्रमणक्षण से कोई विरोधता नहीं है क्योंकि आरम्भ में ही उत्प्रेषण किया

क कता का भावना प्रयत्न से जनित है। इसी तरह किसी में मन में 'गो' शब्द का उच्चारण करते हैं वह भावना जब प्रयत्न यद्यपि गान, गगन आदि के प्रयत्न में भिन्न है तबु भेद के कारण ग ग म भी भेद है फिर भी माहृश्य के कारण इस भेद का अवधारण कठिन है। इसलिए वणध्वनि व्यञ्जक है किन्तु उसका ध्वजन अस्पष्ट है, उसका अवधारण ठीक में नहीं हो पाता आवतमान, दुहगाय जान पर भी सामान्य विशेष रूप में विग्रह अभावित नहीं कर पाती है। जब वह अवयवमन्तान क्रम से उपलब्ध होता है वह शब्द जानि कहलाती है और मय व्यवहार उससे परिचालित होता है। शब्द मूलतः उच्चारण में अथ अवभास उतना नहीं करता जितना बार-बार दुहराने पर करता है। इसी आधार पर स्फोटवादी वणस्फोट पदस्फोट आदि की कल्पना करते हैं वणपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषाध्या ध्वनयो वणपदवाक्याख्यान स्फोटान पुन पुनराविर्भावयतो बद्धिष्वध्यारोपमिति

—वानप्रदीय १।८३ हरिवत्ति।

इसलिए प्रथम अक्षर में कवन जाति का अवभास मात्र होता है आगे वाले वर्णों में स्फुट स्फुटतर रूप में जाति का निर्धारण होता जाता है और इस तरह मस्वार विशेष बन जाता है जिसके आधार पर अभिव्यक्ति विशेष उसी तरह से शीघ्र ग्राह्य हो जाती है जम रत्नपरीक्षक शीघ्र ही रत्नतत्त्व का समझ लेता है। वयाकरणा के लिए स्फोटतत्त्व रत्नतत्त्व है। शब्दतत्त्व अन्ततः निरवयव है और वह मयप्रथम स्वजाति का वाचक होता है। उसी का शब्दजाति कहा जाता है। जिस तरह रक्त गुण का सम्बन्ध में वस्त्र भी लाल कहा जाता है वस ही शब्दजाति अथ जाति का व्यपदेश के लिए होती है। रक्तगुण और वस्त्र की तरह से शब्दजाति और अयजाति में सम्बन्ध है। अवश्य ही यह सम्बन्ध यहाँ याग्यतालक्षण माना जाता है। सभी शब्द सभी अर्थों का माय याग्यतालक्षण सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। जैसे गो शब्द नव भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है किन्तु प्रकरण आदि के सहारे उसका अर्थ का अवच्छेद (निवारण) किया जाता है उसी तरह शब्दजाति से शब्दव्यक्ति अभेद रूप में उपस्थित होती है अयजाति का द्वारा उसका निवारण किया जाता है। यह क्रम है। किन्तु प्रत्यायन में अक्रमता रहती है। शब्द से च्युरित आश्रय होने पर भी अर्थ के स्वरूप की हानि नहीं होती। उस प्रकार से आश्रय घट के स्वरूप का निराधान नहीं होता। शब्द स्वरूप से उपरक्त अर्थ के स्वरूप का लोप नहीं होता। शब्द और प्रकाश दोनों प्रकाशक मात्र हैं। शब्दजाति अर्थजाति से एक होकर जाति काय का संपादन करती है यह वाजप्यायन का दर्शन है। शब्द में रहने वाली शब्द जाति की तरह शब्दजाति शब्द में भी रहने वाली शब्दजाति है। एक ही शब्दजाति प्रयाक्तभेद में भिन्न होकर अभेदप्रत्यय का निमित्त होता है। फलतः उस में भी शब्द जाति मानी जाती है। इस तरह अग्रिम दर्शन के आधार पर शब्दजाति की व्याख्या होना चाहती है।

अन हन्ति न अध्याम का आश्रय न कर भी जाति पदार्थ की व्याख्या प्रस्तुत की है। शब्द का द्वारा विगुह अर्थ जाति का अभिधान होता है। इस पक्ष

मभी गच्छा जाति व समिगायन होते हैं। जाति धर्म भी जाति का ही वापर होता है। व्याख्यानान्ता म नामान्ता म भी नामान्ता माना जाता है। धान कीमाय प्राप्ति प्रत्यया भेद म भेद मातर इत्य प्राप्ति वाचि म भी जाति का वापर की रत्न है। व्याख्यानान्ता म जाति प्रविष्टा मन्त्रितान्ता म भिन्न रूप म ग्राह्य है। विद्याना म अनुपपत्तिप्रथा को जाति माना गया है। अनुमानान्ता का ॥ बुद्धिम प्रतिभागमान आचार प्रथा व रूप म माना जाता है। ह्य धीर विद्या म धर्म व धर्म्याय म उमा का नामान्ता कहा जाता है। धानि व रूप म भी जाति की वल्लभा भन हरि न का है। एव ही धानि हनागन व म म वल्लभाति मन्त्रितमय व रूप म है। ध्वजार व निरा जाति प्राप्ति व रूप म उमा का धर्म्याय दिया जाता है। मन्त्र धीर धर्म्याय भाव मयत्र हैं। जा मय है व जाति है। जो धर्म्याय दे व धर्म्याय है (वाचस्पतीय ३ जातिमनुदा ३२)।

सत्ताजातिवाद

मत्ता जाति है। इस बात का मूल महाभाष्य म भिन्न जाता है।

स सत्त मुदध्या नित्या सत्तामध्यवर्ति

—महाभाष्य २। १२३

‘स सत्ता पवाथ ध्यभिवरति

—महाभाष्य ५। १६४

प्राप्ति वाक्या म इस वाद की भन्त मिन जाती है। किन्तु इस पर अधिक प्रकाश भर्तृहरि ने छाता है और यह बात प्राय उही व नाम स विख्यात है।

सत्ता भिन्न भिन्न पदार्थों म भिन्न होकर सम्पूर्ण भेद व आधार पर जाति कहा जाती है। श्रव की सत्ता श्रवत्व है। उससे अनिरिक्त श्रव कोई वस्तु नहीं है। गो की मत्ता गोत्व है। इस तरह इत्य की भी मत्ता इत्यत्व है। मभी गच्छा सत्ता मात्र के वाचक है। मत्ता जाति है। वही महासामान्य है। महासत्ता है। अभाव का भी बुद्धिवर्षित आधार से निरूपण होता है। सत्ता से उमका भी सम्बन्ध है। वही प्रातिपदिकाय है। प्रातिपदिकाय सत्ता उक्ति प्रसिद्ध है। वह नित्य है। महान आत्मा है। पाणिनि न त्य और तल प्रत्यय स उसी का निर्णय किया है। य प्रत्यय भाव म होत है। गच्छा के प्रवृत्ति निमित्त को भाव कहा जाता है। गच्छा का भाव सत्ता व अतिरिक्त और क्या हो सकता है। पडभाय विवाह की धानि भी वही है। प्रमाख्याशक्ति, कालावृत्ति सबका स्रोत वही सत्ता है (वाचस्पतीय ३ जाति मनुदेन ३३ ३६)। मत्तावाचक का विवेचन भर्तृहरि ने सारम आदि दशना को नष्टि म भी किया। भर्तृहरि को यह माली है कि एम प्रमगा पर दूसर दशना की मायनामा का संवेत करते चलते हैं। हनाराज न इस प्रमगा का साराण या दिया है—मभी गच्छा का वाच्य सत्ता है। फलत जाति पदार्थ की धानि उपपन्न हो जाती है। यद्यपि भन-हरि न द्रव्यपदाय के विवेचन म बहुद्रव्य को उपरधिभेद स भिन्न भिन्न कहा है फिर भी तात्पर्यभेद से अवस्थाभेद समझना चाहिए। जातिपदाय पक्ष म जाति रूप म

सर्वत्र ब्रह्म विवक्षित है, द्रव्यमदाय पञ्च म ब्रह्म पग्निनिष्ठित रूप म विवक्षित है—यह दार्शनिक विकल्प है। वस्तुन परमाय रूप म दाना पञ्चा म अनुगत एक ही तत्त्व है। वह सत्ता है।

द्रव्य

व्याकरण दर्शन म वह सब कुछ द्रव्य माना जाता है जिस दद तत कहा जा सक। अर्थात् इद तत मवनाम म वाच्य का नाम द्रव्य है। द्रव्य क इस रूप पर तथा गुणा धार द्रव्य के रूप म पतजलि आदि के मन का उत्प्रेष यथावसर आग किया गया है। वाक्यपनीय म द्रव्य समुद्गण एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप म है जो मन्त्रमे मिला हुआ है, सर्वम भिन्न है। द्रव्य क दो भेद हैं व्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक रूप का दर्शनभेद से निर्देश भत हरि त या किया है

आत्मा वस्तु स्वभावश्च गरीर तत्त्वमित्यपि।

द्रव्यमित्यस्य पर्यायस्तच्च नित्यामिति स्मृतम्॥

—वाक्यपनीय द्रव्य समुद्गण १।

आत्मा वस्तु स्वभाव गरीर तत्त्व तन् मत्र रूप म द्रव्य का उत्प्रेष उन त्तिना तर हा चुका था। भत हरि के अपन सिद्धान्त म मय वस्तु का अवधारण अमय वस्तुआ के द्वारा किया जाता है अमयोपाधिक शब्द से सत्य का निरूपण होता है। यह ससार का वचित्रय है। उपलक्षण द्वारा सत्य का निभास सदा देखा गया है। वाक्य शब्द दवदत के गह का पूण रूप स जता त्ता है। अमयोपाधिक कुण्डल आदि क पीछे सत्य गुद्ध स्वण निहित है। जम नाडिका से काल का अवच्छेद होता है वम नी आकार म मव्याप्त गति का निर्धारण होता है। वस्तुन तत्त्व और अतत्त्व म भेद नहीं है। प्रविकल्पित तत्त्व विकल्प रूप म, अविभाज्य कान विभक्त रूप म प्रतीत होता आया है।

आकृति के विलान हो जान पर भी जो अवस्थित रहता है उस ही सत्य कहा जाता है। वही पारमार्थिक मय है। "वाकरण दर्शन की पश्यतो वाक उमी का प्रतीक है

सवित च पश्यतीरुपा परावाक शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्व शब्दात् पारमा
थिकात् न भिद्यते—हेलाराज द्रव्यसमुद्गण १।

इम प्रमग के भत हरि के अनक वाक्य नागाजु न की गली पर है, जम
न तदस्ति न तत्रास्ति न तदेक न तत पथक।

न ससष्ट विभक्त वा विकृत न च नायथा।

—द्रव्य समुद्गण १२।

अस्तु व्याकरण दर्शन म जसा नि कहा जा चुका है द्रव्य क पीछे भी किमी शाश्वत गति क दखन की चेष्टा की गई है। हेलाराज कयट आदि न उम ब्रह्म नाम दिया है।

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात व श्रवणा साम वह जात ह और अपि भारद्वाज है

भारद्वाजमाख्यात भाग्य नाम भाष्यते ।

षान्तिष्ठ उपसर्गानु निपात काश्यप स्मृत ॥^१

अग यह बात पता है कि आख्यात का सवप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था । अग सवप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओकार पच्छाम को धातु, कि प्रातिपदिकम कि नामाख्यात, कि लिंग कि वचनम का विभक्ति य प्रत्यय इति ।^२

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करते । अष्टाध्यायी में वहाँ आख्यातापदान (१।४।२६) और द्वयजद्ब्राह्मणक प्रथमाध्वर पुरश्चरणना माख्यातात्तात् (४।२।७२) इन सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है । परन्तु पाणिनि व पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करते थे । वाङ्मयस्मृत सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है । जस—

धातु साधने दिशि पुरुष चिति तदाख्यातम ।^३

का वाक्य में आख्यात साधनान्तरविशेषण वाक्य में जस वातिका में और महा भाष्यकार ने क्रियाप्रधानमाख्यातम (१।३।६६) जस वाक्या में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है ।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतजन इस रूप में की जाती है

आख्यायते नेन क्रिया प्रधानभूतेत्याख्यातस्तिङ्गत, कृत्यलुटो बहुलम इति करणत्वं स्वनिर्वायप्रसिद्धिरेषा । टुगाच्चाश न आख्यात की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या यों की है

१ वात्सनेयि प्रातिशाख्य, उ वटभाष्य, ८।५

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथमप्रपाठक, १।२४,

३ वपभ ने वाचस्पत्यय १।२२ की टीका में इसे काशकृतन का सूत्र कह कर उद्धृत किया है । अभिनवगुप्त ने तद्देश्वरप्रयत्ने । दिवनिवर्त्तनी, त्रितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है ।

आख्यायतेऽनेन गुणभावेन वतमाना अनेककारकप्रविम्वता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावान्निपक्तपु-मुखीभूता क्रिया तस्याश्च प्राध्यायेन वतमानो भाव स्वात्मतामप्रधान इत्याख्यातम् ।

अथवा

आख्याते स्त्रीपुनपु सकानि क्रियागुणभावेन वतमानायनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राध्यायेन वतमानेत्याख्यातम् ।^४

चन्द्रकीर्ति के अनुसार भू आदि के रूप जिसमें व्यक्त है वह आख्यात है अथवा जो कर्ता के व्यापार को व्यक्त करे वह आख्यात है

आख्यायते कथ्यते अर्थात् निष्पाद्यते स्वादीना रूपाणि येन तदाख्यातम् ।

अथवा आख्याति आचक्षते क्तु र्वापरमित्याख्याता ।^५

नघु-यामकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप भ अथवा मात्र्य अर्ध का व्यक्त करने वाली के रूप में होना आख्यात है

आख्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थानिधायितया वेत्याख्यातम् ।^६

भक्त हरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निये गये आख्यात के कुछ नमूने निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाख्यातम् । पूर्वापरीभूत भावमाख्यातेनाक्षटे ।

—निखत १।६, ११

तदाख्यात येन भाव सधातु ।—ऋक्संप्रतिशाख्य १।२।१६ ।

क्रियामु बहु वीष्वमिसश्चितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।

क्रियामिनिव त्तिवशेन सिद्ध आख्यातगन्धेन तमयमाह ॥

—बृहद् देवता १।४४ ।

आविष्टलिंग आख्यात क्रियावाचि —कौटिल्य अथशास्त्र २।१०।२८ ।

येषा तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आख्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम् आख्यातम् ।

महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपयुक्त सभी नमूने में आख्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपनीय में भी जमाति क्रिया आख्यातपद निबन्धना (वाक्यपनीय १।१३ हरिवर्ति) आदि स्थला में आख्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा ।

आख्यात चार रूपा में रखा जाता है—कर्त्ता में भाव में कर्म में और कर्म-कर्त्ता में । पचति जसे गन्ता में कर्त्ता में । भूयत पच्यते जम गन्ता में भावकर्म में ।

४ दुर्गादाय, निम्बन-टीका २।१।६

५ श्री चिन्तेश्वरदास चम्पा द्वारा टेक्निकल गैम एगन् टेक्निक आफ मन्त्रान ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत

६ बह्म, पृष्ठ ६८

आख्यात और आख्यातार्थ

आख्यात व दवना साम कह नात ह और अपि भारद्वाज है

भारद्वाजक आख्यात भागव नाम भाष्यते ।

वाणिष्ठ उपसर्गस्तु निपात काव्यप स्मृत ॥^१

इसमें यह बात पड़ती है कि आख्यात का सर्वप्रथम प्रयोग पारिभाषिक रूप में भारद्वाज ने किया था । इसका सर्वप्रथम प्रयोग गोपथ ब्राह्मण में मिलता है

ओकार पच्छाम को धातु, कि प्रातिपदिकम् कि नामाख्यात, कि निग, कि वचनम् का विभक्ति क प्रत्यय इति ।^२

पाणिनि आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में नहीं करते । अष्टाध्यायी में बचल आख्यातप्रयोग (१।४।२६) और द्वयजदश्राह्मणक प्रथमाध्वर पुरश्चरणना आख्याताट्टा (४।१।७२) इन सूत्रों में आख्यात शब्द का प्रयोग हुआ है । परन्तु पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य आख्यात शब्द का प्रयोग पारिभाषिक रूप में करते थे । वाग्वृत्त्यन सूत्रों में आख्यात शब्द पारिभाषिक रूप में मिलता है । जैसे—

धातु साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम् ।^३

वाग्वृत्त्यन ने आख्यात साध्यप्रकारविवरण दास्यम् जैसे वातिकों में और महा भाष्यकार ने कियाप्रधानमाख्यातम् (५।३।६६) जैसे वाक्यों में आख्यात शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । आख्यात शब्द का मूल अर्थ जो कहा जा चुका है ।

आख्यात शब्द की व्युत्पत्ति आख्यायतनन इति रूप में की जाती है

आख्यायते नेन स्यात् प्रधानभूत आख्यायनसिद्धौ कृत्यतुल्ये बहुलम् इति करणत्वाच्चित्कायप्रसिद्धिरेषा । दुगाचाय न आख्यात की व्युत्पत्तिमात्र आख्या या की है

१ वाचस्पतीय प्राविशाल्य, उ वभाष्य, ८।।

२ गोपथ ब्राह्मण प्रथमपाठक, १।२४,

३ उपर्युक्त वाचस्पत्यय १।२ का २ वीं मं "स काशज्जन का मुन कह कर उद्ध न किया है । अभिनवगुप्त ने भी उपर्युक्त प्रथम । चिनिवर्माशरी त्रितीयभाग, पृष्ठ २६५ पर इस सूत्र को उद्धृत किया है ।

ग्राह्यायतेऽनेन गुणभावेन वतमाना अनेककारकप्रविभक्ता स्फुरमाणेव प्रधानद्रव्यभावामिव्यक्तमुमुखीभूता निया तस्याश्च प्राध्यायेन वतमानो भाव स्वात्मलानप्रधान इत्याद्यातम ।

अथवा

आद्याते स्त्रीषु नपुंसकानि क्रियागुणभावेन वतमानायनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राध्यायेन वतमानेत्याद्यातम ।^४

चन्द्रनीति के अनुसार भू आदि के रूप जिससे व्यक्त हो वह ग्राम्यात है अथवा जो कृता के व्यापार को व्यक्त करे वह ग्राम्यात है

आद्यायते कथ्यते अर्थात् निष्पाद्यते स्वादोना रूपाणि येन तदाद्यातम ।

अथवा आद्याति आचक्षते कतु व्यापारमित्याद्याता ।^५

नपुंसकप्रकार के अनुसार क्रिया का प्रधान रूप में अथवा माय अथ को व्यक्त करने वाली के रूप में होना ग्राम्यात है

ग्राह्यायतेऽनेन क्रिया प्रधानत्वेन साध्यर्थामिधायितया वेत्याद्यातम ।^६

भक्त हरि के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रिय गये ग्राम्यात का कुछ लक्षण निम्न लिखित हैं

भावप्रधानमाद्यातम । पूर्वापरीभूत भावमाद्यातेनाचष्टे ।

—निरुक्त १।६, ११

तदाद्यात येन भाव सधातु ।—ऋक्सामयजुर् १।२।१६ ।

क्रियासु बहु वीप्वन्निश्रितो य पूर्वापरीभूत इहैक एव ।

क्रियामिनिव त्विशेन सिद्ध आद्यातशब्देन तमयमाह ॥

—बृहद देयता १।४४ ।

आदिष्टलिङ्ग आद्यात क्रियावाचि

—कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१०।२८ ।

येषां तूत्पत्तावयै स्वे प्रयोगो न विद्यते तानि आद्यातानि ।

—मीमांसा सूत्र २।१।४ ।

क्रियाप्रधानम् आद्यातम् ।

महाभाष्य ५।३।६६ ।

उपयुक्त सभी लक्षणा में ग्राम्यात का क्रियावाचकत्व समान है । वाक्यपदीय में भी 'जमाति क्रिया ग्राम्यातपत्तिप्रधाना (वाक्यपदीय १।१३ हरिवर्णि) आदि स्थला में ग्राम्यात का क्रियाप्रधानरूप ही अधिक वर्णित है । क्रिया के स्वरूप पर आगे विचार किया जायगा ।

ग्राम्यात चार रूपा में रखा जाता है—कर्त्ता में भाव में, रम में और रम-कर्त्ता में । पचति जैसे शब्दों में कर्त्ता में । भूयते पच्यते जैसे शब्दों में भावकर्म में ।

४ दुर्गाचर्य, निरुक्त-टीका १।१।६

५ श्री विशारद चर्खा द्वारा टेक्निकल टर्म एण्ड टेक्निक आथ मन्दित ग्रामर, प्रथमभाग, पृष्ठ ६६ पर उद्धृत

६ बहो, पृ ८८

वरत हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट ही लिखा है

तिङ्-तपदानुप्रविष्टस्यापि अथकलापस्य कारककालसंक्षोपग्रह रूपस्य मध्येऽ-
वयमतिरेकाम्ना सूक्ष्मदत्ता भागगतमपि व्यजकत्व विचार्यम् ।^७

साधन काल आदि का आख्याता के रूप में सब प्रथम संकेत काशकृत्स्न सूत्र में मिलता है। एक सूत्र का रूप है—धातु साधन दिशि पुष्पे चिति च तदाख्यातम्। लिङ् निमित्ति विभक्तौ एतन्नाम'। इस सूत्र के काशकृत्स्न व्याकरण के होने में वयमद्वय और अभिनवगुप्त के प्रमाण ऊपर दिये जा चुके हैं। यह सूत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसमें प्रमाण यह भी है कि इस सूत्र में मर्या के अर्थ में चिति शब्द का प्रयोग हुआ है। दिक् का अर्थ क्रिया और काल है (दिक् शब्द न क्रियाकालश्चाच्यत वयम (पृष्ठ ४१)। आख्यात 'न' का प्रयोग और आख्यात के अर्थ रूप में क्रिया, काल साधन पुष्प मर्या आदि का उल्लेख भी एक साथ हो गया है।

अप्युक्त आख्यातार्थों का व्याकरणद्वारा की दृष्टि से विवरण आगे अध्यायों में वाक्यपदीय के आधार पर किया जाएगा।

क्रिया विचार

आख्यातार्थों में क्रिया की प्रधानता

क्रिया आख्यातगम्य है यह सूत्र के अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। आख्यातार्थों में क्रिया ही प्रधान मानी जाती है। महाभाष्यकार ने क्रिया प्रधानमाख्यात भवति^१ कहा है। 'यामकार' ने भी क्रिया और साधन दाता का आख्यात का वाच्य मानते हुए क्रिया को ही उसका प्रधान अर्थ माना है

आख्यातस्य यद्यपि क्रियासाधनञ्चोभय वाच्य, तथापि तस्य क्रियैव प्रधान मय ।^२

यद्यपि जय पूछा जाता है किन्तु क्या क्या रहा है तो ऐसे प्रश्नों का उत्तर क्रिया द्वारा ही दिया जाना है जम वह पवा रहा है (पचति)। एक पद उपात्त कारक की अपेक्षा भी क्रिया की प्रधानता दृष्टी जाती है (एकपदोपात्ताथ पेक्ष च क्रियाप्रधानत्वमभिधीयते महाभाष्य प्रदीप १३।६६)। ग्रीहीन अवहति जस वाक्या में ग्रीहि द्रव्य के सत्कारक होने के कारण अवघात की अप्रधानता है। अथवा यद्यपि अथ (द्रव्य) की दृष्टि से ग्रीहि की प्रधानता है फिर भी क्रिया के साध्य हान के कारण शब्द की दृष्टि से उसी की प्रधानता है न कि ग्रीहि की। भूत की अपेक्षा भविष्यकाल में हान वाता (भाव्य) ही

७ ध्वन्यालोक लोचन २।१६ पृष्ठ १८
(चौदवी मत्सरण)।

१ मन्नाय, ५।१।६६

२ काशिका त्रिवर्णपत्रिका ५।३१, पृष्ठ ४७

[illegible]

त्रिया का प्रयत्न नहीं होता। वह अनुमय मानी जाती है। यदि त्रिया न होती द्रव्य हा द्रव्य होता तो फलजनकता का रूप समझाया नहीं जा सकता। यदि पाक और पाठ में कोई भेद न हो उनके फल में भी भेद होना कठिन है। इसलिए कारक का अतिरिक्त किन्तु कारक का अतिरिक्त नमस्वरूपवानी भिन्नलक्षण काद वस्तु है ऐसा अनुमान करना पड़ता है। वही त्रिया है। महाभाष्य में भूवादया जातव १।३।१ सूत्र की याख्या में इस मवाद पद्धति से या यवत किया गया है।

क्रिया किस कहत है ?

क्रिया इहा का कहत है ।

इहा किस कहत है ?

इहा चेष्टा का कहत है ।

चेष्टा किस कहत है ?

चेष्टा व्यापार का कहत है ।

आप तो केवल एक शब्द के अन्तर्गत दूसरे शब्द कहत चल जा रहें हैं । यदि अथ स्वरूप मामल नहीं लात जिससे जात हो कि क्रिया क्या है ।

क्रिया एक एकी वस्तु है जो अत्यन्त अपरिच्छिन्न (अपरिच्छिन्न) है उसका प्रयत्न नहीं होता । परमाणुआ व पिण्ड की तरफ क्रिया का पिण्डाभूत कोई रूप नहीं होता । कुनित्य गम की तरह क्रिया अप्रयत्न होती है अथवा जैसे कुनित्य में बाहर आया गम का प्रत्यक्ष होना है वैसे क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होना । वह अनुमान में जानी जाती है । सभी साधना के रहते हुए कभी पचति का व्यवहार होता है और कभी नहीं जाता । जिस साधन के रहते हुए पचति का व्यवहार होता है और जिसके न रहने से नहीं होता है वह अवश्य क्रिया है । अथवा अन्तर्ग्राह्यप्रतिफल काय में क्रिया रूप कारण का अनुमान होता है । तबन्त यहा या कुछ समय बाद पात्रपुत्र में दिखाई देता है । उसके स्थानांतरण में अवश्य कोई न कोई व्यापार कारण है । यही क्रिया है । अतः क्रिया अनुमान में जानी जाती है ।

क्रिया के अनुमान में कुछ कठिनाइयाँ हैं । पहला प्रयत्न के आधार पर सम्बन्ध ग्रहण हो तो अनुमान ही संभव है । फल और व्यापार में जयजनक भाव के प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद ही कारण भाव का अनुमान संभव होगा । यहा तब प्रयत्न की प्रवृत्ति ही नहीं है क्रिया विषय अनुमान भी संभव नहीं है । हम आशेष का उत्तर यह है कि एक एक क्षण का प्रयत्न होता है । धानुवाच्य समूह का युगल मतिधान संभव नहीं है । अतः उनका प्रत्यक्ष भी नहीं होगा कि तु एक एक क्षण का (अधि श्रयण स्थान्युपस्थापन आदि का) प्रत्यक्ष होता है । बुद्धि के सहारे उन सभी क्षणों का एकत्र सकलन कर पचति का प्रयोग किया जाता है । तब एक ही क्षण के लिए (किसी अधिश्रयण आदि के लिए) पचति का प्रयोग किया जाता है एक ही क्षण में समूह का आशय कर दिया जाता है । यह शक्ति के स्वभाव के कारण एक क्षण धातुवाच्य नहीं माना जाता । कुछ लोग कहेंगे कि अविप्राण आदि भी एक श्रयणजनक नहीं हैं । उनमें भी तब का पमात्रा पात्र का आदान चुलती मयाजन आदि अवयव होते हैं इसलिए केवल अधिश्रयण भी समूह रूप होता है । उसका भी जो अवयव परमाणु रूप होगा वह शक्ति के स्वभाव के कारण नहीं वाच्य होता है और न उसका प्रयत्न होता है । अतः मति के वन पर सम्बन्ध का ग्रहण कर क्रिया विषय अनुमान होता है ।

कुछ लोग मानते हैं कि पचति यह प्रपञ्च (बुद्धि) निरात्म्य होती है । निरात्म्य होने के कारण भाव नहीं होता । भाव होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता ।

फनन क्रिया का अनुमेय मानना ठीक नही है। यदि पचति की प्रथमा सालम्बना मानी जाय तो क्रिया का प्रत्यय मानना ही उचित है (ननु पचतीति प्रयोगाया निरालम्बनत्वन भ्रान्त्यादनुमापकत्वमयुक्तं स्यात् । मालम्बनत्वं तु प्रत्ययव क्रिया प्रख्याविशेषविषयत्वान्) ।^३ इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि 'आकारण' शब्द में वस्तुरूप अथ अर्थ नहीं है अपितु शब्द का अर्थ अर्थ है। अर्थ 'प्रतिरेक' के आधार पर धातु भाग का जो अर्थ निश्चित किया जाता है उसकी उपलब्धि साक्षात् सम्भव नहीं है। द्रव्य स्वभाव सिद्ध होता है। घट क्रियन् जस वाक्या में जिनमें साध्यावस्था भी व्यक्त है द्रव्यशब्द समावासात्वालम्बन प्रत्यय सत्ताज्ञान उत्पन्न करते हैं। किन्तु घट क्रियते में घट की जो भाव्यमानावस्था है जो शिवक स्तूपन आदि अवस्थाओं से भ्रमण अभिव्यक्त होती है उसकी प्रतीति घट शब्द से नहीं होती। उसकी प्रतीति तो क्रियते जस क्रिया पद के प्रयोग से ही सम्भव है। किसी शब्द का वही अर्थ होगा जो पदांतर निरपेक्ष रूप में अवयव व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता हो। इस आधार पर घट से केवल सत्ता आकारक बोध होता है। इसीलिए सत्ता को प्रातिपदिकाय माना जाता है। क्रियापद के प्रयोग से (जस क्रियते शब्द से) आश्रितकर्मरूप अर्थ को साध्यावस्था की प्रतीति होती है। इसलिये तिङ् शब्द का अर्थ भाव्यमान रूप में गहीत होता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ अभिव्यक्त के रूप में नित्य माने जाते हैं। जहां भूत या भविष्यत्काल का उल्लेख होता है जस घट अभूत घट भविष्यति आदि एव स्यता में भी अर्थ अभिव्यक्त के रूप में नियत मान जाते हैं क्योंकि उन स्थलों में भी सत् आकारक ज्ञान होता ही है। इसलिए शब्द रूप में भाव्यमाना क्रिया होती है। अतीति ध्वनति जस शब्दों में क्रियात्व माना जाता है। फनन अवयवव्यतिरेक के आधार पर द्रव्य में क्रिया का अनुमान होता है (तदेवमवयवव्यतिरेकाभ्यां द्रव्यादनुमिता क्रिया हेतुराजयही)। अनुमान का प्रकार नागेन निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

अनुमान त्वेवम उत्तरदेहासयोगादिकल कारणजय कायत्वादिति । तच्च कारण प्रतिद्धातिरेके इतरबाधकक्षतात् क्रियाहपमेव प्रतिध्यतीति भाष्यता स्पष्टम् ।—महाभाष्यप्रतीषोद्योत १।३।१

भत हरि न क्रिया विषयक अनुमान या स्पष्ट वर्णन या निरुद्ध प्रमाण के तत्त्वामन रूप में है। यदि क्रिया का सम्बन्ध मन वस्तु में ही होता है। क्रिया तत्त्व जस शब्द रूप में ही है समूह रूप में ही है अतीति क्रियायमनिकषणान के विषय के शीघ्र में नहीं आ सकते। जहां क्रिया का एक ही क्षण है वहां भाव समूह का पौरोधात रूप में अध्याय होता है पौरोधात रूप में ही क्रियात्व होता है। अतीति क्रिया-अणु क्रियाविषय रहा है। फिर भी उनका ज्ञान होता है और वह अनुमेय ही कहा जायगा। जो अर्थ आदि वण समुदाय जिन तरह सम्बन्धक में परिणामप्राप्त अन्यत्र तिष्ठान्ति ज्ञान हैं उसी तरह क्षणममात्रागमिका क्रिया समुदायरूप में फनानुमेय माना

३ ह्यत्रात्र बाधक ३, क्रियामनुरे १ ५० १८, क्रिया में साध्यावस्था का अर्थ कर्मरूप में ही है।

जाती है। उसमें वतमानक्षणगत इन्द्रियसम्बन्ध के आधार पर प्रत्यक्षत्व आरोपित रहता है और उसमें एकत्व का भान भी आपाततः होता है। भन हरि न इसके स्पष्टीकरण में अलातचक्र का उदाहरण दिया है। जिस तरह तजी से घूमते हुए अलातचक्र में भ्रान्ति से चक्राकार का अध्याराप होता है उसी तरह क्रियाश्रयण में भी एकत्व की परिकल्पना और प्रत्यक्ष का अभिमान होता है। जिस तरह स पक्षित के अधिश्रयण आदि भाग है उसी तरह अधिश्रयण आदि में भी स्वसंस्कारक अवयव है। अतः पौवापय उन अवयवों में भी ज्ञान के कारण वे प्रत्यक्ष से परे की वस्तु हैं। जो पयनवर्ती निरग क्षणमात्र है उसके लिए क्रिया शब्द का प्रयोग नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र में वास्तविक भेद का विचार नहीं है। जहां तक शब्द का सम्बन्ध है शब्द से क्रिया समूहात्मा रूप में ही भासित होती है यद्यपि वह क्षणमात्रस्वभावमयी है और विप्रकीर्ण अवयव वाली है। अतः क्रिया का सन्नम होना और अतीन्द्रिय होना माना सिद्ध होता है। और यदि कभी निरग क्षणमात्र (अपवयवपय से अनुप्राप्त) के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ भी तो वही भी पूर्वोक्त भाग की कल्पना से पौवापय नाम अध्ववसित होता है। फलतः वह भी आख्यात वाच्य है। इसी आशय से निरुक्तकार ने भी पूर्वपरीभूत भाव का आख्यातवाच्य माना है (वाक्यपदीय ३, क्रियाममुद्देन ६१०)।

कुछ लोग मानते हैं कि क्रिया अनित्य है। जिस तरह व्यक्ति में आकृति अभिवर्तन होती है उसी तरह अधिश्रयण उदवासेचन तण्डुलावपन आदि में क्रिया अभिवर्तन होती है।

कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि क्रिया उत्पन्न होती है अभिवर्तन नहीं होती। जब दीप से घट की अभिवर्तित होती है घट की सत्ता पूर्व सिद्ध होती है। क्रिया के लिए अभिवर्तित पक्ष स्वीकार करने में अधिश्रयणादि में पूर्व क्रिया की सत्ता माननी पड़ेगी।

कुछ आचार्य मानते हैं कि जिस व्यापार के अनन्तर फल की निष्पत्ति होती है वही क्रिया है। पक्षित में वस्तुतः क्रिया विचटन (तण्डुल के अवयवों का फूट जाना) विवर्तित रूप व्यापार है। क्याकि विचटन के बाद ही आग्निरूप फल की निष्पत्ति होती है। अधिश्रयण आदि विचटन के पूर्व के व्यापार आदन की निष्पत्ति में साक्षात् उपकारक नहीं होता। इसलिए उन्हें यथाय रूप में कारक (माधन) नहीं कहा जा सकता। अधिश्रयण आदि के लिए पक्षित का प्रयोग प्रधान विचटन क्रिया के अधिश्रयण में अध्यास से होता है। अथवा यो कह सकते हैं कि अधिश्रयण आदि विचटन क्रिया के सहायक है। अतः उनमें क्रियात्वं उपचरित है वास्तविक नहीं। उनमें क्रियात्वं तादर्थ्य के आधार पर माना जाता है। जिस तरह से तादर्थ्य के कारण म्यूणा में इन्द्र का आरोप करते हैं उसी तरह से अन्य अवयवों में क्रिया रूप का आरोप करते हैं। महाभाष्य का अर्थ है कि पक्षे प्रधानोऽयं यासौ तण्डुलानां विवर्तितिरिति यह वाक्य भी इस मत का पापक है। इसी मत के आधार पर क्रिया और व्यापार - - - - - किया जाता है। जिससे फल की निष्पत्ति होती है। उस अन्त्य भाग में

मात्र म है न कि पातुता प्रत्य म । जिस कारण की जा प्रवृत्ति है वही क्रिया है । पात्र क्रिया भा प्राप्त कारणा म सम्बन्ध होने म कारण बनता है । पातु म केवल कुछ का ही अभिधान होता है कभी वगमन क रूप म जैसे पच्यत और कभी कतु गत क रूप म जैसे पचति । अतएव गता और कत म ही गतार का सम्बन्ध होता है उहा क व्यापार का ही पातु स अभिधान होता है ।

कुछ व्याख्याता प्रवृत्तिविशेष म विशेष पत्र पर जात दन ह । प्रवृत्तिया क विशेष को व प्रवृत्तिविशेष मानते हैं । कभी कारण स अन्य विवृति प्रति रूप भूति (भवा) क्रिया है क्याकि कारण की प्रवृत्ति का फल वही है ।

कुछ लोग के अनुसार यहा कारण स अभिप्राय प्रधानकारक-वर्तमान है अत्र धान कारण प्रति म नहीं । कारकाणा पद म बहुवचन इस बात का धानक है कि क्रिया भेद से कत भेद होता है और अनेक क्रिया क अनेक वत है । अनेक वत त्व की दृष्टि म रख कर कारण गत म बहुवचन का प्रयोग हुआ है । कोई कह सकता है कि तब कारकाणा क स्थान पर वत पत्र का ही प्रयोग क्या नहीं किया । इसका समाधान यह है कि कम म भी उकार दिया जाना है उसका निराकरण न हो इसलिए वत के वतते कारण गत का व्यवहार उस लक्षणवाक्य म किया गया है । जहाँ कम की सम्भावना है वहाँ कम का व्यापार भी क्रिया है । विशेष बात यह है कि कम का विषय उतना व्यापक नहीं है जितना व्यापक कता का है इसलिए व्यापक होने क कारण कर्ता ही यहा विवर्धित है । इसम प्रमाण—अथवा च कारकाणि गुप्त्वोत्तन प्रवृत्त ते अथवा च मासोत्तने—(महाभाष्य १।३।१) यह वाक्य है । कर्ता मूढे ओदन की ओर मद रूप म प्रवृत्त होता है पर मास युक्त ओदन की ओर उसकी प्रवृत्ति वगमयी होती है । म दप्रयत्न या सरम्भमय प्रस्थान स यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा कारण मद मे कता ही अभिप्रेत है । उमी की प्रवृत्ति देखी जाती है । वही चेतन भी ह अत प्रवृत्ति उसी मे सम्भव भी है । भाष्यकार ने क्रिया की मद प्रवृत्ति अथवा वगमयी प्रवृत्ति क रूप म स्वयं व्यवहृत किया है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्ता की विशेष प्रवृत्ति ही क्रिया है । इस मत म कुछ लोग त्रुटि दिखाते हुए कहते हैं कि यदि क्रिया की प्रवृत्तिविशेष रूप म मानगे तो चेतन कर्ता तो गहीत हाग परंतु अचेतन कर्ता गहीत न हा सकगे । अचेतन होने के कारण उनम प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । इसक अतिरिक्त मासोत्तन म कारण आदि का भी हाथ हो सकता है । इसलिए कारण गत स केवल कर्ता ही निदिष्ट है ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं जान पडता । इस आशेष का उत्तर यह है कि सरम्भ सामान्य का कर्ता म ही होना सम्भव है । थाली अथवा अय अधिकरण आदि कारण स्वयं ओदन की ओर मद रूप म अथवा वेगरूप म प्रवृत्त नहीं हाते । कर्ता कम का सामान्य रूप म ग्रहण होने क कारण अचेतन प्रवृत्ति उनम भी सम्भव है । वार्तिककार ने न वा तुल्यकारणत्वाद इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धि (महाभाष्य ३।१।७) कहा है चेतन और अचेतन म इच्छा की प्रवृत्ति देन कर ही । इच्छा चेतन दमदत्त मे जस है वस ही अचेतन कूल म भी है । इसीलिए कून पिपतिपति प्रयोग किया जाता है । भाष्यकार ने इस स्पष्ट करत हुए

कहा है कि प्रवृत्ति स इच्छा जानी जाती है। दबल जब चटाई बनाना चाहता है कि ना चिन्ता कर नहीं कहता कि मैं चटाई बनाऊंगा अपितु उसके हाथ म रज्जु कांनक पून आदि को दब कर उसकी चटाई बनान की इच्छा का पता चल जाता है। इसी तरह कूल की प्रवृत्ति म उसकी इच्छा जानी जा सकती है। कूल जम गिरन को हाना है लोप्ट विगीण हाकर गिरन लगत है दरार पड जाती है और कूल एक स्थान स दूसर स्थान पर गिर कर चला जाता है (कूलस्यापि पिपितिपतो लोप्टा गीयते भिदोपजायते, देशाददेशा तरमुपसक्रामति महाभाष्य ३।१।७)। मवस्य वा चतनत्वान वातिक महाभाष्य ३।१।७ म उन्निवित्त दशन के अनुमार अचतन म भी चतनता सभव है। पदार्था की उपलब्धि विचित्ररूप म हाने क कारण सवत्र चतय उपलब्ध नहीं हाना (वचित्रयेण च पदाथानामुपलम्भान सवचेतनधमप्रमग सवत्रनोभावनीय — महाभाष्यप्रतीप ३।१।७)। दूसरी बात यह है कि भाष्यकार न आदान या माम आदान की ओर मद या वगवनी प्रवृत्तिको दिखा कर प्रवृत्तिविशेष की आर सकेत किया है। इसका तात्पर्य यह है कि कता की विशिष्ट प्रवृत्तिको क्रिया कहत हैं। प्रवृत्तिविगप का भाव प्रवृत्ति का ही विगेष (प्रवृत्तरव विगप) है। कारक क स्थान पर खल वत प नहों कहा इसलिए कि कम का भी यथा स्थान ग्रहण हो सके कम का भी व्यापार निया क रूप म प्रनीत हाता है जसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अस मत म एक कठिनाइ और है। भाष्यकार न एक स्थान प कहा पच का प्रधान अथ क्या है? तण्डुला की जो विक्लित्ति है वही प्रधान अथ है (अथ क पचे प्रधानोय — यासी तण्डुलाना विक्लित्तिरिति—महाभाष्य ३।१।२६)। अब यदि वत व्यापार का ही क्रिया माना जायगा और वही धातुवाच्य हागी महाभाष्यकार क उपयुक्त कथन के साथ विरोध हागा। क्योंकि विक्लित्ति कता का व्यापार नहीं है कता का व्यापार अधिक से अधिक विवन्नदना है। विक्लित्ति ता पन है व्यापार नहीं। परम आशेष का समाधान सरल है। वस्तुन विरोध नहीं है। महाभाष्यकार न विक्लित्ति का पच का प्रधान अथ वस्तु अथ की दृष्टि से कहा है न कि शब्द की दृष्टि स। अथ की दृष्टि स विक्लित्ति ही प्रधान है और शब्द की दृष्टि स विक्लित्ति सहित विक्लदन अथ प्रधान है। कम म लकार मानन पर विक्लित्ति अथवा विवनेदन सहित (उपमजन रूप म) विक्लित्ति अथ प्रान है ऐसा कुछ लाग कहत है। अस्तु इस मत के अनुसार कर्ता और कम के व्यापार ही क्रिया है और क्रिया ही धा वथ है। मप्रदान अपादान आदि क व्यापार धातु वाच्य नहीं है इसम कारण न शक्ति स्वभाव है। परंतु कयट क अनुसार मप्रदान अपादान आदि म भी व्यापार है। जैसे मप्रदान का अनुमनन अपादान का अवधि रूप म अवस्थान आदि। प्रतीयमान व्यापार भी कारक के व्यपदन म निमित्त हाता है—

शब्दशक्तिस्वाभाव्याच्च अपादानसंप्रदानव्यापारे धातुन वतते। वस्तुतस्तु अपादानस्य अवधि भावेनावस्थान व्यापारोस्ति। संप्रदानस्यापि अनुमनना दितक्षण। प्रतीयमानोऽपि व्यापार कारक्यपदेशनिबधनम्। यथा प्रविश

अते या वा क्रिया भागे जाति सव क्रिया स्मृता ।

सा ध्यक्तेरनुनिष्पादे जायमानेव गम्यते ॥

—वाक्यपदीय ३ क्रिया समुद्देश २०, २१

जानिक्रियावाद क आचार पत्रजलि के नियामामायात सिद्धम (महाभाष्य १।२।६४)
और सामान्यभूता क्रियावतते (महाभाष्य १।४।२३) जैसे कथन माने जा सकन है ।

सत्ता क्रियावाद

सत्ता क्रियावाद जातिक्रियावाद का ही एक रूप है । सत्तावादी जाति का सत्ता ही मानत है । हम दर्शन के अनुसार प्रति पदार्थ का एक सत्य रूप है और एक असत्य रूप है । जो सत्य रूप है वह जाति है जो असत्य रूप है वह व्यक्ति है । वह सत्य रूप सत्ता है । उसे ही परमसत्ता अपरसामान्य महामत्ता आदि नाम से व्यक्त करत है । सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है । विचित्र व्यक्ति योग क वन में वह सत्ता म्रिय भाक्ता भोग्य साधना आदि के रूपा म व्यवहार का कारण हाती है । भाग्य भाक्ता आदि म ममान ही सविद रूप म सत्य है । नानात्व कल्पित है । गौत्वादि जाति उमी महामत्ता का विवत रूप है । सम्वाचभेद स वही सत्ता गाव आनि भि न भि न रूप म जाति रूप म आभासित हाती है । सभी प्रकार के सत्ता रूप जाति म व्यवस्थित हैं । उसी का प्रातिपदिकार्थ उमी का धात्वर्थ कहन हैं । वह निय है । महान आमा है त्व तल आदि प्रत्यय उमी के व्यञ्जक हैं । यहा तक कि अभाव भी सत्ता विनीत नहीं है । उसकी भी बौद्धिक सत्ता (अभावस्यापि बुद्ध याकारेण निरूपणात्) । साधन के परिस्पन्द के कारण वही सत्ता नमरूप को प्राप्त हाकर क्रिया के रूप म अभिव्यक्त हाती है । अतः साक्षात् सत्ताक्रिया ही सभी धातुग्रा का विषय है । (वाक्यपदीय ३ जातिममुद्देश ३२ ३५) ।

महासामान्यरूप महामत्ता क्रिया है । उसका क्रियाजानिक सन्धना के आधार से भी सिद्ध है । क्याकि कता कम आदि साधना के क्रियाभेद म सत्ता ही समवायिनी हाती है । इमनिय कर्ता कम क व्यापार स अवच्छिन्न सत्ता क्रियाजानि है । अथवा या भी कह सकत है कि व्यापारा म समवाय रूप स रहन वाली सत्ता आश्रय भेद स भेद मयी होकर क्रिया कहलाती है ।

पहल कहा जा चुका है कि कुछ लोग जिम व्यापार के बाट पत्र निष्पन्न हाता है उसे ही क्रिया मानत है । उमी आधार पर सत्तावान्त्या म भी कुछ अत्यव्यापारभाग की सत्ता को क्रिया मानत है (अये वात्मनि या सत्ता सा क्रिया कश्चिदिष्यते—वाक्यपदीय क्रियासमुद्देश २३) ।

बुद्धिसत्ता क्रियावाद

जो लोग बुद्धि का पदार्थ मानत हैं उनके मन म बुद्धिसत्ता ही क्रिया है । इस मन के अनुसार दृश्य और विकल्प म अभेद हाता है उसी आधार पर बुद्धि का भाव म अद्या-

रोप कर लिया जाता है। भाव व सत्ता बुद्धिबिद्या में मापन की मात्राओं और माध्यम भागित हान हैं।

भावसत्ता क्रियावाद

कुछ लोग सत्ता को भाव रूप में बताते हैं और उमा का क्रिया मानते हैं (सत्त व भाव गद्दवाच्या मुरय क्रियेति मयते—हेताराज वाक्यपदीय ३ क्रियासमुद्देश २३)। सत्ताय वाप्यायणि न पदभावविकार का निर्देश किया था। (यह भावविकार भवतीति वाप्यायणि)।^६। यह आधार पर भी भन हरि ने क्रिया का विवेचन किया है। भावविकार व विषय में व्याख्याकारों व वर्ग प्रसार व मन हैं। कुछ लोग मानते हैं कि भाव का अर्थ क्रिया है। द्रव्य में विकार दत्त कर उसका भाव स्वल्प का अनुमान किया जाता है। क्योंकि द्रव्य स्वयं अपने आप में विकार नहीं पता कर सकता अपने आप में क्रिया नहीं होती। (स्वामिनि क्रियाविराघात) और क्रिया अमन वस्तु से विकारवता नहीं आ सकती। ऐसा अगमव है। विचार शब्द यद्यपि प्रवृत्तिविकार भाव आदि में कायवचन व रूप में दत्ता जाता है फिर भी यहाँ उस प्रकार-वचन व रूप में मानना चाहिए। क्योंकि क्रिया व प्रति क्रिया का कारणत्व नहीं होता कम कमसाध्य नहीं क्या जाता। इसलिए भावविकार का भाव है क्रिया प्रकार क्रियाभेद और व छ हान है।

कुछ विद्वान मानते हैं कि भाव शब्द पदार्थ का पर्याय है। कस्यचित् भावस्या चिरव्यासा स्तम्भकुम्भादयाभावा इत्यादि प्रयोगों में भाव शब्द पदार्थपर्याय व रूप में देखा जाता है। इसलिए वाप्यायणि व सूत्र में भाव का अर्थ पदार्थ है। यद्यपि वह एक ही है फिर भी उसके छ भेद ससगिभूत से होते हैं जस स्पष्टिक में समगवाली वस्तु के धर्म (गुण) से भेद आ जाता है। कुछ अन्य आचार्य मानते हैं कि भाव शब्द का भाव शब्द है। इसीलिए यद्वा सर्वे भावा स्वयं भावेन भवति स तदा भाव व भाव शब्द के लिए शब्द शब्द का प्रयोग पतञ्जलि ने किया है—यद्वा सर्वे शब्दा स्वे नार्थेन भवति सतपामथ।^७ शब्द यहाँ अथवान और वाक्यभूत रूप में गहीत है। क्योंकि जब तक क्रिया पद का प्रयोग नहीं होता प्रवृत्ति या निवृत्ति मत्त या भूत का पता नहीं चलता। केवल अकुर शब्द कहने से अथवा केवल बध्मासुत कहने से ठीक से अर्थ बाध नहीं होता। जब इनके साथ किसी क्रिया पद का प्रयोग करत है जस अस्ति नास्ति आदि का तभी ठीक से बोध होता है। अतः भावभेद का तात्पर्य इस मत व अनुसार वाक्यभूत शब्द भेद में है।

किन्तु भन हरि भाव शब्द व सत्ता अर्थ वाल पद का अधिक महत्त्व दत्त है। वाप्यायणि व भाव शब्द का अर्थ सत्ता महासामा य है। इसी सत्ता को कुछ लोग

६ निरुक्त १। ८, महाभाष्य १।३।१

७ पाणिनिस्मृत्य ५।१।११ पर काययनत्वं तव

८, महाभाष्य ५।१।११

परमात्मा अथवा परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। वही भूत। परा प्रकृति भी है। वह सबविकारा की अनुयायिनी है। वही सत्य है। इसकी पुष्टि के लिए भक्त हरि ने निम्नलिखित अर्थ उद्धृत किया है—

पथिवीधातौ किं सत्य विकल्प विकल्पे किं सत्य विज्ञान, विज्ञाने किं सत्य ऊ अथ तद ब्रह्म इति ।

—महाभाष्यत्रिपादी, मेनुस्मृति, पृष्ठ २४ (श्री ब्रह्मदत्त जी विज्ञानसु का हस्तलेख) १६

अतः भावविकार से ता पथ महासामान्यात्मक सत्ता के जन्मादि विकार से है। वह विकार दशभेद से परिणामरूप में अथवा विवतरूप में होता है और उत्तरात्तर विकार प्राप्त कर जायत अस्ति विपरिणमन ब्रह्म अपभोयत और विनश्यति एन रूपा में व्यक्त किया जाता है।

पट्टभाव विकारों का विश्लेषण

छ प्रकार के भावविकारों में पहली अवस्था जायत गत से अभिव्यक्त की जाती है। याम्ब के अनुसार 'जायत' से पूर्वभाव का आदि व्यक्त होता है। भक्त हरि के अनुसार जायत में उत्पन्न होने की प्रक्रिया मात्र की अभिव्यक्ति होती है। जन्म का हो जाना नहीं अपितु जन्म का हात रहने वाला रूप जायत से व्यक्त किया जाता है। अमम अथवा मा पूर्व अवस्था को पूर्ण रूप में अभी छोड़ता नहीं है और उत्तर अवस्था का केवल मस्पर्शमात्र करता है। दूसरे गत में, जायत अस्ति का पूर्वभाव है और अस्ति जायत का उत्तरभाव है। पूर्वभाव को छोड़ने और उत्तर भाव में मग्न होने के पूर्व तक जो अंतरात्मा अवस्था है उसे जन्म गत में कहते हैं। अम भक्त हरि ने यह व्यक्त किया है—

पूर्वावस्थामजहृत सस्पशन धममुत्तरम ।

समुच्छिन्न इवार्थात्मा जायमानोभिधीयते ॥१॥

यहां प्रश्न यह है कि जायत की प्रक्रिया में कत त्व प्रकृति का है अथवा स्वयं भावविकार का। हलाराज के अनुसार दोनों का है। पूर्व अवस्था (कारण अवस्था) का पूर्ण रूप में न छोड़ने में प्रकृति के कत त्व की संभावना है और उत्तर अवस्था के प्राप्त करने के प्रयत्न में विकार का भी कत त्व है। प्रकृति और विकार दोनों के सामानाधिकरण्य होने में दोनों में कत त्व मानना उचित है। अतः जायत में उस दशा का समझना चाहिए जो पूर्व और अपर दाना अवस्थाओं की उपाधियों में अवच्छिन्न है, जो पूर्व अवस्था में सर्वथा विच्छिन्न नहीं है पर उत्तर अवस्था के प्राप्त करने में उभय है, और जो प्रचीयमान है। मत्वायवाद के अनुसार जायत का अभिप्राय अभिव्यक्ति है और अमत्वायवाद के अनुसार उसका अभिप्राय जन्म है। जायत

६ हलाराज ने भी अम अश का ज्ञान समुद्देश ३० का भीव में उद्धृत किया है।

१० निरुक्त भाष्य

११ वात्स्यनाथ साधनमुद्देश ११६ द्रष्टव्य नियममुद्देश २८ और ज्ञान समुद्देश ३६

चौथी अवस्था वधत गद स व्यक्त की जाती है। कोई भी वस्तु मुह्त भर भी अपने आप में ज्या क ल्यो अवस्थित नहीं रहती। वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है। वन्ती हु दना को चौथा भाव विकार माना गया है।

पाचवी अवस्था अपशीयत गद में घातिन की जाती है। वधत के विपरीत अपशीयत का व्यापार है।

अनिम अवस्था विनश्यति में व्यक्त की जाती है। इसमें सबथा नाश का व्यापार रहता है। म कायवाणी इस नाश में कह कर तिराधान या तिरोभाव कहते हैं।

कुछ लोग मूल भाव विकार तीन ही मानते जायत अग्नि और विनश्यति। इन में हो नेय तीन का अन्तभाव आ जाता है। ज में म अथवा की वद्धि अन्तभूत रहती है। अत वधत का जायत में अन्तभाव हो जायगा। इसी तरह परिणमत का भी अन्तभाव जायने में हो जायगा, क्योंकि परिणाम घर्मांतर आविभाव का व्यक्त करता है जो जायत के व्यापार में भी है। अन्तशीयत का अन्तभाव नश्यति में सहज ही हो जायगा।^{१३}

वाक्यपदीयकार ने पञ्चाभावा की समीक्षा करत हुए मूलभाव दो ही माने हैं और वे भी औपचारिक रूप में। वस्तुतः उनके मन में एक ही भाव है और वह सत्ता लक्षण है। पर व्यवहार की दृष्टि में आविभाव और तिराभाव अथवा जम और नाश की कल्पना कर ली जाती है। मन्तलक्षण भाव निय है उसमें उन्म और ध्वम सम्भव नहीं है। मदा एक स्वरूप होने के कारण उसमें आविभाव और तिराभाव भी सम्भव नहीं है। इसलिए वे कल्पित ज्ञान में और कल्पित रूप में क्रियाव्यवहार के विषय होते हैं। इसी के भीतर गप भाव विकार किसी न किसी रूप में आ जाते हैं। अन्त भाव विकारों में एक सत्ता ही रह जाती है (अतो मासविकारेषु सत्तया व्यवतिष्ठत)। वह निय जाती हु भी कम भाव प्राप्त कर मा ध्वमभाव क्रिया के रूप में व्यक्त होती है।

विवेकवाद के अनुसार क्रिया

वाक्यपदीय में विवेकवाद के आधार पर भी क्रिया का लक्षण समझाया गया है। भन हरि के मत में मूल तत्त्व एक है। वह अय रूपों में त्रिधा पड़ सकता है पर इस विप्रिया में उसमें मूल रूप में कोई भेद नहीं पड़ता। वन् ज्या का ल्यो रहता है। समार में अय पन्था किसी दूसरे पन्था के समान में अपने स्वरूप को खाते हुए जान पड़ते हैं स्मृति नाश रग के मास में नाश रूप में त्रिधा रहता है। पर वह मूल तत्त्व वभी भी अपने स्वरूप में चुन नहीं जाता। किन्तु भेद के अवस्थान के कारण

प्राणाग को भिन्न मानत = १^१

विमर्श-क्रियावाद

गवागम के अनुसार क्रिया विमर्श स्वभावा है। विमर्श रूप हान के कारण क्रिया का मूल रूप सवेत्त है। प्रकाश का स्वात्मविश्रांतिक्षण परा वाक का रूप विमर्श क्रिया है। पश्यन्ती म अहम् एतम् की मकीण भावना (विमर्श) रहती है। उसमें प्रराह नहीं रहता। किन्तु इदमभाव अहमभाव म अस्त रहता है। इदमभाव का सूचक पश्यन्ती की क्रिया है। मध्यमा इदमाव का अन् म खीचती है—म इसको जानता हूँ मैं इसे करता हूँ आदि। एसी रूप म दूसरा स कहने की भावना जय प्राण म परिस्फुट होती है वह वखरी कही जाती है और शरीर म स्पन्दन रूप क्रिया होती है। यहाँ तक सबत्र विमर्श रूप क्रिया एवं म अनुगत है। मैं चरता हूँ मिर हिलाना हूँ जम विमर्श हान पर ही शरीर आर उसका अगा म चप्पा दबो जानी है। एसी क्रियाएँ जिनमें परिस्पन्द ऋटिगोचर नहीं होना तम ठहरना गड़े रहना आदि म उनमें भी खड़े रहने वाला म (वर्त्ता म) तमिक परामगमयी (मैं खड़ा हूँ एम रूप म) क्रिया है। इसी कारण वह (खड़े रहने की क्रिया) जन् गिता आदि म स्थिर रहने की क्रिया से विलक्षण है। जड पदाथगत क्रिया भी विमर्श रूप है। ययाकि जड पथाय स्वय आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। उनमें जा स्वात्मनिष्ठा है वह वस्तुतः प्रमाता की सक्ति म परिनिष्ठित होने के कारण। ज्ञान गक्ति के मूल म अह के साथ इह भी जुड़ा है। इह (वस्तु) म गतिशीलता अन् के विमर्श म युक्त है। अतः सभी क्रियाएँ विमर्श रूप हैं।^{१५}

क्रियाभेद म आभास और परामग भिन्न होत हुए भी एक परामग म द्यवहत हात हैं

क्रिया भेदेन च आभासपरामगौ भिन्नादपि एकपरामगप्रतिष्ठितौ भवन् निपीयमान मधु मदयति, कुम्भकारोऽप्य क्रियते इति।^{१६}

भावना-क्रियावाद

मीमांसका के अनुसार भावक पुरुष का भाव्य स्वय के लिए यज मानु करणक आग्यात प्रययवाच्य व्यापार भावना क्रिया है।

१७ कहा, क्रियासमुद्देश २२ ३८, मानस समुद्देश २० ४, हेलागत म अहम्कार यह मन २२ मा सामका वा है अथवा साग्य दर्शनी का है। (साधनाशक्ति प्रवृत्ति सानुगा क्रियाऽपकपान वदन्तान के अचिन्तमासासकानामागम। एते लक्षण वा प्रवृत्ति नि या स भावध्वनुयायिनी चकाधप्रसूतममथा वायाणि नयनाति साग्यतय। सामन्समुद्देश २० पृ १६७।

१८ इश्वरप्रय भजविमानविभाशनी प्रथम भाग, पृष्ठ १०१।

१९ कहा त्रितीयभाग, पृष्ठ २१०

उपयुक्त गभीरता के प्रवादा में प्रिया का पूरापरीभूत प्रमित रूप और सा यस्वरूप आधारण है। आश्रयान में प्रिया की प्रतीति होती है यह निश्चित है। भाव का निश्चितपन में वाच्य रूप साध्य है और वृत्तन पन में वाच्य रूप निश्चित है।

निश्चितभाव और वृत्तनिश्चितभाव में भेद

निश्चित में निश्चितता के अनुरोधवत् पूरापरीभूत भाव का वाच्य होता है जस पचति स। वृत्तनिश्चितभाव का निश्चित रूप में वाच्य होता है जस पाक स। वृत्तनिश्चितभाव में भी धातुभाग में साम्यमान अवस्था वाली प्रिया का ही वाच्य होता है। अतएव यह है कि आश्रयान में उसका वाच्य प्रधान रूप में होता है जसकि वृत्तन में वत् प्रपञ्चय में गुणीभूत रहती है।

महाभाष्यकार के अनुसार निश्चितभाव का प्रिया का साध्य समवाय नहीं होता पचति पठति ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता। वस्तुतः यह नियम करण आदि भाव का दृष्टि में रक्षित है। कत कमभावे से प्रिया आश्रयात् वाच्य प्रिया के साथ सम्बन्ध प्राप्त करती है जस भवति पचति पश्य मगा धावति आदि में। इसीलिए भाष्यकार ने पचादि प्रिया का भवति प्रिया का कता माना है (पचादय प्रिया भवति प्रियाया कर्त्तृणा भवति)^{२२} अथवा उनमें साध्यसाधनभाव होता है न कि सामान्य-विशेष भाव। यद्यपि प्रिया स्वयं साध्य है अतः किसी दूसरी प्रिया के प्रति उसका स्वयं कता या कम होना सहज नहीं है फिर भी विषयभेद से एक ही वस्तु का अपने आप में साधनसाध्य सम्बन्ध देखा जाता है। जस पश्य मगा धावति में आश्रयात् कता भी है कम भाव है—करण प्रिया धावति की दृष्टि में साध्य है और प्रिया की दृष्टि में साधन है। भाष्यकार ने इच्छति जस वाक्या में दो प्रियाओं का सम्बन्ध स्पष्ट है। भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि प्रिया भी प्रिया में वसित होती है अर्थात् प्रिया में प्राथम्य प्रिया में और अध्वयस्य प्रिया में—

प्रियापि प्रिययेतिनतमा भवति। कथा प्रियया। सपश्यति प्रियया प्राथम्येति प्रियया प्रध्यवस्यति प्रियया वा। इह य एव मनुष्य प्रेक्षापूर्वकारो भवति स बुद्ध या तावत् कचिदय सपश्यति सदृष्टे प्रायना प्राथिते, ध्यवसाय, अथवा साये आरम्भ आरम्भे निवृत्ति निवृत्ति फलावाप्ति। एव प्रियापि कृत्रिम कम।^{२३}

वृत्तनिश्चितभाव का लिंग में याग होता है जस पचति पचन पाक। निश्चितभाव का लिंग में याग नहीं होता। लिंग में वधम है। आश्रयान अनवभूत है। जिस तरह आश्रयान में सख्या आदि की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह आश्रयान में लिंग का अभिव्यक्ति क्या नहीं होती इसका ठीक ठीक समाधान मस्मृत के व्याकरणों में नहीं

क्रिया है। क्यट न इस भावशक्ति का वचित्र य माना है—

आख्यातस्य शक्त्याश्रयद्वयसंख्या प्रतिपादने सामर्थ्यं न तु लिङप्रतिपादने,
विचित्रत्वादभावशक्तौताम् ।

—महाभाष्य प्रतीति १।२।८७ पृष्ठ ७२

कृदभिहितभाव म भी घञादि अभिहित भाव स ही लिङ याग होता है अथयकृद-
भिहित स नहीं होता। क्याकि अव्ययकृदभिहितभाव सायम्बभाव सा ही जान पड़ता
ह न कि तिङस्वभाव सा। उस क्रिया की तरह माना जाता है द्रव्य की तरह नहीं।
अतः उससे साथ लिङ सम्बन्ध आदि का योग नहीं होता। क्रियावत् मान जाने के कारण
ही उससे कृत्वमुच जस प्रत्यय देख जात है जबकि घञादि अभिहितभाव से कृत्वमुच्
प्रयय नहीं होत। शायिनप्यम भवता त्रि भुवन दक्तेन द्वि भुवनवा गतं जम
प्रयोग देख जाते है परतु द्वि पाक जम प्रयोग नहा होत। महाभाष्यकार पञ्चकृत्व
पचति इम वाक्य का तो उचित समझत है परतु पञ्चकृत्व पाक इसका प्रयोग
पसद नहा करत है। कुछ लोग घञान्त आदि के प्रयोग क साथ भी कृत्वमुच् प्रत्यय का
प्रयोग उचित समझत है। स्वय पाणिनि ने द्विवचनऽचि १।१।१६। म द्विवचन ग द का
प्रयोग किया है। द्विरावति द्वि प्रयोगाद्विवचनम जैस प्रयोग दखे ही जात हैं।

कृदभिहितभाव का मर्या के साथ सम्बन्ध होता है तिङभिहितभाव का सरथा
म याग नहीं माना जाता। यद्यपि मर्या आख्याताथ है फिर भी क्रिया नि सग्य मानी
जाती है। पचति, पचन पचति आदि म जो मर्या की प्रतीति हानी है वह साधन
भतसंख्या की होती है पचति अथात पाक क्रिया का कत्ता एक है आदि। अन क्रिया
नि सग्य हाने क कारण एक मानी जाती है। आख्यात वाच्य क्रिया मवत्र भेद रहित
ही प्रतीत हानी है। भवदाभि आस्थनाम जस पाक्या म कल भेद से वस्तु स्थिति क
कारण भेद होत हुए भा तित्त से भेद की प्रतीति नहा हानी। एक क्रिया की भी
जत्र आवति की जाती है उसम आवति निवधन भेद सख्या स सम्प्रदा हाता है उस
मर्या का अनुभव हाता है। इसी कारण कृत्वमुच आदि आवति छातक प्रयया की
उपति भी उससे हाती है। तलाराज क अनुसार अत्यन्तभेद अथवा अत्यन्त अभेद मे
आवति सम्भव नहा है। जहाँ भेद और अभेद दाना हा वही आवति हानी है।^{२०}
फिर भी क्रिया म स्वतः सख्या याग नहीं हाता। क्यट क अनुसार भी प्रकप (जम
पचति तराम) और अम्यावति (जम द्वि पचति) क्रिया के एकत्व क वाधन नहीं
होत। क्याकि वे आश्रय क प्रकप अथवा अम्यावति क भेद क निमित्त होत है।

प्रकर्षाम्यावत्यादयस्तु भेदनिवधना आश्रयप्रकर्षाम्यावत्यादिभेदनिमित्ता
नकत्व क्रियाया विधन्ति त।^{२१}

जहाँ क्रियापथकत्व है वहा भी क्रिया म सख्या नहीं हाता। पञ्चधा गच्छति
म एक ही गमन क्रिया का पाँच प्रकार स हाता निम्नित है। उस सम्बन्ध म पाणिनि

२० बावयपत्नीय ३, क्रियासमु १।६१ टीका पृ० ४०। त्र म म करण।

२३ मर्यानायप्रदाय १।२।६४ १७ ११३

पडता है उन्हीं में भविष्यो म उपमानोपमेय भाव सम्भव है । जगत् वाक्य नीजिय--

इयं नु रग्ग ग ता या एव पातो निष्पाति

यह वाक्य गृहचर्मी 'ग' इग तरह ग 'ग' होन रही है (अर्थात् विनाशक कारण न पहुच सकगी) 'म' वाक्य म भविष्यत्कालात् य क अथ म अनन्ततन्मात्रात् का प्रयोग हुआ है । वातिवन्तार के मत म यहा उपमानोपमेयभाव है वातप्रत्यय क आकार पर अर्थात् व गता एव गन्ता क रूप म हमारी व्याख्या करत हैं । महाभाष्यकार क अनुसार तिष्ठत क साथ उपमान सम्भव नहीं है अन्त व अनन्ततन् इव अनन्ततन् क अकार पर इस समझात है । गमन म लोपकाल क लान का सम्भावना मान कर भविष्यत सागार्य क अक्षर पर अनन्ततन् का प्रयोग हुआ है । यहा भविष्यत्काल अनन्ततन्काल क सदा है यह तोपय है । महाभाष्यकार क अनुसरण पर भन्त हरि भी त्रिषाद्यो म उपमानोपमेय भाव नये मानत ।^{२९}

पूर्वकालिक क्रिया

यद्यपि पूर्वकाल क अथ म वर्तमान धातु म भाव म वर्तवा प्रत्यय का विधान होता है फिर भी धातु सम्बन्ध क बल से वाक्याथ क अनुप्राणन क रूप म वर्तवान्नाथ की पतीति होती है । उदाहरण क लिए--

(१) पूर्व आसव पिबति ततो गायति

(२) आसव पीत्वा गायति

इन दो वाक्यों म पूर्व क वाक्य म जमा पीवपिब भलकता है टीक वसा ही दूसर वाक्य से नहीं भलकता । अपितु दूसर वाक्य म पीत्वा 'ग' क बल से आसवपान प्रधान वाक्याथ के अनुप्राणन क रूप म सामन आता है । स्नात्वा भवतवा पीत्वा ब्रजति जस वाक्यो म भी ब्रज क्रिया के प्रति स्नान भोजन आदि क्रियाया की पीवकालिक सत्ता है । साथ ही आरशात् वाच्य क्रिया के विरोध्य होने क कारण ब्रज क्रिया के प्रति स्नानादि क्रियाएँ विशेषण है फलतः उनम परस्पर असम्बन्ध है जसा कि 'याय है गुणानाम्च पराधत्वा असम्बन्ध सम्भवात् । अर्थात् प्रधानक्रिया म अवयव यदि सम्भव है गुणभूत क्रिया म अवयव करना उचित नहीं है । क्वा प्रत्यय से पीवकाल्य के द्योत्य होता क कारण मुख्य व्यादाय स्वपिति इस वाक्य म यादाय 'ग' द का प्रयोग कहा तक उचित माना जायगा । यद्यपि मुख का खिलना सोने की क्रिया क बाद म होता है वह पूर्वकालिक व्यापार नहीं है । बार्तिककार का ध्यान इस पर गया था और उहाने 'सकी निद्रि उपमायान क वन्त पर करती चाही । परन्तु उहाने स्वयं यह भी सुभाव दिया कि क्षणभर भी मुख खोल कर मन्त्रि कोई सोता है तो सोने की क्रिया के पूर्व ही मुख खोलने की क्रिया घटित होती है । अतः यहा भी पूर्वकालता है । कयट क मत म यद्यपि स्वप्नगण

पहन है और मुख्यतः कल का म घोंटा जाता है फिर भी दूसरा स्वप्न त्रिया म
(प्रथमस्वप्नपाना क का जो माती ॥ की त्रिया जाती है) पहन जाता है (यद्यपि
स्वप्नपाना की शशनात पूर्वज्ञातता तथापि व्यापारतरावित्यन्तक्रियास्य व्यापारस्य
पूर्वज्ञातत्वमस्ति) ।^{१३}

पतनवा घातन भुक्ता श्वेत

पतनवा घातन भुज्यत दशत्तन

इन ज्ञाना वाक्या म पतनवा प्रत्यय द्वारा कता और तम क अनभिधान ज्ञान पर भी
द्वितीया और तनाया विभक्तिया पात्र की प्रयत्ना म जाती होती । यथार्थ घातन
का य त्रिया विगम्य ज्ञान क कारण प्रधान होती है । विगम्यभूतत्रिया प्रप्रधान होती
है । इसी आधार पर उन त्रियाका क साधक शक्तिता म भी गुण प्रधानभाव जाता है ।
प्रधान शक्ति क अनिधान म गुणत्रियागति अभिहित क रूप म प्रयत्न होती है । प्रधान
का मुख्याभी गुण जाता है उसका विरुद्ध नहीं बन सकता ।^{१४} परन्तु हरन्त त अनु
सार एक बार ही गुण जान जान का एक ही मायता त मायमध्य नही हो जाता ।
अनिल प्रधान क मायता प्रत्य और प्रत्य क माय माय प्रत्य मान जाता गहिण
(पद्मजरी ३।६।२८ पृष्ठ ७०८) । परन्तु नागन न हरन्त की उक्ति का मुक्तिमगत
नही माना है । हरन्त क मन क मान नेन पर आमाय गनु इच्छति प्रयाग ममन
हो सकता । ग्राम म चतुर्थी न हो सकती । परन्तु महाभाष्यकार न स्वयं त्रिया प्रयाग
मन् मूत्रम्य भाष्य म किया है (महाभाष्यप्रत्यापाद्यान २।६।२६ पृष्ठ ३१०) । नागन
न कयट के शुध प्रतिहन्तु शक्यम इम प्रयाग की भी आलाचना की है । यहा यह जान
लना चाहिय कि भाष्यकार न शक्य चानने श्रुत प्रतिहन्तु वाक्य का प्रयाग त्रिया
है । सामान्यतौर पर श्रुत क स्त्रीलिंग ज्ञान क कारण शक्य का प्रयोग जाना चाहिये ।
कयट न निम्नलिखित तीना तरह क प्रयाग का उपपत्ति समझाई है—

- (१) शक्य चानेन श्रुत प्रतिहन्तुम्
- (२) शक्य चानेन श्रुत प्रतिहन्तुम्
- (३) शक्य चानेन शुध प्रतिह तुम् ।

—महाभाष्यप्रतीप पस्पताह्निक पष्ठ ५७, गुप्प्रसाद शास्त्री सम्पादित ।

१३ महाभाष्यप्रत्या २।६।२१ पृष्ठ ३६६, गुप्प्रसाद शास्त्री द्वारा संपादित ।

१४ इस सन्ध्या म पाद्य क देवाकरणा म दिवादि था । उपर्युक्त मत कयट का है जो महाभाष्य का
निम्नलिखित कारिकाओं पर आधारित है—

प्रमानेतरयो यत्र द्रव्यस्य त्रियस्य पृथक् ।

शक्ति गुणादयस्तत्र प्रधानमनुवर्तयते ॥

प्रधानविषया शक्ति प्रयत्नामिवायते ।

यत्ता गुणे तत्ता तदनुवर्तयते प्रतीयते ।

तत्स्थानक्रिया

पहले कहा जा चुका है कि अपारिस्पन्दसाधनसाध्य धात्वर्थ का भाव कहते हैं और अपारिस्पन्दसाधनसाध्य को क्रिया कहते हैं। परन्तु इस भेद का ध्यान में न रखकर सामान्यरूप से तत्स्थान क्रिया का विचार किया जाता है। स्वयं पाणिनि ने लगण हटवा क्रियाया (२।२।१२६) और यस्य च भावनभावलक्षणम् (२।३।३७) नाम सूत्रों में क्रिया और भाव में अभेद माना है। तत्स्थान क्रिया कहा जाता है जहाँ क्रियावृत्तविशेष कभी कत्ता में और कभी कम में दिखाई देता है। इस आधार पर क्रिया भी कभी कत्तस्था और कभी कमस्था होती है। यद्यपि ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिससे कत्त गन विशेषता कुछ न कुछ लक्षित न हो फिर भी प्राधान्य के कारण व्यपदेश होता है। इस उक्ति के आधार पर कत्तस्था और कमस्था क्रिया कहते हैं। गच्छति धावति हसति आति में क्रियावृत्त विशेष कत्ता में दिखाई देता है। चलना, दौड़ना हसना ये सब व्यापार उसी में दिखाई पड़ते हैं। गाम अवहगदि क् करोति जैसे वाक्यों में क्रिया कमस्था है क्योंकि क्रियावृत्तविशेषताएँ गाय और क् में लक्ष्य पड़ती हैं। नागेश के अनुसार जिस वातु के द्वारा कत्त कमसाधारण फल गन्त से प्रतिपादित होता है वह कत्त स्थभावक है। जैसे पश्यति गच्छति आति में। पश्यति में विषयता और समवाय के आधार पर ज्ञान उभयनिष्ठ है। गच्छति में भी समीप उभयनिष्ठ है। जहाँ वातु से कत्ता में न रहने वाला धर्मरूपफल शब्द द्वारा प्रतिपादित होता है वहाँ क्रिया कमस्थभावक है। जैसे भित्ति आदि में।^{१८} कभी कभी क्रिया कत्तस्था और कमस्था दोनों जान पड़ती है। चत्राय रोचत मोक्क' इस वाक्य में मोक्क प्रीणयिता है और चत्र अभिलाषवान् होने के कारण कम है। अतः क्रिया का यहाँ कमस्था ही कहना चाहिए। परन्तु रोचत क्रिया अपने विषयक अभिलाष उसमें पदा करती है। इसलिए विषयविषयभाव सम्बन्ध के आधार पर रुचित के अभिलाष ही प्राधान्यरूप में प्रकट होता है। रोचत क्रिया अपने कत्ता को अप्रधान सा करती है और अपने प्रयोजक व्यापार को भी गौण रूप देती है फलतः यहाँ संप्रदान सज्ञा होती है। सम्बन्ध सम्बन्धि भाव की दृष्टि से भी चत्र अभिलाषा करने में कत्ता है इसलिए क्रिया कत्तस्था भी है। हलाराज के अनुसार तस्यै स्वयमेव प्रयोग नही होना चाहिए। वह क्रिया व्यवस्था का गन्त के आधार पर विचार करने वाले पक्ष का समर्थन करते हुए जान पड़ते हैं। क्वचन विपदगत के आधार पर यदि क्रिया व्यवस्था की जायगी तो कुछ कठिनाई पड़ सकती है। पक्ष जैसी क्रियाएँ कमस्थभावक हैं। परन्तु पक्षान की क्रिया में कत्ता में भी परिश्रम आदि देखे जाते हैं, वे भी क्रियावृत्तविशेष किसी-न किसी रूप में ही। अतः शब्द के द्वारा विषय का उपनिषि का स्वीकार कर क्रिया व्यवस्था करनी चाहिए। गन्त प्रमाणका के लिए गन्त का आशय ही उपयुक्त है। सम्बुद्ध जमा कि ऊपर लिखा जा चुका है प्राधान्य धन व्यपदेशा भवति के आधार पर

क्रिया विनोप दशन के आधार पर तत्स्या क्रिया की व्यवस्था की जा सकती है । भट्ट-हरि न दोना पथा का निर्देश कर दिया है—

विनोपदशन यत्र क्रिया तत्र व्यवस्थिता ।

क्रिया-व्यवस्था त्वयेषां गन्दरेव प्रकाश्यते ॥

—वाक्यपदीय, ३ साधन समुद्देश ६६ ।

क्रिया का सकर्मक-अकर्मक रूप

क्रिया का सकर्मक और अकर्मक रूप भी क्रिया के स्वरूप से प्रभावित है और दशन भेद स यहा भी विभिन्न प्रकार के विचार हैं । तत्स्या क्रिया के विचार के समय स्पष्ट किया जा चुका है कि क्रिया स क्रियाकृतविशेष का आभास होता है । एक तरह से प्रत्यक्ष क्रिया किसी न किसी ईप्सा का द्योतक है उससे किसी-न किसी भाव का अवगमन होता है । हम दृष्टि में सभी क्रियाएँ सकर्मक ही होनी चाहियें । फिर भी व्याकरण शास्त्र में सकर्मक अकर्मक का विवेचन है । क्योंकि क्रिया की ईप्सा होन पर भी प्रत्यक्ष क्रिया स बाह्य विषय की सम्भावना नहीं व्यक्त होती । कुछ क्रियाएँ कर्ता में ही विश्रान्त देखी जाती हैं व किसी बाह्यभाव की अपेक्षा नहीं रखती । जैसे, शान्त गेत आदि । गयन पूरा रूप से कृत विश्रान्तलक्षण है । शयन करता है इस अर्थ में सोने की भावना का परवसान देखा जाता है शयन की भावना का 'भाव्य' गयन ही है । इसलिए किम (क्या) जस प्रश्न नहीं पूछे जाने जो वस्तुतः बाह्यभाव विषयक है । कुछ ऐसी क्रियाएँ होती हैं जो बाह्यभावा की अपेक्षा रखती हैं जिनमें बाह्य निष्ठ भावना होती है । जैसे, पचति आदि । इस तरह की क्रियाया का उत्तर बाह्यभावविषयक प्रश्न किम (क्या) स मिल जाता है । जस क्या पका रहा है प्रश्न का उत्तर ओन्न है जो बाह्यभाव है । इन दो तरह की क्रियाया में बाह्यभाव की अपेक्षा न रखने वाली क्रिया अकर्मक और बाह्यभाव की अपेक्षा रखने वाली क्रिया सकर्मक मानी जाती है ।

वाकरण दशन में भावना और क्रिया में कुछ भेद माना जाता है और वह यह है कि भावना सदा सकर्मक ही होती है जब कि क्रिया सकर्मक भी होती है और अकर्मक भी होती है । फिर भी साध्य रूप दोनों में समान है और साधारण तौर पर भावना और क्रिया गन्द पथाय क रूप में प्रायः प्रयुक्त हाते हैं

भावना सकर्मिकव अकर्मिकापि क्रियेति सत्यपि भेदे साध्यत्वाविशेषाद अभेद एवानयो । यथा धात्वर्थभूता क्रिया साध्यरूपव तथा भावनापीति कथम वातरभेदाद भेदोऽनयो भवत । —पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

हलाराज ने भी भावना और क्रिया में जरा सा भेद माना है—

यद्यपीह दशने भावना धात्वर्थ एव तथापि फलपयतासौ क्त व्यापाररूपा दीघत्तरावयवक्रियामाग्रात पृथग व्यवहारसज्ञा ।

—साधन समुद्देश ८६, पृष्ठ २३४ ।

परन्तु यहाँ भावना और क्रिया में अन्तर मान कर ही सक्रमक अक्रमक का विचार किया जा रहा है।

महाभाष्यकार ने कम की व्याख्या क्रियाकृतविशेष के आधार पर की थी (यत्र कश्चित् क्रियाकृतो विनाय उपजायते नानाथ्यं वर्मतेति)। इस के प्राकृतकर्म (स्वाभाविक) कम समझने थे। परन्तु स्वाभाविक कम को क्रियाकृतविशेष के रूप में लेने पर अन्तित्य पश्यति हिमवान् शृणोति जैसे वाक्यों में कम की सत्ता सिद्ध करना कठिन होगा। क्योंकि सूय को दखने आदि की क्रिया में कोई क्रियाकृतविशेष सूय में नहीं लिखाई देता है। प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा हम सूय में दशनक्रिया के कारण कोई विकार नहीं समझ पाते हैं। कुछ लोग आदित्य का दशन क्रिया का ईप्सिततम होना ही क्रियाकृतविशेष कहा मानते हैं और अन्तित्य का कम समझने हैं और क्रियाकृतविशेष के आधार पर सक्रमक अक्रमक का विभाग किया जा सकता है ऐसा स्वीकार करते हैं।

महाभाष्यकार का यह भी मायता जान पड़ती है कि काल, भाव आदि की सक्रम सत्ता होने के कारण कोई भा धातु अक्रमक नहीं है, काल आदि के कारण सभी सक्रमक हैं। परन्तु स्त्रीकार करने में भी सक्रमक अक्रमक का विभाग अनुपपन्न हो जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि अविवक्षा के आधार पर अक्रमक धातु माने जा सकेंगे। जब उनका व्यवहार कम की विवक्षा किय बिना ही होगा वे अक्रमक माने जायेंगे। परन्तु अविवक्षा के आधार पर तो पच् आदि भी अक्रमक कहा जा सकते हैं। इसलिए, कथं के अनुसार जिस धातु के कम कभी सम्भव ही न हो अक्रमक पद में उन्हीं का ग्रहण होना चाहिए। पाणिनि ने गतिबुद्धि १।४।५२ सूत्र में अक्रमक शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। अक्रमक शब्द से अर्थ पलाय प्रधान के चल पर धातु का ग्रहण होना चाहिए न कि धातु के अर्थ का। अर्थ का आशय लेने पर कम की अविवक्षा होने पर अर्थ का नाम भी अक्रमक पड़ने लगता। धातु को अक्रमक मानने पर पच् आदि अक्रमक नहीं कहे जा सकेंगे। क्योंकि एक बार भी जो धातु कम के सहित देखा गया रहेगा उस प्रत्यभिज्ञा अथवा सादृश्य प्रतिपत्ति के आधार पर अविवक्षा दशा में भी सक्रमक कहा जा सकेगा। अर्थ तो कारकभेद में भिन्न भिन्न होता है इसलिए सक्रमक अर्थ और अक्रमक अर्थ हाग। यदि अर्थ में भी स्वतन्त्र भेद नहीं होता इस सिद्धान्त को माना जायगा तब अर्थ में अर्थ पलाय के रूप में बोध समझना चाहिए।

अर्थास्तु कारकभेदाद मिना एवेत्यये सक्रमका अर्थ एवाक्रमका इति न्याय व्यपदेशः। यत् त्वयस्यापि नास्ति स्वतो भेद इति हान तदायैत्वप्ययपदा यैवदोषः।

—महाभाष्यप्रतीक १।४।२ पृष्ठ ४०१

कुछ लोग के अनुसार अक्रमक क्रिया उस कृत्त जहाँ पच् और व्यापार एक निष्ठ हो जाता है। जहाँ पच् और व्यापार एकनिष्ठ न होकर अलग अलग आधार बान हो वहाँ क्रिया को सक्रमक समझना चाहिए। व्याकरणभूषणकार का यहाँ मत है। इस मत में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। ग्रामान जानानि कम वाक्य में जानानि

क्रिया का फल और व्यापार एकरूप है, फलतः इसे अकर्मक होना चाहिए परन्तु यह सकर्मक है। कुछ लोग इसका समाधान महाभाष्यकार के दो आत्मा वाले कथन के आधार पर करते हैं। महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है आत्मा दो हैं। अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा के क्रिया कलाप से शरीरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है और शरीर की क्रियाओं से अन्तरात्मा सुख-दुःख का अनुभव करती है।^{३०} आत्मान जानाति म फल और व्यापार के आधार दो आत्माओं के अलग अलग हो जान से सकर्मकत्व अक्षुण्ण रहेगा।

कुछ लोग के अनुसार जब घात्वथ साप्तात और अव्यभिचारित रूप में कम का भागी होता है उस घातु को सकर्मक कहते हैं। यदि साप्तात न होकर परम्परया कम का भागी होता है वह क्रिया अकर्मक होती है। इस मत में अयो-याश्रय दोष-सा आ जाता है। कम के निरूपण के बाद ही सकर्मक का विचार होगा और सकर्मक होने पर ही कम का निरूपण होगा। यही अयो-याश्रय है।

कुछ लोग मानते हैं कि जिस क्रिया के उच्चारण में कम की आकाशा हाती है वह सकर्मक है जहाँ आकाशा नहीं हाती वह अकर्मक है। परन्तु यह मत भी निर्दोष नहीं माना जाता है। आता है (गच्छति), गिरता है (पतति) जसी क्रियाओं में कम की आकाशा नहीं देखी जाती फिर भी ये क्रियाएँ सकर्मक हैं। पतति क्रिया के सकर्मक होने में प्रमाण पतित शब्द के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान ही है जो द्वितीयाश्रितातीतपतित० २।१।४ सूत्र से सिद्ध है।

नागेन न सकर्मक अकर्मक को साथक शब्द माना है। उनके अनुसार व्याकरण शास्त्र से संपादित कम सत्ता में युक्त घातु सकर्मक है और उससे रहित अकर्मक है। इस आधार पर ही अध्यासिता भूमय जमे प्रमाण संभव हो पाते हैं।^{३१}

वस्तुतः सकर्मक अकर्मक सापक्ष गद्य हैं और एक दूसरे के स्वरूप धारण करते रहते हैं। बाह्यकर्म के सदभाव हात हुए भी क्रिया अकर्मक हो सकती है और किसी कम के न रहने पर भी क्रिया सकर्मक कही जा सकती है।

भट्ट हरि न बाह्यकर्म के सदभाव हात हुए भी क्रिया के अकर्मक कहे जान के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

- (१) घातु के प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त अर्थ अर्थ का अभिधान
- (२) घात्वथक्रिया में कम का अन्तर्भाव,
- (३) प्रसिद्धि
- (४) अविवक्षा।

३० महाभाष्य ३।१।८७ पृष्ठ १५६

३१ वैयाकरणभूषणम्बर की टीका पाणिनी में उद्धृत पृष्ठ ३२४

जब धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ में व्यवहृत होता है, सक्रमक होता हुआ भी कभी कभी अक्रमक हो जाता है। जैसे 'भाग वहति' इस वाक्य में वहति (ढोता है) सक्रमक है। परंतु वहने के अर्थ में वह अक्रमक हो जाता है जैसे नदी वहति। वहने में जो जल का प्रवाह प्रतीत होता है वह नद्यात्मक जल स भिन्न नहीं है।

धातु के अर्थ बदलने में उपसर्ग आदि भी कारण होते हैं। फलतः सक्रमक क्रिया अक्रमक होती रहती है। चरति क्रिया देशान्तरगमन अर्थ में सक्रमक है परंतु उत उपसर्ग के साथ उपर उठने के अर्थ में वह अक्रमक मानी जाती है जैसे वायु उच्चरति, धूम उच्चरति। यहा उच्चरति अक्रमक है।

कभी-कभी आत्मनपद के प्रयोग से भी सक्रमक क्रिया की अक्रमक के रूप में अभिव्यक्ति होती है। जैसे तपति सक्रमक है परंतु उत्तपत अक्रमक हैं। उत्तपत का अर्थ भासित होना है। यावत् भुक्तमुपतिष्ठत, सर्पिषो जायते जैसे वाक्यों में आत्मनपद का प्रयोग क्रिया के अक्रमकत्व का सूचक है।

कभी कभी वाक्य के सामर्थ्य से अक्रमकत्व की अभिव्यक्ति होती है जिस वाक्यवृत्ति में। इसमें वायुलक्षणशून्य विशेष के सामर्थ्य से वहने की क्रिया में अक्रमकत्व भासित होता है।

पच्यत आदौ स्वयमेव, भाष्यत वत्स स्वयमेव जैसे स्थला में कर्म के कर्ता के रूप में व्यवहृत होने के कारण अक्रमकत्व की प्रतीति होती है।

धातुव्यक्रिया में जब कर्म का अन्तर्भाव हो गया रहता है तब क्रिया अक्रमक मानी जाती है। जीवति क्रिया में प्राणधारणरूप कर्म अन्तर्हित है इसलिए वह अक्रमक है। इसी तरह अग्रत में प्राणत्यागरूप कर्म छिपा है। अस्ति में आत्मधारणरूप कर्म का अन्तर्भाव है। कर्म का अन्तर्भाव वहां दर्शा जाता है जहां स्व शब्द से उसका निर्देश संभव न हो। पच और भिद जसी क्रियाओं में कर्म का अन्तर्भाव संभव नहीं है। क्योंकि इनके कर्म का स्वशब्द से उल्लेख संभव है जिस पचति पाचयम भिदति भेद्यम। जहां अन्तर्भाव हाथा स्वशब्द से निर्देश संभव नहीं हाथा जग जीवति जीवति जिस प्रयोग नहीं दर्श जाते।

कभी कभी व्याकरण सम्बन्धी अवस्थान व्यवस्था के कारण उनका भी अन्तर्भाव मान लिया जाता है जिस स्वस्वर निर्धारमाण होने हैं, उस पुत्रायति में पुत्र कर्म का अन्तर्भाव है। वस्तुतः यहां पुत्र कर्म क्रिया के भीतर अन्तर्हित है कर्तृ प्रक्रिया निश्चित के लिए पुत्र इच्छति इस तरह का विग्रह किया जाता है। ऐसे स्थला में भी कभी-कभी पुत्र उपमा के रूप में सामान आता है इसलिए उसका अन्तर्भाव नहीं माना जाता फिर क्रिया सक्रमक ही होती है जिस पुत्रायति छात्रम्।

कभी-कभी सामान्य कर्म के अन्तर्भाव होने हुए भी विशेषकर्म के द्वारा अन्तर्भाव अप्रत्यक्ष बना रहता है। जैसे मृष्यति माणवकर्म। मिश्रयति मिश्रान् आति। कभी-कभी विशेषकर्म अन्तर्भाव रहता है जिस धूमायत रामायत आति में।

व सक्रमक क्रियाएँ भी अक्रमक के रूप में प्रयुक्त होती हैं जिसका कर्म संप्र

अव्यभिचरित रूप में उनके साथ दृष्टिगोचर होता है। जस, वपति। वपण की त्रिया में देव की कर्ता के रूप में और जल की कम के रूप में प्रतीति स्वभावतः हा जाती है। इसलिए कम यहा अन्तर्हित-सा है। फलतः वपति अक्रमक है। अक्रमक मान कर ही वपटा देव जैसे प्रयोग निष्पन्न होते हैं यहा कर्ता के अर्थ में वन प्रत्यय अक्रमकत्व के आशय से हुआ है। परन्तु जब कम प्रसिद्ध नहीं होता वपति त्रिया सक्रमक मानी जाती है जस स्थिर वपति लाजान वपति आदि। उत्पल वपट में कम में वन प्रत्यय हुआ है।

प्रसिद्धि के कारण सक्रमक त्रिया के जो अक्रमक रूप हात हैं उनमें भी देव, काल आदि के भेद से अन्तर भेद पाये जाते हैं। जैसे दक्षिणापथ में यदि दापहर के के पढ़ने पच्यताम् कहा जाता था तो इसका तात्पर्य यवागू हाता था। परन्तु यदि दापहर के वान पच्यताम् कहा जाता था तो उसका अभिप्राय आदन होता था। यवागू और आदन रूपी कम दश और काल के आधार पर समझ लिये जाते थे।

त्रिया के स्वरूपसामर्थ्य के बल से कभी प्रसिद्ध कम प्रतीत होता है नस केवल वपति से जल रूप कम की प्रतीति हा जाती है। कभी कभी कर्ता के स्वरूपसामर्थ्य के कारण भी कम की भन्व मिल जाती है जैसे सज्जन करोति इस वाक्य में सज्जन शब्द के बल से उपकार रूपी कम की व्यजना हो जाती है। इस तरह प्रसिद्धि के बल से सक्रमक के रूप में अभिव्यक्ति के अपरिमित रूप संभव हैं।

कम के रहत हुए भी यदि त्रिया मात्र के प्रतिगान्ध में तात्पर्य हा कम की वित्तुल ही विवक्षा न हा वहा भी अक्रमकत्व देखा जाता है। न्दाति पचति जुहोति त्रिया सक्रमक है परन्तु यदि ऐसा कहा जाय दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति यहा कम की विवक्षा न होने से इनका प्रयोग अक्रमक रूप में माना जाता है। क्याकि दीक्षित व्यक्ति न देता है न पकाता है न हवन करता है यह कहने समय कवन विशेष त्रियाया के निषेध के प्रति संकेत है न कि किसी कम के प्रति।

अविवक्षा का उद्देश्य भी कभी-कभी कम के सादश्य मात्र के प्रतिपादन से रहता है जस, अनुदने कठ कलापस्थ इस वाक्य में कठ और कलाप का भाषण-सादश्य प्रतिपाद्य है कम की विवक्षा नहीं है। इसी तरह यदि पूछा जाय देवदत्त क्या कर रहा है और यदि इसका उत्तर हा देवदत्त पका रहा है (पचति) अथवा पढ़ रहा है (पठति) तो ऐसे स्थला में भी विशेष कम (कमसम्बन्ध) अविवक्षित ही रहता है। इसी तरह पचति एव ददाति एव जस स्थला में त्रियाप्रबन्ध का अखण्डरूप ही अभिप्रेत रहता है—वह सदा पकता ही है देता ही है कहने में कर्ता का अभिप्राय कम में न होकर त्रिया के द्वारा धन्ति हात वाले स्वरूप से रहता है। अतः ऐसे स्थला में भी कम की अविवक्षा होने में त्रिया अक्रमक मान ली जाती है।

एसी तरह अक्रमक क्रियाएँ भी उपसर्गमयाग अर्थात्तरवृत्ति आदि कारणों से सक्रमक रूप में परिणत हो जाती हैं। भवति त्रिया अक्रमक है परन्तु अनुभवति सक्रमक है। उपसर्ग के योग से वह सक्रमक हो गई है।

मयतिरवमवमव । मयमव मयि य धातव सोपमर्गा सवमव
भवति ।—

—महाभाष्य ३।१।१०३

महा भयति त्रिया प्रातिक् मय म मयमव है—

मयतिरवमव । प्राप्प्रमव सवमवभारित ।

—महाभाष्य ३।१।१०३

पाठ प्रातिक् धाधातु पर मभी त्रियाण मयमव की जा सकता है । मया
ऊपर उल्लेख किया जा चका है ।

त्रिया और उपसग

त्रिया और उपसग का क्या धाता सम्बन्ध है । एतत्तर म उपसग नाम त्रिया म मधुता
हान पर हा पगता है । एत मय यह भी है कि उपसग त्रिया म मयतिरव मला
नही मला । उपसग मतिता पा धातु का रूप है उम ही धातु का स्वल्प मयमना
चाति । चाति म जो उपसगों का विधान है वह मयादात पदति पर है धीर
व्याकरण क नियमों क निर्वाह क तिा है जम मय द्विवचन प्रातिक् । तत् तत् प्राति
तकार म मय मय धातु क पूव परतु उपसग क वा दम जात है । मयि उपसग
मतिता धातु का धातु माना जायगा मय प्राति उपसग क पूव मगने मगने । मय
पास म मयिया निर्वाह क निय उपसग क धातु स पथर हाने का कपता का जानी
है । वस्तुत उपसग मतिता धातु नी धातु है । मयिना मयमवमवत म उपसग क पूव
मय लगा है और मयि मयमवमवत म उपसग मतिता का द्विव हमा है ।^{३३}

सोपमग धातु क मानन स हा धातुपसग क धाधम स हात वाल गु धादि
अतरम मान जात है । उपसग युवन हातर हा त्रिया वारव के साथ मयमव प्राप्त
करती है । मयमव धनुभूतन म वम क अय म लकार हाता है । मयमव मयमवमवमव

३३ महाभाष्यकार क अनुसार मयाम स सम् उपसग है । मैसा कि उमय 'अवर सयामवत
सोपमगनुपतिवनया' (महाभाष्य ३।१।१२) इम वारय मे पट है । भा हरि धा कय
का भी यहा पा है । परत पास सयाम क सम का उपसग पा मानत—यद्यपि सयाम शब्द
सशब्दो नोपमगानथापि सापसगादियय सापसगसम ताक सतिपधो बोय । परतु कैयट क
अनुसार याम मय ही युव करने क अध म है सम् शब्द कवल बोय है । जैम इक् मयणे
इड अ यवने म यवि धीतक है । यति सयाम' को शब्द माना जायगा यहा का पानाय
पा ४६ से परसवग विकल्प स हा हा सवगा । महाभाषका ने सयाम शब्द को नियमार्थक
माना है अथान सयाम यहा नियम करना है कि यदि सापसग धातु स अट प्राति हा तो सयामवत
तो ही हा अय सोपमग धातु स न हा । इसलिये अय सोपमग धातुहा से उपसग क बाद
परतु धातु से पूव अट प्राति हाक है ।

वस्तुत कयत इमा एक (अमयामय) उदाहरण क बल पर स माय नियम बताना
उचित नहा है । या तो इमे अपवा मय लेना चाहिए, अथवा मैसा कि नागेश ने माना है,
सयाम क सम् का उपसग नहा मानना चाहिए ।

यदि इस सूत्र की आवश्यकता नही मानी जानी। नामेग ने इस सूत्र को इसीलिए अनाथ माना है। (एषञ्चाङ्गस्यासद्व्यवायेषीत्यनाथ सूत्रपाठ — महाभाष्यप्रदीपो-द्यो ६।१।१३५)। इसी आधार पर कहा जाता है कि धातु पहले उपसर्ग से जुड़ता है बाद में साधन(कारक) से अविन होता है। (पूव धातु उपसर्गोण युज्यत पश्चात् साधनन)।^{३३} कारका की विशेष प्रवृत्ति का ही क्रिया कहते हैं। उपसर्गयुक्त विशिष्ट क्रिया ही साधन से साथ अथ लाभ के लिये जुड़ती है। विशिष्ट क्रिया साधन(कारक) से साध्य होती है न कि साधन द्वारा लब्ध स्वरूप क्रिया किसी अन्य से विशेषता प्राप्त करती है। यह ठीक है कि साधन से सम्बन्ध के पूर्व क्रिया का विशेषरूप निष्पन्न नहीं होता फिर भी धातु—उपसर्ग के सम्बन्ध का अन्वय मान कर धातु का साधन से सम्बन्ध होता है। वह बुद्धि निरूपित होता है और भावि साधन का मान कर होता है। इसलिए धातु उपसर्ग समुदाय से ही विशिष्ट क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। फलतः 'पूर्व धातु उपसर्गोण युज्यत' इस पक्ष का अधिन महत्त्व देना चाहिए। यदि यह माना जायगा कि धातु का सम्बन्ध पटन साधन से होता है धातु में उपसर्ग से होता है तो उसके लिए इस समझना कठिन हो जायगा कि क्या आन्वयत गुरुणा में क्रिया अव्यय है परन्तु आन्वयत गुरु में स्वयम्भू है।

जो लोग धातु का सम्बन्ध पटन साधन से मानते हैं और धातु में उपसर्ग से मानते हैं उनका तर्क यह है कि साधन से सम्बन्ध होकर क्रिया साध्य स्वरूपवाली बनी जाती है। साधन ही क्रिया का निवर्तक है। जब तक साधन से याग नहीं होगा क्रिया अनिष्पन्न रहेगी फलतः किसी विशेषण की भी आकांक्षा उभरेगी। अतः धातु पटन साधन से सम्बन्ध प्राप्त करता है बाद में उपसर्ग से जुड़ता है —

इह प्रसिद्ध विशेष्यमनेकप्रकार समवे सति दष्टप्रयोगेण शब्देनाभिधीयमान विशेषणविशेष्यभाव परिवर्तते। साध्यत्वाच्चक्रियाया साधनसम्बन्ध निवृत्तिः। तस्मात् प्राक् साधनसम्बन्धानुपजाता क्रिया निरात्मिका द्योतकेनापसर्गेण सह विशेषणविशेष्यसम्बन्धोत्सहते प्रतिपत्तुम्। पूर्व धातु साधनन युज्यते इत्येकेषा दशनम्।

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।१८४ लाहोर संस्करण

क्रिया के साथ उपसर्ग की प्रवृत्तियाँ

क्रिया और उपसर्ग में विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना जाता है और वह अर्थद्वारा ही माना जाता है

अर्थद्वारा केवल तेषां सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावलक्षणः। स चोपसर्गोरेव पर्यादिभिः सम्भवति नाथ।

— वाग १।१।१८

क्रिया के साथ उपसर्ग के संयोग होने पर प्रायः अर्थपरिवर्तन देखा जाता है —

उपसर्गेण धात्वर्थो यत्तादयत्र नीयते ।

गगानतिलमाप्य सागरेण यथात्मसा ॥^{३४}

फिर भी उपसर्ग की कई प्रकार की अवा तत्र प्रवर्तियाँ भी पाई जाती हैं । कुछ का उत्पत्ति नीचे किया जा रहा है ।

असदेहाय उपसर्ग

कभी-कभी असदेहाय उपसर्ग का आशय लिया जाता है । महाभाष्यकार ने लिखा है कि मनायते के म्यान पर सुमनायत दग्निए कहा जाता है कि श्रोता को सदह न हा । केवल मनायत कहने से यह नहा पता चलना कि उसका मन शुभ रूप में हा रहा है अथवा दुःखी हो रहा है

तत्र मनायत इत्युक्ते सदेह स्यात् अभिमवतो सुभवतो उदभवतो, दुभव ताविति । तत्रासदेहायमुपसर्ग प्रयुज्यते ।

(यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि अभिमनस सुमनस उमनस दुमनस आदि का उपसर्ग सहित ही पाठ मिलता है । ये उपसर्ग सहित ही प्रवृत्ति माने गये हैं । इस विषय का लेकर व्याकरण में प्रत्ययार्थ विक्षेपणपक्ष और प्रवृत्त्यर्थविक्षेपणपक्ष रूप में विवाद है । मन शब्द का मु उत दुर, अभि आदि उपसर्गों के साथ यदि समास बना माना जायगा तो वे उपसर्ग प्रत्ययार्थ के विक्षेपण होंगे । मन शब्द यहाँ तद्धान — मनस्वी अर्थ में है । अतः सुमनस का अभिप्राय प्रत्ययार्थविक्षेपण पक्ष में मनस्वी अच्छा (सुष्ठु) होता है अर्थ होता है । जब सु अभि आदि का मन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास माना जायगा, वे उपसर्ग प्रवृत्त्यर्थ के विक्षेपण होंगे ।)

उपसर्ग क्रिया का अर्थान्तर व्यवस्त करता है

उपसर्ग धात्वर्थ के बाधक रूप में भी प्रसिद्ध हैं । तिष्ठति का अर्थ ठहरना है परन्तु प्रनिष्ठते का अर्थ प्रस्थान करना है । उपसर्ग की इस शक्ति के कारण मसृत्त भाषा की क्रियाया का क्षेत्र विस्तृत हो गया है । धातुपाठ में सीमित धातुओं का उत्पत्ति होने हुए भी उपसर्ग के बल से अर्थों में व्यस्त करने की क्षमता आ जान के कारण उनके रूप का विस्तार हो गया है । कभी-कभी उपसर्गों के द्वारा बिल्कुल विराधी अर्थ व्यस्त किया जाता है जस,

पतति (गिरता है)

ददति (देता है)

उत्पतति (उड़ता है)

आन्ददति (स्वीकार करता है)

मलीमसीमाददति न पद्वतिम्

(गुणवत्ता १।५६)

मृजति (रचना करता है)

उत्मृजति (छोड़ता है)

उत्मृष्टसकलव्यापारतया

(कादम्बरी पृ० २४०)

सीदति (हुसी हाता है)

प्रसीदति (प्रसन होता है)।

उपसर्ग धात्वर्थ का अनुगामी होता है

कभी-कभी उपसर्ग धात्वर्थ का अनुवर्तन करता है। जस मूत, प्रमूत। अया गच्छति पर्यागच्छति म अधि और परि उपसर्ग अनर्थक से हैं। इनका प्रयोग केवल स्पष्टायक है। अयति अधीते जैसी त्रियाओ म यह धातु का सहायी है। कुछ लोग इट और इक् धातु को निरर्थक मानते हैं, उपसर्ग के कारण व साधक मान जाते हैं। महाभाष्यकार व अनुसार अधीन म अधि का अर्थ उपरिभाव है अर्थात् अधीन का अर्थ विशिष्टाय युक्त गन्ता का अध्ययन है (ततश्चाधीत इत्यस्य विनिष्ठाथयुक्ताना गङ्गाना पठन विधिपूर्वक करानीत्यर्थ — महाभाष्यप्रतीप १।२।१)।

उपसर्ग की ससाधनत्रियावाचकता

बहुत म प्रत्यय उपसर्गों से किय जाते हैं। ऐसे स्थाना म उपसर्ग साधनसहित त्रिया की अभिव्यक्ति करत है—

त एते उपसर्गोभ्यो विधीयमाना ससाधनाया त्रियाया भविष्यति—महाभाष्य १।२।२८ विगाल, विगकट गन् विउपसर्ग से शालच और शकटच प्रत्यय लगा कर बनाये जाते हैं। विशाल का अर्थ है बड़ी मींग वाला बल। सकट, प्रकट उत्कट आदि शब्द भी उपसर्ग से बनाये गये हैं। इन सब स्थाना पर उपसर्ग साधनत्रियवचन माने जाते हैं।^{१६}

उपसर्ग का क्रिया द्योतकत्व

कुछ आचार्य उपसर्ग को द्योतक मानते हैं। इसका उल्लेख पदाथ विचार के अवसर पर किया जा चुका है। धातु को अनेकाथ मान कर उपसर्ग का द्योतकत्व प्रकट किया जाता है। निष्ठाति का अर्थ गमन भी है प्र उपसर्ग इस गमन का द्योतकमान है। भत-हरि के अनुसार उपसर्ग का द्योतकत्व दो तरह क अनुमान से सिद्ध होता है। सामान्यतो दष्ट से और विरोपतो दष्ट स। प्रपचति म प्र गन्त आदि कर्म का द्योतक दया गया है। इस सामान्य दष्ट के आधार पर सभी प्रशन्त आदि कर्म के द्योतक है प्र उपसर्ग है अत सभी उपसर्ग द्योतक है।

इसी विशेषतो दष्ट अनुमान से भी द्योतकता निश्चित की जाती है। प्र शन्त क समानधमा सभी प्राप्ति हैं। प्र गन्त म द्योतकत्व है। अत सभी उपसर्गों म द्योतकत्व है। इसी तरह धातु भी सामान्यतो दष्ट और विरोपतो दष्ट द्विविध अनुमान

^{१६} कैयट के अनुसार ये सप्त गुण शब्द हैं वदल-युत्पत्ति मात्र उपयुक्त प्रकार से का जाती है—
‘पुष्यनुसारण च्दमुच्यते। गुरुशब्दात्तु विशालात्तथ। साधुत्वारयानाय तु कच्चिदुपायमा-
श्रित्य शुषति क्रियते। यथा प्रतिबोमोनुलोम इति।—महाभाष्य दाप ५।२। ८, पृष्ठ ३६८.

के बल से आकाश है ।^{३७}

भक्त हरि के अनुसार द्योतकत्व भी दो तरह का होता है

(१) अनाविभूताविभाजन और

(२) सहाभिधान

द्योतनमपि द्विविधम् । अनाविभूताविभक्तितम् । अव्युदासप्रसंगे वा प्रकारा-
नरव्युदासेन यस्यचित्प्रधारणम् । तद्वयथा प्रतिष्ठते उत्पुच्छयते अभिमनयायत
इति । तदपि प्रसिद्धाप्रसिद्धाविपुलप्रयोगाणाम् । उपास्ते प्रपद्यति प्रप्रीत
अध्येतोति यथा । सहाभिधानं वा । यावत् गोपायिता ब्रह्मणाधीनं जगुस्तत
इति ।

—वाक्यपदीय हरिवर्ति २।१६५ १६६ लाहौर संस्करण
सप्रकार के अनुसार भी उपसर्ग द्योतक होता है—गद्यान्तरोपग्रहम् तरेण
समवि सन् अन्तर्जनियमो यो भस्ते द्योतका नियमन वाचकतामति
धामताति सप्रकार आह ।—

—वाक्यपदीय २ १८६ हरिवर्ति हस्तलग

उपसर्ग का वाचकत्व

उपसर्ग के सयोग से निया क जा अवा तर अथ जान पड़त है उनक वाचक कुछ
आचार्यों के अनुसार उपसर्ग ह । निष्ठति कहने में स्थिर रहने की अभिव्यक्ति होती
है परन्तु प्रतिष्ठित कहने से चनेन का जो अर्थ भासित होता है वह प्र उपसर्ग के कारण
अतः प्र को विगण अथवा वाचक मान लेना चाहिए । भक्त हरि ने उपसर्ग के वाचकत्व
का निर्णय म वाचका विशायाणाम् कह कर किया है । यद्यपि वाच के वयावरण
उपसर्ग को द्योतक ही मानते हैं परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अच्छी तरह सिद्ध किया
जा सनता है कि उपसर्गों के कभी स्वतन्त्र अर्थ थ । और उनके सावक मानने का
अर्थ ही है उनमें वाचकत्व स्वीकार करना । महाभाष्यकार ने स्वयं कई उपसर्गों के
अर्थों का उल्लेख किया है जो प्रायः निश्चित में दिए हुए अर्थों से मेल खाते हैं । आ-
धाभिमुख्ये वनेत प्र गद आदि कमणि निरय वहिभाव वनेत जसी उक्तिपा
उपसर्गों के साथक होने का संकेत करती हैं । वाद में उनके प्रवहारे प्रतीक के रूप में
होने लगा था । सम उपसर्ग समता सतुलन का प्रतीक था । अभि सामने अथवा प्र-
य का प्रतीक था और अभिनव अथवा भो प्रयुक्त होता था । अम्यना गान (व गाय या
वन जिन पर पदचान न निग नय चिह्न नग हो) में अभि गान अभिनव अथवा प्रयुक्त
है (अभिगानाभिनिवाये वने —यास २।१।१६) ।

३७ वाक्यपदीय २।१७ १ तथा २।१८ पर पुण्यराज का टीका । भक्त हरि ने उपसर्ग में वाचकत्व, द्योतकत्व
और सहाभिधान के माने हैं—सावक व सावक व सहाभिधानकत्वमित्युपसर्गेषु त्रिविधा प्रति-
पत्तिराजाणाम् । तत्रानभिहितार्थमयाराधनं वाचक इति प्रतिपाद्यम् । तत्रैकमर्थमनभिधान-
मभिधानं च वाचकं द्योतकं च । स्वभावात् आनेनैकशक्तिमानमात्रं च स्वाधिक्यं च सहा-
भिधानं च वाचकं—वाक्यपदीय २।११० हरिवर्ति हस्तलग

भत हरि न वत्ति के विषय म उपसर्गों की साथकता कण्ठ खोल कर स्वीकार की है और उह सत्त्वाभिधायी कहा है—

क्रियाया साधने द्र ये प्रादयो ये व्यवस्थिता ।

तेभ्य सत्त्वाभिधायीभ्यो वत्ति स्वार्थे विधीयते ॥

—वाक्यपदीय, वत्तिसमुद्देश ५८३

उद्धत (उत + वत) निवत (नि + वत) इसके स्पष्ट प्रमाण हैं कि उपसर्ग यहा साथक है । जयादित्य ने भी प्रादयो हि वत्तिविषय ससाधना क्रियामाहु — (वागिका ६।२।१६२) कह कर उपयुक्त मायता की पुष्टि की ह ।

बहुत से एम प्रत्यय ह जो उपसर्गों से स्वाथ म हुये है । यह तभी सभव है जब कि उपसर्गों के स्वतंत्र अथ हा । उदाहरण के लिये पाणिनि का यह सूत्र लाजिये अनुकाभिकामौक कर्मिता ५ २।७४

इसम अनुक् (अनु + क) अभिक् (अभि + क) और अभीक् (अभि + इ + क) उपसर्गों से कन प्रत्यय लगा कर बनाय गय है ।

उत्तर उत्तम का उल्लेख पहन किया जा चुका है । भाष्यकार ने इस अयुत्पन्न शब्द होन का सकेत किया ह और कयट ने भी स्पष्ट ही कहा है कि उत गद्वात् तमवेव, नास्ति, अव्युत्पन्न एवतूत्तमगद् स्वभावात् त्रिप्रभतीनामत्यमाह (महाभाष्यप्रदीप ४।१।७८) । परन्तु कोई भी भाषाविज्ञान का विद्यार्थी कयट के मत से सहमत नहा हो सकता । जसा कि उद्धा उद्धती म उन से प्रत्यय हुए है वस ही उत म तर और तम प्रत्यय हुए है । कयट न स्वयं उद्धा म उत को साथक माना ह (उदगतमस्यास्तीति ससाधनक्रियावचनात् उपसर्गान् प्रत्यय — महाभाष्यप्रदीप ४।२।१०८)

यह मायता कि उपसर्ग असम्बद्ध रूप म स्वतंत्र रूप म अथ व्यक्त्त नही करत पूण रूप से ठीक नही है । कविया न स्वतंत्र रूप म भी इनके साथक प्रयोग किय हैं जस—रेखामायमपिक्षुष्णाद आ मनो वत्मन परम (रघुवश १।१७) इसम आ का स्वतंत्र रूप म प्रयोग हुआ है । जसा कि मल्लिनाथ ने कहा है आ और मनु यहा दा गत है (आ मनो । मनुमारम्यइत्यनिविधि । पदद्वय चतत । समासस्य-विभाषितत्वात्) । कुछ गत ता पूण रूप से उपसर्ग म ही बन है और आ न स्वतंत्र गत से जान पडत हैं । जस अणु गत । यास्क के अनुसार अनु उपसर्ग ही अणु गत बन गया है । ^५ धन आतर और मस्त शब्द का उपसर्गों क भीतर समावेश भी उपसर्गों के वाचकत्व का परिचायक है । अभीक्ष्मी उपसर्ग तद्धित प्रत्यय के अथ म भी व्यवहृत जान दस गय है । दुर्गाचाय ने प्रमग द (दुर्मीनी की मतान) गत म प्र का अपत्याधक माना है । ^{३६} प्रस्वण्ड म भी प्र शब्द अपत्याधक है । अभिरूपाधक्यायेया का भाव अभिरूपतमाय कया त्या है अया अभि का प्रयोग यहा तमप अथ म हुआ है ।

धातु और उपसर्ग के सघात में वाचकत्व

कुछ विचारका की यह धारणा है कि उपसर्ग और धातु दोनों मिलकर सघात रूप में अर्थ के वाचक होते हैं। उपसर्गों का अलग निवरण अर्थात् की व्यवस्था के लिए है—

परमायत धातूपसर्गसघात एव नियावाची ल्यगुपदेगस्तु धातूपसर्गयोरदा
दियवत्स्याथ ।*

क्रिया और अव्यय

अव्यय में कुछ विभक्तयथप्रधान होते हैं और कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। जैसे हिरेण पृथक् य नियाप्रधान अव्यय है। क्रिया विशेषण हान के कारण यह क्रिया प्रधान माना जाता है। पृथक् दन्त जसे प्रयोग अवश्य देय जाते हैं इसमें कोई क्रियाप्रधान नहीं है फिर भी इस प्रयोग स्थिति आदि नियापद के आक्षेप की आकाशा रखते हैं। क्रियाप्रधान हान के कारण तथा अव्यय हान के कारण इनका साथ निग और सन्ध्या का योग नहीं होता। क्रिया में तो एकत्व सरया मानी भी जाती है और पचतिरूप में जस प्रयोग में नपुसक लिंग भी देखा जाता है परन्तु क्रिया प्रधान अव्यय के साथ लिंग और सन्ध्या नहीं जुड़ते।

क्रिया और रुद्धि शब्द

रुद्धि-उस शब्द को कहते हैं जिसके विग्रह वाक्य में अव्यय अव्यय प्रतीत होता है और वृत्ति में अव्यय।

‘येषां तु वाक्यप्रप्रमोऽय एवाथ क्रिया सम्बन्धी वृत्तिकमोऽय एव तेषां रुद्धिगदत्वम्।’

—वाक्यपदीय हरिवृत्ति २।३७ लाहौर संस्करण

विग्रह वाक्य और वृत्ति में सादृश्य की कल्पना की जाती है। फिर भी किसी शब्द के विग्रह वाक्य में मवथा अव्यय प्रकट होने लगता है इस ही शब्दों को रुद्धि शब्द कहते हैं। जैसे तलपायिका। इस शब्द का विग्रह तल पिवति (तेल पीता है) के रूप में किया जाता है और इसमें यही अव्यय भवता है परन्तु वस्तुतः तलपायिका रुद्धि शब्द है। तल पीन सन्ध्या काई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए

रुद्धि-म क्रिया का आशय बचल युपत्ति के लिए किया जाता है। गौ शब्द की व्युत्पत्ति गच्छतीति के द्वारा समझाई जाती है। परन्तु यह युपत्ति मात्र है वास्तविकता में इसका हट सम्बन्ध का नहीं है। अतः जा गमन नहीं करती है

उस गाय को भी गो कहते हैं और गमन करने वाली गाड़ी आदि को गौ नहीं कहते हैं।

क्रिया का जो सम्बन्ध रुद्धि-शब्दों के साथ है वही ताच्छीलिक शब्दों के साथ है। ताच्छीलिक भी एक तरह के रुद्धि-शब्द ही हैं। रुद्धि-शब्द में और ताच्छीलिक में केवल यही अंतर है कि रुद्धि-शब्दों में किसी का गति से सम्बन्ध नहीं होता जबकि ताच्छीलिकों में कुछ का गति से सम्बन्ध होता है और कुछ का गति से सम्बन्ध नहीं होता। ताच्छीलिक शब्द भी क्रिया विषयक ताच्छीलिक के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यद्यपि उनमें क्रिया का आवेश नहीं रहता। उनमें कुछ गति से जुड़ते हैं जैसे आगामुक, प्रवपुक। कुछ नहीं जुड़ते। जैसे कामुक। प्रकामुक नहीं होता। व्याघ्र जैसे शब्द उपसर्ग सहित ही रुद्धि-शब्द माने जाते हैं, इनके साथ किसी दूसरे गति की आश्रय-शक्ति नहीं है।

क्रियाम्भावृत्ति

एकवचन तुल्यजातीय क्रियाओं का बार-बार घटित होता अम्भावृत्ति कहलाता है। अम्भावृत्ति क्रिया में ही सम्भव है द्रव्य और गुण में नहीं। क्या-किसी शब्द से प्रतिपाद्य द्रव्य और गुण स्वभाव सिद्ध होने हैं अम्भावृत्ति साध्यस्वभाववाली क्रिया में होती है। कभी-कभी पुनः पुनः दण्डी 'पुनः पुनः स्थूल' जैसे स्थला में द्रव्य और गुण की भी अम्भावृत्ति देखी जाती है परन्तु ऐसे स्थला में भी वस्तुतः सामर्थ्यवश क्रिया की ही अम्भावृत्ति होती है। पुनः-पुनः दण्डी भवति पुनः पुनः स्थूलो भवति इस रूप में क्रियापद का आशेष ऐसे शब्दों में समझना चाहिए।

महाभाष्यकार ने कहा है कि आवृत्ति अम्भावृत्ति नहीं है अपितु अभिमुखी प्रवृत्ति को अम्भावृत्ति कहते हैं।^{४१}

अम्भावृत्ति भिन्न काल की क्रियाओं में होती है (अम्भावृत्तिर्हि भिन्न-कालानां क्रियाणां भवति)।— वास २।४।१७

नित्य, आभीक्ष्ण्य और क्रियासमभिहार—

क्रियाम्भावृत्ति की तरह नित्य और आभीक्ष्ण्य भी क्रिया में सम्बद्ध हैं। बार-बार क्रिया की प्रवृत्ति का आभीक्ष्ण्य कहते हैं। आभीक्ष्ण्य साधारण क्रिया में ही सम्भव है द्रव्य में नहीं। द्रव्य के निष्ठरूप होने में उगम पुनः-पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। नित्य भी आभीक्ष्ण्य का अर्थ रखता है। पाणिनि ने नित्यवीर्ययो ८।१।८ में नित्य शब्द का व्यवहार आभीक्ष्ण्य के अर्थ में किया है। जिस क्रिया को कर्ता प्रधानरूप से लगातार करता है उसे नित्य वृत्त^{४२} है। आभीक्ष्ण्य और नित्य में थोड़ा सा अंतर है। आभीक्ष्ण्य में क्रिया की आवृत्ति प्रतीत होती है जब कि नित्यता में क्रिया का

अविच्छेद जान पड़ता है। जैसे भुत्वा भुक्त्वा प्रजति' इमं कालं म त्रिया क विच्छेद होने पर भी बार-बार खाता है और बार बार जाता है इमं रूप म त्रिया का सावधान प्रतीत होती है। अतः यह प्रामाणिक है। जीवति जीवति रहने म त्रिया का अविच्छेद प्रतीत होता है वह जीता हा है यह प्रथम भागिन हाता है। उगम यह जीकर मरता है प्रथम मर कर जीता है इमं रूप म सावधान नहीं जान पड़ती। व्यक्ति का क्षणिकाल तम अविच्छिन्न रूप म जीवित हाता हा ध्याता होता है।

त्रियाममभिहार त्रिया व बार बार जान का प्रथम उगम सावधान नीय स्वरूप का व्यक्त करता है। त्रियाममभिहार का रूप प्रथम यन्त्र का चानित हाता है—

पीन पुत्र भगवो वा क्रियासमिहार ।—वागिका ३।१।२२

त्रिया की प्रत्येक परिसमाप्ति—

कुछ विवेक त्रियाका की स्वरूप अतः हरि त्रिया के सम्बन्ध म यह भी विचार किया है कि त्रिया का वाक्य म प्रत्येक परिसमाप्ति माना जाय अथवा समुदाय परिसमाप्ति अथवा उभयपरिसमाप्ति। वाक्यपदीय म तीनों तरह के मत उल्लिखित है उनका विवरण समग्र म यहाँ किया जा रहा है।

एक मत यह है कि वाक्यपदीय त्रिया का अवस्थान प्रत्येक से सम्बद्ध है। उस अवस्थान का सामान्यलक्षण त्रि स यस्त त्रिया जाता है। सध एतत्प द्वन्द्व म त्रिया का प्रत्येक म परिसमाप्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए भोजन की त्रिया (भजि त्रिया) को लीजिए। जब कहा जाता है कि ब्राह्मण अथवा एक ब्राह्मण अथवा देवस्तन यन्त्र विष्णुमित्र भाजन कर तो इस वाक्य म ब्राह्मण कत के भाजन त्रिया का प्रत्येक म सम्बन्ध होता है। क्योंकि भोजन त्रिया का फल तृप्ति है और वह प्रत्येक भोक्ता म अलग अलग होती है। भोजन के व्यापार भी जैसे पाद प्रक्षालन आसन पर बैठना दूसरे द्वारा परोसे जाना आदि—प्रत्येक भावता के अलग अलग क्रिय जाते हैं। अथवा प्रत्येक भोक्ता स्वयं इन व्यापारों को करता है। इसलिये फल की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि म भी भाजन त्रिया की परिसमाप्ति प्रत्येक म होती है।

भुजित्रिया नाट्यत्रिया की तरह नहीं है। नाट्यत्रिया अनेक साधन से साध्य है और सब साधनों के सहयोग से फलवती होती है। भोजन त्रिया वही नहीं है। वह तो प्रत्येक कारक (यहा भाक्ता) से निवृत्त है। यह भेद वस्तुगति की दृष्टि से है। वस्तुगति नियत होती है [नियत स्वरूपा हि वस्तुगतयो वदथ त]।^{४०} वस्तु-स्वभाव के कारण हा दीपक की प्रकाश त्रिया एक अधिकरण [आधार] पाकर भी चारा आर प्रकाश फल देती है। परन्तु भोजन त्रिया विभक्त रूप म ही प्रत्येक म तृप्ति फल उत्पन्न करती है।

इस मत का समर्थन शास्त्र में भी किया जा सकता है। व्याकरण का पारिभाषिक वृद्धि 'न' आ 'औ' इनमें म प्रत्यय में परिणमाम्पत्ति माना जाता है अर्थात् प्रत्यय वृद्धि संभव कहा जाता है।^{४३}

क्रिया की समुदायपरिसमाप्ति

एक मत यह भी है कि क्रिया की परिणमाम्पत्ति समुदाय में होती है। यदि यह कहा जाय 'दवन्त, यमदन्त और विष्णुमित्र दग्गे' ता दक्षन की क्रिया दानीय वस्तु में समुदाय में परिणमाम्पत्ति होती है। और दानक्रिया का फल भी युगपत् ही होता है।

जिस क्रिया में भिन्न भिन्न व्यापार विभिन्न वारणा के देखे जाते हैं उसकी परिणमाम्पत्ति समुदाय में सम्मिलितरूप में (संभूय) माननी चाहिए। जम, दवन्त वाष्ठ स्याल्यामोन्त पचति इस वाक्य में वाक्यान्तगत परान की क्रिया में त्वदन्त, वाष्ठ स्याली आदि विभिन्न वारणा का व्यापार भिन्न भिन्न है। कर्ता व भी सदान, प्रायना अध्यवसाय आदि कई व्यापार हैं। उपयुक्त सभी व्यापार मय रूप में पाव क्रिया में साधक मान जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि क्रिया चाह कत स्था हो या कमस्था पचिक्रिया कम में ही समवेत होती है। कुछ लोग मानते हैं कि पचिक्रिया के कम में समवन होने पर भी उसमें अधिश्रयण, उपसजन, विविलत्ति आदि कई व्यापार भी उसके अर्थ के भीतर हैं उन सबके द्वारा पचि क्रिया निष्पन्न होती है अतः उसकी समुदाय में ही परिणमाम्पत्ति माननी चाहिए।

गगा गत दण्डयन्ताम् जम वाक्यों से सी के दण्ड की परिणमाम्पत्ति समुदाय में ही दन्ती जाती है। यहाँ प्रत्यय गग का सी का दण्डन्ता अभिप्रेत नहीं है। यदि यहाँ प्रत्यय में दण्ड की परिणमाम्पत्ति मानी जायगी तो शत के स्थान पर गतानि सस्या का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे वाक्य में विरोध होगा प्रधानकर्म का स्वरूप भ्रम होगा और वाप्ता की भी प्राप्ति नहीं होगी। अतः गगसघ पर ही शत दण्ड समझा जाता है।

शास्त्र में भी वाक्यपदान्वाच्यान—दान के अपनाने पर समुदायपरिसमाप्ति पथ देखा जाता है। समास सज्ञा और अभ्यस्त सना समुदाय की ही होती है।^{४४}

४३ वाक्यपदीय २।२७६ ३८४ आ, पे, औ प्रत्येक वृद्धिसङ्गक है इनमें प्रमाण पाणिनि का संकेत है। प्रत्ये वृद्धिमकरवादीनाम् ६।२।८७ सूत्र प्रत्ये उत्तरपद रहते पूर्वपद उदात्त करता है कर्क्यादि और वद्ध' को छोड़ कर, मालादाना न् ६।२।८८ यह सूत्र भी प्रत्ये उत्तरपद रहते पूर्वपद को आदि उदात्त करता है। वद्ध' यहाँ पारिभाषिक है ना वृद्धिपश्चाच्चाभादिस्तन्वद्धम् १।१।७३ के अनुसार होता है। अथ आ, ए, आदि को प्रत्येक का वृद्धि सज्ञा नैव होगी तभी मानादि उपयुक्त सूत्र (१।१।७३) से वृद्धि कहे जा सकेंगे—

—पुण्यरत्न वाक्यपदीय २। ८४

४४ वाक्यपदीय २।३८२, २८३, २८४, ३६४।

उभयपरिसमाप्ति

कुछ क्रियाप्राप्त म ऐसा देखा जाता है कि उनकी परिसमाप्ति प्रत्येक म भी और समुदाय म भी एक साथ ही देखी जाती है। जैसे यह कहा जाता है कि वपल को इस मन्त्र म आना मना है ता मठा निषधस्थक्रिया का संबंध वपल स एकाकीरूप म भी होता है और वपलमय के साथ भी होता है। शास्त्र म भी णत्व करने म अटकवग पवग आड नुम आदि का व्यवधान प्रत्येक रूप म और सामूहिकरूप म भी माना जाता है।^{४५}

वस्तुतः वाक्यान्वयक्रिया की परिसमाप्ति कही प्रत्येक म होती है और कही समुदाय म होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल प्रत्येक म ही हो अथवा वाक्य म ही हो —

प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति समुदाय वाक्यपरिसमाप्तिरित्येतत् न राजा सावगान व्यवस्थाप्यते ।—पुण्यराज वाक्यपदीय २।३८५

क्रिया एक अथवा अनेक

क्रियाओं के सम्बन्ध म भक्त हरि ने उनके एकत्व और नानात्व पर भी विचार किया है। भुजि क्रिया एक है अथवा अनेक। एक भी है और अनेक भी है। भोक्ता की तत्पत्ति की दृष्टि स भोजन क्रिया का समारम्भ होता है उहा वह एक ही मानी जायगी। क्याकि तत्पत्तिफल समान है। परन्तु देशभक्त कालभद आदि के कारण एक होने हुए भी अनेक जान पड़ती है। इसका विपरीत कुछ लोग मानत हैं कि भोक्तृभक्त स फलभक्त होता है। इसलिए भोजन क्रिया म भी स्वभावतः भद माना जायगा। उसम यदि भक्त की प्रतीति होती है तो इसलिए होती है कि भोजन व्यापार के पात्र आदि प्रायः एव स भासित हात है। पात्र के भद स उसम एकत्व और स्वभावतः अनेकत्व है। फल की दृष्टि स भी क्रिया म भद जान पड़ता है। कोई स्वयं के लिए यजन करता है बाद पुत्र के लिए कोई धन के लिए। उस पत्र भद स तत्पत्ति यता म भी भक्त आ जाता है और इस कारण क्रिया म अनेकत्व भक्तता है। परन्तु वस्तुतः क्रिया एक है। (एकाहि क्रिया महामाष्य १।२।६४)। आख्यात वाक्य क्रिया सवय भक्त निवर्तनी होती है यही सिद्धांत है। पत्र और साधनभक्त स यजन—क्रिया म भक्त प्रय का तत्पत्ति स भक्त ही अग्रगत हा तत्पत्ति की दृष्टि स वह सत्ता सामान्यरूप म एव है। प्रत्यय या आवृत्ति के कारण क्रिया का एव विघटित नहीं होता। क्रिया के एकत्व की रक्षा के लिए भक्त हरि न क्रिया म व्यक्तिभाग और जातिभाग की कल्पना का है —

व्यक्ति क्रिया व्यक्तिभागरूपकारे प्रवर्तते ।
सामान्यभाग एवास्या व्यवचिन्त्यस्य साधक ॥^{४६}

^{४५} दृष्टय वाक्यपदीय २।३८५-३८६
^{४६} वाक्यपदीय २।६३५

त्रिया का एक व्यक्तिभाग है और एक उसका सामान्यरूप जातिभाग है। समीहित सिद्धि के लिए कभी व्यक्तिरूप में त्रिया प्रवृत्त होती है और कभी जातिरूप में। बाधा विकल्प, समुच्चय, अतिगण, प्रणाम^{४७} आदि में त्रिया व्यक्तिभाग के रूप में प्रवृत्त होती है क्योंकि त्रिया के सामान्यरूप से प्रवृत्ति मानने पर समुच्चय विकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती। अतएव त्रियाग्रा के अध्याहार का समुच्चयवृत्त है। तुल्य बनवानी अविराधी त्रियाग्रा का अध्याहार भी समुच्चय है। जस—देवदत्त भोजय सवणेन सर्पिषा शाकेन च, अथवा—

अहरहनयमानो गामश्च पुरुष पशुम् ।

यधस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुमद ॥

इसमें एक ही नयति त्रिया में गौ अश्व पुरुष आदि का समुच्चय है। ऐसी स्थिति में त्रिया का जातिस्वरूप प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि जाति में समुच्चय सम्भव नहीं है। विकल्प भी तुल्यबल के विरोध में होता है। जस कौण्डिन्य को दधि और तक्र दिया जाय में विकल्प है। यहाँ भी त्रिया व्यक्तिभाग के द्वारा उपकारक है। इसी तरह अतिगण आदि स्थानों में समझना चाहिए। परन्तु लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिये त्रिया जाति रूप में भी प्रवृत्त होती है जस पचति, यजत आदि में त्रिया का सामान्य रूप ही वाक्यांश में अधिक उपयोगी होता है। कालभेद अथवा साधनभेद से त्रिया-भेद की प्रतीति त्रिया के जातिरूप का विघातक नहीं होती।

जहाँ त्रिया विजातीय और विभिन्नपदवाच्य है परन्तु साधन एक ही है वहाँ भी कालभेद से साधन में भेद मानकर त्रिया की प्रत्येक के साथ परिसमाप्ति सिद्ध होती है जस अथा भक्ष्यता भक्ष्यता दीप्यन्ताम् में अथा साधन एक शब्दापात्त है और त्रिया भिन्न जाति वाली और भिन्न शब्दापात्त है फिर प्रतिपत्ति बला में अथा शब्द से बहने गाड़ी की घूरी और जूब की प्रतिपत्ति होने से विभिन्न त्रियाग्रा का इन विभिन्न साधनों में पृथक् पृथक् सम्बन्ध हो जायगा। क्योंकि विभीतक का ही भक्षण होना है न कि शकटाक्ष अथवा त्वनाक्ष का। इसी तरह शकटाक्ष का ही भक्षण होता है न कि विभीतक अथवा दवनाक्ष का। इसीलिये त्रिया का योगपक्ष अवस्था में भी क्रमवाली माना जाता है—

त्रिया तु योगपक्षेऽपि क्रमरूपावुपातिनो^{४८} ।

वस्तुतः क्रम और योगपक्ष शब्दों की शक्तिविशेष हैं जिन्हें क्रम भेदशक्ति और ससग-शक्ति कह सकते हैं। ये शब्दों के अपार हैं जो शब्द से भिन्न से जान पड़ते हैं।

४७ त्रिप्रकाश हि प्रशसाशब्दाः । केचित् जानि शब्दा परार्थे प्रयुज्यमाना प्रशसामाचक्षते यथा मिहादे दत्त इति । कचिद् गुणशब्दाः । गुणगुणिसम्बन्धेन प्रशसा वचना भवन्ति यथा रमणीयो ग्रामः शोभन पात्रक इति । कचिद् रुचिशब्दाः मनल्लिकादयः । तेषां प्रशसैव पदार्थः —
याम २।१।६६

४८ वाक्यपदीय २।४७।

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का गतस्य क्रिया पर प्रयत्नम् है। भूतिः । क्रिया का विचार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्य पर विचारण के प्रारम्भ में वाक्य सम्बन्धी भाषांतर के बिना उचित है। उक्त में पठना आख्यात शब्द है। कुछ विचारों के अनुसार विचारण वाक्य है। अभी अभी एक ही विचारण से वर्तनी और कर्म के प्रयत्न सहित वाक्य दिया जाता है। जगत्पतिः । यपति क्रिया में दत्त वर्तनी का और जन्य का वाक्य ही जाता है। पत्न यपति वाक्य है।^{१५}

वाक्यपरारविषय वाक्यम् । यहाँ आख्यात पत्र में एक विचारण का प्रहण होता है। प्रत्यय वारण विषय तन्नि आख्यात वाक्य है। प्रत्यय सहित जस उक्त पठति। वारण सहित जस आन्त पठति। क्रियाविषयसहित जगत्पत्न पठति। य मय प्रहण अलग और समुच्चिन्मय भी गहीन होता है। प्रत्यय यद्यपि वारण और विषय भी होता है फिर भी प्रपचाय उसका प्रहण यहाँ किया गया है। प्रहण सविशेषण न्तना ही लक्षण पर्याप्त है। प्रहण पत्र से यहाँ क्रिया की प्रधानता लीति है इतिथि दत्त दत्तेन गयितव्यम् भी वाक्य है। यह वाक्य का गतस्वीय लक्षण है। कथं व अनुसार वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थवत्त्वात्क वाक्य साक्षात् चद विभाग स्थान ५ है अर्थात् सानाक्ष एवाय पद समूह को वाक्य कहते हैं। यह भीमासका का मत है जिस कथन लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण-ज्ञान में मान्य नहीं है। प्रय दण्णे हरानेन (यह लाठी है इससे गाया का ल जाओ) आन्त पत्र तव भविष्यति (भोजन बनाया तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जस वाक्य वस्तुतः दो वाक्य माने जाते हैं। कथानि इनमें दो आख्यातपत्र है। इह दो वाक्य मान कर ही वातिककार ने ऐसे स्थानों में निघात आदि के निषेध के लिए समानवाक्ये निघातपुष्पदस्मदादेशा २१ इस वातिक में समानवाक्य गत रखा है। लौकिक अथवा भीमासक वाक्यलक्षण के अनुसार उपयुक्त वाक्यों में एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगी। अतः वातिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वातिककार के इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही व्रजानि देवन्त जसे वाक्य में पाणिनिसूत्र ८।१।१६ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहाँ जान की क्रिया सवोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञन्तविषयक जाने की क्रिया से पृथक् होने के कारण विगिष्ट मानी जानी है फलतः देवदत्त क्रियाविशेषण होने के कारण वाक्य की परिभाषा के भीतर आ जाता है। क्रिया का विषय सामानाधिकरण्य और वधधि करण्य दाना रूपा में देखा जाता है। शोभन करोति सुष्ठु करोति जस वाक्य में क्रिया की सुष्ठु आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिये करोति क्रिया

^{१५} वाक्यपदीय २।३।७

^० भीमासासुत्र २।१।४६ महाभाष्यप्रदीप ८।१।१६

^१ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वातिक

का सुष्ठु शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्त्वभूतक्रिया के विशेषण होन के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपु सक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निवृत्त्य होने के कारण क्रियाविशेषण म क्मत्व भी स्वाभाविक ही है। ब्रजानि देवदत्त म वयधि-करण्य के रूप म विशेषण है। यहा देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमरण करके जान म केवल बिना आमरण के जाने की अपेक्षा आमरणपूर्वक जान वाली क्रिया विलक्षण हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य म सविशेषण है। नागेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः नद्यान्तिष्ठति कूले' मे समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भट्ट हरि न वार्तिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है 'एकतिङ् वाक्यम्'। वार्तिककार के प्रथम वाक्य लक्षण म आख्यात शब्द म एकत्व की अविवक्षा की शका किसी को न हाने पावे इसलिये ही वार्तिककार न 'एक तिङ् वाक्यम् पुन' कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न मान जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि न तिङ्तिट् ८।१।२८ सूत्र मे अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि उनके मत म अनक तिङ् तपद के रहते हुए भी यदि अर्थ साक्षात् है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वार्तिककार और सूत्रकार म यहा मतभेद नहीं है। वार्तिककार का एकतिङ् त्व प्रधानतिङ् त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अतः सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वार्तिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करत और दोना मुनियान् म वाक्यविषयक मतभेद मानत हैं।^{५२} कुछ लोग अनेक त्रिप्रापण वाले वाक्या म भेदाभेद सिद्धात्त को अपनाते हैं। पश्य मृगो याति इस वाक्य म दो तिङ् तपद हाने के कारण यहा वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का यानि पद से और उसका पश्य से योग हाने के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङ् ता तरयुक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुन ।

मृग पश्यत यातीति भेदाभेदो न (च) तिष्ठत ॥^{५३}

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय म वाक्याथ छ प्रकार के विवक्षित ह—सत्तम, प्रयोजन समृद्धि निराकाशपदाथ प्रतिभा और क्रिया। इनम क्रियावाला पथ क्रिया वाक्यार्थवाद क नाम से प्रसिद्ध है। इसके भी फलवाक्यार्थवाद और कमवाक्यार्थवाद नाम के अन्तरभेद होत ह। जो लोग आख्यातपद का वाक्य मानते ह उनके मत म क्रिया ही वाक्यार्थ है। क्रिया के अनुपग से ही पदाथ की प्रतीति हानी है। बिना क्रिया के किमी वस्तु क अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नहीं चलता। जहा एक ही पद निराकार सत्ता का प्रतिपादन हाता है वहा भी है था नहीं हुआ आदि स्थ म अनुभूति हाने पर ही वाक्य की परिसमाप्ति दायी जाती है। अतः एमे स्थला म भी किमी न किमी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्यार्थ हाने क कारण ही एक

आख्यातशब्द वाक्यम्

वाक्य का मुख्य क्रिया पर प्रधानत्व है। भूतकृति क्रिया का निगार वाक्य की दृष्टि से भी किया है। वाक्यपरीय श्रुतिगतान् क आरम्भ में वाक्य सम्बन्धों भाट तरह व विस्तार उल्लिखित है। उनमें से पन्ना आख्यात शब्द है। कुछ निगाराना व अनुगार निगाराना वाक्य हैं। कभी कभी एव ही निगाराना से कहीं और कम व कम सहित बोध दत्ता जाता है। जग यपति ग। यपति क्रिया ग दय रत्ता का और जन कम का बोध हा जाता है। फलत यपति वाक्य है।^{४६}

वाक्यपरारवविपण वाक्यम्। यग आख्यात पत्त एव क्रिया है। एव ह—आख्यात अन्वय कारण विपण सहित आख्यात वाक्य ह। अव्यय सहित जस उच्च पन्ति। वारक गहित जस ओदन पति। क्रियाविपणगति जग गुण्टु पचति। य सब अलग अलग और समुच्चिरूप में भी गहीन होत है। अव्यय यद्यपि वारक और विपण भी हाता ह फिर भी प्रपचाय उत्तरा ग्रहण यहा किया गया ह। अन्वय सहित विपण भी ही लक्षण पर्याप्त ह। अन्वयत पत्त से यहा क्रिया की प्रधानता साति ह इसलिय दव दत्तेन गमितव्यम् भी वाक्य ह। यह वाक्य का शास्त्रीय लक्षण ह। कयत् व अनुगार वाक्य का लौकिक लक्षण अर्थवत्त्वादक वाक्य साकाश चद् विभाग स्यात् ५ है अर्थात् साकाश एकाय पद समूह को वाक्य कहत है। यह मीमांसका का मत है जिस कयत् न लौकिक माना है। यह वाक्यलक्षण व्याकरण भाग में माय नहीं है। अय दण्डा हरानन (यह लाठी है इससे गाया को ले जाओ) ओदन पच तव भविष्यति (भोजन बनाओ तुम्हारा अथवा तुम्हारे स्वामी का होगा) जस वाक्य वस्तुत दो वाक्य माने जाते हैं। क्योंकि इनमें दो आख्यातपत्त है। इहे दो वाक्य मान कर ही वातिककार ने ऐसे स्थानों में निघात आदि के निषध व लिए समानवाक्य निघातपुष्पदस्मदादेशा^{४९} इस वातिक में समानवाक्य शब्द रत्ता है। लौकिक अथवा मीमांसक वाक्यलक्षण के अनुसार उपयुक्त वाक्यों में एक वाक्य होने से निघात आदि की प्राप्ति होने लगगी। अत वातिककार का ही वाक्यलक्षण अधिक उपयुक्त है।

वातिककार क इस वाक्यलक्षण के अनुसार ही ब्रजानि देवदत्त जसे वाक्य में पाणिनिसून ८।१।१६ से निघात सिद्ध होता है। क्योंकि यहा जाने की क्रिया सर्वोध्य देवदत्त के जाने की क्रिया से अथवा यज्ञतत्त्वविषयक जान की क्रिया से पृथक् होने व कारण विशिष्ट मानी जानी है फलत देवदत्त क्रियाविशेषण हान के कारण वाक्य की परिभाषा व भीतर आ जाता है। क्रिया का विपण सामानाधिकरण्य और वयधि करण दाना रूपा में देखा जाता है। शोभन करोति सुष्ठ करोति जसे वाक्यों में क्रिया की सुष्ठ आदि विशेषण युक्त रूप में ही प्रतीति होती है। इसलिय करोति क्रिया

४६ वाक्यपदाय २।३२७

४७ मीमांसासूत्र २।१।४६ मट्टभाष्यप्रदीप ८।१।१६

४८ पाणिनि सूत्र ८।१।१८ पर वातिक

का सुष्ठु, शोभन के साथ सामानाधिकरण्य है। असत्त्वभूतक्रिया के विशेषण होने के कारण ही क्रियाविशेषण सदा नपुंसक लिंग वाले ही होते हैं। क्रिया के निवृत्त्य होने के कारण क्रियाविशेषण में कर्मत्व भी स्वाभाविक ही है। प्रजापति देवदत्त में वयधिकरण्य के रूप में विशेषण है। यहाँ देवदत्त और जाने की क्रिया का सामानाधिकरण्य नहीं है। देवदत्त को आमन्त्रण करके जान में केवल बिना आमन्त्रण के जान की अपेक्षा आमन्त्रणपूर्वक जान वाला क्रिया विनम्रण हो गई है इसलिये आख्यात इस वाक्य में सविशेषण है। नानेश के अनुसार सविशेषण का अर्थ साक्षात् अथवा परम्परा विशेषण सहित है अतः नद्यान्तिष्ठति कूलं में समान वाक्यत्व सिद्ध होता है।

भट्ट हरि ने वातिककार के दूसरे वाक्यलक्षण पर भी विचार किया है और वह है एकतिङ् वाक्यम्। वातिककार के प्रथम वाक्य लक्षण में आख्यात शब्द में एकत्व की अविवक्षा की शका किसी का न होने पावे इसलिये ही वातिककार ने 'एकतिङ् वाक्यम्' पुनः कहा है अर्थात् दो आख्यात वाले वाक्य एक वाक्य न माने जाय यह उनका अभिप्राय है। परन्तु पाणिनि ने तिङतिङ् ८।१।२८ सूत्र में अतिङ् ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि उनके मन में अनेक तिङ्-तत्पद के रहते हुए भी यदि अर्थ साक्षात् है तो एक वाक्य ही मानना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि वातिककार और सूत्रकार में यहाँ मतभेद नहीं है। वातिककार का एकतिङ् त्व प्रधानतिङन्त की अपेक्षा प्रतिपाद्यमान है अतः सूत्रकार के मत के अनुकूल ही वातिककार का भी मत है। परन्तु कुछ लोग इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते और दोनों मुनियों में वाक्यविषयक मतभेद मानते हैं।^{५२} कुछ लोग अनेक क्रियापद वाले वाक्य में भेदाभेद सिद्धांत को अपनाते हैं। पश्य मृगो याति इस वाक्य में दो तिङ्-तत्पद होने के कारण यहाँ वाक्यभेद है साथ ही मृग पद का याति पद से और उमका पश्य से योग होने के कारण एक ही वाक्य है अभेद है—

तिङ् ता तस्युक्तेषु युक्तयुक्तेषु वा पुनः।

मृग पश्यत यातीति भेदाभेदो न (च) तिष्ठत ॥^{५३}

क्रियावाक्यार्थवाद

वाक्यपदीय में वाक्याथ छ प्रकार के विवक्षित हैं—सत्तम प्रयोजन मसृष्टि निराकाशपदार्थ, प्रतिभा और क्रिया। इनमें क्रियावाना पश्य क्रिया वाक्यार्थवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसका भी पश्यवाक्याथवाद और कर्मवाक्याथवाद नाम के अन्तरभेद होते हैं। जो लोग आख्यातपद का वाक्य मानते हैं उनका मत में क्रिया ही वाक्याथ है। क्रिया के अनुपगम ही पदार्थ की प्रतीति होती है। बिना क्रिया के किसी वस्तु का अस्तित्व अथवा नास्तित्व का पता नहीं चलता। जहाँ एक ही पद निराकाश सत्ता का प्रतिपादक होता है वहाँ भी है या नहीं हुआ आदि रूप में अनुभूति होने पर ही वाक्य की परिममाप्ति देखी जाती है। अतः ऐसे स्थलों में भी किसी न किसी रूप में क्रियापद का सम्बन्ध अनिवार्य है। क्रिया वाक्याथ होने के कारण ही एक

क्रिया दूसरी क्रिया से विनिष्ट होती है, फलतः भिन्न होती है। क्रिया के मापार
 और साधन नियत होते हैं इसी से क्रिया में प्रतिष्ठित होता है। यात्रा में निरापणा
 (साधन) के प्रयोग क्रिया के मुख्य रूप के उद्घाटन में गहापण होता है।^{१५}
 जब फल पर अधिक दृष्टि रहती है तब क्रिया का प्रयोजन फल होता है। फल
 एवं क्रिया फल का जगभूत हो जाती है। एक स्थला में ही फलवाक्यायवा का
 सिद्धान्त प्रपनाया जाता है। इस भन्व हरि ने साध्यप्रयुक्ततायङ्गानि फल तस्या
 योजकम् (वाक्यपदीय २।४३४) के रूप में व्यक्त किया है।
 कमवाग्राधवा में भी क्रिया कम के लिये होती है। इस दृष्टि से कम क्रिया
 से प्रधान उद्हरता है —

पचिक्रिया करोमीति कमत्वेनानिधीयते
 पक्ति वरणरूप तु साध्यत्वेनप्रतीयते ॥१५॥

फलवाक्यायवा कमवाग्राधवा और क्रियावाक्यायवा एक ही के विभिन्न
 पहलू हैं। क्रिया मुख्य है। कम क्रिया से ही निष्पन्न होता है और फल तो फल है।
 क्रिया के बिना फलकी सत्ता नहीं है। इसीलिये भन्व हरि ने क्रियावाक्यायवा को
 महत्त्व दिया है।

वस्तुतः भन्व हरि के अनुसार प्रतिभा वाक्याय है। प्रतिभा पर आगे विचार
 किया जायगा। परन्तु वाक्यायरूप प्रतिभा भी क्रियाजित ही है। पुण्यराज ने इसकी
 पुष्टि में निम्नलिखित वाक्यपत्नीय का श्लोक उद्धृत किया है यद्यपि यह श्लोक छप
 वाक्यपत्नीय में नहीं मिलता —
 प्रतिभा यत् प्रभूतार्था (प्रभूत्यर्था) यामनुष्ठानमाश्रितम् ।
 फल प्रसूयेत यत् सा क्रिया वाक्यगोचर ॥

—वाक्यपदीय २।१ की टीका में पुण्यराज द्वारा उद्धृत ।

कालविचार

शक्त्यात्मदेवतापक्षे भिन्न कालस्य दशनम्

—वाक्यपदीय ३ कान्तममुद्देश ६२ ।

आग्यातार्यो म क्रिया क वाद प्रमुख स्थान काल का है । भन हरि न काल पर विचार एक दार्शनिक की भांति किया है । इनके काल सत्र धी अपने स्वतन्त्र विचार हैं जो व्याकरण मन्त्राय म प्रसिद्ध नहीं रह हैं । आगे हम दर्शेंगे कि इनका काल-दशन कश्मीर शैवागम की मायनाग्रा मे मेल खाता है । परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार भन हरि न काल सम्बन्धी उन दार्शनिकवादा का भी वाक्यपदीय मे संकेत किया है जो उनके समय तक प्रसिद्धि पा चुके थे ।

अपने दग म काल सम्बन्धी विचार वैदिक काल म ही प्रारम्भ हो गये थे । यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि ममार परिवर्तनशील है । रात बीतती है । दिन आता है । गरद, हेमन्त आदि वारी वारी से आत जात रहते हैं । ग्रह और नक्षत्र अनवरत गतिशील हैं । कोई भी वस्तु अपने आप म क्षण भर स्थिर नहीं रहती । वह या तो बढ़ती रहती है अथवा घटती रहती है । इस परिवर्तन की अवस्था विज्ञेय के बोध के लिये और अवस्थाग्रा के पूवापरसंबन्ध ज्ञान के लिये किसी न किसी उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा । वह उपाय काल है । वह दिक् ऋषिया न ऋत नाम की एक शक्ति का कल्पना की थी जो भावभौम नियम के रूप म थी ।^१ ऋतावा (वरुण) यह दखन थे कि सूर्य और चन्द्र, नटिया तथा सभी जन यथास्थान यथावसर अपने अपने व्यापार करत हैं । वरुण कालन थे । वे बारह महीना की और उनसे उत्पन्न हान वाले मास (मलमास) का जानते थे —

वेद मासो घतव्रतो द्वादश प्रजावत ।

वेदा य उपजायते ।।^२

१ अत शब्द का सम्बन्ध अवेगता के अश शब्द से है । अवेगता में अश क क रूप मिलत हैं । अश, अशे एश और परत । ऐरत वैदिक अत शब्द का ही रूपांतर है । यह निश्चित सा है कि आयकाल में, जबकि भारतीय आय और इरानी आर्य अलग नहीं हुए थे अत का अत पूण रूप में फैल चुका था । अवेगता के परत ग्रीक वेद के अत दोनों का अर्थ अपरिवर्तनीय शाश्वत नियम है ।

२ शकम्हिता १।२५।८

वत्सर परिवत्सर आदि शब्द तथा भूत भव्य इत्यादि काल मन्त्र छातन गन्त्र
ऋग्वेद म मिलन हैं। काल दशन व वीज भी ऋग्वेद म हैं। यह कहा गया है कि
दश काल आन्ति पुरुष के ही विचार हैं। सूर्य और चन्द्र पुरुष स ही प्रभूत हैं वसन्त
ग्रीष्म शरत् पुरुष की प्रिया है (वसन्तो ऋष्यामीशस्य ग्रीष्म इध्म शरत् हवि) ।^३
काल भी पुरुष ही है

पुरुष एवेद सव यद्भूत यच्च मय्यम ।^४
अथववत् म वात परमदेवता के रूप म स्थित है। काल ही स्रष्टा है। काल
ही भर्ता है। काल म सन कुछ प्रतिष्ठित है। काल स विव का विनाम हुआ है —
काले भूतिमसजत काले तपति सूर्य ।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षु विपश्यति ॥^५

कालादाय समभवन कालाद ब्रह्म तरो दिग ।
कालेनोदेति सूर्य काले निविगते पुन ॥^६
काल व स्वरूप का विचार उपनिषद् म मिलता है। सभी भाव किसी देव
और किसी काल म उत्पन्न होते हैं। अतः काल रचना प्रपञ्च का कारण हो सकता है
कि नहीं इसका विचार विमर्श उपनिषदा म मिलता है —
काल स्वभावो नियति यदच्छा
भूतस्य धोनि पुरुष इति चित्त्वा ।^७

पुराणा म काल व देवता स्वरूप का ही अधिक विवरण है। महाभारत म
काल पञ्चति भूतानि काल सहरत प्रजा आन्ति व रूप म अथववदोमत काल के
अलौकिक महिमा का विवरण पाया जाता है। भग्न हरि न इन सब मता का सकत
गव्या मदेवतापक्ष भिन्न कालस्य दशनम इस वाक्य से किया है और य सब विचार
आगे व काल दशन के विवरण म पीठिका रूप स उपयोगी है।
काल गन्त्र की यु पत्ति जटिल नहीं है फिर भी प्रकारभेद दिया जाता है।
यास्क व अनुसार काल शब्द गत्ययव कालय से निष्पन्न हुआ है—काल कालयते
गति कमण ।^८ पाणिनीय धातुपाठ म कन शब्दस्थानयो कल नपे कल गतो सम्प्यान
च इस रूप मे कल धातु के कई अर्थ उल्लिखित हैं। क्षीरस्वामी ने कलयत्यायु काल
ऐसा कहा है।^९ फिर भी स कला कालयन सर्वा कालाख्य लभत विभु ।^{१०} कालो

३ ऋक्संहिता, पुरुषसूक्त १०।६०

४ कहा १०।६०।२

५ अथर्व संहिता १६।५२।६

६ बृहती १६।५४।१

७ श्वेताश्वतरोपनि द १।२

८ निरुक्त २।२५।१

९ अमरकोश १।१।५६

१० वाजपयदीय ३ कालसमुद्देश १४

५य कलनामक ^{११} 'काल कलयनामह' ^{१२} इत्यादि वाक्या म इसका प्रयोग गति और सग्यान अथ म ही बहुधा देखा जाता है। इसलिये काल शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अथ गति और सग्यान है। काल के विचार मे व्युत्पत्तिलब्ध अथ का भी घाड़ा सा प्रभाव है।

न्याय-वैशेषिक के मत में काल

कानसमुद्देश की प्रथम कारिका म भत हरि ने काल के सम्प्रथ म न्याय-वैशेषिक दशा के मत का उल्लेख किया है। न्यायिक और वैशेषिक काल की वाह्य सत्ता मानते हैं। उनके मत म काल द्रव्य है। काल की सत्ता अनुमान स सिद्ध होती है। पर अपर चिर शिप्र आदि लिगा क द्वारा काल की सत्ता का अनुमान हाना है

काल परापरव्यतिकरयोगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यर्थात्मक । तेषा विषयेषु पूर्व प्रत्ययविलक्षणानामुत्पत्तौ अयनिमित्ताभावात् यदत्र निमित्त स काल ।^{१३}

पर अपर चिर शिप्र आदि का काल आन्तित्य के परिस्पन्द क द्वारा जाना जाना है। केवल आन्तित्यपरिस्पन्द का ही काल इसलिए नहीं कह सकते कि काल युगपदादि काल स भी अनुमय होता है। केवल आदित्य परिवर्तन म युगपदादि काल स का सम्भव नहीं है। वैशेषिक के मत म काल सभी कार्यों का हतु है। नित्य है। विभु है। एक है।

न्यायिका म रघुनाथशिरामणि काल की पृथक् सत्ता अंगीकार नहीं करते। उनके मत म दिक् और काल ईश्वर के अनिरिक्त नहीं है उनका ईश्वर म ही अन्तर्भाव सम्भव है

दिवकालो नेश्वरादनिरिच्छते मानाभावात् । तत्र तत् निमित्तविशेषसमवधा नवगाद ईश्वरादेव तत् तत् कार्यविशेषाणामुत्पत्ते ।^{१४}

कि तुरघुनाथ शिरोमणि ने सक्का वष पूर्व भतृ हरि ने इस मत का प्रतिपादन भी वाक्यपदीय म किया था जो निम्नलिखित कारिकाओं स स्पष्ट है—

चतयवत स्थिता लोके दिवकालपरिकल्पना ।

प्रवृत्ति प्राणिना ता हि कोऽयथा स्यापयिष्यति ॥^{१५}

कालविच्छेदरूपेण तदेवकमवस्थितम् ।

स ह्यपूर्वापरौ भाग पररूपेण लभ्यते ॥^{१६}

११ मूयसिद्धान्त ११०

१२ भगवद्गीता १०।३०

१३ प्रशान्तशास्त्रभाष्य, पृष्ठ ३३०

१४ पञ्चाध तत्त्व निरूपण, पृष्ठ १०

१५ वाक्यपदीय ३, दिक् समुद्देश १८

१६ वद्धा मारुत समुद्देश ४२

सार्व-दर्शन के अनुसार काल

सांख्य-दर्शन में सांख्य-दर्शन के अनुसार जो काल का विवरण है वह सर्वमान्यमान्य में उपलब्ध सांख्य के विचारों में नहीं मिलता। हम उसका उदाहरण मान्य विचार के प्रयोग पर करते हैं। काल व्याख्याओं के अनुसार सांख्य-दर्शन में काल का वर्णन नहीं है। इस व्याख्या में भी हम मान्य के विचारों को देखते हैं। उनमें मान्य में सांख्य के व्याख्याओं का मान्य का निर्णय हमें मिलता नहीं मिलता है कि क्या उस विचार के व्यापार पर मान्य किया जाता है या उस व्यापार का मान्य पर नहीं है—

कालस्य धनोपनिष्ठाभिमतो एको न घनागतादि व्यपहार भेद प्रकाशितमृत्ति ।
तत्प्रमाणं यथाधिभदरनागनादि भेद प्रमाणमते, तत्तु त एवाधाय यथा
गतादिभ्यव्यपहारस्तथ दृष्टमन्तगद्विना कालेनति सांख्याचार्य ।^{१३}

सांख्य के हम मान्य का भी व्याख्यात्मक में मान्य है। व्यापार की गुणिका के लिए किया गया मान्य का व्यापार रूप में मान्य निम्न मान्य है। अभिप्रायमान्य में व्यपहार सम्भव नहीं है। मान्य में व्यापारित मान्य है। मान्य व्यापार ही मुख्य है। काल नाम की बिना यन्त्र की व्याख्या नहीं है। और यदि उनमें व्यापार रूप की व्याख्यात्मकता होगी भी तो भी उसका स्वरूप बोद्धि ही होगा। काल का मान्य मान्य के अनुसार बुद्ध यन्त्रगतात्मक है। बुद्धि के द्वारा निम्न मान्य विचारों का जो सम्बन्धनात्मक कालान्वित रूप है वही काल है। उसका व्याख्यात्मक मान्य है—

कलाभि पद्यगर्भाभि प्रविभक्त स्वभावतः ।

केचिद् बुद्धयनुसंहारसंज्ञा त प्रचक्षते ॥^{१४}

परन्तु बाद के सांख्याचार्यों ने काल का आकाश की तन्मात्रा का परिणाम मान लिया है जसा कि दिव्यकालावाक्यान्वित्य इस मान्य सूत्र में स्पष्ट है।

योग-दर्शन में काल

उपयुक्त सार्व-दर्शन की मान्यता के अनुरूप ही योग-दर्शन के भी काल सम्बन्धी विचार हैं। एक परमाणु पूर्य देह का छोड़ कर उत्तर देह के साथ जब तक संयोग प्राप्त करता है उस काल को क्षण कहते हैं। क्षण के निरंतर प्रवाह को यम कहते हैं। क्षण और उसके क्रम का समाहार सम्भव नहीं है क्योंकि क्षण अयुगपत् होता है। इसलिए बौद्धिक समाहार माना जाता है। वही बौद्धिक समाहार मुहूर्त अहारात्र आदि के रूप में जान पड़ता है। काल वस्तुतः (अवास्तविक) है। वह बुद्धिनिर्मित है गन्तव्यानुपाती है और भावितव्य वस्तु रूप में प्रतिभासित होता है।^{१५} भट्ट हरि

१७ तत्त्वकीमुनी, सांख्यकारिका ३३

१८ वाचस्पतीय ३, कालसमुदेश ५७

१९ वाचस्पतीय ३, काल समुदेश ६६

ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है कि जितने क्षण-मत्तान् बुद्धि के द्वारा सक्तात्मक-रूप से एक के रूप में गृहीत होते हैं तब तक एक काल होता है। इसी आधार पर मास वर्ष आदि का विभाग सम्भना चाहिए। क्षण में और मन्तर आदि में भेद केवल यह है कि उपचय का पराकाष्ठागत काल क्षण है और उपचय का पराकाष्ठागत काल मन्तर है। सवथा काल भेद बुद्धि भेद पर आधारित है। बाह्य क्रिया के अभाव में भी बुद्धि निवेगिनी क्रिया द्वारा विरिप्र आदि काल भेद का ज्ञान सम्भव है। यागी प्राणचार की प्रक्रिया से क्षण आदि का परिज्ञान करके देखा जा सकता है। लाख में भी प्राणगति से कालगति की कलना होती है। प्राणसंचारमयी क्रिया काल है। हम मत का दार्शनिक आधार जसा कि भट्ट हरि न लिया है यह है कि सभी रूपों की ज्ञान में सम्मिलित देखी जानी है सभी वस्तुओं का परिज्ञान उनकी बुद्धि में सम्मिलित होने के बाद ही होता है। साथ ही ज्ञान के द्वारा ही उन सब का अनुसंहार प्रथवा सक्लन भी होता है। (ज्ञाने रूपस्य सक्राति ज्ञानेनवानुसंहृति)।^{२१} काल की बौद्धिक प्रातिभासिक सत्ता ज्ञान के कारण ही काल सापेक्ष रूप में जान पड़ता है। योगवासिष्ठ में काल के सापेक्ष रूप को अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है। विरह पीड़ित किसी व्यक्ति को एक दिन भी वर्ष की भांति जान पड़ता है। और ध्यान में लीन व्यक्ति को दिन रात का पता नहीं चलता। काल की लघुता और दीघता सवथा सापेक्ष हैं (देश दध्य यथा नास्ति कालदध्य तथाङ्गने)।^{२२} योगवासिष्ठ में काल को सक्लपमात्र माना गया है।^{२३}

बौद्ध दर्शन में भी काल की बाह्य सत्ता नहीं मानी गई है। उसका अनुसार क्षणिक प्रवाह रूप विज्ञान सतति ही काल है।

अद्वैतदर्शन के अनुसार काल

हलाराज ने अद्वैत मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मत्व कमरहित है। परन्तु अविद्याका त्रम रूप में उसका विवृत होना है और विवृत देश काल में होता है। कोई भी वस्तु सवप्रथम किसी देश और किसी काल में होती है। काल की वास्तविक सत्ता नहीं है। परब्रह्म में अध्यारोपित उसकी प्रातिभासिक सत्ता है। ज्ञान के आधार पर ज्ञान भेद प्रभेद मिट जाते हैं सब अविद्या जय है। विद्या के आदि भूत होने पर सभी प्रपच का विलय हो जाता है। काल का भी विलय हो जाता है। अतः काल के विषय में युक्तायुक्त विचार करने में प्रयत्नमात्र फल है।^{२४}

२० बहा ७८

२१ योगवासिष्ठ २।२०।२२

२२ विप्रमक्लपमात्रोसौ कालो ध्यामनि तिष्ठति—

योगवासिष्ठ ५।४६।४

२३ चावयपतीय ३, कालसमुद्देश, टीका ६२

ज्योतिष में काल

ज्योतिष-ग्रन्थों में ग्रहों की गति पर अवलम्बित काल-स्वल्प का निर्देश भट्ट हरि-
न निम्नलिखित कारिका में किया है—

आदित्यग्रहणक्षत्रपरिस्थानमयापर ।

भिनमासतिभेदेन कालकालविदो विदुः ॥^{२४}

व्याकरण-दर्शन में काल

पाणिनि ने काल सम्बन्धी नियम अतिव्यक्त माने थे । काल का ज्ञान तोर से मन्त्र ही
ही ज्ञान का कारण काल विशेष ज्ञानक अवयवत आदि शब्दों की परिभाषा करने की
की आवश्यकता नहीं थी । फलतः पाणिनि का व्याकरण अकालक कहा जाता था
(पाणि-युपनिषत्कालक व्याकरणम् कारिका २।४।२१) । परन्तु महाभाष्यकार आदि-
न काल पर एक व्यापक की भाँति विचार किया है । महाभाष्य में काल सम्बन्धी
कई तरह के वक्तव्य हैं ।

कुछ व्याकरण मानते हैं कि क्रिया ही काल है । क्रिया में काल का वाद्य
होना है अतः क्रिया को ही काल मानना चाहिये (नाचरेण क्रिया भवन्निवृत्त
वर्तमानकाला व्यञ्ज्यते—महाभाष्य १।१।७०) । इस मन के पावन कथन है ।
उत्तम मत में उस प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया को काल कहते हैं जो अप्रसिद्ध परि-
माणवाला दूसरी किसी क्रिया की परिच्छिन्ना है —

कालो हि प्रसिद्धपरिमाणक्रिया अप्रसिद्धपरिमाणस्य क्रियात्तरस्य परिच्छे-
दिका—महाभाष्यप्रदीप १।१।७०

कथन में क्रिया का प्रसिद्ध परिमाण को सूर्यादिकत का माना है । निरस्तमधीने
इस वाक्य में दिवस का से सूर्य की गति क्रिया अभिप्रेत है जो उत्पन्न से लेकर अस्त
काल तक व्याप्त है । वह निरस्त (आदित्य क्रिया प्रवृत्त) अव्ययन क्रिया का परिच्छेदक
है अतः उस काल कहते हैं

प्रसिद्धपरिमाणक्रिया सूर्यादिकत का अप्रसिद्धपरिमाणवा क्रियाया परिच्छे-
दोपात्ता अहोरात्रिपदेत्यादि काल इत्याहुः ।

—महाभाष्यपटीप ३।२।८४

इस मन की पुष्टि महाभाष्यकार का भी कुछ वक्तव्या में हाता है । एक स्थान
पर उन्होंने कहा है—वाह्यश्च पुन आत्मात काल अर्थात् काल मुख्यतः वाह्य है । यह
उक्ति क्रिया का काल मान कर हा सभ्य है (क्रियव कालो नातिरिक्तमते इदम्)^{२५}
प्रसिद्ध परिमाण वाली क्रिया वाह्य क्रियान्तर का परिच्छेदक होती है । इस वाह्यत्व का
आधार पर उस क्रिया को वाह्य काल कहा गया है । गार्दोहमास्त — गाय का दोहन

२४ बड़ा कालसमुद्देश ७२

२५ महाभाष्यन्यायोदीन, अ ३ उ ग

काल तक ठहरता है—इस वाक्य में गोदोह क्रियाविशेष है। उसके काल की इयत्ता अच्छी तरह नात होने के कारण वह क्रिया प्रसिद्ध परिमाण वाली है। इसलिये वह दबदबत क ठहरने की क्रिया का परिच्छेदक है। फलतः वह काल है। जहाँ पर बाह्य-क्रिया नहीं है, जहाँ मूल्य संचार अथवा नालिकामृति [काल नापने का यन्त्र] आदि प्रसिद्ध परिमाण बतानेवाले साधन नहीं है वहाँ बुद्धिनिवेशिनी क्रिया ही क्रियातर का परिच्छेदक हो जाती है। प्राणप्रवाह के आधार पर काल की गणना संभव है। प्राण प्रवाह के आधार पर अधिक बुद्धि के उदय से चिरकाल का और अल्प बुद्धि के उदय से शिप्रकाल का परिणाम हो जायगा।

यदि क्रिया से अनिरिक्त काल की सत्ता नहीं है तो 'भूता सत्ता' जस वस्तु-य-कर्म सम्भव है क्योंकि क्रिया स्वयं सत्ता रूप है उसका किसी सत्ता रूप क्रिया से याग संभव नहीं है। उस प्रश्न का उत्तर स्वयं भगवद्गुरु ने दिया है। जिस तरह से 'भूता घट' इस वाक्य में सत्तारूप क्रिया की ही भूतता मानी जाती है वैसे ही 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी सत्तारूप क्रिया की ही सत्ता भूत रूप में मानी जाती है। भाव यह है कि 'भूता घट' में भूतता घट की संभव नहीं है। घट द्रव्य है। द्रव्य का काल से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। साध्य स्वभाववाली क्रिया का करणभूत काल के साथ सम्बन्ध होता है। निष्ठा प्रत्यय के द्वारा धातु वाच्य सत्तारूप क्रिया की भूतता अभिव्यक्त होती है। वह सत्तारूप क्रिया यहाँ घट में है। इसलिये काल का क्रिया के सम्बन्ध में घट से भी परस्परया सम्बन्ध हो जाता है और घट की भूतता जान पड़ती है यहाँ द्रव्य और काल का सीधा सम्बन्ध नहीं है। वही तरह 'भूता सत्ता' इस वाक्य में भी धातु वाच्य क्रिया रूप सत्ता अर्थ है और प्रातिपदिक पद [सत्ता गन्त] वाच्य द्रव्यमय अर्थ है। यहाँ भी धातुवाच्य सत्ता की भूतता के द्वारा ही द्रव्यायमाण सत्ता के भूतत्व की प्रतीति होती है। इसलिये क्रिया का काल मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। सत्ता नित्य है। फिर भी आश्रय भेद से उसमें भेद मान कर भूत वतमान आदि त्रिकालभेद की व्यवस्था भी सम्भव है।

कुछ व्याकरण काल का क्रिया से भिन्न मानते हैं और काल का क्रिया का परिच्छेदक मानते हैं। क्रिया अन्तर्गण का समाहाररूप है। क्षण युग्मत नहीं हान। क्रम से हान है। इसलिये क्रिया सञ्चमा होती है। क्रम काल का धर्म है। अन्त सञ्चमा क्रिया काल गति में अनुगृहीत होती है। दो क्रियाया का उदय और अन्त समान हान हुये भी एक चिर से सम्पन्न होती दसरी जाती है और दूसरी शिप्र सम्पन्न हान होती जाती है। यह त्रिकाल परिच्छेद किन्ती उपाधिनत सम्बन्धी व सम्भव रहा है। क्रिया में आश्रयभेद से भेद होता है। अन्त एक क्रिया चिरता और शिप्रता की प्रतीति का कारण नहीं हो सकती। आश्रयभेद से भेद हान के कारण उसमें भेद की अनुवृत्ति हो जायगी। जिसमें भेद की अनुवृत्ति होती है वह अभिन्न व्यपत्ति का हनु नहीं हो सकता। इसी आधार पर वाय द्रव्य भी यहाँ निमित्त नहीं हो सकता। उसमें भी भेद होता है। कारण भी निमित्त नहीं हो सकता। उनमें भी भेद की अनुवृत्ति होती है। अन्त यन्त्र वितरण परिच्छेद का जो निमित्त है वह काल है। जिस तरह से तुला

एक रजत रत्न घाति द्रव्य को गुप्ता को पत्र घाति व रत्न म परिष्कार करना है उगी गरज पत्र भी घाती पत्रित वा घाति मा म विद्याभागा का फिर घाति रत्न म परिष्कार करना है ।

त्रिया भूत व परिष्कार होता है कारण ही काय हाया [संस्कार] कहा जाता है । हाया का अर्थ है त्रिया का हाया (जहानि क्रिया इति हाया) । हाया घाति का भी कहा है क्योंकि घाति भा मत्त घातिगत उत्पन्न का छान्न होता है । हाया व हायाज जोगन (कुल जागन) ^{२५} हा व भाग का हाया कहा है (जागनहेनोदमया वचिद घोह्यो हाया हायाट्ट - पदमंजरी ३।१।१४८) । सभी हाति म घातिनि न भी हाय घातिनामया २।१।१४- गुण व द्वारा हाया हाय की गिद्धि घाति घोर मान दाता अर्थ म अभिज्ञान की है । ^{२६} त्रिम मत्त म मत्त घातिगत जन म घाति का उत्पन्न होता है उगी गरज मत्तागी त्रियाघा म कान भाया का उत्पन्न करना है ।

विशेषण मूर्ति त्रिया व भीतर आ जाता है । हाया विभक्त घन त्रिया जा चुका है । हाया मति व परिष्कार प्रमाण परिमाण उत्पन्न घाति । त्रिनि विनस्ति घाति हा त्रिनि विभाग व घाति रत्न म वस्तु व परिष्कार होता है । हाय प्रमाण मत्त है । प्रथम हाय घाति घाति घोर परिष्कार व द्वारा घाय घाति व परिष्कार होता है । हाय परिमाण कहते हैं । निर्य पत्र घाति मुखण घाति व गुह्य व परिष्कार होता है । हाय उमान कहते हैं । य सब मूर्तिभूत व निय मान जात है । परन्तु काल त्रिया का परिष्कार है । यह त्रिया व भूत व त्रिया है (त्रिया भेदाय वाचस्तु) । ^{२७} मूल घाति घाति की सगर त्रिया वाच स मापी जाती है । उस माप को मास सवत्सर घाति व द्वारा व्यक्त करत है । परिष्कार की दृष्टि स सग्या और काल म यह भेद है कि काल वस्तु त्रिया का परिष्कार होता है जय कि सग्या मूल प्रमून सब की परिष्कारिता है । जस दू घटी । बहव घातमान । द्वे त्रिया । एका विनस्ति । द्वे हस्तौ । त्रयार प्रस्था । पञ्च पलानि । सग्या सग्या की भी परिष्कारिता है जस दा बीस (द्वे विंशती) पाँच पचास (पञ्च पञ्चाशत) ।

सभी पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और उनके विनाश देखे जाते हैं । पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति आदि का अलग अलग रूप काल व आधार पर ही संभव है । पदार्थ किसी न किसी काल म उत्पन्न होता है । किसी न किसी काल म स्थित होता है और किसी न किसी काल म विनष्ट होता है । इसलिये ज घाति अवस्था वाले पदार्थों का निमित्तकारण काल है । फलतः ज मादि त्रिया का परिष्कार है । यद्यपि वह एक है फिर भी उपाधिभेद स भेद प्राप्त करता है और अस्मिन् त्रियाघा म नद करन म

२५ अ बुद्धागल चतुष्टय पृथक् (वनमान पित्रोवा) व दक्षिण पश्चिम में था । आज कल का हंगियाना बुद्धागल है । हासा, हिसार, फतहाबाद सिरसा आदि इसी में हैं ।

२६ काशिकाकार ने काल के अर्थ में हायन शब्द की उत्पत्ति निराने से की है—जिहीने भावान् इति । इसका यात्था हरदन ने दां को है—भावा पदार्था तान जिहीने गच्छति परि च्छेदकत्वा यातातयथ —पदमंजरी ३।१।१४८

२७ वाक्यपदीय कावसमुद्देश २

समय होता है। मास आदि भेद व्यवहार और भूत आदि व्यपदेश ससर्गिसूयादि क्रिया के भेद से होता है।^{२८}

जिस तरह से द्रव्य न तो गुण है और न कृष्ण है फिर भी ससर्गि गुण के कारण गुण और कृष्ण आदि रूप में व्यक्त होता है उसी तरह काल भी भेद-अभेद से अनिवार्य है। उत्पत्ति आदि क्रिया के सम्बन्ध के कारण काल का उत्पत्तिकाल स्थितिकाल विनाशकाल जिस भेद धारण करने में व्यवहृत करते हैं। वस्तुतः भूत हरि के अनुसार भूत-अभेद, एकत्व-अनेकत्व आदि किसी के भी स्वाभाविक नहीं होता। इसीलिये कहा है—'न हि गो स्वरूपेण गो नाप्यगो गोत्वामिसम्बन्धात्तु गो' इति।^{२९}

महाभाष्यकार ने काल की एक परिभाषा या नी है—

येन मूर्तानाम उपचयादुपचयाश्च लक्ष्यन्ते त कालमित्याहुः।^{३०} तत्र तण लता आदि का कभी उपचय नहीं जाता है और कभी अपचय। पदार्थों के इस वृद्धि-ह्रास में काल का अनुमान होता है। उपचय और अपचय काल कृत हैं।^{३१} उसी काल का किसी क्रिया से सम्बन्ध होने पर दिन और कभी राति आदि नाम पड़ता है। वह क्रिया भाष्यकार के अनुसार आन्त्यगति है। यद्यपि आन्त्यात् स क्रिया की अभिव्यक्ति सत्ता निवृत्तभेद रूप में ही होती है और इत्यन्त क्रिया एक मानी जाती है फिर भी आदित्य आदि सावन भेद से क्रिया भिन्न भिन्न ही होती है। काल का उपयुक्त स्वरूप भी काल क्रिया का भेदक है इस पक्ष की परिपूर्णता करता है।

परन्तु नागार्जुन इस मत से सहमत नहीं है। उनके मत में काल को क्रिया का भेदक मानने पर क्रिया में क्षण—उपाधि सम्भव नहीं है। उत्तरदेवसंयोगावच्छिन्न क्रिया को मानने पर भी क्रिया के विगोपण विगोप्य और सम्बन्ध रूप में होने के कारण काल के स्थिर रहने के कारण उसके लिये क्षण का व्यवहार असम्भव है। नागार्जुन ने क्रिया ही काल है इस पक्ष में भी यह आप दिखाया है। साथ ही प्रसिद्धपरिणामा क्रिया का काल मानने में नागार्जुन के अनुसार अनवस्था भी है। यदि क्रिया से काल को अतिरिक्त माना जाय तब भी काल का अखण्ड न मान कर उस क्षण पदार्थ के रूप में मानना चाहिये। क्षण के प्रचय से मूर्त आदि व्यवहार की उपपत्ति हो जायगी।

आद्यपक्षे क्षणोपाधे निवक्तुमशक्यत्वम्। उत्तरदेवसंयोगावच्छिन्नक्रियेति चेत् तस्या विगोप्यविगोपणसम्बन्धरूपत्वे त्रयाणामपि स्थिरत्वात् क्षणव्यवहारनिरा

८ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश ३

२८ मम्म के अनुसार यह वाक्य वाक्यपदीय का है। परन्तु अब तक का प्रकाशित वृत्ति में यह वाक्य नहीं है। इसे कहा न कहा होना चाहिये। मम्म वाक्य का उल्लेख हेलाहान ने सम्बन्ध समुद्देश ५० को टीका में किया है।

३० महाभाष्य २।२।५

३१ इस मत को भी हरि ने निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—

मूर्ताना तत्र भिन्नानामावयवयया पृथक्।

लक्ष्यन्त परिणामेन सत्त्वानां भेदयोगिना ॥ कालसमुद्देश १३

अतएव स्वातन्त्र्यशक्ति काल इति वाक्यपदीये सिद्धातितम् ।^१

तथा

कालाख्या स्वातन्त्र्यशक्तिवद्गुण इति तत्रभवदमत हरेरभिप्राय ।^२

भत हरि न स्वयं भी काल का स्वातन्त्र्यशक्ति क रूप म उत्तर प्रिया है —

कालाख्येन हि स्वातन्त्र्येण सर्वा परतन्त्रा जन्मवत्य शक्तय समाविष्टा काल शक्तिवत्तिमनुपतति । ततश्च प्रतिभाव वश्वरूपस्य प्रतिबन्धाम्यनुज्ञाभ्या शक्तयवच्छेदेन क्रमवानिवावभासोपगमो लक्ष्यते । सर्वेषां हि विकाराणां कारणातरेष्वप्यपेक्षावता प्रतिबन्धजननामाभ्यनुज्ञासहकारिकारणकाल ।

—वाक्यपदीय १।३ हरिउत्त लाहौर सम्भरण

भत हरि के अनुसार कालशक्ति की सहकारिणी कई अवान्तर शक्तियाँ हैं । वाक्यपदीय में प्रतिबन्धशक्ति, अभ्यनुज्ञाशक्ति, क्रमशक्ति, समवायशक्ति और जराख्या शक्ति का उल्लेख है । इनमें प्रथम दो महत्वपूर्ण हैं ।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा शक्ति

किसी क्रिया के साधनशक्तियों के व्यापार का विघात प्रतिबन्ध है और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है । कोई शक्ति प्रतिबन्ध करती है और कोई प्रतिबन्ध का हारी है । ये व्यापार सदा ही होते हैं । जैसे किसी एक वक्ष में पहल किमलय की अभ्यनुज्ञा और पल्लव का प्रतिबन्ध होता है । पुन किमलय का प्रतिबन्ध और पल्लव की अभ्यनुज्ञा होती है । भावा का स्थगन और उमज्जन जन्म और नाश इन दो शक्तियों से परिचालित है । पौर्वापय का ज्ञान इन्हीं शक्तियों की क्रिया है । काल प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के द्वारा विश्व को विभक्त करता है ।

भत हरिके अनुसार यदि प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा अपने व्यापार न करें तो भावा की युगपत् उत्पत्ति होने लगे बीज अकुर नाल, काण्ड आदि में पौर्वापय क्रम विच्छिन्न हो जाय और सब कुछ साक्य छा जाय ।^३ सग, स्थिति और प्रलय भी कान कृत प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के वश से होते हैं ।

अतीत और अनागत भी क्रमशः प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के ही प्रयाय हैं ।

प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा में विरोध नहीं है । दोनों एक ही शक्ति से परिचालित हैं । वाक्यपदीयकार ने इसे स्पष्ट करने के लिये शकुन्तल-तनु का उदाहरण दिया है । पहले कभी ऐसा होता था कि वहलिये किसी छोटे पक्षी को सूत्र में बांध दत्त थे । यथा वसर उह उडात थे फिर सूत्र खीच नेत थे । पक्षी उतनी ही दूर तक उड सकते थे जितनी सूत की नन्वाई होनी थी । उनका उड़ना और उनका पुन वापस आना सूत

३६ हेलारान वही

३७ हेलारान वाक्यपदीय कालसमुद्देश ६२

३८ वाक्यपदीय ३, कालसमुद्देश ६

[illegible]

जरारयाशयित

जगन्मया दक्षिण प्रतिपक्ष दक्षिण का हा मर स्था है । भट्ट हरि न मान म दम विचार
 हा न म ले निधा है । घर घर मय क मोषा का कुष्ठित मरत याता जरा दक्षिण
 विद्यालय मानी जानी है धीर गविता विराधी दूसरे जग जय दाप का कारण
 हानी है—

जराह्या काल गवितया गरतय नर विरोधिनी ।

सा गतिः प्रतिपन्नाति जायते च विरोधिनः ॥ ६

स्थिति भाग [तम र वा वायो हुगरी प्रपत्त्या] व हनु जग गमित व
 आगमन म हनन लगन है और भावा म पायकारिता गमित प्रधीण हान लगती
 है ।

क्रम शक्ति

प्रमाणों का गतिन उस गतिन का कहते हैं जिनका आधार से उपसहृत वस्तु अपने अवयवों में फिर से अभिव्यक्त होती है। भू-हरि न क्रम-गतिन का उल्लेख गान्धी जी अभिव्यक्ति का प्रक्रिया के प्रसंग में भी किया है। अन्तःकरणस्थ गान्धी में उसका विभाग प्रत्यक्षमित रहते हैं लीन रहते हैं। विवेक ज्ञान पर उस अन्तःकरण में पद वाक्य गान्धी के विवेक के रूप में प्रत्यक्ष अवयवों का विकास होता है परन्तु वह क्रम से ही होता है। अवयवों का क्रम से अवभास होता ही क्रमास्था गतिन का काम है। क्रम से उदय और क्रम से प्रत्यक्ष होता दोनों ही उसकी क्रिया है। वस्तुन क्रम क्रिया का धन है—

क्रमाद्या शक्तिम् । यतस्तेऽवयवा क्रमेणावभासमपगच्छन्ति ।

तेषामवयवानां स क्रमेणोदयप्रत्यस्तमयमवयवानां सत्रास्तु क्रिया । १८

मनु हरि न दस क्रमशक्ति को काल की मायासा म भी अपनाया है। काल विश्वात्मा है। उससे विश्व का विकास होता है। वह विकास भी क्रमशक्ति क

२६ वाग्यपदाय ३ कालसमुद्देश २४

४० चुरन, वागयत्याय शप्ठर गीका, लाहौर सरकारण

आधार पर होना है। काल की गतिवत्त वृत्ति प्रतिबन्ध और अभ्यनुता से लभित होती है। काल वृत्ति में विश्व अजयवा में विभक्त होता है। वह विभाग अभिवृत्ति होता है। प्रम भुव्यत क्रिया का धर्म है पर क्रिया भी काल के सम्बन्ध में ही अपना स्वरूप पाने है। इसलिए काल में भी प्रम है। भाव सतत परिणामी हैं। उनमें सदा परिवर्तन होता रहता है। उम परिवर्तन का आधार भी प्रम ही है। काल ही प्रम का रूप धारण कर लेता है—

प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्या वृत्तिर्या तस्य नाश्वती ।

तथा विभज्यमानोऽसौ भजते प्रमरूपताम् ॥^{४१}

अदृष्टवत्त से परमाणुआ में क्रिया उत्पन्न होती है। परमाणुआ के परस्पर मिलन से द्वणुः आदि बनते हैं और उनके द्वारा सभी पदार्थ स्वरूप प्राप्त करते हैं। इन सभी व्यापारा में क्रमात्म्य काल शक्ति का हाथ रहता है—“अत्र च सवत्र क्रमात्मा कालशक्ति से व्यापारे यन्मनुज्ञेयम् ॥”^{४२} कुछ लोग मानते हैं कि विश्व अपने मूल रूप में अक्रम है। वह ब्रह्म का विवृत है। काल ब्रह्म की गति है। वह अविद्या का सहकारी है। अविद्या के कारण अक्रम क्रमवान् मा होने लगता है। प्रम के अध्यास में ही कान्धेय का ज्ञान होना है। फलतः प्रम को ही काल कहते हैं। निमेष आदि भी सूक्ष्म प्रम रूप काल में परिच्छिन्न हैं। अतः सभी भावा में क्रमात्म्या कालशक्ति सूक्ष्म रूप में अनुस्यूत है। सभी प्रकार के सवित प्रम से अनुप्रमाणित रहते हैं। पश्यन्ती स्वरूप सवित प्रम का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्त होता है—

अत्रमा हि पश्यती रूपा सवित प्राणवृत्तिमुपाहृता कालात्मना परिगृहीतक्रमेव चकास्तीति कृतनिर्णय वाक्यपदीये गन्दप्रभायामस्माभिः ।

—हेलाराज कालसमुद्देश ६२

समवाय शक्ति

काल के प्रसंग में समवाय शक्ति जन्मादि क्रिया के विश्लेषण में व्यवहृत हुई है। समवाय शक्ति वह शक्ति है जो कारण और कार्य के भेद का तिराहित करती है। इस शक्ति के माह्वय से कारण और कार्य अभिन्न से लगने लगते हैं। भट्ट हरि के अनुसार विशिष्ट काल के सम्बन्ध से परिष्कारप्राप्त शक्तियाँ में नित्य क्रिया अभिव्यक्त होती है। सामाज्यभूत प्रवृत्ति क्रिया है। परमाणुआ में कार्यजनक शक्ति के अभिमुख होने में परस्पर सन्नेप होता है अथवा मूल तत्त्व में प्रेरणामय कम विनेप अभिव्यक्त होता है। उनमें किसी अद्भुत शक्ति के द्वारा फल की अभिव्यक्ति होती है। फल व्यक्ति (कार्य) और उसके कारण में एकत्व की सी बुद्धि समवाय शक्ति से होती है—

४१ वाक्यपदीय ३ कालसमुद्देश २०

४२ हेलाराज, वाक्यपदीय कालसमुद्देश २०

ततस्तु समयस्याप्या गतिर्भवेत्येवमाधिका ।

एवमपि ता शब्दनीरापादयति कारण ॥११॥

इत गव व्याख्यान स जय की अभिव्यक्ति होती है और जय भी बात का ही व्याख्यान है । इसी तरह न स्थिति भी बात परतन है । य सब बात की धन्यनुवाचन व भीतर आ जात है ।

उपयुक्त सभी गतिगो स्थानगतिगो रूप काल की ही गामाये हैं ।

स्वातन्त्र्यशक्ति और कत् शक्ति

अत हरि न स्वातन्त्र्य शक्ति और कत् शक्ति न कोई भेद नहीं माना है । ब्रह्म की वत शक्ति त्रय रूप पावर काल शक्ति व रूप म व्यक्ता होती है—

अप्याहितकृता (अव्याहता कृता) यस्य कालशक्तिमुपाधिता ।

तस्य प्रमवदभि मात्रारूप कत् शक्ति प्रथिमन्ययमात्रा विकार मात्रागत भेदरूप तत्राप्यारोपयति ।

—वाचस्पतीय १ ३ हरिवृत्ति

वपम न भी स्वातन्त्र्य की वत शक्ति व रूप म प्रहण किया है —

(स्वातन्त्र्य कत् शक्ति । पदाथनिष्पादनोपसहारयोग्या कत् शक्ति) ॥११॥

नतृहरि का कालदर्शन और कश्मीर शंवागम में काल

अत हरि की काल शक्ति की कल्पना कश्मीर शंवागम म गहीत काल स्वरूप स बहुत दूर तक भेद राती है । अत हरि जिस तरह स काल का द्रव्य नहीं मानते उसी तरह शंवागम म भी काल द्रव्य नहीं है । अत हरि जिस तरह प्रम का काल का प्रम मानते हैं उसी तरह शंवागम म भी प्रम की त्रिया का भवस्व फलत काल का आधार माना गया है । प्रम को आधारित करने वाली भगवान की शक्ति काल शक्ति है । वपाकरणों की तरह कश्मीर शंवागम म भी सूर्यादिमचार रूप प्रसिद्ध परिणाम वाला त्रिया की अन्य प्रसिद्ध त्रियाओं का परिच्छेदक माना गया है और नावा के अवच्छेदक हान के कारण उसे काल माना गया है । इस मत म अनवस्था दोष, जसा कि नागम न बताया है, बताना ठीक नहीं है । अभिनव गुप्त ने अनवस्था दोष का परिहार कतक प्रतिवतक के दृष्टान्त से किया है । प्रतिवतक (सोने को नापने के लिए सोने की ही मासे जसा वस्तु) स सोना नापा जाता है । एव मासे स्वर्ण का जो परिच्छिन्न रूप है वह स्वर्ण के रूप स भिन्न नग है । मास (प्रतिवतक) म जो स्वर्ण है वह उपलक्षण मात्र है न कि प्रतिवतकगत स्वर्ण परिच्छिन्न स्वर्ण म जापर मिलता है अथवा आघात होता है । इसी तरह सूर्यादिमचार की त्रिया उपलक्षण रूप म है । वस्तुत काल म प्रम के दर्शन करके, मुकुल पिक प्वर आदि विविध परिवर्तना म हो सकते हैं । सूर्य की गति तो उपलक्षण मात्र है । फलत अयोमाधय और अनवस्था जस दोष प्रसिद्ध

या नियत परिणाम वाली क्रिया के पक्ष में नहीं सम्भव है (अनवस्थादि च कनक-प्रतिवतकवृत्तातेन कृतसमाधानमेव)।^{४५} सूर्याग्निगत जो नियत स्वभाव भेद है वह कम है और वही काल है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी दशना के कालस्वरूप का अन्तर्भाव क्रम-दशन में हो जाता है। वैशेषिका का द्रव्य रूप काल परत्वं अपरत्वं आदि के द्वारा क्रम भय है। मात्स्य दान में काल रज स्वभाव है और रजोगुण प्रवतक के रूप में कम भय ही है। वैयाकरण का काल स्वरूप नित्य अनाश्रित ? (आश्रित) प्रवृत्ति स्वभाव है और प्रवृत्ति नमाश्रित होती है। बौद्ध का भी सन्नान प्रवाहमय काल क्रम से सवथा रहित नहीं है—

तेन सूयसचारादिभि यो-यो लक्ष्यते प्रवहण धर्मा चिरशीघ्रताद्यसकीण
भावस्वभावोत्थापको वैशेषिकाणा द्रव्यरूप, कापिलाना रज स्वभाव प्रवतना
त्मकत्वात्, वैयाकरणाना नित्यानाश्रितप्रवृत्तिस्वभाव, सौगताना सततयमान
भावपरमाथ, सोऽपि वस्तुतः क्रमरूपता न अतिक्रामतीति क्रम एव नाम बहि
काल इति व्यवहृत्यते।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीयभाग पृ० ५

भक्त हरि की स्वातन्त्र्य शक्ति और कश्मीर शवागम में गृहीत स्वातन्त्र्य शक्ति भी समान है। दाना दशना में वह काल का दूसरा नाम है। एक में वह ब्रह्म की शक्ति है और दूसरे में परमेश्वर की।

शवागम में भगवान की इच्छाशक्ति का नाम स्वातन्त्र्य शक्ति है। (स्वतन्त्र इति तस्ये-छा शक्ति स्वातन्त्र्यसन्निता)^{४६}। प्रकाश और विमल भी स्वतन्त्र के रूप में गृहीत होते हैं। शवागम में प्रकाश ज्ञान का और विमल क्रिया का प्रतीक है। स्वातन्त्र्य शक्ति भगवान की कृत शक्ति है। भगवान में जब अपने आपको अथवा अपने अन्तर्भवस्थित विमान रूप भाव जगत् का अवभासित करने की इच्छा होती है भगवान की कृत शक्ति निमाणकरण वाली माया शक्ति के सम्बन्ध में काल-क्रम के रूप में अवभासित होने लगती है। अपने आप को इस तरह से प्रकाशित करने की परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति कालोत्थापक होने के कारण उसको काल शक्ति कहा जाता है। वही स्वातन्त्र्य शक्ति प्रमातृ प्रमेय आदि रूप में क्रिया के आधार से विस्तार पाता है। क्रिया प्रधान रूप से प्रतिभासित होती हुई भी काल शक्ति से अनुविद्ध होती है। सवथा काल शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति का ही रूप है

यस्या परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्ते, सा कालोत्थापकत्वात् भगवत कालशक्ति
रिति उच्यते, अ याहृतकला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता इत्यादौ।^{४७}

अभिनवगुप्त ने यहाँ स्वातन्त्र्य शक्ति के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये काव्यपदीय की कारिका उद्धृत की है। यह दस श्लोकों की प्रमाण है कि दाना दशना

४५ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृष्ठ ५

४६ अभिनवगुप्त, मालिनाविजय वार्तिक पृष्ठ ७

४७ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी, तृतीय भाग, पृष्ठ ६

म वात का स्वरूप एव सा है और स्वातन्त्र्य गति भी एक गौ है।

भत हरि क स्वातन्त्र्यगति म और शवागमगृहीत स्वातन्त्र्य गति म यदि अन्तर है ता यह कि शवागम म स्वातन्त्र्यगति कई विभिन्न स्था म उपचरित है जय कि भत हरि न इस पर त्रिप चर्चा नहा का है और उसका स्वरूप भी अपभा कृत सीमित है। दूसरा अन्तर यह है कि शवागम म स्वातन्त्र्यगति का सम्बन्ध परावाक से है—

चित्ति प्रत्यक्षमर्मात्मा परावाक स्वरसोदित

स्वातन्त्र्यमत-मुख्य तदर्थय परमात्मन ॥^{४८}

जय कि भत हरि परावाक का भत्ता स्वीकार नहा करत। यदि धार से स्वातन्त्र्यगति रूप वात का सम्बन्ध जाय भी जाय ता प यही क साथ जाइना उचित हागा जैसा कि हत्ताराज ने किया है

अत्रमा हि पश्यतीरुपा सवित प्राणवत्तिमुपाहृदा कालात्मना परिगृहीतयमव चकास्ति ।^{४९}

स्वातन्त्र्य गति का मूल स्रोत क्या है / मन्त्रभाष्य म स्वातन्त्र्य गति जसा किसी गति का सन्दर्भ नहीं है। शवागम म जितन लख सप्रति पात है व सय भत हरि क वाट हुए है। पर तु यह कल्पना किसी न किसी आगम की हा जान पवती है। बहुत सभन्न है शवागम का परम्परा का इतिहास बहुत प्राचीन हा। भनू हरि आगमा से अधिक प्रभावित थे और व्याकरणदशन को भी आगम मानत थ।

कुछ लोग स्वातन्त्र्यगति का मूल उद्भावक पाणिनि का मानते हैं।^{५०} उनके मत थ का आधार पाणिनि का स्वतन्त्र कर्ता १४५६ यह सूत्र है। स्वतन्त्र गति से अपने आपका प्राधाय्य अभिव्यक्त होता है (स्व आत्मा तत्र प्रधान यस्य स स्वतन्त्र उच्यते। महाभाष्यप्रतीप १।४।५४)। स्वातन्त्र्य गति म भी अपनी इच्छा का अविघात और आत्म प्राधाय्य है। फिर भी व्याकरण संप्रदाय म कर्ता क स्वातन्त्र्य का न ता गति क रूप म ग्रहण किया गया है और न उसका सम्बन्ध काल म जोड़ा गया है। स्वयं भत हरि न भी स्वतन्त्र कर्ता का प्रारम्भ म स्वातन्त्र्यगति का संकेत नहा किया है। स्वयं पाणिनि ने स्वातन्त्र्य को प्रयाजय हेतु के अर्थ म भी लिया है और कतवर्णयाम् तया २।३।१८ जस सूत्रा म उसे मायन क रूप म भी व्यवहृत किया है।

काल एक, नित्य और विभु

काल व्यापक है। पर अपर, चिर शिघ्र आदि का ज्ञान सय को सब दंग म समान हाता

४८ बहू पृष्ठ १८७

४९ वास्यभदीय काव्यमुद्रेश ६२ का टीका

५० का० ३० स० प० १०, एन हिमालयिकल एण्ड फिलामफीकल स्टडी आफ् अभिवागुप्त,
पृष्ठ २०३-२०४

है इससे काल की व्यापकता स्पष्ट है। काल अमूर्त है। अद्वैत है। अन नित्य है। वह एक है। उभय भेद कल्पित है।

महाभाष्यकार ने काल को नित्य माना है (नित्ये हि कालनक्षत्रे—महामाष्य ४।२।३)। काल को निय और एक मानने में एक कठिनाई सामन रखी गई थी। पाणिनि ने ऊक्तानाञ्जल्लम्बनीषप्लुत १।२।२७ इस सूत्र में कालभेद का सूचित किया है। महाभाष्यकार ने भी द्रुता मध्यमा और त्रिन्मित्ता वक्तियों के सम्बन्ध में काल भेद का उल्लेख किया है।^{५१} लृप्ति के उच्चारण में नालिकायन्त्र से जलविन्दु अल्पमात्रा में चूत हैं दीर्घ के उच्चारण में उभये अधिक और प्लुत के उच्चारण में उभय भी अधिक चूत हैं। इनमें ८ १२ १६ पानीयपल का आनुपातिक सम्बन्ध माना जाता है। अब यदि काल के काल्पनिक भेद के आधार पर लृप्ति आदि में भेद की कल्पना की जाय तो यह उचित नहीं है। क्योंकि सलिल मृत्ति का यथाय सत्ता है एक कल्पित वस्तु का यथाय वस्तु न अवयव सम्भव नहीं है। भाव यह है कि कल्पना के आधार पर लृप्ति आदि में काल्पनिक भेद मानने पर जल मृत्ति के प्रकृत को एक की अपेक्षा दूसरे में अधिक पानीयपल के चूने का—समानता कठिन हो जायगा। जो लागू शब्द का नियम मानते हैं वे लृप्ति आदि में काल्पनिक भेद ही स्वीकार करते हैं। जिस तरह यह गीष्म किया “यह देर में किया इन दोनों जान के समानकाल वाले होने पर भी विषयगत विस्तार अथवा अविस्तार के आधार पर काल भेद प्रतिभासित होता है उसी तरह में शब्द के नियम होने के कारण समानकाल होने पर लृप्ति आदि में कालभेद उपचरित होता है। अब कालभेद उपचरित मानने पर लृप्ति आदि के उच्चारण समय जो पानीयपल में अंतर देखा जाता है वह नहीं होना चाहिये। पर होता है। इससे जान पड़ता है कि लृप्ति आदि स्वभावतः भिन्न भिन्न काल वाले हैं। फलतः शब्द की नित्यता में व्याघात पहुँचता है। इस कठिनाई का समाधान भनहरि ने किया है। उनके अनुसार शब्द का तत्त्व अभिन्न है वह प्रचित या अपचित नहीं होता। अभिषक्त के निमित्त ध्वनिवृत्त कालभेद उसमें आभासित होता है। प्राकृत ध्वनियाँ स्वगत कालभेद को शब्द में भी प्रतिबिम्बित करती हैं। अर्थात् व्यञ्जक का धर्म व्यङ्ग्य में जान पड़ता है। फलतः कालभेद सलिलमृत्ति में भी अपचय अपचय का जान भेद जान पड़ेगा ही। इससे शब्द की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती। वृत्तध्वनि जनित भेद शब्द का भेदक नहीं होता। लृप्ति दीर्घ आदि शब्दधर्म सवथा व्यञ्जकाधीन है—

वृत्तध्वनिजनितस्तु वक्तिभेदो न भेदक इति निर्णतिमेव पूर्वकाण्डे। वक्ष्यते चाग्रे “सर्वश्च लृप्तिदीर्घानुनासिकत्वादि धमन्नात गद्दात्मनि व्यञ्जकाधीन” इति।^{५२}

सवथा काल भेद औपाधिक है। नालिका यन्त्र की जल मृत्ति ही काल नहीं

५१ किं पुनः कारणं न सि यति। कालभेदान्—महामाष्य १।१।७०

५२ हलाराज द्वारा, कालसमुद्देश ६५ की टीका में भनहरि के वाक्य के रूप में उद्धृत।

याय से पट्टन किया जा चुका है। मूल गति के अतिरिक्त किया की इयत्ता के परिचायक निमेष व्यापार प्राणप्रवाह बुद्धिगण आदि है। मूर्त्यादि सत्कार भी लोक म दिन रात के रूप म निश्चित परिमाण के रूप म प्रसिद्ध हैं।

भन हरि न स्पष्ट रूप म बाल को नित्य माना है—

न नित्य परमात्रामि कालो भेदमिहाहति

—वाक्यपदीय, २।२४

भनू हरि के अनुसार बाल गणित प्रतिबन्ध और अभ्यनुता के आधार पर पर-अपर की पञ्चान कराती है (कालाद्या हि क्त शक्ति फार्येव प्रतिबन्धाम्यनुज्ञाम्यां पौर्वाप्य प्रकल्पयति—वाक्यपदीय २।२२ हरिवृत्ति)। यदि काल नित्य है तो उसम पौर्वाप्य सम्भव कम है? इसके उत्तर म भन हरि का कहना है कि वह काल शक्ति की महिमा है कि एन हात हुए भी कम के रूप म प्रतिभासित होती है। यहा भन हरि न बौद्ध दशन और वन तदशन की कम भीमामा का उल्लेख किया है। बौद्ध दशन म बुद्धिलक्षण अक्रम है। उसम मय का विरुद्ध रूप भी अविरुद्ध रूप म प्रतिभासित होता है कम एकत्व का अनिक्रमण नहीं करता। वेदांत की दृष्टि स विन्वात्मा एक है कम का अवभास उसके एकत्व का याधातक नहीं हाता—

क्रमप्रत्यवभासतम एवद्वानतिक्रमेण अक्रमे बुद्धिलक्षण क्षणिकवादिन सदस्य विरुद्धरूपमिवाविरुद्ध भवति। अतविदां तु विन्वात्मयेकत्वानतिक्रमेण क्रमप्रत्यवभासत्व भवति।

—वाक्यपदीय २।२२ हरिवृत्ति लाहौर सस्वरण

भन हरि ने इस प्रसंग म एक ऐसे दशन का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार माना भेद के आधार पर कान भेद सम्भव नहा है क्योंकि मात्राया की सत्ता उदय अन्तमयी है व स्वय अमत् सी है और उनके अभाव मानने पर कम भी जो मात्राया के परिणाम पर निर्भर करता है सम्भव नहीं है। इस दशन के अनुसार विरुद्ध की मात्रा, परिणाम ज यभेद अनित्य है पूव का अपर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सब कुछ एक दूसरे से असस्पृष्ट है। पूव और अपर भी निरुपाय्य है। इनम सम्बन्ध अहंकार द्वारा होता है जा पूव और अपर का परामश सा करता है। मूर्धन (अपक्षपयन) अभेद और परिमाणभेदरहित हात हुए भी पूवापर का सम्बन्ध मिथ्या अभ्यासवश अत्रुध यक्ति को दीघ सा जान पडता है। इस दशन के अनुसार सभी व्यवहार एक धम स आप्रद्ध एक धम म प्रतिष्ठित और अभिन्न काल बाल हात ह। मानाभेद असत है। असत का अमन से अथवा असत् का सन स सम्बन्ध म कोई कम नहीं हाता। खरहे की साग का ऊँट की सीग के साथ म अथवा हिमालय क साथ म कोई कम नहीं होता

तदेतस्मिन् पक्ष एकधर्मावबद्धेषु एकधमप्रतिष्ठितेषु अभिन्नकालेषु
सब प्रवहारेषु कीदृश सनामत्यतासता च मात्राभेदानाक्रम । न हि

शानविषाणस्योद्भविषाणन हिमवता वा कश्चिदपि क्रमो विद्यते ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय २।२४

इस द्वात के अनुसार किसी एक अथ वा समानकालिक अथवा भिन्न कालिक व्यापार के साथ भी क्रम सम्बन्ध नहीं होता । क्रम की संभावना न देखकर और कोई दूसरा उपाय न पाकर एक व्यावहारिक क्रम मान लिया जाता है । मूर्तियाँ वा जो परिमाण भेद है वहाँ भेद है । उनका अतिरिक्त कोई कल्पित परिमाण भेद नहीं है । इस मत के अनुसार सह उत्पन्न सभी भाव काल में प्रत्यक्ष अथवा क्षण जैसे कल्पित कालांतर अवस्थाओं में आत्म तत्त्व का अतिनिमग्न नहीं करने और न किसी आगतुक्त अथवा अनागतुक्त भेद से संस्पृष्ट हात है । उन भावों के अतिरिक्त क्षण काल में वत्तर नाम जहाँ कोई वस्तु ही नहीं है जिसका आधार पर उह कालांतर अवस्थायी नित्य अथवा क्षणिक कहा जा सके (हरिवृत्ति वही) ।

यदि यह कहा जाय कि परिमाण भेद की वास्तव्य प्रचित और अप्रचित बुद्धि के आधार पर कर लिया जायगा काल की वास्तव्य आवश्यकता नहीं तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि एक है । इसलिए बुद्धि प्रत्यक्षमग्न भी भाग रहित ही होगी ।

अतः हरि ने इन सब के समाधान के लिए समाख्या शक्ति का आश्रय लिया है । उस शक्ति के सामर्थ्य से मात्राओं में क्रम का आभास होता है—

भेदभावानुगतबुद्धौतामेकत्वेन यवहरताम अनादिना मिथ्याभ्यासेन विहित समवायानाम एकस्यां बुद्धौ अचतिरिक्ततामु अनपायापायिनोपु मवमानामु क्रमात्प्राया शक्ते सामर्थ्यमविद्यमान प्रकल्प्यते क्रम प्रसिद्धमे ।

—हरिवृत्ति वाक्यपदीय २।२७

अतः काल में क्रमभेद संभव होता है । काल औपाधिक भेद से भिन्न है । स्वतः अभिन्न है । नित्य है ।

काल का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान

किसी के मत से काल प्रत्यक्षगम्य है और किसी के मत से वह अनुमय है । महाभाष्यकार के मत में काल अनुमान गम्य है । जैसे निया का पिप्पनीभूत दशान सम्भव नहीं है वत्त हा काल का भी । वत्त मान लें ३।२।१२३ के भाष्य में स्पष्ट ही सूत्रों में भावानुमितन गम्य कह कर काल को अनुमय माना है । वाक्यपदीय में भी अनुमान पक्ष का समर्थन किया गया है । अतः हरि के अनुसार दो विभिन्न आश्रयवाली क्रियाओं में उत्तक उदय और अस्त ममान हान पर भी उनके गीघ्र या त्वर में मिद्ध हान का पान बिना किसी सम्बन्धी परिच्छेद के सम्भव नहीं है । काल के अनुमान में यह भी एक हनु है

नियदारपयनिष्पीर्नानायसमवेतयो ।

सम्बन्धिता वितकन परिच्छेद यस्य सवेत ॥५६

मून आदर्यों का उपचय और अपचय भी काल के अनुमान में सहायक हैं।

कुछ लोग काल का अतीन्द्रिय मानते हैं और दिक् के विपरीत परत्व अपरत्व के आधार पर काल का अनुमान करते हैं।

नागेश 'इस समय दस रहा हूँ, 'इस समय मूछ रहा हूँ जमे अनुभवों के आधार पर काल का पट इन्द्रिय वद्य मानते हैं (क्षणसमूहस्य च म पडिन्द्रियवेद्य - मनुष्या पण्ड ८४६)। मीमांसकों का भी यही मत है (स च काल पडिन्द्रियग्राह्य)।^{५७} कुछ लोग काल का प्रत्यक्षत्व स्वीकार करते हैं। काल में रूप न होना काल के प्रत्यक्ष होने में बाधक नहीं है क्योंकि इन्द्रियग्राह्यता का नाम प्रत्यक्ष है और वह काल में है।

वशेषित प्रसिद्ध काल गुणा का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है जम—

कालपरिमाण	(महाभाष्य २।२।५)
कालपथकत्व	(महाभाष्य २।१।२६)
कालविभाग	(महाभाष्य ३।२।३२)
काल संयोग	(, ३।१।२६)

इसके अतिरिक्त तत्रभव ४।३।१३ सूत्र के भाष्य में कालाभिसम्बन्ध का और तत्परम्तत्कालस्य १।१। ० सूत्र के भाष्य में 'कालसहचरित' शब्द का उल्लेख है।

कालभेदविचार

काल का स्वरूप चाह जो हो गान् व्यवहार में वह भिन्न रूप में ही देख पड़ता है। व्याकरणज्ञान का सम्बन्ध मुख्यरूप में गान्-व्यवहार वाले काल के स्वरूप से है। अस्ति अभूत भविष्यति आदि क्रिया भेद की विवचना उस करनी ही पड़गी

नास्माभिव्यक्तानविवेक प्रारब्ध किन्तु गान्दे व्यवहारे यदङ्ग तत् परीक्ष्यम्। अस्ति च भिन्नकाल गान्दे व्यवहारोऽभूत अस्ति भविष्यतीति। तत्र यथा योगमविचारितरमणीय कालोऽभ्युपगम्यते।^{५८}

फलत व्याकरणज्ञान काल का वत मान भूत और भविष्यत इन तीन रूपों में विभक्ता कर देता है। पर तुल्य विभाग के पीछे भी कुछ दार्शनिक प्रवाद हैं जिनका उचित भन हरि न किया है।

काल की तीन शक्तियाँ

कुछ लोग मानते हैं कि काल तो एक है किन्तु उसकी तीन शक्तियाँ हैं। काय के भेद में कारण भेद का अनुमान जाता है। शक्तिभेद से ही कायभेद सम्भव है। इस आधार पर काल की शक्तियों स्वीकार की जाती हैं। इन शक्तियों के आधार पर भाषा का

^{५७} नारायणभट्ट मानसमयदय पृष्ठ १७, योगम संस्करण

^{५८} हेनारात्र, वाचस्पतीय कालसमुद्देश ५८

‘नाभावो विद्यते सत’ वाले सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि जो तिरोभूत है वही वत मान होता है। सभी भाव मानो किसी प्रमेय (वस्तु) के भीतर रहते हैं वही से अपने आपका व्यक्त करते हैं और पुन उसी में लीन हो जाते हैं। हलां राज के अनुसार पञ्चाधिरणदशनस्थ मारयी का यह दृष्टा है।^{५६} यह विचार धर्मों और धर्म में कुछ भेद मानकर है। धर्मों स्थायी सदा रहता है और उसके धर्म तीन अथवा चार (‘यवान’) अतीत वत मान और अनागत के रूप में प्रकट होते हैं।

जा लाग धर्म को धर्मों से अतिरिक्त नहीं मानते उनके मत में भी धर्मों का एकसाथ ही अतीत वत मान आदि ‘यपदेश’ धर्म के द्वारा सम्भव है। वत मान के समय में भी अतीत के कुछ धर्म स अतीत, और अनागत के कुछ धर्म होने से अनागत कहा जा सकता है। अब धर्मों सदा वतमान होता हुआ भी धर्म के तीन तरह के हान के कारण तीन अथवा चार अथवा तीन काल वाला कहा जाता है। हेतु के आधार पर जब कोई क्रिया-विलाप प्रत्यक्ष होने लगता है उसे वत मान कहते हैं। जब हेतु व्यापार चला जाते हैं उन्हें कुछ करने का नहीं रहता तब भावा का अदशन होता है उसे अतीत कहते हैं। जब हेतु अथक्रिया के लिए चपटा नहीं करते उसे अनागत कहते हैं। इस तरह एक के ही उपाधि भेद में भिन्न भिन्न नाम द्या जाते हैं। इसमें माक्यदाप नहीं है। कयोनि वनि दक्षिण है। आदिर्भाव और निराभाव नम रूप स घटित हान हैं। दशन और अदशन यही वक्तिया का व्यापार है और वह विलक्षण है। वत मान शक्ति से दशन और अतीत अनागत शक्ति से अज्ञान यह एक दूसरे को बाधा न देने घटित होता है। इसलिये सत्त्व सम्भव नहीं है। दृष्ट और अदृष्ट अवस्था में भी धर्मों एक हैं। सत्त्व से असत्त्व का भेद नहीं है। सत्त्व तिरोभूत होकर असत्त्व कहा जाता है। इसलिये भावा स शक्ति के अनिरिक्त न होत हुए भी और सत्त्व एक साथ रहते हुए भी सम्भव नहीं होता। हलाराज के अनुसार यह महाभाष्यकार का मत है

धर्मधर्मिणोरपतिरेक भाविकमाश्रित्य धर्मिणो युगपदपि ‘यपदेश’त्रय धर्मद्वारक प्रवर्तत इति महाभाष्यमतम्।^{५७}

हलाराज के अनुसार ब्रह्मज्ञान ? के अनुसार भी शक्ति रूप काल के तीन गुणामय परिणाम सम्भव है। जीवात्मा में ज्ञान क्रिया और शक्ति (च्छा ?) के रूप में तीनों गुण रहते हैं—‘त्रिगुणपरिणामाश्च ब्रह्मदशनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिमि जीवात्मनि गुणत्रयम्।’^{५८}

क्रिया के आधार पर भी कालभेद की भीमामा की जाती है। व्याकरणज्ञान इसी मत का प्रथम दृष्टा है

५६ हेताराज, वाक्यपदीय, कालस्मृदेश ५३

५७ वही ५४, यह मत बहूत व्याससूत्र भाष्य का है। प्राचीन टीकाकार व्यासभाष्य की पाठ्य मानते थे। इसी आधार पर हेताराज ने उपर्युक्त बहूत व्यासभाष्य का माना है।

५८ वही ५३ त्रिगुणपरिणामाश्च ब्रह्मदशनेऽपि कालस्योपपन्नमेव शक्ति रूपस्यापि। ज्ञानक्रियाशक्तिमि जीवात्मनि गुणत्रयम्। यह ‘व्यास’ की बहूत व्यासभाष्य में है। उसी से यह उद्धृत किया गया है।

तस्याभिनयस्य कालस्य व्यवहारे क्रियाकृता ।

भेदा इयं प्रथम सिद्धा मांलोको गतिवन्तः ॥^{६२}

भूत, भविष्य और वत मान त्रियापाधिक ^{६१} । जय त्रिया उत्पन्न होकर ध्वस्त हो जाती है उनका उपाधि-काल का भूत कहते हैं । जय त्रिया का माधन मनिहित रहते है और उसका आरम्भ समीप रहता है उसने उपाधि काल से भविष्यत कहते हैं । जब त्रिया प्रारम्भ हो गई रहती है परन्तु अभी समाप्त नहीं हुई रहती उसने उपाधि-काल को वत मान कहते हैं ।

त्रिया जो बीत गई है जा अब वतमान नहीं है वह काल में भूतकाल में क्या जाती है ? उसी तरह जो त्रिया अभी हुई नहीं है वह काल में भविष्यत का स्वरूप क्या दिखाती है ? इसमें उत्तर में भक्त हरि का कहना है कि जो त्रिया बीत जाती है वह काल में अपना सम्भार छोड़ जाती है । बुद्धि या स्मृति के द्वारा उस सम्भार का ग्रहण कर काल में भूतकाल का व्यवस्था त्रिया जाता है । इसी तरह अभी सम्पन्न होत वाली त्रिया का भी प्रतिस्मिन् काल में पता है । उस होने वाली त्रिया के प्रतिस्मिन् का काल में अध्यापक कर काल का भविष्यत काल कहते हैं । भक्त हरि का अनुमान काल एक स्वच्छ आदर्श की तरह है

काल निधाय स्व रूप प्रजया यतिगह्यते ।

भावास्ततो निवर्तते तेन सङ्गान्तगततय ॥

भाविना च यद रूप तस्य च प्रतिविम्बकम्

सुनिर्मित इवादर्श काल एवोपपद्यते ॥^{६३}

वतमान काल

वाचस्पतीय में वतमानकाल पर विचार महाभाष्य की पद्धति पर है । वनजलि का पूर्व ही वतमानकाल का विषय में कुछ विप्रतिपत्तिया सामने आ गई थी जिन्हें सुलभान का प्रयत्न कात्यायन ने किया था । वनजलि ने भी अपनी पद्धति से उन्हें भुवभाषा और अथ दशना में भी जसा कि वात्स्यायनभाष्य से जान पड़ता है उन पर विचार होना रहा ।

वतमान काल का सूचक लट की प्राचीन मना भवती थी । वात्स्यायन ने इह अधीमह इह वसाम जस वाग्या म वतमान का काल में उस आधार पर आ १५ लगया था कि अध्ययन करन और रहने के बीच में दूसरी भी क्रियाएँ होती रहती हैं । अतः अध्ययन आदि क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं । वतमान काल से हम उसी क्रिया की अभिव्यक्ति करग जा आरम्भ तो कर दी गई है परन्तु जिसका उपरय अभी नहीं हुआ है । बीच में मयिष्ठ होनी हुई क्रिया का वतमान रूप नहीं देग ।

यसका समाधान बड़े तरह से कर दिया गया था । वतमान काल उसकी माना जायगा जहाँ त्रिया का आरम्भ समाप्त न हुआ हो (एष नाम याम्यो वतमान काल

यत्रारम्भोऽनपेक्षत महा—माध्य ३।२।१२३) । अतः अध्ययन जब तक समाप्त नहीं होगा हम उसे वतमान काल में व्यय कर सकते हैं । बीच बीच में जो भोजन आदि की क्रिया व्यवधानरूप में जान पड़ती हैं वे नान्तरीयक हैं । अतः वे व्यवधायिका नहीं हो सकती । 'दयदत्त भोजन कर रहा है' इस वाक्य में भोजन की क्रिया का वतमान काल में बिना किसी हिचक अथवा मंशय के व्यय करत है । परन्तु भोजन के व्यापार में भी बीच बीच में चालना टसना पानी पीना आदि व्यापार हानि ही रहते हैं । जिस तरह से इन व्यापारों के होते हुए भी 'भुक्ते' में वतमान काल की अनुपत्ति नहीं मानी जाती उन्हीं तरह 'इह अधीमह' जैसे स्थला में भी अवांतर क्रियाओं के होते हुये भी कोई अनुपत्ति नहीं होगी ।

नत हरि के अनुसार ऐसी कोई क्रिया नहीं है जो किसी न किसी अथ क्रिया से सकीर्ण सी न जान पड़नी हो और नहीं तो निमेष क्रिया स्वास क्रिया जसी क्रियाएँ सभी व्यापारों के साथ रहेंगी ही । अतः अंतरालवर्ती क्रियाओं से मुख्य का व्यवधान नहीं मानना चाहिये । अंतरालवर्ती क्रियाओं को मुख्य क्रिया का अवयव मान लेना चाहिये । इस तरह भोजन के बीच में हमने आदि के व्यापार भोजन क्रिया के अवयव हैं अतः व्यवधायक नहीं हो सकते । भोजन की प्रवृत्ति ही जाने पर भी अगर सदैव गवकर आदि का वाद में परीक्षा जाना जस भोजन क्रिया का अंग ही माना जाता है वैसे ही मित्रों का परस्पर वानचीत करते, हसत बोलत भोजन करना भोजन क्रिया का अंग ही है ।

अथवा हम फल की दृष्टि से क्रिया मतान की व्याख्या करेंगे । भोजन की क्रिया का फल तृप्ति है । अध्ययन की क्रिया का फल ज्ञान है । जब तक इन फलों के लिये प्रयत्न जारी है बीच में अथ व्यापारों के हानि हुए भी वे अविच्छिन्न माने जायेंगे इसलिये अथ व्यापारों के करत हुए भी अधीमहे कहा जा सकता है ।

अथवा भौतिक व्यापार के उपरत होने पर भी मानसिक व्यापारों के द्वारा क्रिया मतान का एकत्व जहा बना रहगा हम उसे वतमान काल में व्यक्त कर सकते हैं । पहले क्रिया विचार के अन्वय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस तरह क्रिया में सद्गति प्रायना आदि अध्यवसाय होते हैं । जानाति दृच्छति तत्ता यतते—मनुष्य पहले जानता है तत्र इच्छा करता है और तत्र उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होता है यह सब तरह के व्यापारों का मनोवैज्ञानिक पहलू है । अतः मानस व्यापारों जब तक विरत न हो तब तक क्रिया भी उपरत नहीं मानी जायगी

सदशनादिफलपय त क्षणसमूह क्रिया । तत्र च भौतिक व्यापारोपरमे
त्यन्तरा सद्गतिप्रायनादे मानस व्यापारस्य यावत्
फलाधिगम तावदविराम एव ।^{६४}

तात्पर्य यह है कि प्रत्यवयव क्रियासमाप्ति न मान कर फलपयानक्रिया समूह के आश्रय से क्रियासमतान का निवर्तन करना चाहिये ।

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जो नित्यप्रवृत्त भाव है जिनका कभी बीच में विच्छेद नहीं होता उन्हें हम वर्तमान काल से किस व्यक्त करके। क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतियोगी है। नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् संभव नहीं है। अतः वर्तमान भी संभव नहीं है। यह कहता ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावों में भूत, भविष्यत् ता संभव नहीं है परन्तु उनका सदा वर्तमान होने के कारण उनका साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहता ही। क्योंकि यहाँ काल का सम्बन्ध उही भावों से होता है जो नियत अवधि वाले होते हैं। साधन के सन्निहित होते हुये जिनकी उत्पत्ति आसन्न होती है उनका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं साधन के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उन्हें हम वर्तमान काल से प्रकट करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जिनके शरीर विलुप्त हो जाते हैं उन्हें हम भूत काल से व्यक्त करते हैं। इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है। फलतः जहाँ भूत और भविष्यत् की संभावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि काल तो क्रियोपाधिक है। नित्यप्रवृत्त भावों में किसी क्रम के न हान के कारण समाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही संभव नहीं है इसलिये वहाँ काल विभाग ही संभव नहीं है।

इसके उत्तर में व्याकरण संप्रदाय के अनुसार भक्त हरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में आत्मा में भेद नहीं होता। भेद परत होता है। सभी भावजात वस्तु उपाधिसमय से भेद प्राप्त करती हैं। अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद संभव है और जब कालविभाग संभव है तो वर्तमान काल भी संभव है। अस्तु पवन ही नदियाँ बहती हैं जिस नित्यप्रवृत्ति के क्षान्त वायु में भी तन तन कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है। राजाओं की क्रियाओं में कालत्व अभिव्यक्ति और साध्यमानता है। अतः उनका साहचर्य से पवता आदि के साथ कालत्व संभव है। फलतः पवन हाँग ऐसे प्रयाग इसी आधार पर हाँग जहाँ भूत भविष्यत् संभव होंगे वर्तमान की उपपत्ति भी उनका साथ हाँगी ही (वाचस्पतीय कालसमुद्देश ८०)।

अथवा एक विस्थापयव क्रिया होती है और एक सस्थापयवक्रिया होती है। पवन के स्थितिरूप व्यापार में सस्थापयव क्रिया है। आत्मकरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है। साध्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उत्पत्ति करने वाला है जिनमें क्रिया के व्यापार में विस्थापयव क्रिया होती है। राजाओं की क्रिया विस्थापयव है। अतः उनमें विभाग संभव है। व प्रणिद्धपरिमाणवाना है। प्रणिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छेदन द्वारा काल कहलाती है। स्थिति भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्न भिन्न हाँग पवन की स्थिति क्षान्त के रूप में कालगत न व्यवस्थित होती है। अतः नित्यप्रवृत्त भावों में ना क्रिया और राजा काल के योग उत्पन्न है। राजाओं का मूल-संचार आदि का वर्णन मानना चाहिये। नित्य पदार्थों में भी अपने आपका प्रतिपन्न कारण करने

की क्रिया में प्रियाण है। गन् व्यवहार में पद का अर्थ ही अर्थ रूप में गहीत होता है। निष्ठति आदि क्रियापदा में अम की अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रियाण-याग नित्य पदार्थों के साथ भी सन् गति के कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश के उद्गहरण बहुत में है। कदापी उस काल का बहने हैं जिस समय मयूर कदापी हान ह (यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो भवन्ति स कलापी—कानिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहा साहचर्य से काल व्यपदेश है (कलापिसहचरित काल कलापी काल—महाभाष्य ४।३।४८)। इसी तरह अन्वत्य और यववुस भी काल वाचक गन् ह जा साहचर्य के आधार पर गन्ति हुए ह।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते ह कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही है भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो मत होनी है अथवा असत् होती है। काद तीसरी कोटि नहीं है। जा क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहलवैगी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिए उसकी छातक क्रिया भविष्यत् से सम्भव जाड़ेगी। बीच में कोई तीसरा क्षण जा सन भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतनि में पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि पात क्रिया का जो अनागत रूप है वह असत्त्व है उसे पतति गद से नहीं कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतिनात होने के कारण अमरत्व है, इस लिये उसमें जिये भी पतति का प्रयाण नहीं हो सकता और इस दशा में भी कोई पतनि का प्रयाण कर तो उसके लिये हिमवान अपि चलति—हिमालय भी हिलता डोलता है—कहना मरत है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनों रूपा में अम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिवर्त्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे अम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था में है सिद्ध विय जान की कोटि में नहीं है इसलिये उमम भी अम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं में निवर्त्यमान क्रिया क्रिया रूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि सदा एक ही क्षण की उपनिधि होनी है। एक में कोई भेद नहीं होता। भेद न होने से उमम को अम भी संभव नहीं है। एक ही क्षण में गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये गच्छति—जाता ह—जस वर्तमान कालिक वक्तव्य अनुपपन्न है

एक एव क्षण उपलभ्यते, नतीतो नापि अनागतो न चकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियादेन संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

इसका समाधान

उपयुक्त आशेष के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवदत्त के एक स्थान में

वर्तमान काल के सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह थी कि जा नित्यप्रवृत्त भाव है, जिसका अभी बीत गया विच्छेद नहीं होता उत हम वर्तमान काल में नग व्यक्त करण । क्योंकि वर्तमानकाल भूत और भविष्यत् काल का प्रतिपादो है । नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भूत और भविष्यत् सम्भव नहीं है । मन् वर्तमान भी सम्भव नहीं है । यह कहना ठीक नहीं होगा कि अविच्छिन्नरूप में सदा प्रवृत्त भावा में भूत भविष्यत् तो सम्भव नहीं है परन्तु उनमें सदा वर्तमान होने के कारण उनमें साथ वर्तमान काल का सम्बन्ध सदा बना रहगा ही । क्योंकि यही काल का सम्बन्ध उदा भावा में होता है जो नियत अवधि वाला होता है । साधन के सन्निहित होने द्वारा जिसकी उत्पत्ति आसन्न होती है उसका सम्बन्ध हम भविष्यत् काल से जोड़ते हैं साधना के बल पर जन्म प्राप्त कर जब तक ठहरे रहते हैं उत हम वर्तमान काल में प्रवृत्त करते हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, जिनके शरीर विनष्ट हो जाते हैं उत हम भूत काल में व्यक्त करते हैं । इसलिये वर्तमान की सत्ता भूत और भविष्यत् के बीच में होती है । फलतः जहाँ भूत और भविष्यत् की सम्भावना नहीं है वहाँ वर्तमान भी सम्भव नहीं है । दूसरी बात यह है कि काल तो त्रिव्योमाधिक है । नित्यप्रवृत्त भावा में किसी क्रम के न होने के कारण प्रमाश्रित साध्यस्वभाववाली क्रिया ही सम्भव नहीं है इसलिये वहाँ काल विभाग ही सम्भव नहीं है ।

इसके उत्तर में ध्यावरण संप्रदाय के अनुसार भक्त हरि का कहना है कि किसी के स्वरूप में, आत्मा में भेद नहीं होता । भेद परत होता है । सभी भावजात वस्तु उपाधिसमय में भेद प्राप्त करती हैं । अतः नित्य प्रवृत्त वस्तुओं में भी कालभेद सम्भव है और जब कालविभाग सम्भव है तो वर्तमान काल भी सम्भव है । अस्तु पवत है तदियाँ बढ़ती हैं जस नित्यप्रवृत्ति के चोला बावया में नी तत तत् कालीन राजाओं की क्रिया के आधार पर काल विभाग किया जा सकता है । राजाओं की क्रियाओं में प्रकल्प भूमिका और साध्यमानता है । अतः उनके साहचर्य से पवता आति के साथ अवस्थिति सम्भव है । पवत से पवत हागे ऐसे प्रयाग इसी आधार पर हागे जब भूत भविष्यत् सम्भव हागे, वर्तमान का उपपत्ति भी उनके साथ होगी ही (वाक्यपदीय कालसमुद्देश ८०) ।

अथवा एक विरूपावयव क्रिया होती है और एक सत्पावयवक्रिया होती है । पवत के स्थितिरूप व्यापार में मरूपावयव क्रिया है । आत्मभरणरूप क्रियावयव एक दूसरे के सदृश है । सादृश्य के कारण उनमें भेद की अभिव्यक्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि पकने आदि के व्यापार में विरूपावयव क्रियाएँ होती हैं । राजाओं की क्रिया विरूपावयव है । अतः उनमें विभाग सम्भव है । वे प्रसिद्धपरिमाणवाली हैं । प्रसिद्ध परिमाणवाली क्रिया ही किसी दूसरी क्रिया के परिच्छिन्न होकर काल कहलाती है । स्थिति भूत आदि के रूप में राजाओं की क्रिया भिन्नभिन्न होकर पवत की स्थिति आदि का भेद हाकर कालगणना से व्यवहृत होती है । अतः नित्यप्रवृत्त भावा में भी क्रिया और तीनों काल के योग उपपन्न हैं । राजक्रिया को सूय-संचार आदि का उपकरण मानना चाहिये । नियमनार्थों में भी अपने आपको प्रतिष्ठाण धारण करने

का निरा म क्रियाव है। गन् यन्त्रहार म शब्द का अर्थ ही अर्थ रूप म गहीत होता है। निष्प्रति आदि क्रियापदा से क्रम की अभिव्यक्ति होती है। शत क्रिया-योग नित्य एतयो क माय भा शब्द शक्ति क कारण है। साहचर्य से काल व्यपदेश क उदाहरण बहुत म हैं। कलापी उम काल का कहन ह जिस समय मयूर कलापी हात है (यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो मर्धति स पलापो—काशिका ४।३।४६)। महाभाष्यकार ने माना है कि यहा साहचर्य स काल व्यपदेश है (कलापिसहचरित काल कलापी काल—महाभाष्य ४।३।४८)। इसी तरह अस्वत्थ और यववुस भी काल वाचक गन् ह जो साहचर्य क आधार पर गठित हुए हैं।

वर्तमानकाल की सत्ता पर आक्षेप

कुछ लोग मानते ह कि यदि काल विभाग है तो वह दो ही हैं भूत और भविष्यत। वर्तमान काल नाम का कोई तीसरा विभाग संभव नहीं है। कोई भी वस्तु या तो सत् होती है अथवा असत् होती है। कोई तीसरी कोटि नहीं है। जा क्षण बीत गया वह सिद्ध स्वभाव का हो गया। फलतः क्रिया भी अतीत कहनावगी। जो क्षण अभी आया नहीं है वह भावी है। इसलिये उसकी श्रोतक क्रिया भविष्यत से सम्बन्ध जाड़ेगी। बीच म कोई तीसरा क्षण जो सत् भी हो और असत् भी हो नहीं है। अतः वर्तमान काल भी नहीं है। पतति म पतनक्रिया की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती। क्याकि पतनक्रिया का जो अनागत रूप है वह असत् है उसे पतति शब्द से नहीं कहा जा सकता। और जो पातक्रिया का अतीत रूप है वह भी अतीत होने के कारण असत्त्व है इस लिये उसका लिय भी पतति का प्रयोग नहीं हो सकता और द्वा दशा म भी कोई पतति का प्रयोग कर तो उसके लिये हिमवान् अपि चलति—हिमालय भी हिचता डोलता है—कहना मरल है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु या तो सत् रूप है या असत् रूप है। इन दोनों रूपों म क्रम संभव नहीं है। जो सत् है वह विद्यमान होने के कारण अनिवार्य है उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है और इसीलिये उसे नम के आश्रय लेने की भी आवश्यकता नहीं है। जो असत् है वह भी असत् अवस्था में है सिद्ध किया जान की लागि म नहीं है इसलिये उभय भी क्रम संभव नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं म निवर्तमान क्रिया क्रिया रूप के अभाव होने के कारण वर्तमानता संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि मन् एव ही क्षण की उपपत्ति होती ह। एक म कोई भूत नहीं होता। भेद न होने स उभय का क्रम भी संभव नहीं है। एक ही क्षण म गमन आदि क्रिया का संभार संभव नहीं है इसलिये मञ्छति—जाता है—जैस वर्तमान कालिक वस्तु अनुपपन्न है

एव एव क्षण उपपद्यते, नातीतो नापि अनागतो न चकस्य क्षणस्य गमनादिक्रियावेन संभवति—महाभाष्यप्रदीप ३।२।१२३

इसका समाधान

उपर्युक्त आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि देवन्त के एक स्थान में

एक ही अवसर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आशसा के अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग वकल्पिक रूप में देखा जाता है। अप्राप्त प्रिय अर्थ के प्राप्त करने की इच्छा को आशसा कहते हैं। यद्यपि प्राथना अथवा इच्छा का सम्बन्ध वर्तमान से है परन्तु आशसा का विषय भविष्यत् काल होता है। इस आधार पर महाभाष्य में इस भविष्यत् काल का माना है (आशसा नाम भविष्यत्काला—महाभाष्य ३।३।१३२)। भविष्यत् काल से सम्बन्ध होते हुए भी उसके साथ भूतकाल (भूत सामान्य) के से प्रलय होते हैं। फलतः वर्तमान भूत और भविष्यत् तीनों काल आशसा की अभिव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं। कुछ लोग आशसा और सभावना को समानार्थक मानते हैं। कुछ लोग सभावना की आशसा का अवयव मानते हैं। कुछ लोग दोनों में कुछ भेद मानते हैं। भेद की दृष्टि से इनमें अन्तर यह है कि आशसा में इप्सित अर्थ की प्राप्ति साधन बल से शक्य और अशक्य दोनों होती है जब कि सभावना में उसकी प्राप्ति शक्य होती है—

आशसा नाम प्रधारितोर्थोऽभिनीतश्चानभिनीतश्च । सभावना नाम प्रधारितोऽर्थोऽभिनीत एव ।—महाभाष्य ३।३।१३२

वस्तुतः आशसा प्रयाक्तधर्म है। वह शब्दाद्य नहीं है। फिर भी आशसा शब्दस्वरूप में निमित्त होती है। पुरुषधर्म में भी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है यह वाक्यपदीयकार का मत है (पुरुषधर्मोऽपि शास्त्रमधिकृतमिति विचारितं वाक्यपदीये—हेलाराज, कालसमुद्देश १०५)।

कभी कभी भूत अर्थ में भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है जैसे कस और बलि की घटना को बीत मैकड़ा वर्ष हो जाने पर भी कम धातर्यानि बलि वधयति। ऐसे वर्तमानकालिक प्रयोग देखे जाते हैं। भाष्यकार के अनुसार इन वाक्यों में वर्तमान काल के प्रयोग का आधार वर्तमान काल में रगमच पर दिखाय जाने वाले कस वध और बलि वधन के व्यापार हैं। शोभिक (नटा के आचार्य) और ग्रन्थिक (कथक) उन व्यापारों की प्रत्यक्ष से दिशाते हैं। कथकग्रन्थिक के मत में उन व्यापारों की बुद्धिविषयकसत्ता रहती है इसलिए वे उन्हें प्रत्यक्ष में व्यक्त करने में समर्थ होते हैं—

शब्दोपहितरूपाश्च (रूपास्तु) बुद्धेर्विषयता गतान् ।

प्रत्यक्षमिव कसादीन् साधनत्वेन गच्छते ॥

—वाक्यपदीय २ साधनसमुद्देश ५ ।

केवल वर्तमान का ही नहीं भूत और भविष्य का भी ऐसा अवसरों पर प्रयोग देखा जाता है। उस एक ही घटना के तीनों कालों में इस तरह प्रयोग देखा जाता है—

जाओ देखो कस मारा जा रहा है (गच्छ ह्यने कस) । जाओ दखा कस मारा जायगा (गच्छ धानिष्यते कस) । अब जाने से क्या लाभ कस मार डाला गया (कि गतेन हत कस) ।

कभी कभी मुख्य वन मान के क्षेत्र म, प्रारंभ अपरिमामाप्त की अवस्था म भूतकाल का व्यवहार दता जाता है । कोई पाटलिपुत्र क लिए चल पटा । एउ त्तिन चीत जाने पर रास्त म ठहर गया । अभी यट पाटलिपुत्र पहुँचा नहीं है और जब तक नहीं पहुँचेगा उसकी गमन त्रिया अपरिमामाप्त मानी जायगी । फिर भी रास्त म एक दिन के बाद ठहर जाने पर भी “माज इतना रास्ता चीत गया (इदमद्य गतम्)” एसा भूतकालिक प्रयोग करते हैं । गमन त्रिया के समाप्त न हान पर भी जितना माग समाप्त हो चुका है उसी का मान कर समाप्ति सूचक भूतकाल का प्रयोग किया जाता है । वस्तुतः त्रिया क कई अवयव होत हैं । शब्द क आधार पर समूह रूप त्रिया का जिस अवयव के साथ सम्बन्ध होना है उसी म उसरी समाप्ति भी हानी है । अवयव का तीना काल से सम्बन्ध होने के कारण त्रिया का भी तीना काल स याग उपपन्न है

शब्देन प्रत्याप्यमाना येन येनावयवेन संबध्यते समूह रूपा क्रिया तस्मिन्नेवाय यवे समाप्यते । तत्र अवयवानां कालत्रययोगात् त्रियाया अपि कालत्रययोग
—कयट महाभाष्यप्रदीप ३।२।१०२

भूतकाल

जिसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है वह भूत शब्द से व्यवृत किया जाता है (यस्य स्थ सत्ता व्यपवक्ता तत्सव भूत शब्देनोच्यते—महाभाष्यप्रदीप २।२।८४) । कभी-कभी अल्प सत्ता की परिसमाप्ति पर भी भूतकाल माना जाता है (एष च व्याप्यो भूतकालो यत्र किंचिदपवृक्त दश्यते—महाभाष्य ३।२।१०२) । उत्पन्न होकर ध्वस्त हुई त्रिया की उपाधि के रूप म भूतकाल का प्रयोग किया जाता है । भत हरि के अनुसार भूतकाल पाच तरह का होता है । हेला राज के अनुसार य पाच प्रकार निम्नलिखित हैं—

- (१) सामान्य भूत,
- (२) अद्यतनभूत
- (३) अनद्यतनभूत
- (४) अद्यतनानद्यतनभूत
- (५) भविष्यत के स्थान पर आरोपितभूत

सामान्यभूत

भूत विशेष का आशय न लेकर केवल सामान्यभूत के अर्थ मे त्रिया का प्रयोग देखा जाता है । पाणिनि ने लुङ लकार से ऐसे ही भूत सामान्य को द्योतित किया है । विशेष मे भी सामान्य होता है और इस आधार पर कभी-कभी विशेषभूत के अर्थ म सामान्यभूत का व्यवहार देखा जाता है । जैसे अगमाम घोषान अपाम पय जस

वाक्यों में विशेषभूत की सम्भावना हाते हुए भी उसकी अविश्वसा से सामान्यभूत का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः विवक्षासूचक अर्थ ही शब्द प्रयोग का निमित्त होता है। विशेषभूत की विश्वसा होने पर उपयुक्त वाक्यों में विशेषभूत के द्योतक लड़ आदि लकारों के प्रयोग हो सकते हैं।

ननु शब्द के साथ प्रश्न के उत्तर देने पर सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल का प्रयोग होता है जैसे— अकार्षीं कट देवदत्त ननु करोमि भो (देवदत्त तुमने चटाई चीन ली जी, अवश्य मैंने चटाई चीन ली)। नु शब्द के साथ प्रत्युत्तर देने में भी सामान्यभूत के अर्थ में वर्तमानकाल व्यवहृत होता है परन्तु विकल्प से। जस, अकार्षीं कट देवदत्त, नु करोमि भो। अथवा, नाकापम।

अद्यतनभूत

अद्यतन की परिभाषा दो तरह की व्याकरण संप्रदाय में प्रसिद्ध है। यासकार, कयट, हरदत्त आदि के अनुसार पूरा दिन बीती हुई रात का अंतिम (चौथा) पहर और आने वाली रात का पहला पहर अद्यतनकाल है

दिवस सकल अतिक्रान्ताया रात्रेश्चतुर्थो याम आगामि-याश्च प्रथमो याम इत्येषोऽद्यतन कालः ।

न्याय ३।२।११०

भट्टोजि दीक्षित के अनुसार बीती हुई पिछली आधी रात से लेकर आगे आने वाली आधी रात तक का समय अद्यतन है

अतीताया रात्रे पश्चाद्धेन आगामि-या पूर्वाद्धेन च सहितो दिवस अद्यतनः ।

—सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ ३०१

वस्तुतः अद्यतन और स्वस्तन शब्द पाणिनि के पूर्व के आचार्यों के ह और अपने मूल रूप में इनका भाव अद्य भव अद्यतन काल इवो भव स्वस्तन काल के रूप में था।

जब अद्यतन में कोई क्रिया समाप्त हुई रहती है उसे अद्यतन भूत के रूप में व्यक्त किया जाता है। यद्यपि महा सामान्यभूत की भी सत्ता है। फिर भी सामान्य में विशेष रहता है। इस आधार पर हम अद्यतन को विशेष मान लेते हैं और सामान्यभूत से अद्यतनभूत को अलग करते हैं।

महाभाष्यकार के अनुसार अद्यतन में भी अद्यतन संभव है। (अद्यतनेऽपि अद्यतनो विद्यते। कथम्। व्यपदेशिवद्भावेन—महाभाष्य ३।२।१११)। अद्यतन का भी एक सामान्य रूप है और उसके भीतर मुहूर्त क्षण आदि के रूप में अद्यतन का एक विशेष रूप भी है। इस तरह समुदाय और अवयव के रूप में भेद मान कर समुदाय अद्यतन में अवयव अद्यतन है ऐसा कहा जा सकता है। वस्तुतः यहाँ अवयव में व्यक्ति रिक्त रूप में समुदाय की सत्ता आधार रूप में नहीं है। एक काल का दूसरे काल के

साथ आधारार्थभाव सवथा कल्पित होता है यथाथ नहा । इस अत हरि न इस रूप में व्यक्त किया ह—

कालस्याप्यपर काल त्रिदिश्यत्येव लोबिका ।

न च निदेशमात्रेण व्यतिरेकोऽनुगम्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, सम्बन्ध समुद्देश ८३

अनद्यतनभूत

अनद्यतन शब्द म बहुव्रीहि समास माना जाता है । जिसम अद्यतन न हो वह अनद्यतन ह । अर्थात् जहा अद्यतन का गन्ध भी ह वहाँ अनद्यतन भूत नहीं होता ह । अनद्यतन भूत का प्रतिनिधि लकार लिट है । अकरोत् अहरत् जसी क्रियाएँ अनद्यतनभूत का व्यस्त करती ह ।

परोक्ष भी अनद्यतनभूत का ही एक भेद है । इसलिय पाच प्रकार के उपयुक्त भूत भेदा स अतिरिक्त के रूप म इसकी गणना अत हरि न नहीं की है । परोक्ष का प्रतिनिधि लकार लिट ह । परोक्ष शब्द म अग्नि शब्द केवल आँख मात्र का बोधक न होकर सभी इन्द्रिया का वाचक माना जाता ह । इसलिय जो इन्द्रिया स परे ह, जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं ह वह परोक्ष ह । एक तरह स सभी धात्वथ परोक्ष ही होते ह क्योंकि धात्वथ वह निया ह जा साध्य ह । जा अभी साध्यमान ह वह असत् ह । जो असत् ह वह इन्द्रियो का विषय नहीं ह । अत धात्वथ परोक्ष होना । फिर भी जहाँ पर साधन प्रत्यक्ष ह उसके आधार पर क्रिया के प्रत्यक्ष की बात तोक म देखी जाती ह । साधन यद्यपि शक्तिरूप ह फिर भी द्रव्याश्रित होने के कारण द्रव्य के प्रत्यक्ष के द्वारा के भी प्रत्यक्ष होने वाले मान लिये जात ह । अथवा शक्ति और शक्तिमान में अभेद की विवक्षा से साधन का ही द्रव्य मान लिया जाता है । जहा द्रव्य का प्रत्यक्ष होता ह वहाँ प्रत्यक्ष का और जहा द्रव्य का परोक्ष होता ह वहाँ परोक्ष का व्यवहार लोक म देखा जाता है ।

पतञ्जलि के समय म परोक्ष के विषय म कई तरह की भायताएँ प्रचलित थी । किसी के अनुसार सौ वर्ष पहल का वक्त परोक्ष था । किसी के अनुसार किसी दिवाल या कुटी से अतर्हित वक्त भी परोक्ष था । कुछ लोग दा तीन दिन पहल बीती हुई घटना का भी परोक्ष मानत थे । कथत के अनुसार इन्द्रिय से अगोचर साधन से साधित सभी अनद्यतन क्रियावाची अथ एक तरह स परोक्ष ह और एस परोक्ष म लिट का प्रयोग साधु ह । पतञ्जलि कल पक्काया' इस अर्थ म 'ह्य पपाच वाक्य गुद्ध ह —

इन्द्रियागोचरसाधनसाधितानद्यतनक्रियावाचिनस्तु

धातोर्लिट प्रत्यय इति निणय । तथा ह्य पपाचेत्याद्यपि भवति । महाभाष्य प्रदीप ३।२।११५

उत्तम पुरुष म 'जहा क्रिया आत्ममाध्य हानी है परोक्ष का व्यवहार चित्तव्याशेष अथवा अपह्लव के आधार पर माना जाता है । भाष्यकार ने इस प्रसंग म

साक गमन की तल्लीनता का उन्नेख किया है जो राजमाग पर स्थित हात दृय भी सामन से जाते हुए शकटा को नहीं देख सके थे । पतजलि के अनुसार मन स संयुक्त होकर इन्द्रिया उपलब्धि म कारण होती हैं । मन यदि पास म नहीं है तो वस्तु प्रत्यक्ष होती हुई भी परोक्ष भी है—

किं पुन कारण जाग्रदपि वतमानकाल नोपलभते । मनसा संयुक्तानि इन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवति, मनसोऽसान्निध्यात् । मन्मथाप्य ३।२।११५

स्वय अनुभूत न होने क कारण जो परोक्ष घटनाएँ हैं परन्तु वक्ता के समय म ही घटित हुई हैं उनके लिय परोक्ष के अथ म अनद्यतन का व्यवहार किया जाता है । अर्थात् लिट के स्थान पर लड लकार का प्रयोग किया जाता है जैसे 'अरुणत यवन साकेतम्' । इस वाक्य म वक्ता के स्थिति काल म साकेत पर यवना का आनमण हुआ था । यह भाव लड के प्रयोग से जान पड़ता है । (अरुणत इत्युदाहरणे तु तुल्यकाल प्रवर्ततेति बोध्यम्—मन्मथाप्यप्रदीपोद्योत ३।२।११५) । इसी तरह ह शब्दवत और आसन काल प्रश्न के सम्बन्ध म भूत अनद्यतन परोक्ष के अथ म लड लकार का प्रयोग पाणिनि ने उपयुक्त माना है ।

वस (निवास करना) क साथ अनद्यतन के अथ मे सामान्यभूत का लकार (लुङ) प्रयुक्त होता है । कोई प्रात काल साकर उठता है । उसम कोई पूछता है 'आप ने रात कहा बिताई' । वह उत्तर देता है — इस स्थान पर रहा (अभुव्य अवात्सम) । परन्तु यहां लड लकार का प्रयोग तभी हाता है जब कि जागरण सतति अथ गम्य हो अर्थात् रात के चौथे पहर म जग जाने के बाद वक्ता फिर नहीं सोया हा । यदि चौथे पहर म जग जाने के बाद वह एक मुहूर्त के लिये भी सोता है 'अवात्सम' के स्थान पर उस अवसम' कहना चाहिय । कयट के अनुसार जागरण सतति का अभिप्राय यह है कि यदि प्रयोक्ता राति के प्रथम तीन पहर जागे जाग ही बिताया हा तभी अवात्सम प्रयोग हागा, यदि बीच म सोकर पुन उठ कर अपने साने की बात वह करता है तो उसे अवसम कहना चाहिय ।

पुरा और स्म क साथ (उपपद रूप म) अनद्यतन भूत के अथ म वतमान काल का व्यवहार देखा जाता है पुरा शब्द के साथ वकल्पक रूप म ही वतमान काल मितता है । जैसे वसतीह पुरा छात्रा । इति स्मोपाध्याय कथयति ।

अद्यतन-अनद्यतनभूत

भूत काल का एक अद्यतन और अनद्यतन का मिश्र रूप भी भक्त हरि ने स्वीकार किया है । अद्यतन और अनद्यतन का समुदाय अनद्यतन स भिन्न है । इसलिये अद्यतना नद्यतन नाम से एक अलग भूतभेद मान लिया गया है । इसका उदाहरण 'अद्य ह्य अभुक्षमहि' है ।

भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत

पाणिनि ने आशसाया भूतवच्च ३।३।१३२ जस सूत्रा द्वारा भविष्यत काल के अथ मे

भूतकाल के प्रत्ययो का विधान किया है। ऐसे स्थला के लिये भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होने से इसे एक अलग भूत भेद मान लिया गया है।

भविष्यत् काल

भत हरि के अनुसार भविष्यत् काल चार प्रकार का है—

- (१) सामान्य भविष्यत्,
- (२) अनद्यतन भविष्यत्,
- (३) अनद्यतन भविष्यत्
- (४) अनद्यतनानद्यतन भविष्यत्।

इनमें सामान्य भविष्यत् का निर्देशक लट लकार है। अनद्यतन भविष्यत् के लिए भी लुट का प्रयोग किया जाता है। अनद्यतन भविष्यत् अनद्यतन भूत की तरह है। इसका चोतक लुट लकार है। अनद्यतनानद्यतनसमुदाय अनद्यतन और अनद्यतन भविष्यत् से भिन्न है।

जिस तरह भविष्यत् के स्थान पर आरोपित भूत होता है उसी तरह अनद्यतन भूत के अथ म भविष्यत् काल का भी आरोप देखा जाता है विशेषकर स्मरणायक धातुओं के साथ। जस, अभिजानासि देवदत्त यत कश्मीरेषु वत्स्याम। परन्तु भत हरि ने इसे अलग भविष्यत् भेद के रूप में स्वीकृत नहीं किया है इसी तरह अनद्यतन भविष्यत् होत हुए भी निम्न सामान्यभविष्यत् के प्रत्यय आदि प्रतिषेध के आधार पर किये जाते हैं उन्हें सामान्य भविष्यत् में ही परिगणित करना चाहिए (यस्तु अनद्यतनवत् प्रतिषेधात् भविष्यत् सामान्यकार्याणि प्रतिषेधते सोऽनद्यतनोपि शास्त्र व्यवहारो भविष्यत्सामान्यमेव—हेताराज काल समुद्देश २८)।

परिद्वन्द्व (खेत्) के अथ म अनद्यतनभविष्यत् के लिये अनद्यतन भविष्यत् का प्रयोग साधु माना जाता है जैसे इय कदा नु गता या एव पादो निदधाति (जब यह इस तरह से पर रख रही है तब कब पहुँच सकेगी)। पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य लुट को स्वस्तनी और लट को भविष्यन्ती कहते थे।

लोक में भविष्यत् के अथ म भूत का प्रयोग एक वाक्य में देखा जाता था। वह वाक्य यह है—द्वन्द्वं वष्ट निष्पन्ना गालय (यदि पानी बरसगा धान की फसल अच्छी होगी)। वस्तुन सपत्स्यन्त गालय कहना चाहिये क्योंकि अभी धान होने वाला है वे अभी निष्पन्न नहीं हुए हैं। फिर भी जनना भविष्यत् काल का प्रयोग नहीं करती थी और यदि कोई भविष्यत् काल का प्रयोग (सपत्स्यन्त) कर देता था तो उससे क्या जाता था कि सपत्स्यन्ते के स्थान पर सपन्ना कहा। वाक्य पनीयकार ने यहाँ भूतकाल के प्रयोग के पक्ष में कुछ अपन सुभाव दिये हैं।

उनके मत में निष्पत्ति गन्तव्य दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो आरम्भ या फल का उत्पत्ति के कारण है और दूसरा फल का सिद्ध होना। जहाँ तक धान की निष्पत्ति का प्रश्न है पहले अर्थ के अनुसार जल और गालि का संयोग ही निष्पत्ति है। धान के सिद्ध होने में जल गालि का संयोग सम्पन्न होने वाली अवस्था का एक अवयव

है। वह वषण क्रिया मात्र से सिद्ध है। धान की जो फसल होगी उसके बहुत पहले ही जल शालि का संयोग घटित हो गया रहता है। इस आधार पर क्रिया अतीत मान ली जायगी और भविष्यत् के स्थान पर भूत का (निष्पन्न शब्द का) प्रयोग उपपन्न हो सकेगा।

यदि निष्पत्ति शब्द का दूसरा अर्थ, फल प्रसव रूप अर्थ लिया जायगा तब भी उपयुक्त वाक्य में भूतकाल के व्यवहार का समर्थन किया जा सकता है। धान की निष्पत्ति का अर्थ फल रूप धान का सम्पन्न होना है। उसके कारण जल शालि संयोग आदि है। वायु के धम का कारण के धमों में अध्यास किया जाता है। इस आधार पर फलनिष्पन्नरूप वायु का जल शालि संयोग में अध्यास हो जायगा। जल शालि का संयोग केवल वषण क्रिया से सिद्ध हो जाने के कारण क्रिया अतीत मान ली जायगी। फलतः फल निष्पत्ति भी अध्यास्त रूप में अतीत ही मानी जायगी और इस तरह निष्पन्न शब्द का व्यवहार भविष्यत् के अर्थ में भूत का प्रयोग उपपन्न हो जायगा।^{११}

अथवा वायु में कारण के धम का अध्यास किया जायगा। धान की फल निष्पत्ति वायु है। जल शालि का संयोग कारण है। उसका वषण क्रिया अतीत धम है उस धम का निष्पत्ति में आरोप कर निष्पत्ति को अतीत मान निष्पन्ना शालि कहा जा सकता है। पूर्व वाले मत से इस मत में इतना ही अंतर है कि पहले कारण धम में वायु धम का आरोप कहा गया था इसमें फल में कारण धम का अध्यास कहा गया है। कात्यायन ने हनुभूतकालसंश्रितत्वात् (वातिक, महाभाष्य ३।३।१३३) के द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। धान की निष्पत्ति में हनुभूत वषा आदि हैं। वर्षा के काल का (अतीत का) धान की संपन्नता रूप वायु में अपभा की जाती है अर्थात् वायु और कारण में अभेद मान कर कारण का ही वायु रूप में व्यक्त किया जाता है। इस तरह औपचारिक व्यवहार कराने का प्रयोजन किसी विशेष कारण या अर्थ कारणों की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न जताना है। यदि इस तरह से शालि निष्पन्न माना जायगा तो उससे भोजन आदि के व्यापार (अर्थक्रिया) भी तुरन्त क्यों नहीं होन लगते? हमके उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि जो धान यथाथरूप में निष्पन्न हो चुके हैं और खलिहान में उठाकर काठला (कोष्ठ) में रख गये हैं वे भी तुरन्त बिना किसी दूसरी क्रिया के सहारा लिये अर्थ क्रिया के उपयोगी नहीं होते। उन्हें भी भोजन के योग्य होने के लिये अवहनन (मूल से छाटना) आदि व्यापारों की अपेक्षा होगी है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई विद्यमान वस्तु अर्थ क्रिया को नहीं कर रही है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें अर्थ क्रिया की शक्ति ही नहीं है। उसमें भी अर्थ क्रिया की शक्ति अभिन्नरूप में हो सकती है। इसलिए निष्पन्न कहे जाने वाले पर अभी अनिष्पन्न शालि भी जनन आदि क्रिया की प्रतीक्षा करने वाले कहे जा सकते हैं। और अर्थक्रियाशक्ति संपन्न मान जा सकते हैं।

इस प्रसंग में भट्ट हरि ने निष्पत्ति और सिद्धि में थोड़ा सा भेद दिखाया है

जा प्याग देग मोन है । भन हरि क मगुमार निगति क हेतु घनसिन्धु हात है, उगती कारण गति की गरिबता डीर डीर गती हा पा ॥ है । जवनि गिदि का भाग्य सग सतिगिती और स्वसिन्धु हात है । निगति का सम्बन्ध हनुन म घोर पयत्रय माना ग है जवनि गिदि का सम्बन्ध पय म ही है । निगति बाध गतिपना के घपीन है जव नि गिदि घातरण गापा क घपीन है

निष्पत्तायपि भविष्यत् किय प्रविष्टिगि ।

हेतुमसम्बन्धान पतनमेति बोध्यते ॥

अद्विष्टतापनापीना तित्ति यंत्र विषयिता ।

तत् साधनात्तरामायात् तित्तिमित्युपदिश्यते ॥

—वाक्यपनीय ३ कालमनुष्टुप १०६ ११०

भन हरि न अविधिगत क आधार पर उगनु स बाध म भूत भविष्यत् और वामान मीना कान क प्रयोग का समया दिया है निगता घातय निगत्स्यन् घातय निष्पत्तये घातय यतीना यातय विषयानुसार प्रयुक्त हा गता है । भन हरि न समय माना काना की माया पर जार दिया है । इस क पीछे उतरा गता-गता है । गता म एव रूप है । जा पयिक उस प्रत्यय गता रहा है उगन निय रूप की घनमान-गता है जा उग देग चुवा है उसर लिए उग रूप की भूत गता है और जो उग घभी गता उगन निय उग रूप की भविष्यत्-गता है । इन्द्रिय सम्बन्ध या अगम्बन्ध क आधार पर एव ही गता भिन भिन व्यपदेश वाली है । साथ ही वस्तु की बोद्धि गता गता घनमान रूप म उपलब्ध हो सक्ती है । इस आधार स रूप है जम वतमानरातिग प्रयोग गवया उपपन्न है । इस तरह की उपलब्धि म भूत भविष्यत् घाति की विवक्षा प्राधान्य म नही उठती, बवल वस्तु क सामान्य की विवक्षा मानसिक ग्रहण म देखी जाती है

सत्तामिन्द्रियसम्बन्धात् सव सत्ता विगिष्यते ।

भेदेन व्यवहारो हि वस्तुवत्तरनिर्वाचन ॥

अस्तित्व वस्तुमात्रस्य बुद्ध्या तु परिगृह्यते ।

य समासादनाद भेद स तत्र न विवक्षित ।

—वाक्यपनीय ३ कालमनुष्टुप ११२ ११३

क्रियातिपत्ति में भूत और भविष्यत्

जब किसी प्रतिबन्धक क कारण अथवा सामग्री की विकलता से किसी क्रिया की उत्पत्ति बिल्कुल नही हो पाती है उस क्रियातिपत्ति कहते हैं कुतश्चिद् वगुण्याद अनभिनिवृत्ति क्रियाया क्रियातिपत्ति—वाशिका ३।३।१३६ । अब प्रश्न यह है कि क्रिया की अनुत्पत्ति के साथ भूत या भविष्यत् का सम्बन्ध नहा जोडा जा सकता । क्योंकि भूत उत्पन्न के अतिगान अवस्था का द्योतित करता है जो अनुत्पन्न है उस के साथ उसका सम्बन्ध दुषट है । इसी तरह साधनसतिधान क हात हुए समाविन उत्पत्ति भविष्यत् का क्षेत्र है । अनुत्पन्न स उसका भी सम्बन्ध कठिन है ।

भत हरि ने इस प्रश्न का समाधान अवधिभेद से विषयभेद के आधार पर किया है। यदि कमलकम आह्वास्यन न शकट पर्याभविष्यत (यदि कमलक को बुलाता गाड़ी नहीं टूटती)। कमलक एक ऐसा व्यक्ति है जो शकट को सभालन में कुशल है उसकी कुशलता पूर्व के अवमरो पर परीक्षित है। इसलिए भविष्य में भी कमलक का आह्वान शकट की सुरक्षा में साधक हो सकता है ऐसा समझना स्वाभाविक है। शास्त्रीय शब्द में यही लिंग है और कमलक का आह्वान सामान्य धर्म है। यहाँ कमलक के पुकारे जान की और गाड़ी के टूटने की अनिपत्ति है और वह प्रमाणांतर गय है। कमलक के पुकारे जान की अनिपत्ति उसके दशान्तर चले जाने से सम्भव है और गाड़ी का भग हाना भी अत्यधिक भार आदि से सम्भव है। इस बात को समझते हुए ही वक्ता ने उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया है। इसमें कमलक के आह्वान और शकट के न टूटने में हेतुहेतुमदभाव है। इस वाक्य से इन दोनों की अनिपत्ति भविष्यत कालिक जान पड़ती है। वर्तमान में तो वह देख ही रहा है कि कमलक को बुलाया नहीं जा सकता और न गाड़ी ही टूटने से बचाई जा सकती है। अतः यहाँ भविष्यत काल सम्बन्धी क्रियातिपत्ति है। अर्थात् काल का अवच्छेद भविष्यत रूप में होने के कारण क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भी भविष्यत से हो गया है।

इसी तरह क्रियातिपत्ति का सम्बन्ध भूतकाल से भी हो जाता है। जैसे कोई किसी से कह रहा है— मैं अपने भूखे पुत्र को भोजन की फिराक में इधर-उधर घूमते देखा है एक दूसरे आदमी को भी देखा जो भोजन कराने के लिये ब्राह्मण की खोज में घूम रहा था। यदि उसे देखा होता अवश्य खिलाता परन्तु उसने भोजन नहीं किया वह दूसरे रास्ते से चला गया। इस उक्ति में न भोजन करने का व्यापार जो भोजन का प्रतिद्वन्द्वी है, भूतकाल के रूप में व्यक्त किया गया है वह अतीत को विषय हो गया है। इसलिये क्रियातिपत्ति भी अतीत विषय वाली जान पड़ती है। इसलिये यहाँ उसका व्यवहार भूत रूप में किया गया है।

नागार्जुन के अनुसार ऐम स्थाना में भविष्यत आदि का आरोप किया जाता है और इस आरोपित अर्थ के द्वारा ही क्रियातिपत्ति का भविष्यत आदि से सम्बन्ध होता है—

साधनाभावाद असंविध्यदपि वस्तुनि भविष्यत्वम आरोप्यते निषेधप्रतियो
गित्वायेत्यदोपात्तः। सुमिक्षमवन हेतुमुवष्टिभवन भविष्यत्वेन असम्भावयन
एकमभिष्यते। एव हि क्रियातिपत्ति अवगता भवति—मजूपा, पृष्ठ ६२३

व्यामिश्र काल

संस्कृत में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिनमें दो विरुद्ध काल एक साथ उक्त होते हैं जैसे—

(१) भावि कृत्य आसीत्

(२) अग्नि नामशाज्यस्य पुत्री जनिता

- (३) साटोपमुर्वीमनिश नदन्तो ये प्लावयिष्यन्ति मम ततोमी
(४) गोमान आसीत आदि ।

इनम प्रथम वाक्य म भावि शब्द म भविष्यतकाल का प्रत्यय है आसीत भूतकाल का है । द्वितीय वाक्य म अग्निष्टोमयाजी शब्द म भूत काल का प्रत्यय है, जनिता भविष्यत काल है । ततीय वाक्य म नदन्त वतमानकाल का प्लावयिष्यन्ति' भविष्यत काल से सम्बन्ध है । चतुथ वाक्य मे वतमान काल का भूतकाल स सम्बन्ध है । पाणिनि ने इस तरह के प्रयोगों की साधुता दिखाने के लिय धातु सम्बन्धे प्रत्यया' ३।४।१ इस सूत्र का निर्माण किया था । धात्वर्थों मे परस्पर सम्बन्ध सम्भव है । वह विशपण विशप्यभाव रूप म होता है । सुवतवाच्य अथ विशेषण होता है और तडित वाच्य अथ प्रधान होने क कारण विशप्य होता है । अग्निष्टोमयाजी म भूतकाल विशपण है जनिता नद म भविष्यत काल विगप्य है । विशपणविशेष्यसम्बन्ध के वल पर भूतकाल भविष्यत काल से मिल कर भविष्यतकाल हो जाता है । अत उपयुक्त वाक्य का भाव हो जाता है— इसको ऐसा पुत्र होगा जो अग्निष्टोम से यज्ञ करेगा । इसलिये पाणिनि का उपयुक्त सूत्र से अभिप्राय यही था कि धातु के सम्बन्ध म कालांतरविहित प्रत्यय वाले शब्दों का किसी अयकाल के साथ सम्बन्ध सम्भव हो सक और उह साध माना जाय । परन्तु महाभाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है और सत हरि आदि न इस सम्बन्ध म महाभाष्यकार का अनुकरण किया है । कात्यायन क अनुसार प्रत्यय के यथाकाल विधान से काम चल जायगा । जिस तरह से 'इन सूत्रों स साडी बनाओ इस वाक्य स साडी की भावि व्यपदेश रूप म प्रतिपत्ति होता है उसी तरह अग्निष्टोमयाजी क भूत का जनिता क भविष्यत क सहारे भावि व्यपदेश हो जायगा । उपपन्न म विशपण म विशप्य के काल स अय काल का हाना अस्वाभाविक नही है परन्तु वाक्य क सामर्थ्य स विशेषण का काल विशप्य के काल स सम्बन्ध होकर ही भासित होगा । इसलिय सूत्र के बिना भी काम चल सकता है । किन्तु भूत-हरि न सूत्र की सायकता क पक्ष में भी अपने विचार यस्त किय ह । व्यामिश्रकाल म भूत और भविष्यत आदि के एक साथ प्रयोग को मायता देने के लिय सूत्र की साथ-कता है—

गुढ च काले व्याख्यातमामिश्रे न प्रसिष्यति ।
साधुत्वमययाकाल तन सूत्रेणोपदिष्यते ॥१॥

इस तरह म वाक्यपणीय में ग्यारह तरह क वानभट्ट का विवचन किया गया है

भूत पञ्चविधस्तत्र भविष्यच्च चतुर्विध ।
वतमानो द्विधा स्यात इत्येकादश कल्पना ॥१॥

परन्तु भूतहरि-दशन में ये सब भेद व्यवहार की सुविधा की दृष्टि से कल्पित हैं, यथाथ नहीं हैं। कालाख्य स्वतःशक्ति भेद से सवथा रहित है—

विकल्परूप भजते तत्त्वमेवाविकल्पितम् ।

न चात्र कालभेदोस्ति कालभेदश्च गृह्यते ॥^{६६}

दिक् और काल

भारतीय विचार परम्परा में दिक् और काल साथ-साथ आते रहते हैं। व्याकरण में भी इनका साहचर्य है। पाणिनि ने कई नियम दोनों के लिये साथ-साथ व्यक्त किये हैं जैसे दिग्देशकालोवस्ताति ॥३॥२७॥ भूत हरि ने भी काल की तरह दिक् पर भी विचार किया है।

भूत हरि के दशन में दिक् और काल में कई तरह के साम्य है। जिस तरह वे काल को शक्ति मानते हैं वैसे ही दिक् का भी शक्ति मानत है —

शक्तिरूपे पदार्थानामत्यन्तमनवस्थित ।

दिक् साधन त्रिया काल इति वस्त्वभिधायिना ॥

—वाक्यपदीय दिक् समुद्देश १

कालशक्ति त्रिया का भेदक है और दिक् शक्ति मूर्ति का (कालात त्रियाविमज्यते आकाशात् सव मूर्तय —वाक्यपदीय २, साधनसमुद्देश, अधिकरण ६) ।

दिक् और काल दोनों क्रम के आधार पर भेदक होते हैं। दश भेद चलने वाले (गता) की गति से स्पष्ट है। ठहरने (तिष्ठति) में भी दश भेद है। काल भेद तो क्रमाश्रित है ही। योगपद्य में भी परमाथत क्रम रहता है।

भूत हरि के अनुसार दिक् अवधि और अवधिमान में भेद का हनु है। ऋजु या वक्र के पान का निमित्त भी निक् है। कम के त्रियक ऊर्ध्व आदि के व्यजक भ्रमण उत्प्रेषण आदि जातिभेद की अभिव्यक्ति भी दिक् के ही आश्रय से होनी है। दिक् शक्ति एक है फिर भी उपाधिभेद से दश प्रकार की मानी जाती है। दिक् के सहारे ही परत्व और अपरत्व विवेचन होता है। मूर्ति (सवगतद्रव्यपरिमाण) में क्रमरूप की कल्पना दिगाश्रित है। असूत आकाश में भी परत्व अपरत्व वस्तुआ के सयोग विभाग के आधार पर औपाधिक रूप में माने जाते हैं।^१ इसी पूर्व अपर आदि पाना के चल पर दिक् की सत्ता का अनुमान किया जाता है (यथा पूर्वापरादि प्रत्ययलक्षणेन कार्येण अनुमित सत्त्वा तयाम्युपगतव्या शक्तिरूपा निक्—हेताराज, दिक् समुद्देश ७)

भूत हरि ने दिक् की बाह्य सत्ता के अनिरिक्त उमकी आंतरिक सत्ता भी मानी

है । उनके अनुसार दिक् अत करण का एक धम है जो बाह्य रूप म, पूव प्रपर रूप म प्रकाशित होता है । दिक् का कोई बाह्य रूप नहीं है (न बाह्या काचिद दिगस्ति—हेलाराज, दिक् समुददेश २३) ।

अत करणधर्मो वा वहिरेव प्रकाशते ।^{७१}

उपग्रह-पुरुष-सख्या-विचार

उपग्रह शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्यों का जान पड़ता है यद्यपि निष्क और प्रातिशाख्यो में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता किन्तु कात्यायन, पतञ्जलि आदि न इसका व्यवहार पारिभाषिक रूप में किया है। पाणिनि-सूत्रों में यह शब्द नहीं है। पाणिनि के एक सूत्र 'चूर्णाद्यप्राणिषष्ठया' ६।२।१३४ का पाठभेद 'चूर्णादीयप्राण्युपग्रहात्' इस रूप में मिलता है। इसका उल्लेख काशिका में वामन ने किया है। इसमें उपग्रह शब्द है। वामन के अनुसार पूर्व के आचार्य षष्ठयन्त को उपग्रह कहते थे

चूर्णादीयप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठात्तरम । तत्रोपग्रह इति षष्ठयन्तमेव
पूर्वाचार्यानिरोधेन गृह्यते ।—काशिका ६।२।१३४
पूर्वाचार्या हि षष्ठयन्तमुपग्रह इत्येवमुपचरन्ति स्म ।

—यास ६।२।१३४

किन्तु आख्यातगम्य उपग्रह षष्ठयन्त-उपग्रह में भिन्न है। आख्यातगम्य उपग्रह शब्द का प्रयोग कात्यायन ने उपग्रह प्रतिषेधश्च (वार्तिक ३।२।२२७) में किया है। महाभाष्य में पारिभाषिक उपग्रह शब्द का व्यवहार कई स्थलों पर मिलता है। जैसे—

न निष्ठापरस्यानुप्रयोगेण पुरुषोपग्रहो विनियतो स्याताम् ।

महाभाष्य ३।१।८०

मुपतिङ्गुपग्रह लिङ्गनराणां कालहलचस्वरक्त यडा च ।

व्यत्ययमिच्छन्ति नास्त्रकृदेया सोपि च सिध्यति बाहुल्येन ॥

—महाभाष्य ३।१।८४

तिङ्मिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिध्यज्यते ।

—महाभाष्य ३।१।६७

उपग्रह की परिभाषा

सन्द्स्वामी न उपग्रह के स्वरूप बनलात हुए उसे वत गामी और परगामी लक्षण वाला माना है। आत्मनेपद के उच्चारण से फल वत गामी जान पड़ता है और परस्मैपद

२४६ / ससृष्ट व्याकरण-दर्शन

के उच्चारण से फल परगामी जान पड़ता है —

उपग्रह कत गामि परगामित्व लक्षण । स्वर्गितञ्जित आत्मनेपद उच्चारिते
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति कत गामिफलत्व प्रतीयते । परस्मपदे तु
यजति याजका इति परगामिफलत्वम् ।^१

जिनेन्द्र बुद्धि के अनुसार उपग्रह एक तरह का क्रिया विशेष है परन्तु उससे
आत्मनेपद और परस्मपद इसलिय गहीत होते हैं कि वे ही उसकी अभिव्यक्ति में
निमित्त हैं—

लादेश व्यङ्ग्य क्रियाविशेषो मुख्य उपग्रह । इह तु तद व्यक्तिनिमित्तत्वात्
परस्मपदात्मनेपदयोवतते ।^२

इसको भट्टोजि दीक्षित ने यों कहा है —

लादेश व्यङ्ग्य क्रियासाधनविशेषरूप स्वायपराधत्वादिश्चोपग्रहशब्दस्य
वाच्य ।^३

इन सब उक्तियों का आधार वाक्यपदीय है । उपग्रह की परिभाषा वाक्यपदीय
में ही सवप्रथम देख पड़ती है । वह या है —

य आत्मनेपदाद् भेद क्वचिदयस्य गम्यते ।
अयतश्चापि लादेशात्मन्यते तमुपग्रहम् ॥^४

आत्मनेपद या परस्मपद के प्रयोग से क्रिया या साधन के किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसका सम्बन्ध सीधे कर्त्ता से होता है अथवा कर्त्ता से अर्थ किसी दूसरे में होना है । इसी क्रिया या साधन के विनाश को उपग्रह कहा जाता है । हला राज के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इसी अर्थ में उपग्रह शब्द का व्यवहार किया था और उसी आधार पर उन्हीं अर्थ में यह शब्द सप्रति व्याकरण-दर्शन में गहीत है — (पूर्वाचार्यप्रसिद्ध योपग्रहशब्दवाच्योऽयमर्थो व्यवहृतस्तत्र शास्त्र—हेताराज, उपग्रह समुद्ग १) ।

साधन उपग्रह रूप में

कम कर्त्ता जैसे साधन आत्मनेपद से व्यग्य हान के कारण उपग्रह कही कहा कह जात है । जस पच्यत गम्यत जस शान्तं म आत्मनेपद से कम धातिन हाना है । एधन

- १ निरुक्तमर्थः १ पृष्ठ ६ ला० लक्ष्मण स्वर्ण द्वारा सम्पादित ।
२ काशिका विवरण पत्रिका ३।१।८२
३ शब्द बौध्द १ पृष्ठ ८६६ (चौखन्ना सम्प्रदाय)
४ कस्यचित् ३, उपग्रह समुद्ग १

याति जैसे शब्दों में आत्मनपद और परस्मैपद से कर्त्ता व्यक्त है। कभी कभी भाव भी साधन के रूप में व्यवहृत होता है और वह आत्मनपद से अभिव्यक्त होता है। जैसे आस्त शय्यते जस पत्नी मे आत्मनपद के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति होती है, भाव क्रिया के एकपदवाच्य साधनावश को अभिव्यक्त करता हुआ स्वयं साधन हो जाता है। कभी कभी उपग्रह साधन के विशेषणरूप में व्यक्त होता है विशेषकर व्यक्तवाक के अर्थ में। जैसे सप्रवदन्त ब्राह्मणा' इस वाक्य में उपग्रह साधन का विशेषण है। यद्यपि गुण, सारिका आदि के उच्चारण में भी वर्णों के स्पष्ट उच्चारण जान पड़ता है किन्तु वे सीमित या इन गिने वर्णों में ही स्पष्ट जान पड़ते हैं और वह भी पुरुष के प्रयत्न से बहुत दिन तक मिथान रटान से संभव हो पाता है। इसलिये उनके लिये वदन्ति शब्द का ही प्रयोग होता है वदत शब्द का नहीं।

क्रियाविशेष उपग्रह रूप में

कभी कभी क्रियाविशेष उपग्रह होते हैं। जैसे गन्धन (पीड़ा पहुँचाने वाली निंदा) और अवशोषण (भक्षण) धातु से वाच्य क्रियाविशेष होते हुए भी जब तक आत्मनपद से न व्यक्त किया जाय तब तक अनभिव्यक्त ही रहते हैं। जैसे उत्कुरस्त। इस शब्द से हिंसात्मक निंदा का अर्थ आत्मनपद के प्रयोग से ही जान पड़ता है। इसी तरह 'इयेन वनिकाम उदाकुरस्ते' इस वाक्य में इयेन द्वारा वनिका की भक्षण उदाकुरस्ते में आत्मनपद के प्रयोग से अवगत होती है। इसी तरह कर्मव्यतिहार भी क्रियाविशेष के रूप में आत्मनपद से व्यक्त होकर उपग्रह होता है। कर्मव्यतिहार का अभिप्राय यही क्रिया-व्यतिहार है। जब एक सम्बन्धी क्रिया को कोई दूसरा व्यक्ति करने लगता है और दूसरे के लिये नियत क्रिया का जब पहला व्यक्ति करने लगता है उसे कर्म व्यतिहार अथवा क्रिया-व्यतिहार कहते हैं (यथाय सर्वधर्मा क्रियामय करोति, इतर सम्बन्धिनी चेतरे स कर्म व्यतिहार — काशिका १।३।१४)। क्रिया के साध्यस्वभाव के होने के कारण क्रियायि होने के कारण उनमें व्यतिहार अथवा विनिमय यद्यपि संभव नहीं है फिर भी साध्य साधन का विपर्यास संभव है। योग्यतावश से अमुक व्यक्ति को यह क्रिया साध्य है और अमुक का यह साधन है इस तरह के जान होते हुए भी जब साध्यसाधनभाव में व्यत्यास हो जाता है उस क्रियाव्यतिहार कहते हैं। वस्तुतः क्रिया अभी करने वाले को अभीष्ट रहनी है 'मैं इस क्रिया को करूँगा' इस तरह के विचार उसके मन में रहते हैं तभी कोई दूसरा व्यक्ति उस क्रिया को करने लग तो क्रिया व्यतिहार होता है जैसे व्यतिलुनीते। इसका अभिप्राय है कि अय द्वारा काटे जाने वाले धान को पहले ही कोई दूसरा काट रहा है। यही आत्मनपद से यही व्यत्यास द्योतित है। फलतः क्रियाव्यतिहार भी उपग्रह माना जाता है। क्रिया व्यतिहार में तो आत्मनपद होता है परन्तु साधनकर्म व्यतिहार में नहीं होता जैसे देवदत्तस्य धाय व्यतिलुनीति (देवदत्त द्वारा सग्रहीत धाय का कोई अय सग्रह कर रहे हैं)। यही अय सम्बन्धी धाय का अय द्वारा सग्रह किया जाने के कारण साधन-

कर्म-व्यतिहार है। इसे परस्मपद से ही व्युत्पन्न किया जाता है। कभी कभी परस्परकरण भी त्रिया व्यतिहार होता है जैसे—'सप्रहुरत राजान'। इस वाक्य में एक ही त्रिया सचारिणी सी जान पड़ती है। त्रिया व्यतिहार प्रायः उपसर्ग से द्योतित किया जाता है (उपसर्गादिच प्रायः कर्म-व्यतिहारद्योतनाय प्रयुज्यते—कण्ट, महाभाष्यप्रदीप १।३।१६) उपसर्गों में भी प्रायः व्यति (वि और अति) ही त्रिया-व्यतिहार के लिए प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी सम भी प्रयुक्त होता है। त्रिया व्यतिहार प्रायः अनेक कृत क होता है इसलिये उसके लिये त्रियाशब्द सदा बहुवचन में ही होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। किन्तु 'अया व्यतिस्तु तु ममापि धर्म' जैसे वाक्यों में एकवचन का प्रयोग भी देखा जाता है।

विषयभेद के आधार पर त्रिया विशेष उपग्रह रूप में

एक ही त्रिया विषयभेद से भिन्न भिन्न मान ली जाती है और उसके भिन्न स्वरूप आत्मनपद और परस्मपद से द्योतित किया जाता है। पचति और पचन में अन्तर है। पचति शब्द में परस्मपद इस बात का द्योतक है कि पकाने वाले की पकाने की त्रिया जीविका रूप में है वह केवल भक्ष्य की तरह का व्यापार है। यहाँ प्रधान त्रिया फल कृत गामी नहीं है भक्ष्य के लिये वेतन मात्र फल है। किन्तु पचते में आत्मनपद से यह ध्वनित होता है कि पाक त्रिया का प्रधान फल कर्त्ता का मिलना। कर्त्ता अपने लिये ही पका रहा है। विषयभेद के आधार पर त्रिया का भेद वाक्य में भी दिखाई दे सकता है। जैसे स्व यन् यजत और स्व यन् यजति। यह भ्रम हो सकता है कि परस्मपद से द्योतित (यजति) प्रधान त्रिया फल कृत गामी नहीं होगा। ऐसे भ्रम के निवारण के लिये ही विभाषापदना प्रतीयमान' (१।३।७७) सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् उपपत्ति (समीप में उच्चरित न कि पारिभाषिक) से द्योतित त्रियाफल कृत गामी होगा चाहे वह आत्मनपद से द्योतित हो अथवा परस्मपद से। फलतः स्व कट करोति और स्व कट कुम्भ में फल को दष्टि से काँट अन्तर नहीं है।^५ वस्तुतः इन वाक्यों में प्रधानफल कृत गामित्व के रूप में द्योतित स्व शब्द की शक्ति के कारण होता है। अतः विषयभेद से त्रिया भेद के आधार पर कही कही त्रियाविशेषण भी उपग्रह हो सकते हैं।

इस प्रसंग में महाभाष्यकार ने यह प्रश्न उठाया है कि याति वाति जसी त्रियाप्रा में आत्मनपद क्या होता है। क्याकि जय त्रिया फल कृत अभिप्राय वाला (कृत गामी) हो आत्मनपद होता है। एक तरह से सभी त्रिया फल कृत अभिप्राय वाला होते हैं। हमका समाधान स्पष्ट उद्घाटन किया है। उनका कहना है कि उन धातुप्रा में आत्मनपद होगा जिनके त्रिया फल कृत अभिप्रायवाचक और अनन्त अभिप्राय वाचक भी होंगे। या या जस धातु कृत गामी और अनन्त गामी भी त्रिया फल

वाले नहीं हैं। इसलिये इनसे आत्मनमद नहीं होता। पाणिनि ने, महाभाष्यकार के अनुसार एम भी स्वरित जित धातु पड़े हैं जिनके क्रियाफल कत गामी भी हैं और अवन-गामी भी हैं। फलतः स्वरितजित कत्र भिप्राय नियाफने' १।१।७२ इस सूत्र में स्वरितजित की आवश्यकता नहीं है।^६ यद्यपि पाणिनि ने धातुआ म अ आदि अनुबन्ध को लक्ष्य कर ही स्वरितजित् ग्रहण किया होगा और इस दृष्टि से स्वरितजित की साधकता भी है परन्तु प्रत्याख्यान के पश्चात्ती ङकार आदि अनुबन्ध को धातु की स्वाभाविक शक्ति के धातक मानते हैं (स्वाभाविको हि धातूना शक्ति निवृत्तविषया ङकाराद्यनुबन्ध तदवगमाय कृता गणकार — हैलारान उपग्रहसमुद्देश ११)। भत हरि के अनुसार ङकार आदि अनुबन्ध स्मरणाधिक हैं। जा लोग केवल प्रयाग स धातु के स्वाभाविक अर्थ के समझन में ग्रममय हैं उनको] लिय अनुबन्ध का विश्वास किया गया है। प्रयागन के लिये उनकी आवश्यकता नहीं है

अनुबन्धश्च सिद्धेऽर्थे स्मृत्ययमनुपपद्यते^७

कुछ लोग के अनुसार स्वाय की दृष्टि से जब क्रिया आरम्भ की जाती है आत्मनपत् होता है। पराय की दृष्टि से जब क्रिया का आरम्भ होना है परम्पद होता है परन्तु एक तरह से सभी क्रिया स्वाय के लिये ही होती हैं। महाभाष्यकार ने इसे इस रूप में व्यक्त किया है—'सभी व्यक्ति अपने अपने लाभ के लिये ही क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। जा गुरु की सेवा निरन्तर गत किया करते हैं वे भी वस्तुतः अपने स्वाय के लिये ही ऐसा करते हैं। हम पुण्य मिलेगा और प्रशंसा होकर गुरु हम पढावेगा ऐसी उनकी भावना गुरु सेवा में अन्तर्हित रहती है। जा कमकर (कमकर) हैं वे भी स्वाय भावना से ही काम करते हैं। हम अन्न-वस्त्र मिलेंगे और फटकार न सुननी पड़ेगी ऐसी उनकी अभिलाषा रहती है। गिल्पी भी वेतन और मित्र की अभिलाषा से ही अपने काम में प्रवृत्त होते हैं।^८ स्वायता ही पारमार्थिक (सत्य) है और परायता अमत्य है। अतः कुछ लोग स्वायता-परायता को विवक्षाधीन मानते हैं। कुछ लोग स्वायता में स्वाभाविक प्रवृत्ति हाने के कारण उस विवक्षा निमित्त नहीं मानते, केवल परायता को विवक्षा निवर्धन मानते हैं। कुछ लोग प्रधानफल की दृष्टि से स्वायता और परायता दोनों को वास्तविक मानते हैं। कयट ने स्वायपरायता की दृष्टि से भी स्वरितजित ग्रहण को प्रत्याख्यान माना है क्योंकि जहाँ स्वाय पराय दोनों की विवक्षा होगी वही सूत्र की प्रवृत्ति होगी। यानि आदि क्रियाआ म परायता सम्भव नहीं है इसलिये वहाँ आत्मनेपत् की प्राप्ति ही न होगी। फलतः उपयुक्त सूत्र में स्वरितजित ग्रहण की आवश्यकता नहीं है।

६ महाभाष्य १।३।७०

७ वाक्यपथ्य ३, उपग्रहसमुद्देश १२

८ महाभाष्य, ३।१।२६

साहचर्य ने और वाक्याथ के पयालाचन से समझ पता है। ऐसे उदाहरणा म अथ क सामान्य म जिम अथ की उपनिधि हानी है उसरी आत्मनपद से ही उपनिधि का भ्रम होता स्वाभाविक है। और इस भाति के आचार पर आत्मनपद और णिच् के विकल्प का सिद्धान्त खड़ा है। परन्तु नागा इस मन से महमन नहीं हैं। उनके मन म विस्तृत-उक्ति भ्रमगत है। वपन, विनुत आदि प्रयाग अ नभावितण्यय क आचार पर उपपन्न हो सकत हैं। अथवा प्रकरण आदि क वन पर नवा तात्पर्य समझा जा सकना है और इस तरह का वान परमपद के प्रयाग क साथ भी दिखाना द सकती है—

चिन्ते इत्यादिप्रयोगश्च अतर्भावितण्ययतया उपापाद्य प्रकरणादिक च तात्पर्यग्राहकम् । कदाचित् परस्मपदऽपि तत् प्रतीत्या तस्यावश्यकत्वाच्च । वस्तुतः णिच् प्रेरणावाची । किञ्च सामान्यविहितस्य णिचो धातुविनेपाद विहितेनात्मनेपदेन बाध एवोचितः ।

अनेन अभिप्राय किया किन म भी आत्मनपद दिया जाता है यदि अण्यन्तावस्था का कम धन म कम होना हुआ भी कर्ता के रूप में व्यवहृत हो। जस आराहण हस्ती स्वयमेव। अण्यन्तावस्था म यह वाक्य आराहति हस्तिन हस्तिपका क रूप म था। हस्तिन तत्र कम था। वही कम धन्यावस्था म कम होना हुआ कर्ता हो गया है। दानिए महा आत्मनपद है। एक ही समय म एक ही शब्द कम और कना दाना कम हो सकता है? उसका उत्तर यह है कि कम भेद से ऐसा सम्भव है। एक वस्तु धम है दूसरा निवशा धम है। हस्ती पर आरोहण किया जाता है वह आरह्य है, अतः अस्तु कम क कारण उत्तम कमव है। स्वातन्त्र्य का विवक्षा म उमम वनत्व भी है। आरह्यक यह धातु से दो क्रियाएँ अवगत हानी है यम्भवन (नीच भुक्ता) और यम्भावन (भुक्वाथ जाता)। यम्भवन क्रिया म हस्ती कर्ता है। यम्भावन क्रिया म हस्तीपत्र कर्ता है। भुक्त हुए हाथी का हस्तीपत्र (पित्रवान) भुक्ताना है। किन्तु अच्छी तरह से निवशा हुआ और मरल हाथी यम्भवन क्रिया म अनुकूल हो जाता है। उस र्णा म हस्ती हस्तीपत्र क प्रयाजक होता है और हस्तीपत्र प्रयाग होता है। मुझ पर आराहण करो' उस भावना से हस्ती हस्तीपत्र का प्रयाजक होना है। प्रयोग प्रयोजक भाव की विवक्षा म णिच् होता है। पुन हाथी दाना कुत हो सकता है कि उस किसी प्रयाग की अपराधन हो। उस अवस्था म र्ण का अथ यम्भवन मात्र है और एस हो समय पर आराह्यत हस्ती स्वयमेव" प्रयाग क्रिया जाता है। प्रयाग प्रयागक भाव की निवृत्ति नान पर भी णिच् की निवृत्ति महा हानी। क्योंकि निवृत्ति के कारण कायना अभाव है। उस देवन्त क व्यापार की निवृत्ति होन पर भी 'पच्यत आदन स्वयमेव' कहत हैं अयान पत्र की पाक म निवृत्ति

नही होती वसे ही प्रयोज्यप्रयोजक 'यापार' के निवृत्त हो जाने पर भी णिच् की निवृत्ति नहीं हाता । कमकत की अवस्था को भत हरि ने पचमी अवस्था मानी है । अथ विभाग भूमि की अतिम अवस्था पाचवी अवस्था मानी जाती है और वह प्रायागिक होती है —

यावनीषु सोपानस्थानीयासु पद विन्यस्येय प्रायोगिकी पयत्तभूमि प्राप्यते ता अंतरालभाविनो गम्यमाना भूमयोऽवस्थाशब्दाच्चा ।^{११}

'यग्भवन' और 'यग्भावन' दो रूप शुद्ध रह (णिच् रहित रह) से प्रतीत होते हैं । ये दो रूप णिच् सहित रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं । ये चार अवस्थाएँ हैं । पाचवा अवस्था कमकत अवस्था से चोतित होती है

यग्भावना यग्भवन रूहो गुद्धे प्रतीयते ।
यग्भावना यग्भवन ण्यत्तऽपि प्रतिपाद्यते ॥
अवस्था पचमीमाहु ण्यये ता कमकतरि ।
निवृत्तप्रवणाद धातो प्राकृतेऽर्थे णिजुच्यते ॥^{१२}

- (१) आरोहति हस्तिन हस्तिपका ,
- (२) आरोह्यते हस्ती स्वयमेव
- (३) आरोह्यति हस्तिन हस्तिपका ,
- (४) आरोह्यत हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्या मे एक ही 'यापार' को सोकाय असोकाय के आधार पर विभिन्न रूपा म व्यक्त किया गया है । कयट न इसे एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

- (१) तुनाति कदार दवदत्त
- (२) लूयत केदार स्वयमेव,
- (३) लायवत केदार स्वयमेव ।

इनम प्रथम दो वाक्या का कमकर्ता ण्यत वाले तीसरे वाक्य म भी कमकर्ता है । ऐसा इसलिए होना है कि तुनाति क्रिया का अथ द्विधाभवन और द्विभाभावन भी है ।

तुनाति केदार दवदत्त' ऐसा कहन से खण्ड होत हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होना ह । जब धान के सोकार्यातिगय को प्रकट करने की इच्छा होती है दवदत्त क 'यापार' की विवक्षा नहा की जाती है । तब तुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है । धातु के अनेक अर्थ होत हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है । अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वस्तुन भिन्न भिन्न होत हैं । सादृश्य के कारण व एक-स जान पडत है । अस्तु द्विधाभवन म कदार का कतत्व हैं उसम कम-काय

११ हलाराज वाक्यपत्याय माधनमसुरैरा ५० २११, महाभाष्यप्रदीपोधोन १।१।६७

१२ वाक्यपत्याय साधनमसुरैरा ५६ ६०

का अतिदेश किया जाता है। फलतः 'लूयते केदार स्वयमेव' प्रयोग उपपन्न होना है। जहाँ पर देवदत्त हाथ में हुम्बा (दान) लिए दिखाई देता है वहाँ भी सौकाय की विवक्षा से उपर्युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूत्र की किरणा से सूने हुए जजर धान के डठल स्वयं विशीण हो जाते हैं—उट्ट काटन में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था में केदार के द्विधाभवन की बुद्धि होती है केदार में काट जाने की योग्यता स्पष्ट कर ही व्यक्ति उसमें प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह भाव बनना है कि धान अथ द्वारा नहीं स्वयं अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था में भी स्वयं पद कहन की विशेष आवश्यकता नहीं है। "लूयते केदार" इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वयं का अर्थ अपने द्वारा है तो अपनी अपेक्षा में कमत्व ही है। अथवा "स्वयमेव" शब्द से अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि वनत्व। प्राचीन वक्तिकार स्वयं पद से अर्थ वर्त्ता का परिहार समझते थे। इससे बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अथ वाणी लुनाति क्रिया में देवदत्त प्रयोजक व्यापार में निश्चय उपपन्न होता है और 'लावयति केदार देवदत्त' यह वाक्य सामन्य आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो लुनाति केदार देवदत्त इस वाक्य का है। 'लुनाति केदार' इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था में निश्चय विशेष है। निजयव्यापार प्रकृत्यर्थ और पदसमानाधिकरण व्यापार के त्याग में चतुर्थी अवस्था होती है। स्वयं द्विधाभवन में प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लवित) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कथा है। इसके बाद सौमार्थ निशय की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है द्विधाभवन काय लावयति क्रिया में समझा जाता है। लूयते केदार स्वयमेव का जो अर्थ है वही अर्थ "लावयते केदार स्वयमेव" का है। यही पंचमी अवस्था है। इसमें प्रयाजन व्यापार की अविवक्षा होती है। प्रयोज्य प्रयाजकभाव की निवृत्ति हान पर भी निश्चय की निवृत्ति नहीं होती। उपाय के निवृत्त हान पर भी उपय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार में सौकार की अपेक्षा में प्रायः लावयते केदार' इतना ही कहते हैं। यह पञ्च व्याकरण संप्रदाय में 'निवृत्तप्रेषणपक्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिस 'अप्यारोपितप्रेषणपक्ष' कहा जाता है।

अप्यारोपितप्रेषणपक्ष के अनुसार प्रक्रिया या है—

- (१) लुनाति केदार देवदत्त
- (२) लावयति केदारा देवदत्तेन,
- (३) लावयते केदार स्वयमेव।

यहाँ दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार में निश्चय हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोक्ता केदार हो रहा है सौकार्यानिगम से। प्रयोज्यप्रयोक्त की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अप्यारोपितप्रेषणपक्ष में व्याकरण की दृष्टि से यह

तनी होनी प्रम ही प्रमाणप्रमाण ध्यापार व निरुत हा जान पर भी निरु के निरुति नहा जाना । यमरु भी अरुथा को धापरि १ पामी अरुथा माना है । अथ विभाग भूमि का अतिम अरुथा पाववा अरुथा मानी जानी है और यदु प्रामा गिर हानी है —

यावतीयु सोपानस्यानीमागु पद विपश्येय प्रायोगिकी पयतभूमि प्राप्यते ता अतरालमाधियो गम्यमाना भूमयोऽयस्यागववाच्या ।”

यमभवन और यमभाव दो रूप शब्द रह (गिर रहित रह)म प्रतीत हान है । य दो रूप निरु गतिन रूप म भी व्यस्त निरु जाना हैं । य चार अरुथाए है । पाववा अरुथा यमका अरुथा स सोनिन हानी है

यमाधना यमभवन रहो गुद्धे प्रतीमते ।

यमाधना यमभवन प्यतेऽपि प्रतिपाद्यते ॥

अवस्था पचमीमाहु प्यये ता कमकतरि ।

निवत्तप्रपणाद धातो प्राकृतेऽयं निरुच्यत ॥”

(१) आरोहति हस्तिन हस्तिपना

(२) आरुह्यत हस्ती स्वयमेव

(३) आरोह्यति हस्तिन हस्तिपना

(४) आरोह्यते हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्या म एक ही व्यापार का मोराम अमोराम के आधार पर विभिन्न रूपा म व्यक्त किया गया है । कयट ने इस एक दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) तुनाति केदार दवदत्त

(२) तुयन केदार स्वयमेव

(३) लापवते केदार स्वयमेव ।

इनम प्रथम दो वाक्या का कमकर्ता प्यत वाले तीसरे वाक्य म भी कमकर्ता है । ऐसा इसलिए होता है कि तुनाति किया का अथ द्विधाभवन और द्विधाभावन भी है ।

तुनाति केदार देवदत्त ऐसा कहन स सण होत हुए धान को खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अथ प्रतीत होता है । जब धान के सोकायातिगय को प्रकट करन की इच्छा होती है, देवदत्त व व्यापार की विवक्षा नहा की जाती है । तब तुनाति किया का अथ केवल द्विधाभवन है । धातु के अनक अथ हात है इस आधार पर ऐसा कहा जाना है । अथवा भिन भिन अथ वाले धातु वस्तुतः भिन भिन होते हैं । साव्य के कारण व एक से जान पडत है । अस्तु द्विधाभवन म केदार का कत व हैं उसम कम काय

का अतिदेश किया जाता है। फलतः 'लूयते केदार स्वयमेव' प्रयोग उपपन्न होना है। जहाँ पर देवदत्त हाथ में हमुसा (दान) लिए दिखाई देता है वहाँ भी सौकाय की विवक्षा से उपयुक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है। सूत्र की किरणा से सूखे हुए जजर धान के टठल स्वयं विशेषण हो जाने हैं—उन्हें काटने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी अवस्था है। पहली अवस्था में केदार के द्विधाभवन की वृद्धि होती है केदार में काट जान की योग्यता देख कर ही व्यक्ति उमम प्रवृत्त होता है। द्वितीय अवस्था में यह भाव भक्तता है कि धान अथ द्वारा नहीं स्वयं अपने आप ही कट रहा है। इस अवस्था में भी स्वयं पद कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है। 'लूयत केदार' इतना पर्याप्त है। क्योंकि यदि स्वयं का अथ अपने द्वारा है तो अपनी अपक्षा से कमतर है ही। अथवा स्वयं का अथ अपना करणत्व प्रतिपादन किया जाता है न कि कर्तृत्व। प्राचीन वक्तिकार स्वयं पद में अथ कर्त्ता का परिहार समझते थे। इसके बाद तीसरी अवस्था आती है। द्विधाभवन अथ वाली लुनाति किया में देवदत्त प्रयोजक व्यापार में निश्च उत्पन्न होता है और 'लावयति केदार देवदत्त' यह वाक्य सामने आता है। इस वाक्य का वही अर्थ है जो लुनाति केदार देवदत्त 'इस वाक्य का है। लुनाति केदार में इस अवस्था की अपेक्षा तीसरी अवस्था में निश्च विशेष है। निजयव्यापार प्रकृत्यर्थ और पनसमानाधिकरण व्यापार के त्याग में चतुर्थी अवस्था हाती है। स्वयं द्विधाभवन में प्रवृत्त केदार को क्षेम के लिए काटने वाला (लविता) प्रवृत्त करता है। यह चतुर्थी कक्षा है। इसके बाद सौकार्या निगम की दृष्टि से जब देवदत्त के व्यापार की भी विवक्षा नहीं होती है, द्विधाभवन काय लावयति किया में समझा जाता है। लूयत केदार स्वयमेव का जो अर्थ है वही अर्थ लावयत केदार स्वयमेव का है। यही पंचमी अवस्था है। इनमें प्रयाग्न व्यापार की अविवक्षा हाती है। प्रयाग्न प्रयाजकभाव की निवृत्ति होने पर भी निश्च की निवृत्ति नहीं हाती। उपाय के निवृत्त होने पर भी उपय निवृत्त नहीं होता। सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति के लिए प्रकृति प्रत्यय की कल्पना करनी पड़ती है और अर्थ का आदान या त्याग भी उसी दृष्टि से किया जाता है। लौकिक व्यवहार में सौकार्य की अपेक्षा से प्रायः 'लावयते केदार' इतना ही कहते हैं। यह पञ्च व्याकरण मप्रदाय में 'निवृत्तप्रेषण पक्ष' के नाम से प्रसिद्ध है। इससे कुछ भिन्न एक दूसरा पक्ष है जिस 'अध्यारोपितप्रेषणपक्ष' कहा जाता है।

अध्यारोपित प्रेषण पक्ष के अनुसार प्रतिया या है—

- (१) लुनाति केदार देवदत्त
- (२) लावयति केदारो देवदत्तेन
- (३) लावयत केदार स्वयमेव।

यहाँ दूसरे वाक्य में केदार के व्यापार में निश्च हुआ है। काटते हुए देवदत्त का प्रयोजक केदार हो रहा है सौकार्यानिगम में। प्रयाग्नप्रयोजक की अविवक्षा से तीसरा वाक्य उपपन्न होता है।

निवृत्तप्रेषणपक्ष और अध्यारोपितप्रेषणपक्ष में व्याकरण की दृष्टि से यह

नहीं होती उस ही प्रयाज्यप्रयाज्य व्यापार के निरुद्ध हो जान पर भी निचू के निमित्त नहीं होती । कमकत्त का अर्थव्या का भन हरि न पचमी अर्थव्या माना है । अथ विभाग भूमि का अतिम अर्थव्या पाचमी अर्थव्या मानो जानी है और वह प्रायः गिर जाती है —

पाचमीय साधानस्थानीमासु पच विचस्येय प्रायोतिकी पचतभूमि प्राप्यते ता अंतरालमाविमो गम्यमाना भूमयाऽथस्यागच्छयाच्चा ।^{११}

यमभवत और यमभावत दो रूप युद्ध गृह (निच रहित गृह) में प्रतीत होते हैं । ये दो रूप निच गतिन रूप से भी व्यक्त किए जाते हैं । ये चार अर्थव्याएँ हैं । पाचमी अर्थव्या कमकत्त अर्थव्या से अतिरिक्त होती है

यमभावता यमभवत गृहो युद्धे प्रतीयते ।

यमभावता यमभवत प्यतेऽपि प्रतिपाद्यते ॥

अर्थव्या पचमीमाहु प्यय तां कमकत्तरि ।

निवत्तप्रेयणाद घातो प्राकृतेऽयं निजुच्यते ॥^{१२}

(१) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपदा

(२) आरोहन्ति हस्ती स्वयमेव

(३) आरोहन्ति हस्तिन हस्तिपदा

(४) आरोहन्ति हस्ती स्वयमेव ।

इन वाक्यों में एक ही व्यापार को सौकराय असौकराय के आधार पर विभिन्न रूपों में व्यक्त किया गया है । कवट ने इसे एक-दूसरे उदाहरण से स्पष्ट किया है —

(१) लुनाति केदार स्वयमेव

(२) लयते केदार स्वयमेव

(३) लायवत केदार स्वयमेव ।

इनमें प्रथम दो वाक्यों का कमकत्ता प्यन्त वाले तीसरे वाक्य में भी कमकत्ता है । ऐसा इसलिए होता है कि लुनाति क्रिया का अर्थ द्विधाभवन और द्विभाभावन भी है ।

लुनाति केदार दबदबत ऐसा कहने से खण्ड होत हुए धान का खण्ड खण्ड कर रहा है ऐसा अर्थ प्रतीत होता है । जब धान के सौकराप्रतिपाद्य का प्रकट करने की इच्छा होती है देवन्त के व्यापार की विवक्षा नहीं की जाती है । तब लुनाति क्रिया का अर्थ केवल द्विधाभवन है । धान के अनेक अर्थ होते हैं इस आधार पर ऐसा कहा जाता है । अथवा भिन्न भिन्न अर्थ वाले धातु वन्तुल भिन्न भिन्न होते हैं । मारुप्य के कारण वे एक में जान पड़ते हैं । अन्तु द्विधाभवन में केदार का वन्तु हैं उसमें कम काय

११ हलाराज वाक्यपदीय साधनसमुद्र श ५० २११, महाभाष्यप्रकाशितो १।१।६७

१२ वाक्यपदीय साधनसमुद्र श ५१ ६०

चम ही वत अभिप्राय क्रियापन मविधान का उपलक्षण है। बिना किसी क्रिया के अनुष्ठान व कोई फल नहीं होता। याज्ञक को स्वयं फल किसी क्रिया द्वारा ही संभव है। अतः कार्यभूत फल से कारणभूत क्रिया लक्षित होती है और ऐसी क्रिया से आत्मनेपद का विधान किया जाना है।

महाभाष्यकार ने उद्गुम्भाञ्चकार में आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह से यानि आदि क्रियाया में मविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता है वैसे ही उद्गुम्भ के साथ भी मविधान के अभाव में आत्मनेपद नहीं होता चान्ति। उद्गुम्भ के मविधान वाचक न होने के कारण उद्गुम्भ के साथ की करोति क्रिया भी मविधान के अर्थ में गृहीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार के सदेह से ऐसा मानना पड़ता है कि गन्धर्विक के स्वभाव केवल उद्गुम्भ आदि भी कभी-कभी मविधान अर्थ में व्यवहृत होते हैं। उद्गुम्भ के मविधान से महयाग होने के कारण उससे साथ की करोति क्रिया भी मविधान अर्थ में माना जायगी। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति संभव है। इसका परिहार आमप्रत्ययवत् कृजोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३ भूत में पूर्व वत्तने १।३।६२ से पूर्ववत् ग्रहण की अनुवृत्ति कर आमप्रत्ययवत् सूत्र का विध्ययक और नियमाधिक बना कर किया जाना है। यहाँ तात्पर्य यह है कि स्वरितत्रित में अनिर्विक्र घातुया का मविधान में मन्था अयाग ही नहीं होता कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी गन्धर्विक के नियत होने के कारण व मविधान जय आत्मनेपद लान में असफल होती है। इसी तरह शिच याग्य अर्थ के अविधान में समर्थ सभी घातुया में मविधान की प्रतीति नहीं होती। शब्द की अर्थ प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होता है मुक्तिगम्य नहीं। एक ही क्रियागत् से जस पक्षत' से दा साधन की अभिवृत्ति हो सकती है परन्तु दा त्रित की अभिवृत्ति नहीं होती। आत्मान से लिङ की पुरुष आत्मा की प्रतीति नहीं होती। आत्मान से सन्ध्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन का प्रतीति होती है। त्वदन्त पक्षति में दमी आधार पर द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आत्मात्मा को भी द्रव्य ही मानते हैं। सबथा गन्धर्विक कही-कही नियमित हो जाती है। फलन मविधान मन्व हाने पर भी कुछ घातुया में आत्मनेपद नहीं हो पाता है।^{१२}

मविधानाभिनयन क्रियापन क्या है। इस सम्बन्ध में भी भत हरिन महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अर्थ की सिद्धि के लक्ष्य में रण कर कोई क्रिया आरम्भ की जानी है उस अर्थ की सिद्धि हो उस क्रिया का प्रधान फल है। मविधानाभिनयन क्रियापन में तात्पर्य इसी प्रधान फल से है। यजन क्रिया का फल स्वयं है। स्वयं की कामना से ही याज्ञक यज क्रिया आरम्भ करता है। उस यज में काम करने वाला पुरोहित भद्र आत्मा स्वयं की दृष्टि से क्रिया में प्रवृत्त नहीं हुय है। उनके लक्ष्य दर्शना अथवा वेत्तन है। इसलिये दर्शना द्रव्य अथवा वेत्तन लाभ (फल)

अंतर है कि पहल पक्ष के अनुसार णरणो यत्कम १।२।६७ इम मूत्र के वि
भी 'तावयत क्त्वार स्वयमव म आत्मनपदे मिद्ध हो गरता १ कमव'भाव
द्वारा । दूसरा पक्ष उपयुक्त मूत्र की सत्ता रहत ही सम्भव है । दूसरी प्रक्रिया
कमव'भाव की प्राप्ति नहीं है । कुछ लोग आरुह्यत हस्ती स्वयमव' म कमव'
भाव न्तिपात ह । कथं के अनुसार यह उपयुक्त नहीं है । क्यात्रि क्रिया का तात्पर्य
विपदशन स अथवा गन्ताथ के आधार पर निश्चित होता है । य त्तेना ही कार
आराहण क्रिया की कत स्थिता प्रतिपादन करत ह उगता कमस्थिता नहीं व्यक्त क
है । क्यात्रि हस्तिनम आराहति, वक्षम आराहति, पत्रतम आराहति जस वाक्या
कम के भ'ज्ञान हुय भी आराहण म का रूपभेद नहीं जान पड़ता है । इन प्रया
म कम म किसी प्रकार का विपत्ता क्रियावृत्त नहा न्तिपाई न्ती है । घातु के द्वा
यहा कत गन ही क्रिया प्रतिपात्ति है कमगत नहीं । भाष्यकार न भी रह को गि
विशेष अथ वाला मान कर म्गक का स्थानक्रिया के का ही परिपुष्ट किया है ।^{१३}

स्मरयति ण वतगुल्म स्वयमव म वाक्य म आत्मनपदे स्मरणाथक
निषेध के कारण नहीं होता है । आरोहति हस्तिन हस्तिपका तान आराहति हम्
इसम भी आत्मनप' वत्तिकार के अनुसार नहीं जाना चाहिय । पर तु भागवतिका
यहा आत्मनप' का प्रयोग चाहत ह । माघ न भी ऐस स्थला पर आत्मनप' व
प्रयोग किया है

वत्तिकृता नेष्यते । भागवत्तिकारेण विष्यते । तथा माघ प्रयुक्ते करेणुर
रोह्यते निपादिनम इति ।^{१४}

कही न्ती पचति जभी क्रियाग्रा स भी सविधान अथ की प्रतीति हाती है
यद्यपि पच का प्रदान अथ गण्डुल की विभिनिति ह परंतु महाभाष्यकार न हेतुमति २
३।१।२६ के भाष्य म प्रपण और अव्यपण का भी पक्ष का अर्थ माना है । सविधान—
अथ सामग्री सघटन रूप अथ के व्यक्त करने पर भी पचति के अर्थ म निच नह
होता । प्रयोज्यप्रपण की विवक्षा म निच हाता है और पाचयति प्रयोग उपपन्न हा
है । अस्तु पचति स द्रव्य के अधिश्चयण उदकासवन (चावल को जल से धोना
आदि पापार यवन हात है पचत म सभी भाजन सम्भार पापार यवन होता है
पाचयति से प्रयोयत्र प्रक' होता है । सविधान हा प्रप नहीं है । अपितु सविधान
पूर्वक प्रेरण का प्रप कहत ह जिस करत अथ यवित प्रयोजक कहा जाता है
सविधान के करत हय भी जब तस वर प्रेरणा का वाय नहा करता, उस प्रयानक नह
कना जाता है ।

कत अभिप्राय क्रियाफल स सविधान क्रिया का निर्देश किया जाता है । जै
नक्षत्र दृष्टवा वाच विमज्जेत वास्य म नक्षत्र दशन कातविषय का उपलक्षण

यस ही वन अभिप्राय त्रिपापन सविधान का उपलक्षण है। जिना किसी क्रिया के अनुष्ठान के कोई फल नहीं होता। याज्ञिक को स्वर्ग पत्र किसी क्रिया द्वारा ही सम्भव है। अतः कायभूत पत्र स कारणभूत क्रिया लभित होती है और ऐसी क्रिया स आत्मनेपद का विधान किया जाता है।

महाभाष्यकार न उद्बुम्भाच्छ्वकार म आत्मनेपद की प्राप्ति का प्रश्न उठाया है। जिस तरह स यानि आदि क्रियाओं म सविधान व अभाव म आत्मनेपद नहीं होता है उस ही उम्भ व माय भी सविधान व अभाव म आत्मनेपद नहीं होना चाहिए। उम्भ व सविधान बोधक न होना व कारण उमक साथ की करोति क्रिया भी सविधान व अथ म गृणीत न होगी। फिर भी महाभाष्यकार व सदेह स ऐसा मानना पड़ता है कि गत्याग्निक स्वभाव के बल उम्भ आग्नि भी कभी-कभी सविधान अथ म व्यवहृत होत ह। उम्भ व सविधान स सहाय्य होने के कारण उमके साथ की करोति क्रिया भी सविधान अथ म मानी जायगी। अतः आत्मनेपद की प्राप्ति सम्भव है। इसका परिहार ग्रामप्रत्ययवत् कृत्राजुप्रयोगस्य, १।३।६३ सूत्र म पूर्व-उत्पत्त १।३।६२ स पूर्ववत् ग्रहण की अनुवृत्ति कर ग्राम प्रत्ययवत् सूत्र का विध्ययक और नियमायक बना कर किया जाता है। यहा तात्पर्य यह है कि स्वरितप्रति से व्यतिरिक्त धातुओं का सविधान म सवथा अयोग ही नहीं होता कभी-कभी योग भी होता है। फिर भी गत्याग्निक नियत ज्ञान के कारण व सविधान जब आत्मनेपद लान म असफल होती है। इसी तरह निच याग्य अथ व अभिधान म समथ सभी धातुओं स सविधान की प्रतीति नहीं होती। ज्ञानों की अथ प्रत्यायन की शक्ति स्वाभाविक होती है युक्तिगम्य नहीं। एव ही क्रियागत स जम पचत स नो साधन की अभिव्यक्ति हो सकती है परन्तु दा लिंग की अभिव्यक्ति नहीं होती। आख्यात से लिंग की पुस्तक आदि की प्रतीति नहीं होती। आख्यात स सत्यायुक्त द्रव्यात्मक साधन का प्रतीति होती है। देवन्त पचति म दमी आधार पर द्रव्य के साथ गामानाधिकरण्य माना जाता है और इसी आधार पर द्रव्यवादी आचार्य आख्याताय को भी द्रव्य ही मानत ह। सवथा गत्याग्निक कहा कही नियन्त्रित हो जाती ह। पत्र सविधान सम्भव होने पर भी कुछ धातुओं म आत्मनेपद न हो पाता है।^{१५}

सविधानोपलक्षण त्रिपापन क्या है। इस सम्बन्ध मे भी भक्त हर्षि न महाभाष्य के आधार पर विचार किया है। जिस अथ भी सिद्धि व मन म रख कर कोई क्रिया आरम्भ की जाती है उस अथ की सिद्धि ही उस क्रिया का प्रधान फल है। सविधानोपलक्षण क्रिया पत्र मे तात्पर्य इसी प्रधान फल से ह। यजन क्रिया का पत्र स्वर्ग है। स्वर्ग की कामना से ही याज्ञिक यज क्रिया आरम्भ करता है। उस यज म काम करने वाले पुरोहित भक्ष आदि स्वर्ग की दृष्टि स क्रिया म प्रवृत्त नहीं हुये है। उनसे लक्ष्य दक्षिणा अथवा वनन है। इसलिये दक्षिणा द्रव्य अथवा वेतन लाभ (फल)

होते हुए भी प्रधानफल नहीं है। महाभाष्यकार ने प्रधानफल के निणय के लिये कहा है कि जिस क्रिया के बिना जो फल सिद्ध न हो सकता हो उस क्रिया का वही फल प्रधान फल है। यन् फल यन् क्रिया से ही सम्भव है। अतः वही उस क्रिया का मुख्य फल है। दक्षिणा और वतन तो यन् क्रिया के बिना भी अन्य तरह से उपलब्ध हो सकते हैं। अतः वे यन् क्रिया के प्रधान फल नहीं हो सकते।

नच्चातरण यजि यजिफल वपि वा वपिफल लभते (लभते) । याजका पुनरन्तरेणापि यजि गा लभ ते भक्तकाश्च पार्दिकर्मांत ॥^{१४}

यह अभिप्राय कत अभिप्राय क्रियाफल से निकलता है। फलतः सविधाता की दृष्टि से आत्मनेपद (यजत) और दक्षिणा लुध याजका की दृष्टि से परस्मैपद (यजति) का प्रयोग उपपन्न होता है।

सविधान में आत्मनेपद मानने पर भी जहाँ स्वामी और भक्त दोनों मिल कर एक ही व्यापार कर रहे हैं वहाँ सविधान के आधार पर आत्मनेपद आत्ति का निणय कैसे सम्भव है? क्योंकि स्वामीसाध्य व्यापार सामग्री सघटन (सविधान) रूप होगा और भक्त साध्य व्यापार प्रधान क्रिया रूप होगा इसलिये एक धातु से भिन्न व्यापार का उदबोध न हो सकेगा। साथ ही स्वामी (सविधाता) की दृष्टि से आत्मनेपद किया जाय अथवा भक्त की दृष्टि से परस्मैपद यह सशय बना रहेगा। यह मान भी लिया जाय कि एक धातु के कई अर्थ सम्भव हैं और यह भी मान लिया जाय कि सविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद किया जाय और विक्लित्ति आदि सस्कार अर्थ में उससे परस्मैपद किया जाय फिर भी एक ही प्रयोग में विरुद्ध दो लकारों की उत्पत्ति ठीक से न हो सकगी भन हरि ने इसका समाधान अध्यारोप के द्वारा किया है। स्वामीगत धर्म का भक्त में आरोप किया जाता है। साहचर्य के सहारे ऐसा सम्भव है। आरोप से दास स्वामी के तुल्य हो जाता है। फलतः दास स्वामी के वत त्व हान पर सविधान के अर्थ में पच से आत्मनेपद होगा। 'स्वामिन्गमो पचेत्'।

इस तरह का आरोप भन हरि के अनुसार अन्यत्र भी देखा जाता है। जैसे, प्लुत गन्त के साहचर्य से यग्राध में प्लुतता मान ली जाती है। तभी एक दूसरे की अप्रगता में द्व द्व में उनमें द्विवचन का व्यवहार (प्लुतयग्राधो) होता है। सानिध्य के कारण अर्थ में अर्थ का आरोप लाक और वेद दोनों में देखा जाता है। पुरोयग प्रचरन्ति इसमें यद्यपि गन्त पुरोयग बहुत्व अर्थ में व्यवहृत है परन्तु एक पुरोयग के प्रसंग में भी उपपुन कक्ष्य कहा जाता है और सहचरित पुरोयग भागा में बहुत्व के आरोप में ऐसा सम्भव हो पाता है। वही तरह तारा में छविणा यानि जस प्रयाग मप्रति छविसयाग न हान पर भी पटन के तम छविसवध के आधार पर ठीक मान लिया जान है।

कुछ वागा के अनुसार क्रियामात्र की विवक्षा में यन् परस्मैपद प्रयाग भा

उचित है 'स्वामिदासी पचत' ।^{१३}

महाभाष्यकार ने एक स्थान पर कहा है कि एकांत में निष्प्रिय रूप में चुपचाप बैठे व्यक्ति के लिये कभी-कभी कहा जाता है—

पचभि हन वृषति" (पाच हला से जानवा रहा है गन्त, पाच हला से जात रहा है) ।

इस वाक्य में वृषति शब्द उपयुक्त नहीं है । चुपचाप एकांत में बठा व्यक्ति एक साथ पाच हल नहीं चला सकता । अतः यहाँ अभिप्राय है कि उसके पाच हल चलते हैं वह पाच हला से खेती करवाता है । और यदि यह अभिप्राय है तो वृषति के स्थान पर 'वपयति' कहना चाहिए और यहाँ सविधान अथ होने के कारण आत्मनेपद भी होना चाहिए । जहाँ तक णिच् का (वपयति) का प्रश्न है, महाभाष्यकार ने यह समाधान किया है कि वृष केवल जोतना या बिलेपन ही नहीं है इसका अर्थ जोतवाना बिलेपन करवाना (प्रतिविधान) भी है । धातु के अन्त अर्थ होने के कारण वृष का अर्थ प्रयोजक व्यापार भी हो सकता है । उपपत् के साहचर्य से धातु से ही प्रयोजक व्यापार का व्यक्त हो जाने के कारण णिच् नहीं हुआ है । जहाँ तक आत्मनेपद का प्रश्न है वह भी भक्त हरि के अनुसार जटिल नहीं है । विभाषोपपदेन प्रतीयमाने १।३।७—इस सूत्र में प्राप्तविभाषा पक्ष मानने पर वृषति में आत्मनेपद का अभाव संभव है

अत्र तूपपदेनायमथभेद प्रतीयते ।

प्राप्ते विभाषा त्रिधते तस्मान्नास्त्यात्मनेपदम् ॥^{१४}

पाणिनि ने जितना आत्मनेपद पर विचार किया है उतना परस्मपद पर नहीं । उनका नेप में परस्मपद का विधान (नेपात् क्तरि परस्मपदम् १।३।७८) इतना यापक है कि विचार का अवकाश भी नहीं रह जाता । अतः भक्त हरि ने भी आत्मनेपद सम्बन्धी मायताओं का जस विदलेपन किया है वम परस्मपद सम्बन्धी मायताओं का नहीं किया है ।

आत्मनेपद और परस्मपद के लिये कभी आत्मनेभाष और परस्मभाष शब्द भी प्रचलित थे । कात्यायन ने इन दोनों शब्दों का उन्मूलन किया है—आत्मनेभाष परस्मभाषयोरपसख्यानम् ।^{१५} पाणिनि को भी ये शब्द नात थे ऐसा उनका क्या करणाख्याया चतुर्थ्या' ६।३। सूत्र से जान पड़ता है । परन्तु कयट ने टिप्पणी दी है कि आत्मनेभाष और परस्मभाष शब्द किसी व्याकरण में पारिभाषिक रूप में नहीं पड़े गये हैं परन्तु इन शब्दों का व्यवहार होता आया है । आत्मनेपद की धातुओं को क्या करण आत्मनेभाष शब्द से और परस्मपद की धातुओं को परस्मभाष शब्द से व्यवहृत

१३ वाक्यपदीय ३, उपग्रहसमुद्देश १६२

१४ वही, उपग्रह समुद्देश ७

१५ वार्तिक, ६।३।७

करन है । तात्पर्यपरिचित ६।१०३ म भी उपपु वत् प्राप् की पृष्टि वा मद् ५ —

परस्मपद भाषा उचिनरस्य इति परस्ममाय । एवामात्मनेमाय ।

पदगन्तव्यो विपातनात् । धातुविशेषाणामिमो व्यपदगी ।^{२१}

सुपेण न पाणिनि श्रीः सचयमा म म्म मयथ म मुष्ट भम् म्मनि इण निम्न-
लितित कारिणाए निमी है

परस्मपद्यते यस्मात् तत् परस्मपम् स्मृतम् ।

आत्मनपद्यते यस्मात् तदवाप्तात्मनपदम् ॥

इत्यमवयसजाया विधानेनय लभ्यते ।

मत् हि पाणिनेरेव सम्मत सचयमण ॥

मवयवयसजाया प्राया यतिरिह्यत ।

अता न पाणिन सूत्र सम्मत सचयमण ॥^{२२}

अस्तु उपग्रह सः आत्मनपम् और परस्मपम् न अथ म स्म मा हा गया था ।
अध्यायाया म उपग्रह गः का व्यवहार ग हान क कारण उमका व्यवहार ही एक
तरह म व द हा गया परन्तु भन हरि न आश्रयताथ क विवचन म उपग्रह की सीमाया
करना उचिन समभा ।

पुरुष विचार

उपग्रह का तरह पुरुष भी पाणिनि क पूर्ववर्ती आचार्यों का पारिभाषिक
गः है

य क्तकमविशेषणभूत स पुरुष इति पूर्वाचार्या प्राहुः ।^१

पुरुष गः का पारिभाषिक अथ म प्रयोग निरुक्त म मिलता है

तत्र परोक्षकृता सर्वाणि नाम विभक्तिभि युज्यन्ते प्रथम पुरुषश्चाख्यातस्य ।
अथ प्रत्यक्षकृता मध्यपुरुषयोगास्त्वमिति चतेन सन्नान्ना । अथाध्यात्मिवय उत्तम
पुरुष योगा अहमिति चतेन सन्नान्ना ।^२

काण्डहस्तन सूत्र म भी पारिभाषिक पुरुष गः का व्यवहार हुआ था ।
जसे—

धातु साधने दिशि पुरुषे चिति च तदाख्यातम् ।^३

२० गः भाष्यप्रमाण ६।३।७

२१ टैकनिकल रूप परन्तु टैकनिक काव सरुत ग्रामर में उद्धृत, पृष्ठ १०३

२२ वाचस्पत्यकरण ३।१।७६

१ हाराण, वाचस्पत्याय ३, पुरुष समुदेश १

२ निरुक्त ७२

३ इस काण्डहस्तन क सूत्र जाने में वषम प्रमाण ६, द्रष्टव्य वाचस्पत्याय टीका १।५२

पाणिनि न अग्न्यायी म पुष्प शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अथ म नहीं किया है। परन्तु ब्राह्मण और महाभाष्यकार न पारिभाषिक पुष्प शब्द का व्यवहार किया है जैसे—

“परस्मपदसज्ञा पुष्पसज्ञा”—वातिक १।४।१
न निष्ठा परस्यानुप्रयोगेण पुष्पोपग्रहो विगणितो
स्यात्ताम्”—महाभाष्य ३।१।४०

पाणिनि ने पारिभाषिक पुष्प शब्द के स्थान पर प्रथम, मध्यम और उत्तम गण का प्रयोग किया है। ये शब्द भी पारिभाषिक हैं और वस्तुतः ये भी पूवाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं।

प्रथममध्यमेत्यादि महासज्ञाकरण तु प्राचामनुरोधेन।*

आत्मनपदस्य पुष्पशब्द म उसके अर्थप्रत्यक् और परगत्व गणों तक है। प्रत्यक् स्वगतका कहते हैं और परगभाव सवाग्यगत का कहते हैं। तब पचमि अह पचामि त्व-पाठ्यस अह पाठ्य जस वाक्या म मध्यम और उत्तम पुष्प का प्रत्यक् और परगत्व रूप कर्तृक विगणन के रूप में गण्य शक्ति क वन से अवगत होता है। इसलिये कर्त्ता आदि साधना का निरापण पुष्प माना जाता है। कन कम क विगणन हान क कारण ही पुष्प नाव का विषय नहीं हो पाता और एमीनिष्ठ भाव म मध्यम और उत्तम पुष्प क प्रयोग नहीं होता। कबल तेष के कारण प्रथम पुष्प का ही व्यवहार होता है। स्वातन्त्र्य और परगत्व सान्तर क प्रयोग से जाना जाता है जम आस्यते मया। व्यत त्वया आदि म।

वाक्यपनीयकार न पुष्प का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मत म पुष्प-अवस्था सन असत चतयात्रित है। उनके अनुसार प्रत्यङ् पत् का भाव अन्तयामी जीवात्मा है। वह प्रतिष्ठ म अवस्थित है। उसका भाव (अस्मिन्त्व) पुष्प म वाच्य है। इसलिये प्रयाका की अहकारास्पद चेतनता प्रत्यक्त्व ह। आख्यात स जव किया का अहकार समानाश्रय रूप (मैं अह की प्रतीति) अभिव्यक्त होता है, वह उत्तम पुष्प का विषय होता है। इसलिये पुष्प अहकाराश्रय कर्त्ता का और तिष्ठत स वाच्य कम का भा उपाधिभूत है। पचे, पचामि जैसे क्रियागण से कर्त्ता का उपाधिभूत उत्तम पुष्प अवगत होता है। कम उपाधिभूत आत्मनपद से ही अभिव्यक्त होता है। जैसे पध्य रु। कम म आत्मनपद का विधान होता है। मध्यम पुष्प परव है। वह कत कमविशेषणभूत है प्रश्न आदि विषय के उपयुक्त है। पचमि पचम जैसे शब्दा म वह कन उपाधि है और पचम जैसे आत्मनपद से कामोपाधि रूप म लक्ष्य होता है। इस तरह उत्तम और मध्यम पुष्प गण विगणन से लक्षित होते हैं और अपने अपने अर्थ का प्रयोजन करत हैं अथवा चेतनयुक्त कर्त्ता

उत्तरा विधान 'द्वय' म हार क कारण उगम धातु उपाधि विरम का प्रभाव रहता है। पुष्प प्रथम, विहित मध्यम पुष्प मन्त्र निरूपित रूप म धातु का प्रभाव होता है क्योंकि पुष्प का धातु क निरूपित प्रमाण होता है।

इस सम्बन्ध म महामाध्यकार का मन्त्र पुष्प विरम जा पड़ता है। उद्गात प्रवृत्ति क साधारण पर कृत म भी पतता मानी है। कृत मन्त्रों पड़ता है। उगम साष्ट विधीन होता है और यह एक दण म द्वय दण (स्थाप) पर गिर कर पना जाता है। मन्त्राकार, पञ्चजनि क अनुगार, कृत म प्रवृत्तिरूप दृष्टा क होता है। उद्गात विधान के मन्त्र धातु मन्त्र का (संक्षेप) धातु धेतनापराध—धातु (१।१७) समर्थन किया है। इस सम्बन्ध म उद्गात विधान विहित धातु उद्गातन क रूप म विहित है —

वसन्ता मयन्ति,
त्रिगोपात्र्य स्वपिनि,
गुवन्ममा धादिभ्यमनुपर्वेति
अपस्तम्बमय सन्नामनि
अपि (वन्) पठन्ति ।^६

इन सब उद्गातन म धातु का धेतन क रूप म ध्ययन किया गया है। और मन्त्रों माय प्रथम पुष्प का गान है। कपट ने इस प्रथम म यह विचार प्रकट किया है कि धातु मन्त्राकार क अनुगार सत्य धनन्य है। धातु मन्त्रा भागा म धनन्य का प्रतिपादन करते हैं। पन्थों का उद्गात विविध होती है। मन्त्रा कही धातु धनन्य होता है और कही तहा जा पड़ता है।^७ मन्त्र हरि प्रथम पुष्प क सम्बन्ध म धातु धेतन धेतन मान क पक्ष म भी तहा है। परन्तु पञ्चजनि न धातु म धेतन के उपचार का उद्गात किया है —

अधेतनेष्वपि धेतनावदुपचारो दृश्यते । तव यथा स्वस्तायस्या धातनानि,
स्वस्थते चास्या धातनानोति ।^८

इन उद्गातनों म भी प्रथम पुष्प है। तार म भी प्रथम पुष्प का धेतन के रूप म अभिव्यक्ति देगी जानी है।

धेतन की धातु तटस्थ के रूप म प्रथम पुष्प की अभिव्यक्ति कहना अधि उपयुक्त जान पड़ता है।

कुछ लोग उत्तम पुष्प को मध्यम और प्रथम पुष्प से विरोध माना हैं। क्योंकि उत्तमपुष्प, उनका मन म सभी पुष्प का विश्रान्ति धाम है। गवागम के अनुगार इद म वाध्य सभी वस्तु का अहम् म पयवगान होता है। देखा भी जाता है कि म पचति त्व पचमि, अह पचामि इन सब की विवेक्षा म वयमव पचाम प्रयोग उद्गात

जाता है। अर्थात् सभी पुष्प का उत्तम पुष्प मध्यमगत हो जाता है। परन्तु तब उत्तम मन में निगल रूप में सभी पुष्पों का अन्त है। उत्तम मध्यम प्रथम पुष्प वर्णित है परन्तु चिद्रूप का भाव तब अर्थात् है।

व्याख्यानप्रक्रिया उत्तमपुष्प अस्मदर्थे यत् स युष्मद्देश्याम्नां मध्यमप्रथम पुरपाण्यां विनियोगो मजातविनियोगास्ति । तस्य च तत्स्थपरामर्शात् प्रथमपुरुषादयुष्मदर्थो मुलाच्च मध्यमपुरुषादय विनियोगोपपुरुषात्प्रत्येक तत् विनियोगात्तथागतम् । सपरयेत्यादि विनियोगप्रदतामामय विनियोगात् । स पचति, त्व पचमि अह पचामीति विनियोगात् यत्नेन पचाम इत्यादी प्रयोगे अयमवगम्य इत्याह्वयम् । त्व तु विनियोगाणां प्रथममध्यमात्तम पुरपाण्यां कल्पितानां अकल्पित चिद्रूपस्य । यथोक्तं प्रथमविनियोगम् — प्राहुराह्वयमिन्द्रावयो भात प्रमातरि ।

बृहत्पाणिनीय व्याख्यान सत्यमपराधमसमाधनम् । अथ प्रतीतं होना है निगलरूप जगत् (प्ररणा का भाव) विनियोग रचना है। जस गच्छ भुक् अस्ति म । जा लाग सवाधन का वक्तव्य अभिमुख्यकरण रूप में समझते हैं उनका मन में प्रथम का अभाव म भी मध्यम पुष्प म समाधन का भाव रहता है। तब पचमि म इस मन का अनुसार समाधन है। परन्तु बृहत्पाणिनीय किं भवति न उक्तं किया है इस मन का प्रथम ही दत्त। तब पचमि म समाधन का प्रतीति नहीं होती। उनके अनुसार सिद्ध का अभिमुख्यकरण का समाधन कृत है। साय का विधीयमान का समाधन नहीं होना। क्योंकि जिसका स्वरूप अभी नियत नहीं है जा अपन स्वरूप का प्राप्ति नहीं हुआ है वह अभिमुख्यभाव का भाव नहीं माना जाता। इन्द्रानु वक्ष्यमाण गच्छाम्नां मध्यमवाक्ता मध्यमत्व आरंभ विधीयमान २ सलिय प्रथम का भाव तब ही तम समाधन विनियोग नहीं है। युष्मद का साय प्रथमा समाधन विनियोग मानने पर तब कुत्त स्वर सम्पत्ति विनियोग। प्रथमात्त युष्मद का आदि उक्त होना दत्त म । है जस कि वह वाक्य का अस्ति म रचना है अर्थात् किसी पद से पर जस नहीं होना है। ऐसा उक्त समाधन मा कर ही समझ है। जस

त्व नन्द्र वाजयु (ऋग्वेद ७।३।१३)

त्वमेमे छुमिस्त्वमोनुगुर्भाणि (ऋग्वेद २।१।१)

परन्तु जिसा पद का पर रहने पर उस अर्थात् (समाधन) मान कर अनुगत होना है। जस दवीराय शुद्धा यूयम् ।

भद्राजि दीर्घात् क अनुसार आदि उक्त और निधात वाली उक्ति सबत्र ठीक नहीं देखी जाती। अन्वय इस मत्र है जिनम युष्मद के आदि म होने पर भी वह अन्तर्गत १ आर पद का उत्तर म होने पर भी अनुदात्त ही है —

दृश्यते हि पात्रादावपि अतोदात्तत्वं पदात् परत्वोपपत्तिघातश्च । तदप्यथा युव
ह गम जगतीषु घृत्य । यूय यात स्वस्तिमि । ह ये दवा यूयन्निगपय स्थ
इति ।^१

भट्टोजि दीक्षित सत्राधन का प्रातिपदिकाथ क अतगत मानते ~ (सबोधनस्य
प्रातिपदिकाथ एवा तभावात्) । उनम मतं म अतिग और सम्प्राधन—एक विषय
युष्मत् का अर्थ है और सतिग तथा सम्प्राध्य और यमप्राध्यमाधारण भवन का अर्थ
है । फलन भवान कराति 'मयम पुरुष का विषय रहा हा पाता है ।

अतिग सम्बोधनकविषयश्च युष्मदथ । सतिग सम्बोधासम्बोध्यसाधारणश्च
भवदथ —शब्द कीस्तुभ—१।४।१०५

अथ व भवति 'वदभवति'—इस वाक्य में मयम प्रकृति विवृति की अभेद-
विवक्षा में च्वि प्रत्यय हुआ है । यहा प्रकृति क आश्रय से प्रथम पुरुष और विवृति के
आश्रय से मध्यम की प्राप्ति है । परन्तु मयम विवृति कतो नहीं २ । प्रकृति ही
त्रिकारान्पापति भवता है । अतः प्रथम पुरुष ही होता है । गौणमुपपत्तय क आश्रय
पर गमा सम्भव है । सधी भवति ब्राह्मणा इस वाक्य में बहुवचन 'स वान का
प्रमाण है कि च्वयत्त में प्रकृति का ही कतत्व माना जाता है

यदग्ने स्यामह त्व त्व वो धा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥^{११}

पुरुष व्यत्यय

महामाप्यकार ने पुरुष व्यत्यय के उदाहरण में 'अथा स वीर दन्भिर्वियूया' ^{१०}
कहा है । यहा वियूयात् के स्थान पर वियूया पड़ा गया है । पुरुष व्यत्यय का एक
उदाहरण मम्मट ने या दिया है—

रे रे चञ्चल लोचनाञ्चितरुचे चेत प्रमुच्य स्थिरप्रेमाण महिमानमेषनयता
मालोक्य कि नत्यसि । कि मये विहरिष्यमे वत हुता मुञ्चातराशादिमामेषा
कण्ठतटे कृता खलु शिला ससारधारानिधी ॥^{१२}

इस उदाहरण में मयस के चञ्चल मय और विहरिष्य के स्थान पर विहरिष्यस कहा
गया है अथान मयस के स्थान पर उत्तम पुरुष का अर्थ उत्तम के स्थान पर मध्यम
पुरुष का व्यवहार कवि ने किया है और प्रहास के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए

१० शब्दकीस्तुभ १।४।१०५

११ अथेद ८।४।१०३ । वस मत्र म अत त्व ग्याम, त्व वा ग्रह त्या इस रूप में प्रकृत्याश्रय ही
पुरुष है ।

१२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उदाहरण, पृ० १९९ त्रिवेन्द्र म संस्करण

क्रिया है। परिहाण की अभिव्यक्ति व निय पुष्प व्ययय पाणिनि द्वारा समझा है।^{१२}
और भन्तु हरि न भी पुष्प व्ययय का समझा दिया है—

गुणप्रधातामेव पुरयादिविषमय ।
निदिष्टस्यायथा गारत्रे नित्यतया न विरुध्यते ॥^{१३}

सरया विचार

सख्या आख्याताय का भी अर्थ है और साधन का भी अर्थ है। सख्या मात्र स एव
द्वित्व बहुत्व आदि का ग्रहण होता है। जिमन द्वारा सख्याय अयथा गणना समझ
है। वह सख्या है (सख्यायतेऽनया मन्यति—मन्त्रभाष्य १।१।२२) वचन सख्या है।
वचन और सख्या पूर्वाचार्यों के पारिभाषिक शब्द हैं। एकवचन और बहुवचन शब्द का
प्रयोग सब प्रथम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है

एक वचनेन बहुवचन व्यापयाम।^१

द्विवचन शब्द का उल्लेख निरवत में है—अपि या मदच्च पणान्व सात्य
द्विवचन स्यात्।^२

पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के आधार पर सरया के अर्थ में एकवचन और बहुवचन
का व्यवहार किया है। ऐसे सरया के भी पारिभाषिक रूप का बहुगुणवतुडति सख्या
१।१।२३ के रूप में उल्लेख किया है।

वाक्यपदीय में सख्या समुद्देश में सख्या के साधन मात्र रूप का ही अधिक
विवचन है। परन्तु भन्तु हरि के अनुसार सख्या आख्याताय भी है यह पक्ष सिद्ध
किया जा चुका है। यद्यपि क्रिया साध्यत्वभाव वाली होन के कारण निवृत्तभेद मानी
जाती है, उसमें कोई भेद नहीं होता फिर भी साधन के आधारभूत द्रव्य के एकत्व
द्वित्व आदि के आधार पर क्रिया में भी एकत्व द्वित्व आदि मान लिए जाते हैं। साधन
भेद स कर्त्ता-कर्म के अभिधायक त्वकार में द्विवचन और बहुवचन हात है। फलतः
पचत पचति पच्यते पच्यते उस विशिष्ट त्रिरूप सिद्ध होता है। इन पदा में
दो या दो से अधिक साधन द्वारा क्रिया के साध्यत्व की प्रतीति होती है। साधन
के आधारभूत द्रव्यगत सख्या से क्रिया का योग तो होता है परन्तु द्रव्यगत लिंग के साथ
क्रिया का योग नहीं होता। क्योंकि आख्यायन में लिंग विशेष की प्रतीति नहीं होती।
शब्द का अपन अर्थ का प्रत्यायन अथवा उनके अर्थ की अभिव्यक्ति स्वाभाविक होती
है, युविनगम्य नहीं होती है।

१२ ग्रहासे च मन्त्रोपपद मन्यतेरुत्तम एकवच्च १।४।१०६

१४ वाक्यपदीय ३, पुष्प समुद्देश ७

१ शतपथ ब्राह्मण १३।१।१।१८

२ निरवत ६।१६।२

एकत्वेऽपि क्रियाख्याते साधनाश्रयसत्यया ।

भिद्यते न तु लिङ्गाख्यो भेदस्तत्र तदाश्रित ॥^३

पुण्यराज ने भी आख्यातवाच्य क्रिया म सम्बन्धभेद से भेद की प्रतीति का समर्थन किया है

यथाख्यातेषु धातूपात्ताया क्रियाया प्रत्ययवाच्य क्त भेदे सति सम्बन्धात् क्रियाया अपि भेद प्रतीयते पतत पचतीति ।^४

इसी बात का हरदत्त ने भी या व्यक्त किया है

क्त भेदेऽपि नावश्य धातुर्या भिद्यते यत ।

एकामेव क्रियाव्यक्ति बहुषूपादयस्त्वपि ॥

दष्टमेत पचतीति कमभेदोऽपि तादृश ।

पश्यकस्या क्रियाव्यक्तौ पच्यत तण्डुला इति ॥

न कालभेदे शब्दव्यमास्यासिध्यत आस्यते ।

पाकौ पाका इति त्वथ शब्दव्यादेकशेषता ॥^५

इसके स्वारस्य से, नाधनगत सख्या का क्रिया म आरोप हाने के कारण लिङ्ग सरया का प्रवृत्त्यर्थ म अवय होता है । इसका एक फल यह होना है कि भाव म एकवचन ही होना है, द्विवचन और बहुवचन नहीं होते । जम आस्यते भवता आस्यते भवदभ्याम, आस्यते भवदभि । अवश्य ही पाकौ पाका जैसे स्थला म, जहा घञ स साधन का अभिधान नहीं होना, भाव म द्विवचन और बहुवचन दखे जाते हैं, एकपदवाच्यमाधनसख्याश्रय पञ्च म ऐसे स्थला म भी द्विवचन और बहुवचन नहीं होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि पाकौ पाका आदि म आश्रय भेद से द्विवचन और बहुवचन हात हैं । गुड तिल, आदन आदि आश्रयभेद से आश्रित भी पात्र भिन्न भिन्न मान लिया जाता है । घञ् आदि से सत्वरूप अर्थ का अभिधान होता है । इस लिए द्रव्यधमसख्याभेद के आश्रय से वचनभेद होना अस्वाभाविक नहीं है ।

जहा पर प्रकारांतर स लिङ्ग वाच्य भाव म सख्या की प्रतीति होता है वहा भाव म भी बहुवचन दया जाता है जैसे उष्टासिका आस्यते हतशायिका शय्यन्ते । यहा पर उट्ट आश्रय है । उनके भेद स उनके अनक प्रकार क आसन भी भिन्न भिन्न हैं । उसर सामानाधिकरण्य स आख्यात वाच्य भाव भी भिन्न भिन्न जान पडता है । भाव भेद स आस्यते म बहुवचन का प्रयोग हुआ है । इव शब्द के प्रयोग के बिना भी इस वाक्य म इव क अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिये 'उष्टासिका आस्यते' इस वाक्य से जिस तरह उटा क अनक प्रकार के आसन हात है वसे ही देवदत्त आदि क द्वारा किए जा रहे हैं इस अर्थ की प्रतीति होनी है । इसी तरह "हतशायिका शय्यन्ते" इस वाक्य मे हत व्यक्तियों की शयन क्रिया उत्तान, अवतान, विकीर्णकेश,

३ वाक्यपदीय ३ उपग्रह समुद्देश १६

४ पुण्यराज वाक्यपदीय २।८।२।८

५ पदमन्त्री १।१।६७

इधर उधर सरके हुए वस्त्र आदि में रूप भिन्न भिन्न है। इस कारण आख्यात वाच्य भाव में भी स्वरूपगतभेद अवभासित होता है फलतः बहुवचन प्रयुक्त है। आहता की गयन त्रिया की तरह देवदत्त आदि के द्वारा भी अनेक प्रकार की गयन त्रिया की जाती है यह अभिप्राय है। 'भवदभि आस्यत' इस वाक्य में आश्रय भेद से आश्रित भेद तो संभव है परन्तु पूर्व वाक्य में उष्ट्र और देवदत्त के आसन में साम्य दिखाना जसा प्रयोजन था उस तरह का कोई प्रयोजन इस वाक्य में नहीं है। प्रयोजन के अभाव के कारण भावभेद भी नहीं माना जाता है। अतः इस वाक्य में एक वचन ही क्रिया में प्रयुक्त है। इसी आधार पर ताम्र पलाणेषु बभूव राग इस वाक्य में भी पलाणरूप आश्रय के भिन्न भिन्न होने हुए भी राग गान में एक वचन का ही प्रयोग कवि ने किया है। वस्तुतः सवत्र आश्रय के भेद से आश्रित में भेद की प्रतीति नहीं होती। घटान पचति जैसे वाक्यों में अभिन्न पाक का ही बोध होता है।

कुछ लोग उष्ट्रासिका आस्यत इस वाक्य में कम में लकार मानते हैं। क्योंकि उष्ट्रासिका लक्षण भाव कम है। जस गोत्रोह सुप्यते म कम है। जिस तरह गोत्रोह (गाय के दुहने का काल) का स्वाप में अवय होता है उसी तरह उष्ट्रासिका और हतशायिका का क्रमशः आसन और गयन में परिच्छेदक के रूप में अवय होता है। केवल अंतर यह है कि गोत्रोह में परिच्छेदकत्व काल उपाधिक है जबकि आसिका आदि में सादृश्य रूप में है। इस मत के अनुसार आसिका और शायिका गान उपयुक्त वाक्या में प्रथमात् बहुवचन हैं। पूर्व मत के अनुसार व द्वितीयात् बहुवचन है। क्योंकि क्रिया विशेषण के रूप में उनमें कमत्व है। यह वचन यहाँ उपयुक्त न होगा कि क्रिया विशेषण होने के कारण उन शब्दों में नपुंसक लिंग और एक वचन होना चाहिये क्योंकि 'स्त्रिया क्तिन' ३।३।६४ सूत्र के अनुसार यहाँ स्त्रात्व का अवधारण है। अतः सामान्ये नपुंसक (वातिक) की प्राप्ति यहाँ न होगी। और बहुत्व के बोध के कारण जसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है एक वचन की प्राप्ति नहीं है।

भट्टोजि दीक्षित ने भाव में एक वचन की उत्पत्ति एक दूसरे प्रकार से की है। उनके मत में सूत्रकार ने तिङ् और तिङ् निष्ठ सस्या का भी संवत्त कत कमणी शब्द से क्रिया है। कर्ता और कम का द्वित्व और बहुत्व द्विवचन और बहुवचन कहे जाते हैं। भाव में लकार असत्त्वावस्थापन धात्व्यभूत क्रिया का ही अभिधान करता है अथवा चोदन करता है। इसलिये वहाँ प्रथम पुरुष—एकवचन ही होता है। मध्यम और उत्तम पुरुष नहीं होते। क्योंकि युष्मदस्मिन् का उसके साथ सामानाधिकरण्य नहीं है। द्वित्व और बहुत्व की प्रतीति न होने से द्विवचन और बहुवचन भी नहीं होते। एकवचन आत्मगिक होता है।^१

परन्तु महाभाष्यकार ने भाव में ल विधान में बहुवचन गिनाया है जसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। इसमें आख्यात वाच्य भाव असत्त्वावस्थापन होता है इस सिद्धांत में बाधा न पड़ेगी क्योंकि भगवत् अस्या का अभिप्राय लिंग और कारण

के अयोग से है। अतएव पचति भवति, पच्यते भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादि वाक्या म वाक्यायभूत क्रिया का क्रिया-तर के साथ कर्ता के रूप म अथवा कर्म के रूप म अभिव्यक्ति होने म कोई क्षति नहीं मानी जाती है। तिङ् अभिहितभाव का कृदभिहितभाव (घञादि वाच्य) से वैषम्य म बाधा न पड़ेगी। क्योंकि कृत् अभिहितभाव मलिंग होता है और सकृन् कारकावित होता है जबकि तिङ् अभिहितभाव अलिंग होता है और सभी कारकों स सम्बन्ध नहीं रखता। इनके भेद दिखाते हुए महाभाष्यकार न कहा है कि तिङ् अभिहित भाव का कर्ता के साथ योग होता है किन्तु कृदभिहित का कर्ता के साथ योग नहीं होता। (तिङ् अभिहितो भाव कर्त्रा सप्रयुज्यते, कृदभिहित पुनरन सप्रयुज्यते—महाभाष्य ३।१।६७)। यद्यपि कृद अभिहित भाव का भी कर्ता के साथ योग देखा जाता है जैसे ब्राह्मणाना प्रादुर्भाव, फिर भी एकपदवाच्य कर्ता के साथ उसका योग नहीं देखा जाता। पचति शब्द कहने में जिस तरह कर्ता की अभिव्यक्ति होती है ठीक उसी तरह पाक शब्द कहने से नहीं होती। अस केवल पुद्ध भाव का प्रत्यायन होता है। दूसरे शब्दों म तिङ् शब्दवाच्य भाव सदा कर्त आकाश होता है जबकि कृत् वाच्य सदा वसा नहीं होता। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि घञादि के द्वारा भाव के सिद्ध रूप का अभिधान होता है इसलिए उस रूप से कर्ता का योग नहीं होता। धातु रूप के द्वारा भाव के साध्यरूप की अभिव्यक्ति होती है इसलिए साध्यरूप म कर्ता के साथ उसका योग होता है। अथवा 'पाचक' जस शब्द म भाव का कर्ता के साथ योग उपलक्षण (गौण) के रूप म होता है जबकि तिङ् के क्षेत्र म पचति जैसे शब्द म साध्य होने के कारण कर्ता के साथ प्रधान रूप में योग होता है।

सबथा क्रिया म सख्या का अन्वय मानना उचित है। महाभाष्यकार के कई वाक्य क्रिया में सख्या की समावृत्ति के पोषक हैं। जस भवति पुनवतमानकाल चकत्व च।^७ इस वाक्य का एकत्व शब्द स्पष्ट रूप में क्रिया का सख्या के साथ संबध जोड़ रहा है। इसी तरह करोति पचादीना सर्वान कालान सर्वान पुरुषान सर्वानि वदन्तानि अनुव्रतते^८—इस वाक्य का सर्वाणि वदन्तानि शब्द क्रिया में सख्या के समर्थन कर रहे हैं। सग्या का नाम वचन है।

'तद्धितश्चासव विभक्तौ' १।१।३८ सूत्र के माध्य म महाभाष्यकार न यह लिखा है कि कुछ अव्यय विभक्त्यथ प्रधान होते हैं। कुछ क्रिया प्रधान होते हैं। उच्च नीच य विभक्त्यथ प्रधान है। ह्रिक् पृथक् य क्रियाप्रधान हैं। उनके साथ क्रिया और सख्या का योग रहा होता। परन्तु यहां भाष्यकार का क्रिया के साथ सख्या के अयोग दिखाने का अभिप्राय यह है कि अयम वाच्य इनके साथ सग्या का योग नहीं होता।

अतः सग्या का आग्यानाथत्व उपपन्न होता है।

सस्या द्रव्याश्रित

भत हरि वं अनुसार सभी सत्वभावापन पदाथ स स्यावान बहे जाते हैं । लोक म सस्या का आधार भेदभेद विभाग है । सस्या भेद के आधार पर खड़ी है । उसे भेद अगोद्वार लक्षण वाली कहा जा सकता है । क्याकि एक से पराध तम जितनी सस्याए है व सब भेद के आधार पर ही अस्तित्व पाती है 'यह वह (इद तन) जस सवनाम स प्रत्यवमन योग्य वस्तुगत भेद होता है । फलत सभी द्रव्यात्मा (वस्तु) मे भेद हाना है और उसका व्यवहार एक दो बहुत आदि सस्याआ स युक्त रहता है । सुविधा की दष्टि से एकत्व सस्या का व्यवहार अभेदाश्रय के रूप म हाता है और दो, तीन आदि सस्याओ का व्यवहार भेद का प्रतिपादक है । इस तरह सत्वभूत (द्रव्यात्मक) अथ का एक अथवा अनक रूप म भेद सस्याश्रित है ।

वशेषिक दान के अनुसार सस्या एक गुण है और द्रव्याश्रित है । कुछ लोग मानते ह कि पदाथ असहाय अवस्था म एक और सहाय अवस्था म दो बहुत आदि सस्याआ स व्यक्ता किया जाता है । सहाय या विरह वस्तु के धम नहीं है । इसलिये द्रव्य स अतिरिक्तसस्या लक्षण कई गुण नहीं है । परंतु यह मायता ठीक नहीं जान पड़ती । क्याकि सहाय जान और दो तीन आदि का ज्ञान समान नहीं है वह भिन्न भिन्न रूप म जान पड़ना है । अत जान भेद के कारण उनकी एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है । साथ ही सहाय अवस्था म भी एकत्व का भान होता है अत सहायता रहित हाना ही एकत्व नहा है । कुछ लोग सस्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं । सस्या और द्रव्य का भेद तिरोहित रहना है द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप म सस्या की उपलब्धि नहीं हाती इसलिये सस्या को द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानना चाहिए । व्याकरण दर्शन जसा कि हलाराज ने कहा है वशपिका की तरह पदाथ विचार म रम नहीं लेता (अस्माक तु शब्दप्रमाणकाना पदाथविचारानादरात यथायथ पदाथकल्पना तोथिक कृता) ।^६ इसलिये भत हरि का कहना है कि सस्या द्रव्य स अभिन्न हो अथवा व्यतिरिक्त हा व्यवहार म एक दो बहुत आदि शब्दा स भेद की प्रतीति होती है । इस प्रतीति का कोई न कोई हेतु भूत धम होना चाहिये । उसी भेदक धम को सस्या नाम स व्यक्त किया जाता है —

स धर्मो व्यतिरिक्तो वा तेषामात्मक वा तथा ।

भेदहेतुत्वमाश्रित्य सद्रूप्येति व्यपदिश्यते ॥^७

सस्या मूल और अमूल सत्र का भेदक है (सस्या सवस्य भेदिका) ।^८ जस ७ घट । अनेक आत्मा । दो क्रिया । एक बीता (वितस्ति) । दो हाथ । चार प्रस्थ । पाच पल । सस्या सस्या का भी भेदक है जस, दो बीग पाच पचास । द्रव्यगत सस्या का रूप रम आदि म आराप कर चौतीस गुण कह जाते हैं । इसी तरह अभाव यद्यपि

६ हलाराज, वाचस्पतीय ३ मर्यादामु २ ।

७ वाचस्पतीय ३, मर्यादामु २ ।

८ वह । काल ममु २ ।

निरूपण है फिर भी ग्रीष्माधिकभेद से चार अभाव कह जाते हैं। सग्या गद पदार्थों के बलक्षण्य का प्रतिपादन है। एक घट में भी दो तीन आदि के निगम (अलग करना) के रूप में भेद की प्रतीति होती है (यच्छेषोक्तान्त यच्छापरिमाण तस्य सवस्य सख्या भेदमान ब्रवीति महामाष्य ५।१।१६)। महाभाष्यकार का इपीकान्त शब्द परिमाण का उपलक्षण है। जो महत् परिमाण बात है वे भी सख्या से गिने या व्यक्त किया जा सकता है जैसे मात पवत (मत्त कुलाचना)। जो अल्प परिमाण या अपचितपरिमाण बात है वे भी सख्या से भेदे हैं जैसे तीन परिमाणु (त्रय परिमाणव)। अतः सवस्य सरसा भेदक के रूप में ग्राह्य है।

गुण द्रव्याश्रित है। स्वतन्त्र नहीं है। फिर भी पदस्य रूपम् जस वाक्या म वह द्रव्यम स स्वतन्त्र रूप में व्यवहृत होता है वम ही पदस्यदम चित्र रूपम जस वाक्यो म गद शक्ति के आधार पर सग्या का स्वतन्त्र रूप में प्रतिपादन होता है। जहां पर ऐसा सम्भव नहीं है वहां अव्यारोप से काम चल सकता है। वस्तुन मन हरि के अनुसार अव्यारोप के लिए वस्तु की सत्ता अथवा असत्ता प्रयोजन नहीं होती। अतएव अविद्यमान अथ म भी काल्पनिक आरोप देखा जाता है जमे समुद्र कुण्डिका (कुण्डिका म समुद्र का आरोप)। याकरण-दगन सामाय मे भी सामा य विरोध म विशेष लिंग म लिंग और सग्या म सख्या मानना है।^{१२} इसी आधार पर गन गते शतानि आनि व्यवहार होन हैं।

सख्या का स्वरूपगत विवेचन

सभी भावों की सहज सख्या एकत्व है। एकत्व द्वित्व आदि का मूल रूप है। क्योंकि भेद अभेद पूर्वक होता है। द्वित्व आदि भेद मानक है, एकत्व अभेदाश्रित है। बिना एकत्व के द्वित्व बहुत्व आदि का परिचय सम्भव नहीं है।^{१३} द्वित्व ज्ञान की प्रक्रिया में मनभेद है। कुछ लोग मानते हैं कि बुद्धि सहित एकत्व और एकत्व (न एकत्व) द्वित्व के ज्ञान में निमित्त हैं। अथवा बुद्धि निरपेक्ष दो एकत्व से द्वित्व का परिचय होता है। कणाद ज्ञान द्वित्व के ज्ञान में तीन कारणों का उपयोग करता है। दो द्रव्या म मय प्रथम उनके सामाय का ज्ञान होता है तत्र उनके गुण का ज्ञान होता है इसके बाद उससे विनिष्ठ दो द्रव्या का ज्ञान होता है। कणाद-दगन की इस मायता का मूल आधार वह सिद्धांत है जिसके अनुसार विना विगणन के ज्ञान किय विगोप्य बुद्धि नहीं होती है (नागहीतविगोपणा हि विगोप्य-बुद्धि)।

द्वित्व का स्वरूप म भी मतभेद है। कुछ आचार्य मानते हैं कि द्वित्व एकत्व का समुदाय मात्र है। वह न एकत्व से विगणन नहीं है। एकत्व के समुदाय का द्वित्व इस एव नये गन से जमी तरह कहा जाता है जिस तरह वस्त्र के समुदाय का वन जैसे एक नये गन से व्यक्त किया जाता है। इस मन में समुदाय-अथ का प्राधान्य

१२ वहा महाभाष्यमुद्रेश ११

१३ वादयनीय ३ सख्या समुद्रेश १५

है। कुछ लोग के अनुसार दो एकत्व निरपक्ष रूप में तो एकत्व है परन्तु परस्पर सापक्ष होकर वही द्वित्व कह जाते हैं। इस मत में अवयवप्राधाय की विवक्षा है। उन दाना मता के अनुसार द्वित्व एकत्व से अव्यतिरिक्त है। परन्तु ये मत समीचीन नहीं हैं। पाणिनि ने द्वयेत्यादिवचनकवचन (१।४।२२) सूत्र के द्वारा द्वित्व में द्विवचना का विधान किया है। अत्र अव्यतिरिक्त पठने में द्वित्व के एकत्व से अव्यतिरिक्त होने से द्विवचन दो एतत्त्व में होगा। फलतः द्वयेकया शब्द से तीन एकत्व (दो + एक) का ग्रहण होने लगगा और बहुवचन की प्राप्ति होने लगेगी। अतः दो एकत्व से जनित द्वित्व को उनसे अव्यतिरिक्त मानना उचित है।^{१६} तीन से लेकर दस तक की संख्याओं के बारे में इसी तरह के विचार व्यक्त किये जाते हैं।

बीस (विंशति) और बीस के आगे की संख्याओं के सम्बन्ध में भट्ट हरि ने महाभाष्य के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन संख्याओं के सम्बन्ध में मूल विचार दो हैं। एक तो इनके व्युत्पन्न अथवा अव्युत्पन्न होने के विषय में है। और दूसरा इनके संख्या रूप से सम्बन्ध रखता है। व्युत्पन्न पक्ष में विंशति शब्द दशद्वयार्थाभिधायी द्विशब्द से शतित्व प्रत्यय निपातन कर सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः सम्पूर्ण शब्द ही निपातन के द्वारा सिद्ध किया जाता है। केवल साधुत्व के लिये विंशति शब्द के प्रकृति प्रत्यय का अकारण्य किया जाना है। शतित्व प्रत्यय स्वाथ में होता है। स्वाथ का अभिप्राय अतः प्रकृति के अर्थ से है।^{१७} लोक में विंशति शब्द संख्या और संख्या दोनों अर्थ में व्यवहृत होता है। जिस बीस गाय के लिये सस्कृत में 'गवा विंशति' और विंशतिर्गाव दोनों रूप में कहा जाता है। अब यदि दश के अर्थ में (स्वाथ में) विंशति शब्द का निपातन किया जायगा तो विंशतिगव यह समस्त रूप संभव नहीं हो सकेगा। इसी तरह त्रिंशत शब्द के भी उपयुक्त विधि से निपातन करना पर त्रिंशतपूर्वी जिस शब्द में द्विगु समास नहीं हो सकेगा। क्योंकि इन शब्दों में द्विगु समास के लिये आवश्यक सामानाधिकरण्य नहीं मिल सकेगा। विंशति शब्द से दश दस का अभिधान होगा न कि दस सम्बन्धी द्रव्य का अभिधान होगा।

१६ कैप ने इस पर टिप्पणी दी है कि द्वयेक शब्द द्वित्व और एकत्व के अर्थ में है और इमीलिय द्विवचन के रूप में व्यवहृत है—द्वयैकयोरित्यत्र संख्यापदेन द्विशब्देन सांख्यिकादेकशब्दव्यापित संख्यावाचिनो ग्रहणम्। त्रिवैकत्वयोरत्र द्वयैकशब्दावततेति द्विवचनेन निर्देशः। अन्यथा बहुवचनं ग्यात्। प्रसिद्धं या च संख्यायां वमेकात्तानामप्याशान्तानामुच्यते।

—महाभाष्यप्रदीप १।४।२१

एक शब्द जब संख्यावाचा होता है वह गुणवचन होता है। जब वह असंख्यावाचा होता है गुणवचन नहीं होता। (महाभाष्यप्रदीप ६।३।२२)। नागेश्वर के मत में सहमत नहीं है। उनका मत में संख्या शब्द गुणवचन नहीं होते (संख्याशब्दानां गुणवचनत्वाभावात्—वही)। परन्तु पाणिनि ने उपयुक्त सूत्र में एक शब्द का संख्या के अर्थ में ही व्यवहार किया है। यामकार का भी यही मत है (अत्र एक शब्द संख्यावाचकप्रयुक्तः, न संख्येयै द्वये—याम ६।३।६२)।

१७ स्वाथ इति। प्रत्ययस्य स्वात्म या प्रकृतिग्न या अर्थ इत्यर्थः। अथवा य प्रकृतिरथ स एव प्रत्ययता स्वाथ विज्ञानमिव पुत्रयः। तत्रैवार्थे प्रत्ययस्य या अनिर्दिष्टाया प्रत्ययव्यवृत्तौ न्याय्यवान्।

महाभाष्यप्रदीप ५।१।१६

फलतः बीस साथ क अथ म मदा गवा विगति यह पष्ठी विभक्ति वाला रूप ही होगा क्यात्रि गाथो के दा दस (गवा द्वा दानी) क रूप म अथ की उपस्थिति हो स यतिरेक उपस्थित हो जाने के कारण पष्ठी विभक्ति हो गो गद म होगी। पष्ठ्यन्त गा गद के साथ विगति शब्द का समानाधिकरण न होने से द्विगु सामान्य मभव न हो सकेगा। साथ ही इस शब्द म एक वचन का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा। वस्तुतः केवल समास या केवल वचन की अनुपपत्ति न होकर समास वचन की उपपत्ति न हो सकेगी। गवा विगति से गोविगति ऐसा सामान्य होता है। यद्यपि 'पूरणगुणमुहिताथ २।२।११ सूत्र के अनुसार गुण के साथ पष्ठी समास नहीं होता फिर भी यह निषेध अनित्य माना जाता है और संख्या शब्द क साथ समास दबा जाता है। स्वयं पाणिनि ने शतमहस्याताच्च निष्कां (५।२।११६) म संख्या गद क साथ सामान्य किया है। गुणनिषेध अनित्य श्रोतक वाक्य कात्यायन और पतञ्जलि के भी कह है जस क्रोशगतयोजनशतयोरुपसंख्यानम् (वार्तिक ५।१।७४) 'खारीगतमपि न ददाति (महाभाष्य, पस्पशाह निव) आदि। अथवा गुण क साथ निषेध वाला नियम तत्स्य गुणा क साथ लागू होता है जस वाक्यस्य वाक्यम्' म। गुणात्मा रूप म अवस्थित क साथ वह निषेध नहीं लगना। फलतः गोविगति यह समस्त पद बनता है। परन्तु व्युत्पन्न पद म सामानाधिकरण्य क अभाव म समस्त पद न बन सकेगा। साथ ही दा दस का भाव हान से द्विवचन की भा प्राप्ति हान लगेगी। स्वायिक प्रत्यय लिंग का व्यक्तिगमन कर सकते हैं परन्तु संख्या का व्यक्तिगमन नहीं करत। लिंग का ता प्रतिवस्तु क माय—इय व्यक्ति अयम पन्था शब्द वस्तु—इम रूप म लीना लिंग का व्यवहार दसा जाता है इसलिये लिंग भेद होने पर उतना विरोध संभव नहीं है परन्तु संख्या के क्षेत्र म संख्यातरयुक्त का सामान्य म विरोध है। यदि परिमाणी अथ म स्वाय म प्रत्यय का विधान हो, तो इस दोष से बचा जा सकता है। परिमाणी दा तरह का होता है द्रव्य का मघात अथवा भिन्न भिन्न द्रव्य। गा सघ के एक होने से विगति गद म एकवचन माघु मान लिया जायगा। द्रव्य का परिमाणी के रूप म लेने पर विगतिगव, विगतिगुली आदि म सामानाधिकरण्य समास की भी सिद्धि हो सकती है। परन्तु दूसरी कठिनाइया आ खड़ी होगी। जब सघ क परिमाणी अथ म विगति शब्द का निपातन होगा वचन विगति शब्द से भी सघ का ग्रहण हान लगेगा पर ऐसा इष्ट नहीं है और न तत्र म ऐसा देखा ही जाता है। भिन्न द्रव्य परिमाणी म प्रत्यय की उत्पत्ति मानने पर विगति गद से द्रव्य का अभिधान होगा, फलतः व्यतिरेक न हान क कारण गवा (गवा विगति) म पष्ठी विभक्ति न हो सकेगी। और द्र प्र क साथ सामानाधिकरण्य हाने से बहुवचन की भी प्राप्ति हान लगेगी।

वार्तिककार ने उपयुक्त दोषों से वचन के लिए विगति आदि शब्दों को अयुत्पन्न मान लिया है। जिस तरह सट्स अयुत अवुद आदि शब्द अयुत्पन्न हैं उसी तरह विगति आदि शब्द भी अयुत्पन्न हैं। इनकी प्रातिपत्ति सना अथवत् ० १।२।४५ सूत्र से हो जायगी। अथवत् सूत्र के द्वारा अव्युत्पन्न शब्दों की प्रातिपत्ति सना होनी

मिधान वत्ति यहा विवक्षित है और इसलिये वह प्रत्यय उत्पादन करने में ममथ हो सकेगा। यहा यह बात ध्यान देने की है कि द्रव्या का द्रव्यसमूह से और दत्ता का दत्तसमूह से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उनमें भेद बुद्धि-परिकल्पित है। शब्द बुद्धि व्यवस्थापित अर्थ माने होते हैं। बुद्धि को ही वे अर्थान्तर के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। बाह्य अर्थ व अभिधान से उनका साक्षात् प्रयोजन नहीं होता। इसलिये वाच्यविभक्त भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति वे करते हैं। गुणी (गाय आदि) का भेद के रूप में व्यवहार करने पर पष्ठी विभक्ति (गवा विगति) भी सिद्ध हो जायगी। यद्यपि विगति शब्द से दत्ता का समूह (दत्तसमूह) वाच्य है इसलिये उसका गुणी गाय आदि नहीं होता, दो दम ही उसके गुणी (समूह) हैं फिर भी गाय और दत्तसमूह में किसी तात्त्विक भेद का न होने के कारण गाय भी विगति शब्द के गुणी हैं। कबल अन्तर यह है कि दत्तसमूह से विगति के सम्बन्ध में कोई अभिचार नहीं है इसलिये कभी दत्तसमूह से विगति की विशेषता नहीं व्यवहार की जाती, काइ दत्ता तो विगति नहीं कहता। कभी भी 'वृष्णस्य काष्ण्यम्', "गुक्लस्य शौक्ल्यम्" प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, इनमें अभिचार सम्भव नहीं है। परन्तु अश्व आदि की व्यावृत्ति के लिये विगति शब्द का गाय शब्द के द्वारा विगति रूप व्यक्त किया जाता है। और कहा जाता है 'गवा विगति'। अथवा अश्व आदि भी दत्तसमूह से गृहीत हो सकते हैं। गाय का विगति से सम्बन्ध भावानयन द्रव्यानयनम् शाय के आधार पर हो जाता है।

वचनवाला दोष भी दोनों पक्षा में वस्तुतः दोष नहीं है। समुदाय अभिधान के पक्ष में समुदाय के एक होने से एक वचन सिद्ध हो है। गुणी अभिधान पक्ष में भी दोष नहीं है। यह ठीक है कि गुणवचन शब्द द्रव्य के लिंग और उसकी समस्या का अनुवर्तन करते हैं। परन्तु सबत्र यह नियम नहीं देखा जाता। लोक में कहा जाता है— गावो धनम् पुत्रा अपत्यम् इन्द्राग्नी देवता वदा प्रमाणम् आदि। इन वाक्यों में गुण और गुणी में लिंग और समस्या का साम्य नहीं है फिर भी ये प्रयोग शुद्ध हैं। गाव में बहुवचन है और धनम् में एक वचन है। धन गुण है और गाय गुणी है क्योंकि धन साक्षात् भेदक है और क्रिया पारतन्त्र्य है। जिस तरह गुक्ल शब्द कहने से द्रव्य की आकाशा होती है उसी तरह धन शब्द कहने से धन की जिनामा में गाय आदि की आकाशा होती है। जिस तरह गुक्ल वस्त्र में गुक्ल शब्द द्रव्य का भेदक है उसी तरह गावो धनम् में धन शब्द गाय का भेदक है अर्थात् दूसरे दूसरे प्रकार के धन से गाय धन अधिक प्रीतिकर है इस रूप में भेदक है। जिस तरह गुक्लमानय इसमें द्रव्य ले आन में ही गुक्ल के लान की संभावना है अतः क्रिया में द्रव्यपरायणता के कारण गुक्ल गुण है उसी तरह वनमानय जिस वाक्य में गाय आदि द्रव्य की आनयन क्रिया में पारतन्त्र्य के कारण धन गुण है। अतः जिस तरह 'गावो धनम् आदि में गुण-गुणी में भिन्न भिन्न वचन हैं—एकवचन और बहुवचन साथ-साथ हैं वस ही विगतिगाव विगतिवलीवदा विगतिगोत्रानि आदि में भी विभिन्न वचन और लिंग साथ-साथ सम्भव हैं। विगति शब्द नित्य एकवचन और स्त्रीलिंग है। इस एक वचन की पीठिका में भी एक-द्वान है। जहा कही एमा होता है वहा कुछ न कुछ रहस्य

होना चाहिये । महाभाष्यकार ने कहा है कि एक गोपिण्ड धन नहीं है अपितु गाथा का समुदाय धन है और प्रीति हनु होने के कारण धन गुण एक है । उमी एकत्र की प्राधाय विवक्षा से घनम शब्द में एक वचन होता है । इसी तरह पुत्रा अपत्यम में अपत्य शब्द से अपतन एक गुण प्रधान रूप से विवक्षित है और उसी आधार पर इसमें एकवचन है । लिंग व लोकाश्रय हान व कारण अपत्य शब्द का व्यवहार नपुंस्वल्लिङ्ग में होता है । वस्तुतः इसमें भी एकत्व की तरह ही रहस्य है । इसी तरह इन्द्राणी देवता में देवत्व (ऐश्वर्य) एक गुण ही प्रधानतः विवक्षित है इसलिये देवता में द्विवचन न होकर एकवचन है । विंशति आदि में भी विंशति सख्या समुत्ति द्रव्यसमूह में समवाय रूप में रहने के कारण एक है । इस एकत्र गुण के कारण विंशति शब्द का प्रयोग एकवचन में होता है । वह 'गुणव' की तरह प्रत्यक्ष में परिसमाप्त नहीं है । अन सत्ता द्रव्यगत लिंग सख्या का अनुवचन नहीं करता । पच सप्त आदि नित्य सरयेय वचन है इसलिये वे सत्यय लिंग-वचन का अनुगमन करते हैं । उनमें उपयुक्त आधार पर एकवचन नहीं होता ।^{१६} अतः व्युत्पत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । पर व्याकरणा का भुक्त विंशति आदि शब्द को अव्युपन मानने की ओर ही अधिक रहा है । जसाकि काशिकाकार ने कहा है —

विंशत्यादयो गुणशब्दास्ते यथाकथञ्चिद व्युत्पाद्या ।

नात्रावयवार्थोऽभिनिवेष्टव्यम । या चपा विषयभेदेन गुणमात्रे

गुणिनि च वन्ति स्थलिसख्यानुविधान च एतदपि तव स्वामाविकमेव ।^{१७}

विंशति की तरह ही एकविंशति शब्द सख्यामा का समझना चाहिये । उनमें भी अवयवार्थ कुछ नहीं है । एक सख्या और बीस सख्या के योग से एकवीस (एक विंशति) सख्या बनी है । यह एक तरह का काल्पनिक रूप है यथाथ नहीं । नव और बारह दस और ग्यारह के द्वारा भी एक विंशति का विवरण किया जा सकता है परन्तु ये सब विभाग भत हरि के अनुसार काल्पनिक हैं । एकविंशति शब्द सख्यामा में कोई अवयव नहीं है । वे शब्द ही सख्या हैं । नरसिंह की तरह उनमें शब्द ही बुद्धि होती है । केवल समझने के लिये नर और सिंह के रूप में जैसे अपाद्वार किया जाता है वैसे केवल अवस्थान के लिए एकश्च विंशतिश्च तस वाक्य एक विंशति के लिये कहे जाते हैं

एकविंशति सख्याया सख्यातरसरूपयो ।

एकस्यां बुद्धयन्तावत्या भागयोरिव कल्पना ॥^{१८}

यह भाष्यता कुछ व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ के कारण है । एकविंशति जमा सख्यामा का दो सख्यामा का योग मान लेने पर और उन्हें निरस्तावयत्र न मानने पर व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ पड़ेंगी । दस शब्द की तरह उन्हें असंख्य

१६ महाभाष्य तथा महाभाष्यप्रदाय १/१/५८

१७ काशिका ५/१/५६

१८ वाक्यसूत्री ३ मन्त्रा समुत्ति २०

एकवचन, द्विवचन और बहुवचन

यद्यपि ये शब्द अचमक है फिर भी परिभाषित रूप में व्यवहृत होते हैं। पूर्वाश्रयों द्वारा व्यवहृत समासों की पाणिनि प्रायः परिभाषा नहीं दी है परन्तु उदाहरण बता आदि की परिभाषा दी है। महाभाष्यकार ने इसका समास कहा है—
 एकवचन द्विवचन बहुवचनमिति तस्य समासः।^१ द्वयस्योक्त्याख्याना १।४।२२
 सूत्र के द्वारा एतत्प्रत्ययस्य एव एवञ्चनं और द्वित्वस्य प्रत्ययस्य द्विवचनं का प्रमाण होता है। एक शब्द का प्रयोग प्रयोग होता है। एक दो बहुवचनाना के साथ वह समास प्रत्यय व्यवहृत होता है। एतावत् जगत्प्रायः मयः अगत्यावयवो ह। मयमात्रे शुभ्र एतावत् जगत्प्रायः मयः अगत्यावयवो ह। जय यत् समासवाची होता है तभी उक्त एकवचन होता है। पाणिनि ने उपसृष्ट सूत्र में समास प्रत्यय ही एक शब्द का व्यवहार किया है। यदि एव समास प्रत्यय विवक्षित होता द्वयस्योक्त्या द्विवचन प्रत्यय पर बहुवचन का प्रयोग उचित जाना, क्योंकि दो और एक मिल कर तीन का प्रत्यय व्यक्त करत। मयस्य के लिये एक आदि शब्दों का व्यवहार सोच प्रसिद्धि के आधार पर किया जाता है (प्रसिद्धमात्रं सत्येवायमस्यमकादौनाम अष्टादशातानाम् उच्यते)।^२ जय एक शब्द प्रत्ययवा होता है वहा उसकी गणना समास में नहीं होती। अतः उससे बहुवचन भी होता है। जय 'एक' मयन्तः। अस्तु एकवचन में एक के सत्यार्थ होने के कारण एकवचन वस्तु की एक इकाई का द्योतक है और वस्तु में भेद प्रभेद पूर्यक होने के कारण अभेद सूचक एवत्वं ही वस्तु का स्वाभाविक रूप है। फलतः सन्धुत के वयावर्ण एकवचन की औपम्यिक मानत है।

द्विवचन कभी कभी अपनी स्वाभाविक सीमा के परे भी चला जाता है। सन्धुत में शरीर के व अवयव प्रायः द्विवचन द्वारा प्रकट किये जाते हैं जो जोड़े हैं जैसे—आयुः शान्तिः। परन्तु 'अक्षीणि म दगनीयानि, पादा म सुकुमारा' जस बहुवचनान्त प्रयोग भी लोक में देखे जाते हैं।

बहुत्व के अर्थ में बहुवचन का विधान पाणिनि ने बहुषु बहुवचनम् १।४।२१ के द्वारा किया है। बहुत्व तीन में लेकर पराध तक की समासों में व्याप्त धर्म है। सन्धुत में दारा शब्द बहुवचनान्त है। एव दारा के लिये भी दारा पद का प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग इसकी उपपत्ति बताते हुए कहते हैं कि अवयवगत बहुत्व का अवयवी में यहा आरोप किया गया है। अतः यहा बहुवचन आरोपजय है। (अवयवबहुत्वस्यावयविनि आरोपाद् भविष्यति)^३। एक वक्ष में मूल, शाखा आदि अवयव के आराध से बहुवचन नहीं होता क्योंकि कोण अथवा वद्ध-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। दारा शब्द में प्रति अवयव में प्रम के कारण दासत्व का आरोप

२० महाभाष्य १।४।२१

२१ महाभाष्यप्रतीप १।४।२१

२२ शब्दकौस्तुभ १।४।२१

सम्भव है। जहाँ कोश आदि वाधा नहीं देते एकत्व या बहुत्व के प्रयोग वस्तु की इच्छा पर है। जैसे "आचाया आगता" भी कहते हैं और 'आचाय आगत' भी कहा जाता है। कुछ लोगो के अनुसार दारा शम्शेर में बहुवचन साधु-व के लिये है। परन्तु बहुवचन विधान सूचक कोई उल्लेख नहीं है उसका अनुशासन नहीं हो पाया है। आचाय धर्मकीर्ति के अनुसार दारा सिक्ता आदि शब्दों में बहुवचन वस्तु की इच्छा स्वातन्त्र्य के कारण है वस्तु के आधार पर नहीं।

तरमादय नियमो नियस्तुक्त क्रियमाण शब्दप्रयोगे इच्छास्वातन्त्र्य स्यात्पयति ।

—प्रमाणवार्तिक पृष्ठ १६०

महामाध्यकार ने सिक्ता शब्द का प्रयोग एकवचन में किया है। जैसे एका च सिक्ता तलशनेऽसमया, तत्समुदायश्च खारोशतमपि असमयम्'। इस पर कैथन ने टिप्पणी दी है कि "एका सिक्तेति भाष्यप्रयोगादेव सिक्ता शब्दस्यैकवचनात्तमपि" २३

एकवचन आदि प्रत्ययनियम और अर्थनियम दोनों रूप में गृहीत होते हैं अर्थात् एक अर्थ में ही एकवचन अथवा एक में एक वचन ही होता है। इन दोनों रूपों में इनकी व्याख्या की जाती है। 'बहु रूप' जैसे वाक्या में बहु शब्द वैपुल्यवाची है। बहु शब्द भिन्न वस्तुओं के आधारार्थ के रूप में ही सत्यावाचक होता है।

सख्या विभक्ति से वाच्य अथवा द्योत्य

त्रिषु प्रातिपदिकाथ पञ्च में कम आदि की तरह एकत्व आदि सख्या विभक्त्यर्थ माना जाता है। पञ्च प्रातिपदिकाथपद में विभक्तिया सख्या के द्योत्यक है। कुछ लोग मानते हैं कि सख्या का अभिधान प्रत्यय के द्वारा होता है और कम आदि का अभिधान प्रातिपदिक के द्वारा होता है। इस मत का आधार अथर्व-यतिरेक पद्धति है। वक्षी वस्थान जैसे शब्दों में प्रत्यय के भेद से सख्या में भेद देखा जाता है परन्तु साधन में भेद नहीं देखा जाता। इसके विपरीत कुछ लोग मानते हैं कि कम आदि का अभिधान प्रत्यय द्वारा होता है और सख्या प्रातिपदिक के द्वारा अभिव्यक्त होती है। क्याकि अग्निचित्त जैसे शब्दों में प्रत्यय के प्रिना भी एकत्व का परिणाम होता है परन्तु विभक्ति के बिना कम आदि का ज्ञान नहीं होता। कुछ लोगों के अनुसार प्रातिपदिक से ही सख्या और कम आदि दोनों का अभिधान होता है। कम पद्यों जैसे वाक्या में विभक्ति के बिना भी दोनों का परिणाम देखा जाता है। वस्तुतः ये सब पक्ष भेद पुरुष विकल्पाधीन है। और व्याकरणदर्शन में प्रसंगानुसार सभी पक्षों में यथावसर ग्राह्य है। महामाध्यकार ने अनभिहित (२।३।१) इस सूत्र की स्थापना सख्या विभक्त्यर्थ दर्शन के आधार पर की है (तदेव सख्याविभक्त्यर्थ इति दशनाश्रयेण सूत्रं स्यादितम् —महामाध्यप्रदीप २।३।१)। इसी तरह पाणिनि सूत्र ४।१।५० के भाष्य में विभक्तियाँ व कर्मादि के द्योत्यक होने का संकेत है और नागार्जुन के अनुसार यही सिद्धांत

प्रा है—

(परमाद् भाव्याद् द्योतकस्य यन् एव सिद्धात् इति भाष्यम्—

—गुह्यमात्रप्रतीकाया १।१।५०)।

गम्या प्रत्ययाध और प्रत्यय दाता का परिचय है। पञ्चम गम्य म गम्या प्रत्ययाध का परिचय है। पञ्चम गम्य गम्य गम्य इति म प्रत्यय का प्रत्यय है।

वृत्ति में सरया

वृत्ति म गम्याभ की निवृत्ति है। विप्रद्वय म गम्या विप्रद्वय की प्रतीति है। स रण पुण्य म रण म म एतत्त्व का ज्ञान होता है परन्तु राजपुण्य म म उपसजन म स रण म गम्या विप्रद्वय का बोध नही होता। किसी गम्याभ की स रण म वृत्ति म गम्याविप्रद्वय का स्थान नही है इसका अनुमान कर लिया जाता है।

वृत्ति में अभेदकत्वसरया

अथवा वृत्ति म अभेदकत्वसरया होता है। भत हरि ने अभेदकत्वसरया की दो रूपों म व्यवहृत किया है। विप्रद्वय सरया म अविभाग रूप म अवस्थिति का नाम अभेदकत्व सरया है। इस दशन म अनुसार वृत्ति म उपसजन पञ्चमों म भी सरयायोग होना चाहिये। अव्यय की तरह सवथा सरयारहित उपसजन पदार्थ की सत्ता उपयुक्त नही है। इसलिये वृत्ति म भी सरया का एक सामान्य रूप रहता है जो सभी सरया विप्रद्वय का ससग रूप सा है। उसम सरयाभा का विभाग दृष्टिगोचर नही होता। इसम स्पष्टीकरण म भत हरि ने मधु का उदाहरण दिया है। मधु म सभी प्रकार की औषधियाँ क रस अविभाग रूप म सन्निविष्ट रहते हैं। मधु म औषधि रसा की अलग अलग पहचान दुष्कर है फिर भी वे वहा है। काय म रस कारण गुण—रस स ही सभव है। इसी तरह यद्यपि वृत्ति म उपसजन पदार्थ म सरया विशेष की प्रतिपत्ति नही होती, फिर भी उसम सभी सरयाएँ अविभक्त रूप म हैं। इसी का अभेदकत्व सरया गम्य से व्यक्त किया जाता है।^{२४}

अथवा अभेदकत्वसरया से अभिप्राय उस सरया सामान्य से है जिसम विप्रद्वय परित्यक्त है (परित्यक्तविशेष सरयासामान्य अभेदकत्वसरया)। अभेदकत्व स्वभाव वाली सरया म व्यक्तिभेद सवथा तिराहित रहता है और सरया केवल जाति रूप म अवस्थित रहती है। सरया का जातिरूप भेदपोट्ण है अर्थात् भेदों का व्यावर्तन अथवा हटाना ही सरया का जातिरूप है। एकत्व द्वित्व का व्यावर्तन करता है, त्व त्व को हटाता है। इसी तरह अभेदकत्व के अर्थ सभी सरयाभा के व्यावर्तक होने के कारण उसमे भेदपोट् तक्षण सरयात्व है। पहले मत

से इस मत में यह भेद है कि पहले के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद का समग्र मात्र था फलतः समस्त भेद-रूप था। दूसरे मत के अनुसार अभेदकत्व समस्त भेद में अनुगत सामान्य रूप और अग्र व्यावर्तक स्वभाव वाला है। समास में द्वित्व और बहुत्व सरूपा का ज्ञान नहीं होता। केवल अभेदकत्व का परिज्ञान होता है। अतः संख्या विधेय का परित्याग कर सत्ता के सामान्य रूप का अभेदकत्व सरूपा मानना चाहिए। जिस तरह से अंधेरे में किसी वस्तु के केवल आकार का ही बोध हो पाता है उसके विशेष गुण शुक्ल, नील पीत आदि का आभास नहीं होता। उन्नी तरह राजपुरुष आदि वृत्तस्थानों में आकार या रूप की तरह केवल सरूपावान राज व अथ का ग्रहण होता है पर विशेष रंग की तरह विशेष सरूपा का ग्रहण नहीं होता। अतः वृत्त में अभेदकत्व संख्या की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

कभी कभी वृत्त में भी संख्या का बोध होता है। परन्तु इसमें अभेदकत्व संख्या पक्ष की हानि नहीं होती। द्विपुत्र पंचपुत्र जैसे शब्दों में समास में भी सरूपा विशेष की अभिव्यक्ति अवश्य होती है परन्तु यहाँ प्रातिपदिकाय ही संख्या विशेष है। इस विग्रह वाक्य से जिस द्वित्व संख्या की प्रतीति होती थी समास होने पर वह तिरोहित हो जाती है और अभेदकत्व संख्या का आविर्भाव हो जाता है। किन्तु द्विशब्द का प्रातिपदिकाय का द्वित्व है वह वृत्त होने पर भी तिरोहित नहीं होता। जहाँ स्वार्थवृत्ति पक्ष में भी उपसर्जन का अर्थ होता है। भाव प्रत्यय के बिना भी वृत्तिविषय में द्वि और बहु शब्द द्वित्व और बहुत्व का अर्थ में देखे जाते हैं जैसे द्वयकयोद्विवचनकवचने १।४।२२ के द्वयेकयो शब्द में।

अथवा भी वृत्त में संख्याविशेष की भलक मिलती है। जैसे 'तावकीन में एकत्व की। परन्तु यहाँ भी एकत्व की प्रतीति आदेश के प्रयोग से है।

मासजात शौचिक जैसे स्थलों में एकत्व का भान यहाँ प्रातिपदिक के ही विशेष अर्थ के अभिधायक होने का कारण है। विनिष्ट काल का अवबोध ही यहाँ मुख्य है। परिमय—विशेष के अवधारण के लिये ही परिमाण शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कुण्डश ददानि, अस्थश ददानि वनश प्रविशति जैसे वाक्यों में एकत्व का अवधारण प्रकरण के बल पर होता है।

विग्रह वाक्य में स्तोकाभ्यां मुक्त स्तोकैभ्य मुक्त ऐसा भी कहा जाता है किन्तु समास में सदा 'स्तोकान् मुक्त' ही होता है। यह अलुक् समास है और समस्त पद होने के कारण इसमें एक ही उदात्त है। स्तोकाभ्यां मुक्त में समास अनभिधान के कारण नहीं होता। लोक में समस्त शब्द के रूप में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। स्तोकान् मुक्त में अलुक् का एकवचनभाव माना जाता है। फलतः वृत्त में अभेदकत्वसंख्या का व्याधान यहाँ भी नहीं है। गापुचर, वर्षापुज जैसे आपातत बहुवचना में समास में भी अभेदकत्वसरूपा है क्योंकि इनमें व्यक्ति बहुत्व के अग्रम बहुवचन नहीं है अपितु जाति बोध के कारण एक के अर्थ में है। इसलिये एक व्यक्ति के लिये भी गोपुचर (कण्ट के अनुसार कुक्कुट, हलाराज के अनुसार इन्द्रगोप) शब्द का

प्रयोग होता है। इसी तरह वर्णपुञ्ज म वर्ण शब्द बहुवचन न हो श्रुति विग्रह का वाचक है। इगलिय वृत्तिगत अभेदवचनका की प्रतीति यही भी है। फलन वृत्ति म अभेदवचनका भा हरि के अनुसार माननी चाहिए। पर यह अभेदवचन पाणिनीय रूप म ही है। व्यपहार वृत्ति स सरलविग्रह का भाग न होना। यदि कुछ स्थला पर किसी विग्रह कारण स वृत्ति म सरल का अवरोध हो भा तो भी सामान्य लक्षण के रूप म यही चाना उचित है कि वृत्ति म मन्वाभेद का अवगमन रहा होता—

भेद सरलविग्रहो वा व्याख्यातो वृत्तिवाचकयो ।

सबन्ध विग्रहस्तु नायम् तादृशो भवेत् ॥

—वाक्यपट्टीय वृत्ति समुद्देश १३२

जाति में सरल

व्याकरण दशन जाति म भी सरल मानता है। क्योंकि सरल इस दशन म भेद के रूप म भी गृहीत है। गुण पद स सदा विशेषिक प्रसिद्ध ही गुण नहीं लिया जाता गुण भेदक भी होता है

ननु च जाते सरल न विद्यते तस्या द्रव्यघमत्वात् । यद्यपि योपेक्षसिद्धात् प्रसिद्धा गुणपदाथसंगहीता या सरल सा न विद्यते तथापि भेदका गुणा इत्यस्माद दाने भेदमात्रा या सरल सा विद्यत एव—

—यास १।२।५८

कारक (साधन) विचार

स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रया तरे ।

क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्य साधनं विदुः ॥^१

क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्य शक्ति को साधन कहते हैं। इसे कारक भी कहते हैं। साधन शब्द की व्युत्पत्ति साध्यते अनेन क्रिया के रूप में की जाती है। महाभाष्यकार ने साधन को गुण माना है। शक्ति स्वयं आधार के परतन्त्र है साथ ही अन्य आश्रया से अपने आश्रय का भेदक है। भेदक होने के कारण 'भेदका गुणा' इस दशन के आधार पर उसे गुण कहते हैं। महाभाष्यकार ने यदि तावद गुणसमुदाय साधनं, साधनमपि अनुमानगम्यम्' (महाभाष्य ३। २। ११५) — यह वाक्य व्यवहृत किया है। गुणसमुदाय स अभिप्राय शक्ति समुदाय से है। गुणसमुदाय शब्द में समुदाय शब्द करण आदि सभी शक्तियाँ का प्रतीक है। करण आदि शक्तियाँ क्रिया की सिद्धि में अविनाशरूप से निमित्त हैं अतः वे सभी साधन हैं। इसीलिये सर्वा शक्तयः साधनम्^२ यह उक्ति प्रसिद्ध है। कभी कभी द्रव्य के लिये भी साधन शब्द का व्यवहार मिलता है जैसे, 'साधनं वै द्रव्यम्'। ऐसा स्थलो में शक्ति और शक्तिमान के अभेद की विवक्षा से साधन शब्द स द्रव्य का अभिवान होता है (शक्तिशक्तिमतोरभेदविवक्षया साधनशब्देन शक्तिमति द्रव्याण्युच्यते)।^३

साधन के शक्ति रूप में होने के कारण क्रिया की तरह वह भी अनुमय है। शक्तियाँ सदा अनुमय ही होती हैं। शक्तिमान को शक्ति से अतिरिक्त मानन पर साधन का प्रत्यक्षत्व और परोक्षत्व द्रव्य के आधार पर होता है। लाक में द्रव्य के प्रत्यक्ष होने पर क्रिया का भी प्रत्यक्ष समझा जाता है और द्रव्य के परोक्ष होने पर क्रिया का भी परोक्ष माना जाता है वैसे ही साधन का भी समझना चाहिये।

भक्त हर्ष ने साधन पर विचार द्रव्य-अतिरिक्तशक्तिदान और द्रव्य-अपत्ति स्थितशक्तिदशन इन दोनों पक्षा की मायताओं के आधार पर किया है।

१ वाक्यपत्नीय ३, साधनसमुद्देश १

२ कैयट, महाभाष्यप्रदाय ३। २। ११५ पृ० = २३

३ वट्टा, पृष्ठ २५२

द्रव्यव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

भक्त हरि के अनुसार विश्व शक्तियाँ का समूह है। विश्व की प्रत्येक वस्तु एक तरह का शक्ति पुंज है। घट जल भाव (पन्था) जल ले आना जल रखना आदि जल वायों के साधक शक्तियों के समूह हैं। ये शक्तियाँ, हेलागज के अनुसार कई प्रकार की होती हैं। कुछ अपने हेतुओं से ही स्वाभाविक रूप में उदबुद्ध होती हैं जैसे दीप में प्रकाश की शक्ति। कुछ शक्तियाँ अपने आश्रय के अन्तर्गत स्थित होती हैं जैसे बाधा आदि शक्तियाँ। विप की भारण शक्ति और बीज की अकुर जनन शक्ति भी शक्ति विशेष ही हैं। योगिमा की शक्ति भी एक विशेष शक्ति है। यह उपयुक्त भाव हेलागज ने भट्ट हरि के शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वास्यानवधमण वाक्य का प्रयुक्त किया है। परन्तु इसका भाव भक्त हरि की शक्ति दर्शन के अनुरूप भी हो सकता है। भक्त हरि शक्ति-पदार्थ का समर्थक हैं। विश्व की मूल सत्ता शक्त्यात्मक है। विश्व की सभी वस्तुएँ उसी मूल शक्ति की मात्राएँ हैं उनके अवयव हैं। इसलिये विश्व की शक्तिमात्राओं का समूह कहना उनके दर्शन के अनुकूल है। उस शक्ति की सदैव सदा सत्ता है। फिर भी वही किसी शक्ति विशेष की विवशा होती है और इस तरह वस्तु वचिन्त्य बना रहता है। घट दवा घट द्वारा जल लाओ घट में जल रखो आदि वाक्यों में कम करण आदि शक्तियाँ विवशा बना उन्मूलित होती हैं। इसलिये कारक-साध्य भी नहीं होने पाता है। शक्ति की साधन मानने पर ही इस वचिन्त्य की भीमासा ठीक ठीक हो पाती है। द्रव्य का साधन मानने पर कम करण शक्ति की व्यवस्था समुचित रूप में नहीं की जा सकती क्योंकि द्रव्य एकस्वभाव वाला है।

शक्ति की साधन मानने में कुछ कठिनाइयाँ हैं। यहाँ पर शक्तियाँ हैं वहाँ विवक्षा भल हो जहाँ उनको वास्तविक सत्ता नहीं है वहाँ किस तरह व्यवस्था की जायगी। जैसे शक्तिम आन्धाति शक्ति या साधयति जमे वाक्या में शक्ति शब्द के रहने से किसी दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। एक शक्ति का किसी अन्य शक्ति के साथ योग अनिवार्य मानने पर अनवस्था दाप भी जायगा। इसके अतिरिक्त भी वात्मन वाक्या में कम शक्ति की भीमासा हागी। धनाभावो न युक्त जल वाक्यों में अभाव में कम किसी शक्ति का स्थान होगा अभाव तो निष्पत्त्य है। इस तरह की भागवता के समाधान में भट्ट हरि ने कहा है कि साधन-व्यवहार बुद्धि अवस्था निवर्धन है वीद्धि है। वीद्धि सत्ता के लिये किसी वस्तु की ग्राह्य सत्ता प्रयत्न प्रयोजक नहीं। सत् प्रयत्न असत् वस्तु के भूत बुद्धि द्वारा ग्राह्य हैं। ग्राह्य जणत् में वस्तु की प्रमाण सत्ता होने द्वारा भी जब तक बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नया होता उसका लिय किसी शब्द का व्यवहार नया किया जाना। अभाव का भी बुद्धि द्वारा भावजन होता है तभी वह शब्द द्वारा अभिहित होता है। इसी तरह स्थानी पचति स्थाना पचति और स्थाना पचति इन वाक्यों में एक ही स्थानी बना करण योग्य प्रयोजक कम हो सकती क्योंकि उगम भूत करना कठिन है। इस का समाधान भी स्थाना में भी ग्राह्यभाव की विवक्षा में करण वात्मनिक आधार की

विवक्षा म अधिकरण आदि मान कर हो जाता है। महाभाष्यकार ने बौद्धिक आधार लेकर पाणिनि के अपादानविधायक कई सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। वस घातयति, वलि वधयति जैसे वाक्यों में वतमान का निर्देश भी नष्ट। और कृपको द्वारा अतीत की घटना को बुद्धि अवस्थित रूप में प्रत्यक्ष सा स्थान के रूप में उपयुक्त माना गया है। इसलिये साधन व्यवहार का बौद्धिक धरातल मान लेने पर शक्ति का नाशत्व भी बौद्धिक रूप में सिद्ध हो जाता है। बाह्य वस्तु में जिस बौद्धिक-वस्तु का समारोप होना है उसके लिये भर्तृहरि ने 'बुद्धिप्रवृत्तिरूप' शब्द का व्यवहार किया है। वक्ता बुद्धिप्रवृत्तिरूप का—बुद्धि में आभासमान विषय का बाह्य अर्थ में आरोप कर शक्ति के भेद का कल्पना करता है। आगेप का आधार दृश्य और कल्पित में अभेद का अध्यवसाय है। हलाराज के अनुसार बाह्य अर्थ में भी शब्द प्रमाण है। बुद्धि प्रतिभास अपने आप में अवस्थित नहीं होता। क्रियाभेद का आधार पर विवक्षाजय शक्ति भेद की कल्पना कर वस्तु को ही अनन्त शक्तिमयी मान लिया जाता है। इस सम्बन्ध में हलाराज ने बौद्ध और व्याकरण के मतभेद का उल्लेख किया है। बौद्ध धर्म के अनुसार विकल्प प्रतिबिम्ब भेद अध्यवसाय से शून्य होता है इसलिये बाह्य प्रवृत्ति होती है किन्तु शब्द की प्रवृत्ति अपाह रूप में शून्य व्यावर्तनरूप में—बाह्य होती है अपाह का अतिरिक्त शब्द की बाह्य प्रवृत्ति मानने पर व्यभिचार दोष आ जायगा—शब्द का यथाथ सवेत जानना दुष्कर होगा। अतः प्रामाण्य वक्ता के अभिप्राय में है। व्याकरण दर्शन के अनुसार बाह्य अर्थ में प्रामाण्य अध्यवसाय के बल पर होता है

सौगतानां तु विकल्पप्रतिबिम्बस्य भेदाद्यवसायात् बहिष्प्रवृत्तिः । प्रामाण्यं तु वक्त्रभिप्राय एव शब्दानां न बाह्ये व्यभिचारशक्त्यादयव्यावृत्तिमात्रनिष्ठता तु बहिः । व्याकरणानां तु व्यावृत्तवस्तुविषयता तथा अध्यवसायात् तत्रैव च प्रामाण्य इति निदर्शनमेव १ ।

शक्ति में नाशत्व मानने पर भी उपाधिया नियत हैं फलतः परस्पर साक्य नहीं होन पाता है और साधन में भेद परिलक्षित होता है।

एक दर्शन के अनुसार सभी भाव निरीह है चेष्टा रहित है। फिर भी उन्मेष कर्ता, कर्म, क्रिया आदि की कल्पना होती ही है। स्वानुभूति और पारतन्त्र्य लक्षण कर्तृकरण आदि कारक हैं। क्रिया प्रमलक्षण वाली है। ये सब क्रिया कारक भाव आदि मिथ्याग्रन्थाम वासना से सवथा निर्वेष्ट पदार्थ में भी बौद्धिक-कल्पना द्वारा माने जाते हैं। क्योंकि शब्द व्यवहार विकल्प के आश्रित होता है। हलाराज के अनुसार यह मत अद्वैतवाद के अनुसार है और महाभाष्यकार ने अद्वैतवाद का अनुगमन किया है (?)

दशितमित्यद्वैतनयाबलम्बिभिः भाष्यकारप्रभृतिभिः कुल
पिपतिपतोत्यादिप्रयोगसिद्धयथमाख्यातमित्यथ १५

४ हलाराज, वाक्यपदीय ३ सा. १ समु. १६

५ वाक्यपदीय ३ सा. १ समु. ४३, तथा हलाराज की दृष्टि पर टिका

परन्तु "कूल पिपनिपति" व प्रसंग में भाष्यकार ने सभी भावा को चेतन माना है, निश्चय नहीं माना है। हा, भद्वैतवाद की गद्य वहा अवश्य है।

द्रव्य में व्यतिरिक्त सात्त्विकसाधन की सिद्धि का आधार अव्यव्यतिरिक्त भी है। वक्ष्य, वक्ष्य जिस साधन में विभक्त्यर्थ का (साधन का) व्यतिरेक स्पष्ट है। प्रकृति ता वृक्ष" एक ही है परन्तु प्रत्ययभिन्न भिन्न है। इसलिय प्रत्ययों की सत्ता मानने पर साधन की सिद्धि हो ही जाती है।

महाभाष्यकार ने भी कहा है— किसे साधन मानना उचित है—द्रव्य को या गुण को। गुण को साधन मानना उपयुक्त है। देखा जाता जाता है कि कोई किसी से पूछता है देवदत्त कहा है। वह उत्तर देता है— 'देवदत्त वक्ष्य पर है। किस वक्ष्य पर? जो सामने है (य तिष्ठति)। वक्ष्य वार्तानाप में वृक्ष पहने अधिकरण के रूप में और बाद में वर्ता (तिष्ठति क्रिया) के रूप में व्यक्त हुआ है। द्रव्य के साधन मानने पर जो कम होगा। वह कम ही होगा जो कारण होगा वह कारण ही होगा, जो अधिकरण होगा वह अधिकरण ही रहेगा। (महाभाष्य २। ३। १)। गुण का (गवित को) साधन मानने पर अनेक अर्थ क्रिया के कारण अनेक व्यपदेशन संभव है। फलतः सात्त्विक नानात्व भी सिद्ध होना है

यदि द्रव्य साधन स्यात् तदा तस्य कल्पत्वात्
निबन्धनाबाधितप्रत्यभिज्ञावियमत्वात् नानाथ—
क्रियाकारणनिबन्धनो व्यापदेशभेदो न स्यात्। दृश्यते चासाविति
नानागवितसदभाववगम सिद्धः।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।१

द्रव्य-अव्यतिरिक्त शक्ति-दर्शन के अनुसार साधन

कुछ लोग गवित का द्रव्य से अव्यतिरिक्त मानते हैं। हेतुसिद्धि के अनुसार यह मत मननवादी वैशेषिका का है। मननवादियों के अनुसार शक्ति और शक्तिमान सभी भाव हैं। शक्ति भावों का स्वरूप स्वभाव के उपपन्न करने में शक्ति है। अतः भाव ही शक्ति है। भावों का साधनत्व अपादान शक्ति शब्दों द्वारा व्यक्त न होकर प्रत्ययों द्वारा व्यक्त होता है। "घट पश्यति" इस वाक्य में घट गणनक्रिया का विषय है वही कम है उसका द्रव्यत्व रूप अपनी शक्तियों से समन्वय होकर साधन होता है और कम कारक के रूप में व्यवहृत होता है। अभी तरह 'रूप परमति' इस वाक्य में दान क्रिया में रूपत्व साधन है। एव ही वस्तु गवित और गविमान दाना वस्तु है इसके समाधान में सप्तगवानी कहते हैं कि एक ही वस्तु उपकारक अवस्था में शक्ति और उपकार्य अवस्था में गविमान हो सकता है। गवित अवस्था में किसी अन्य गवित से याग न होने के कारण अवस्था दाप भी न होगा और अनाव के सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के कारण उसमें भी गवित संभव हो सकती। गवित के उपकारक धर्म का नाम साधन है। श्रिया माध्य स्वभाववाली होती है। फलतः मिद्ध स्वभाव वाला भाव (कारक) साध्यस्वभाववाली श्रिया का मिद्धि में महायक होने के कारण उसका उपकारक मान

लिय जात है। इसलिय सिद्धभाव (कारक) ही साधन है। अपने आश्रय में शक्ति के व्यक्त होती है इसका निष्पन्न मन फिर ने रस के दृष्टान्त से किया है। रस आश्रय का रसनादि किया साधन है और य सत्ता नियत ग्रहण वाल है अर्थात् अपने जाति बल के आधार पर ग्राह्य है। द्रव्य का ग्रहण अभी द्रव्य रूप में होता है कभी गुण रूप में और कभी क्रिया रूप में इस तरह उभरा ग्रहण नियत नहीं है। परन्तु रस का आधार ही उसका स्वरूप ग्रहण में हेतु है और वह नियत है। रस के रस का रस में उसके आश्रय का आश्रय हो जाता करता है। इस तरह भाव परस्पर शक्ति मान होते हैं। परस्पर समग ही शक्ति है। शक्ति नाम की कोई क्रिया अथ वस्तु नहीं है। परस्पर ससग कभी संयोग में जाना है। जस, मन और चन्द्रिय के अथ के साथ सन्निकष किसी वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) में साधन होता है। मुख की अनुभूति में आत्मा का अंत करण से संयोग साधन है। इस तरह जो जिसका जिस रूप में अनुग्रह करता है वह उसका उभरी रूप में साधन है।^६ अस्तु सभी भावा की अतीन्द्रिय शक्तिया हैं। भाव सत्कारी के रूप में स्वरूप से ही कायजनक है भावा की आत्मा ही शक्ति है। विशेष सत्कारी के सपक से विशेष काय जनकता शक्ति भाव में स्वाभाविक है। अतः भाव से व्यतिरिक्त किसी अदृष्ट शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सभी द्रव्य में सहज रूप में शक्ति विराजमान है। समय पर उसकी अभिव्यक्ति होती है। कुडय में आवरण की शक्ति और गस्त्र में छेदन की शक्ति सत्ता निश्चित है परन्तु क्रियाकाल में अपने काय निष्पादन के समय में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। द्रव्य में क्रिया काल के पूर्व-काल में भी शक्ति है और क्रिया काल के उत्तर काल में भी है। इस विषय में आचार्यों में विमल है। कुछ लोग शक्ति और भाव (द्रव्य) की साथ साथ मत्ता मानते हैं। कुछ लोग शक्ति के पूर्व में भाव मानते हैं और कुछ लोग शक्ति के उत्तरकाल में भाव मानते हैं।

व्यतिरिक्त और अव्यतिरिक्त पक्षा में चाह सत्य जो हो व्याकरण दर्शन व्यतिरिक्त पक्ष को प्रथम देना है। वह गन्तप्रमाणवादी है। गन्त से जो अभिव्यक्त होता है वही उसके लिए प्रमाण है। गन्त पदार्थों का साधनरूप व्यतिरिक्त रूप में ही व्यक्त करता है। लाव में भी शक्ति व्यतिरिक्त रूप में ही समझी जाती है। अत्यतिरिक्त मानने पर सतत क्रिया निष्पत्ति होने की सम्भावना होने लगेगी।

एव च व्याकरणनयानुसारिभिः अस्माभिः तत्सामर्थ्य व्यतिरिक्तमेवोच्यते।

लोकश्च गदक्रिया निमित्ताया शक्ते व्यतिरेकमेवानुगच्छति।

अत्यतिरेके हि सतत क्रियानिष्पत्तिप्रसंगः।^७

शक्ति एक अथवा अनेक

शक्ति साधन है। वह शक्ति एक है अथवा अनेक इस विषय में भी शास्त्रिक

६ वाक्यपदीय ३, साधन समुदेश ६—१४

७ हेलाराज, वाक्यपदीय, साधन समुदेश २८

प्रवाद हैं। कुछ लोग क मनुष्य साधन शक्तिया छ (पट) हैं, नित्य हैं, भगभेन समचित है। जिस तरह प्रथ म जानि की सत्ता रहती है उसी तरह व भी उसम क्रिया की सिद्धि के लिए रहती है। यद्यपि द्रव्यभेद म भिन्न भिन्न अनन्य शक्तिया हा मकती हैं फिर भी उन सबका समावेश छ शक्तिया म हा जाता है। इसलिए मूल शक्तिया छ ही है। वही छ शक्तिया, छ साधन प्रथम छ कारण नाम स विख्यात है।

कुछ अर्थ आचार्य मानत हैं कि शक्ति मूल रूप म एक ही है। निमित्तभेन स एक ही साधन शक्ति कई रूप म (छ रूप म) व्यक्त हाता है और वही निमित्त भेद साधन भेद का हंतु है। इस मत क अनुसार मूल रूप म वह शक्ति कत त्व शक्ति है। कत त्व शक्ति ही अवातर व्यापार की विवक्षा स करण सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त करता है और छ प्रकार की वही जाती है।¹⁵ क्रिया की निष्पत्ति म सभी कारण सहायक है। अत कत त्व किसी न किसी रूप म सभी कारणका म है। पुत्र क जन्म म माता पिता नाना का कत त्व है। विवक्षावग पिता म कत त्व और माता म अधिकरणत्व कभी माता म कत त्व और पिता म अपादानत्व मान लिया जाता है। साध्य क रूप म क्रिया सभी कारणों के लिए साधारण है। अत उस क्रिया क प्रति सभी कारणका म कत त्व है। प्रधान क्रिया की निष्पत्ति म सभी कारण अपने अपने व्यापार मे स्वतन्त्र है, कर्ता के सानिध्य म भी दूसरे कारणों का व्यापार बद नहीं होता। अत कर्ता के सानिध्य म पारतन्त्र्य अवस्था म भी उनम कारणत्व बना रहता है। जहा स्वत स्वातन्त्र्य है वही कत सना होनी है और जहा पारतन्त्र्यसहित स्वातन्त्र्य है वहा कत सना न हाकर करण आदि का विधान होता है। कर्ता की प्रधानता इसलिए मानी जाती है कि करण शक्ति की प्रवृत्ति निवृत्ति उसी के अधीन होती है दूसरा मे पहले उसीको शक्तिलाभ हाता है उसका कोई प्रतिनिधि नहीं होता। आस्ते शेत जस स्थिता म जहा करण आदि का अभाव है केवल वही दिखाई देना है और बिना कता क कारण शक्ति के दान नही होत। इसलिए कत त्व शक्ति ही इस मत के अनुसार प्रधान शक्ति है।

क्रिया साधन रूप में

महाभाष्यकार ने क्रिया का भी साधन के रूप म व्यवस्त किया है। उनके अनुसार क्रिया भी कृत्रिम कम है। क्रिया किस तरह क्रिया स इक्षिततम हा सकती है इसके लिए उन्होंने सदशन शक्ति क्रियाधा का उल्लेख किया है। बद्धिगाली मनुष्य पहले किसी वस्तु को बुद्धि से देखता है। देखन पर उस पान की इच्छा उसके मन मे जगती है। इच्छा (प्राथना) होने पर वह उसमे लिए अध्यवसाय करता है। अध्यवसाय से आरम्भ, आरम्भ स निवृत्ति और निवृत्तिसे फल की प्राप्ति हाती है। इसम मन्थन क्रिया का साध्य प्राथना क्रिया है और प्राथना क्रिया का साधन सम्पन्न क्रिया है। इसी तरह प्राथना क्रिया अध्यवसाय क्रिया का साधन है। इस तरह पहल जो क्रिया साध्य है वही आग वाली

क्रिया का साधन बन गई है। भक्त हरि के अनुसार सदसा क्रिया का साधन चतुर्थ है (सदगने तु चतुर्थ विनिष्ट साधन विदुः)।^{१६} कैयट के अनुसार 'कारक' १।४।२३ इस सूत्र में कारक पद से क्रिया विवक्षित है (क्रियाऽत्र भूते कारकगच्छेनोच्यते। सा हि कर्त्रादीनि विनिष्टायपदेश युक्तानिकरोति-महामाध्यप्रदीप १।४।२३)। पाणिनि सूत्र ५।१।११८ व भाष्य में भी पतञ्जलि ने 'क' पुन धातुकृतोऽथ। साधनम्।' कहा है। कैयट के अनुसार यहा धातु शब्द का अभिप्राय धात्वर्थ क्रिया है। वही साधन है। हेलाराज के अनुसार 'क्रिया साधन है यह मत वार्तिककार का है (शक्तिव्यतिरेका क्रियोपकाराथमाश्रिता साधनमिति सामान्येनोच्यत इति वार्तिककारमतम्)।'^{१७}

अपूर्व, कालशक्ति प्रकृति आदि साधन के रूप में

भक्त हरि ने साधन ज्ञान के प्रसंग में विभिन्न तन्त्रों के मतों का भी उल्लेख किया है जसा कि उनकी पद्धति है। कुछ दार्शनिक (मीमांसक) 'अपूर्व' को ही साधन मानते हैं। (मीमांसक यागजय अष्ट शक्ति विशेष को अपूर्व मानते हैं)। कुछ विचारक ब्रह्म की काल शक्ति को ही साधन मानते हैं। काल-द्रव्यवादी केवल काल को साधन मानते हैं। सात्यदगन राजसी क्रिया अथवा प्रकृति को ही साधन मानता है। विज्ञानवादी बुद्धि प्रकल्पितरूप को श्री भसगवादी ससगिरूप का साधन मानते हैं इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। व्याकरण दगन लाकप्रसिद्ध पदार्थ सामर्थ्य का साधन मानता है। हेलाराज ने इन सब मतों का संग्रह निम्नलिखित पंक्तियों में कर दिया है जो महत्त्वपूर्ण है

तदेव पदार्थसामर्थ्य व व्याकरणमतेन साधनम्। अथवा बुद्धि प्रकल्पितरूप विज्ञानवादाभिप्रायेण ससगिरूप वा पदार्थांतरभूत ससगवादानुसारेण, अदृष्टलक्षणम् अपूर्वशब्दाच्च वा मीमांसकदृष्ट्या ब्रह्ममन्त्रादिनी वा काल शक्ति अद्वैतदगनेन क्रिया राजसी प्रकृतिरूपा वा सात्यदगनानुसारेण, नित्यमेव ब्रह्मलक्षण वा कालरूप द्रव्यकालवादिना मतेन विज्ञेयम्।^{१८}

अन शक्ति शब्द से वाच्य साधन का व्याकरणज्ञान में स्थान है। उसीका कारक सामर्थ्य रूप है। कारक के सात भेद मान जाते हैं। छ कता कम आदि के रूप में और एक नेप में। कुल मिला कर सात होते हैं—

सामर्थ्य कारक तस्य सप्ताद्या भेदयोग्य

यद् कमाख्यादिभेदेन नेपभेदस्तु सप्तमी ॥

[वाच्यवादीय ३ साधन ८४]

६ महामाध्य १।४।२३ तथा वाक्यदग्य, साधन समुदेश १६ १७

१० हेलाराज वाक्यादीय, साधन समुदेश १७

११ हेलाराज, वाक्यवादीय, साधन समुदेश ४२

कर्ता कारक

पाणिनि ने स्वतन्त्र को कर्ता माना है। जिसका स्व (आत्मा) तत्र (प्रधान) हो वह स्वतन्त्र है। यद्यपि क्रिया की निष्पत्ति में सभी कारका का हाथ रहता है क्रिया के द्वारा जिसका व्यापार प्रमुख रूप में व्यक्त होता है, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। जिसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति स्वेच्छाधीन हो वह भी स्वतन्त्र है। कुछ-न कुछ स्वतन्त्र सभी कारका में होता है सभी कारक अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र होते हैं फिर भी कर्ता को ही स्वतन्त्र माना जाता है। भतहरि ने कर्ता में स्वातन्त्र्य के कई हेतु दिए हैं। कर्ता स्वतन्त्र इसलिए माना जाता है कि वह दूसरे कारका की अपेक्षा पूर्व शक्ति लाभ करता है। करण आदि में स्वातन्त्र्य कर्ता के द्वारा आता है। कर्ता अन्य कारकों के उपकारक होने के कारण उन्हें अपने से नीचे करने में समर्थ होता है। कर्ता की अधीनता में दूसरे कारक क्रियाशील होते हैं। जब कर्ता विरत हो जाता है व भी निवृत्त हो जाते हैं। कर्ता अन्य कारका को निवृत्त करता है पर अन्य कारक उसे नहीं निवृत्त करते, वह स्वयं निवृत्त होता है। दूसरे कारकों के प्रतिनिधि होते हैं आवश्यकता पड़ने पर उनका स्थान पर दूसरा का उपादान किया जा सकता है। कर्ता का प्रतिनिधि नहीं होता। कर्ता अधिकारी होता है अधिकारी वह होता है जो अर्थी हो समर्थ हो और शास्त्र से अप्रभु दस्त हो। जहाँ दूसरे कारक नहीं हैं वहाँ भी कर्ता रह सकता है। अस्ति क्रिया के साथ कोई अन्य कारक नहीं है, यहाँ प्रविवेक है किन्तु यहाँ कर्ता है। यद्यपि अस्ति क्रिया के साथ अधिकरण कारक आदि संभव हैं किन्तु उनकी स्थिति नान्तरीयक रूप में है। बाद व्यापार से उनका उन्मीलन नहीं होता है। कर्ता दूर में भी उपकारी होता है, दूसरे कारका में यह शक्ति नहीं है। बिना कर्ता के क्रिया नहीं होती, अन्य कारका के मिलित रूप से भी कर्ता की विशेषता सिद्ध होती है। इन सब कारणों से कर्ता में स्वातन्त्र्य माना जाता है।

उपयुक्त कृत घम शाब्दिक हैं। गन्ध स जहा इनकी अभिव्यक्ति हो यहाँ कृत रूप रहता है। अमनित चेतन अचनन सत्र में गन्धपात रूप में कृत रूप समर्थ है। हत्ताराज न गम प्रगम में किमी अन्य व्याकरण के दा मूल उद्धृत किए हैं

अर्थोर्कर्ता तथा युक्तश्च

(हत्ताराज वाचस्पतीय ३ भाष्यन समुद्धृत १०३)

य गाना मूल पाणिनि में स्वतन्त्र कर्ता १।४।१८ और तत्प्रयोजन हेतु च १।४।१९ के प्रमाण अनुकरण है। किन्तु हत्ताराज ने इनका प्रणयन चेतन और अचनन की दृष्टि में माना है।

कृतत्व के शाब्दिक स्वरूप मानन पर ही एक कारण में विवक्षितान के भी कृतत्व के भी कर्मत्व और कभी करणत्व सम्भव है। प्रयोज्य कर्ता में भी स्वातन्त्र्य है। अस्ति कर्म क्रिया में प्रवृत्ति नहीं है उम अस्ति क्रिया में प्रवृत्ति किया जाता है उमर सामर्थ्य का रूप में ही किया जाता है। अचनन व्यक्ति क्रिया द्वारा किमी व्यापार में निपुणन नहीं किया जाता। अमनित क्रिया की गति में समानित गति के रूप में

प्रयाज्य मे भी कत त्व रहता है। वह आत्मसाध्य क्रिया म अय कारका का प्रयोजक होता है। दूसरे द्वारा प्रयुक्त होने के कारण उसके स्वातन्त्र्य मे बाधा नहीं पड़ती। विषयभेद मे प्रयुक्त दशा म उभय पारतन्त्र्य और स्व व्यापार म स्वातन्त्र्य है। अपने व्यापार मे अनयप्रयाज्य के रूप म वह अय कर्ता की तरह ही स्वतन्त्र माना जाता है।

कर्ता ही प्रयोजक के रूप म हेतु भी कहा जाता है। प्रेक्षण अध्येषण और प्रयोज्यक्रिया के अनुकूल चेष्टा करता हुआ कर्ता ही व्याकरणशास्त्र म हेतु नाम से व्यक्त किया जाता है। स्वातन्त्र्य को न छोड़त हुए प्रयोजक व्यापार म प्रयाज्य रूप मे कभी पराधीनता का भी अनुभव करता है।

प्रयोजक दो तरह का होता है—मुख्य और अमुख्य (गुणभूत)। देवन्त कट कारयति वाक्य मे प्रयोजक मुख्य है। भिक्षा वासयति इस वाक्य म भिक्षा के वाम हेतु होने के कारण प्रयोजकत्त्व उपचरित माना जाता है।

यासकार ने कर्ता का सांनिध्य शास्त्र म तीन प्रकार से लिखाया है। निर्देश के द्वारा प्रकरण के द्वारा और सामर्थ्य के द्वारा।

कर्म

क्रिया के माध्यम से कर्ता का ईप्सिततम कर्म माना जाता है। जहा पर कर्म के लिए क्रिया होती है निष्पत्ति सस्कार अथवा प्रतिपत्ति हानी है वहा कर्म ईप्सित होना है। अन्यत्र क्रिया ही प्रतीयमान सन्शन आदि क्रिया की अपेक्षा ईप्सित होनी है। ईप्सित के साथ अनीप्सित भी कर्म होता है। अनीप्सित शब्द से जो ईप्सित से अय है उन सबका ग्रहण होता है। अकथित भी कर्म है। कुछ कर्म विनोप नियम द्वारा निबद्ध हैं।

भन हरि ने ईप्सित कर्म के तीन भेद लिखे हैं निवर्त्य विकार्य और प्राप्य। तथा अय प्रकार के कर्मों को चार प्रकार का लिखाया है—ग्रीशमीय रूप से प्राप्य अनाप्सित, सन्नातर से अनाख्यात और अयपूर्वक। इस तरह कर्म सात प्रकार के होते हैं।

ईप्सित के तीन भेद म सदा के निवर्त्य और विकार्य के उल्लेख वात्यायन न किए हैं। जिसकी प्रकृति चाहे वह सत हो अथवा अमन अभेद रूप से आश्रित नहीं हानी है वह निवर्त्य कर्म माना जाता है।

अथवा जा अमन म उत्पन्न होना है अथवा मन हात हुए भी ज म द्वारा व्यक्त होना है वह निवर्त्य कर्म है। वनोपिक दान के अनुसार अमन स गन की उत्पत्ति हानी है। सतवायवाद के अनुसार सन स सत की उत्पत्ति होनी है। दोनों रूप म, जन्म के द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति होनी है वह निवर्त्य है —

यस्योपादान कारण नास्ति तत् निवर्त्यम् । यथा सयोग करोतीति । मदस्युपादान कारण न विवक्ष्यत तत् निवर्त्यम् ।

—कयः महामाध्यमशील ।

यदि प्रकृति सत अथवा असत परिणामी रूप में विवक्षित रहनी है विकाय कम होता है। बिटठल ने निवत्य का सम्बन्ध असत से और विकाय का सम्बन्ध सत से जोड़ा है।

तत्र निवत्य यदसदेव जायते । यथा घ्न करोतीति । विकाय लब्धसत्ताफमेवा वस्थांतरमापद्यते ।

—प्रक्रियाकीमुदी भाग १ पृ० ३८३

विकाय कम दो प्रकार का माना जाता है। प्रकृति के उच्छेद से सभूत और गुणांतर उत्पत्ति से सभूत। प्रकृति के उच्छेद से अभिप्राय अपनी प्रकृति के नाश से सर्वात्मना विनाश से है। जैसे काष्ठ भस्म करोति। हेतुलाराज के अनुसार यह वाक्य निवत्य का भी उदाहरण है यदि प्रकृति की अविवक्षा हो। प्रकृति की विवक्षा में यह विकाय का उदाहरण है।

काष्ठानि भस्म करोति । नूयवत प्रकृति विकारयो क्रियासम्बन्धो योज्य पूर्वोण तु लक्षणत निवत्यमेतत् कम प्रकृतेरविवक्षायाम् । विवक्षायाम् तु विकायम् ।

—हेलाराज साधन समुद्देश २

काष्ठानि दहति इस वाक्य में विकाय सामर्थ्य गम्य है। जब प्रकृति अपने स्वरूप को न छोड़ती हुई किसी गुणांतर के संनिधान से विकृत जान पड़ती है उससे उपलक्षित भी विकाय कम होता है। जैसे सुवर्ण कुण्टल करोति। यद्यपि सत्यमत के अनुसार इस वाक्य में भी विकाय अपूर्व है किंतु प्रत्यभिज्ञान के चर पर। लान में उह एक मानकर केवल गुणांतर का भेद माना जाता है। अतः गुणांतर के आधान से जहां दूसरा व्यपदेश हो वह भी विकाय कम है।

निवत्य और विकाय सम्प्रती विरोध जहां प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं लक्षित होते हैं वह प्राप्य कम कहना है। जैसे आन्तिय पर्यति। इस वाक्य से आन्तिय में दहन क्रिया द्वारा कोई विरोध या विचार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जान पड़ता है।

कुछ लोग के अनुसार प्राप्य कम नहीं है। क्योंकि क्रियावृत्त विरोध सबसे उपलब्ध होता है। वही वह दृश्य होता है और वही सूक्ष्मता के कारण अदृश्य होता है। अतः विपरीत कथन का भावना है कि प्राप्यत्व अभी कम में है। सभी कम क्रिया में प्राप्यमाण होता है। अतः अन्तःकरण की विचार से कम तीन प्रकार के कहे जाते हैं।

तत्र प्राप्स्यस्य सवस्य कमणाऽस्ति क्रियया प्राप्यमाणत्वात् । अन्तःकरणविवक्षायां तु न विध्यमुच्यते ।

—कथं महाभाष्यप्रतीप २।२।१

प्राप्यमाण कम का क्रियानिष्ठ में निम्नलिखित साधनमान मान जाते हैं।

आमानोपगमो द्यवित सादृत्वमिति कमणः ।

विगणा प्राप्यमाणस्य क्रियासिद्धौ द्यवस्थिता ॥—वाक्यपदीय २ साधन, ५३

आभास का उपगम, योग्यदेश में प्रकाश की उपलब्धि प्राप्य कम के दान में साधन होती है। अथवा प्रदीप आदि के द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति) उसका अंग बनती है। अथवा सात्त्विक बोधशक्तता आदि प्राप्य कम के साधन होते हैं। य सब दर्शन क्रिया के हेतु हैं। आदित्य पश्यति इस वाक्य से आदित्य आभास प्राप्त होता है क्योंकि देखा जाता है अभिव्यक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है दर्शन क्रिया की सहनशक्ति भी प्राप्त करता है क्योंकि सहता है।

निवर्त्य में विकाय और प्राप्य के धर्म और स्वधर्म होते हैं विकाय में प्राप्यधर्म और स्वधर्म होता है प्राप्य में केवल स्वधर्म होता है (शृंगारप्रकाश पृ० १४७)।

शेष श्रीकृष्ण न ईप्सित अनीप्सित और औदासीन्य रूप से प्राप्य इन तीनों के निवर्त्य विकाय और प्राप्य रूप से तीन-तीन भेद किए हैं। इस तरह में नव भेद होने हैं। इनमें अकथित और अयपूर्वक ये दो भेद मिलाकर कुल ग्यारह भेद हो जाते हैं।

एवञ्चेप्सितादीना त्रयाणा निवर्त्यादिभेदात् त्रित्वे नवविधत्वम्। अकथिता अयपूर्वकभेदाभ्या सहैकादशत्वं प्रतिभाति।

—पदचन्द्रिका विवरण पृ० १६१ हस्तलेख।

अभिनवगुप्त ने विकाय आदि को त्रयसं कायपरिणाम, धर्मपरिणाम और वृत्तिपरिणाम कहा है

पूर्व रूपं हि तिरोदधत कश्चिन् परिणामं काष्ठमस्मवत् स कायपरिणाम उच्यते। यस्तु अतिरोदधत स धर्मपरिणाम यः सिद्धाकारतया भाति सुवर्णस्यैव कुण्डलता। यस्तु अतिरोदधत साक्षाकारत्वेन गच्छति बुध्यते इति यथा स वृत्तिपरिणामः।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी भाग १ पृ० १४५

कम के इस विवेचन में मन अमृत और परिणाम की चक्षा आ जान में उन दिना दर्शन के क्षेत्र में इसकी पर्याप्त चक्षा थी और भक्त हरि की भाव्यता के विरोध में कुछ लोग ने कई तक उपस्थित किए थे। एक आशेष नीचे लिखी कारिकाओं में है

निवर्त्य कारक नव क्रिया तस्य हि साधिका।

विकायमपि भावेन विरोधान्नव कारकम्॥

प्राप्यत्वात् पूर्विकावस्था न सा कमबुधमता।

प्राप्यावस्था क्रियासाध्या साध्यत्वात् साधनं नहि।

—पुरुषोत्तमदेव द्वारा कारक चक्र में उद्धृत पृ० १०६

तात्पर्य यह है कि उपयुक्त कम भेद कारक कहलान के अधिकारी नहीं हैं। निवर्त्य अस्तन से उत्पन्न है वह स्वयं क्रियाकृत। क्रिया के पूर्व उसकी सत्ता नहीं थी। विकाय और प्राप्य क्रिया के साध्य हैं अतः वे साधन (कारक) नहीं हो सकते। पुरुषोत्तम देव के अनुसार इस आशेष का उत्तर है कि निवर्त्य आदि में स्वगत भी व्यापार होता है। उस व्यापार के आधार पर कम को कारक माना जाता है (कारक चक्र पृ० १०६)।

विवाय म धातु से उपात्त फलाश्रयता के न होने का प्रश्न भी उठाया गया था । भट्टोजि दीक्षित ने इसका समाधान प्रकृति और विरुति म अभेद विवक्षा के आधार पर फल की आश्रयता मानकर किया है । अथवा 'काष्ठानि विवृवन् भस्म उत्पादयति' इस रूप म अथ वर आश्रयता सिद्ध होती है (शास्त्र कोस्तुभ १।४।४६) ।

ईप्सित कम का उदाहरण पय विवति । अनीप्सित का विप भययति । प्रीति सीय अथवा तटस्थता से प्राप्य का उदाहरण, हेताराज के अनुसार 'ग्राम गच्छन् वभाभून् स्पति' होना चाहिए (प्रोदासी येन ताटस्थ्येन यत् प्राप्यम्, यथा ग्राम गतु वृक्ष मूलादि—हेताराज साधन समुद्देश ४६) किन्तु महाभाष्य कागिका आति व आधार पर यह उदाहरण अनीप्सित का होना चाहिए । वस्तुन इगवा उदाहरण है पयान गच्छति नदी तरति । यह आस्थित कम है इसका ईप्सित अनीप्सित से भेद इस रूप मे किया है कि आस्थित म क्रिया व दो रूप होते हैं । सनातर से अनास्थात कम से अभिप्राय अवधित से है । अवधित ससृृत व्याकरण म परिगणित है । अवपूर्वक का उदाहरण अभाान पीति है ।

करण

साधकतम का नाम करण है । जिस व्यापार के अनतर क्रिया की विप्पत्ति विवक्षित होती है वह करण माना जाता है । भत हरि के अनुसार करण अनिर्देश्य है उसका कोई नियत रूप नहीं है । अधिकरण भी विशेष अथ की दृष्टि से करण रूप मे विवक्षित हो सकता है । क्रिया की सिद्धि म प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण पाणिनि ने इस साधकतम माना था । प्रकृष्ट उपकारकता अथ कारका की दृष्टि से है । कर्ता क्रिया की सिद्धि व लिए करण का आश्रय लेता है फिर भी स्वातन्त्र्य के कारण वह प्रधान होता है । परायत्तवत्ति के कारण करण अप्रधान होता है । विना कर्ता के करण व्यापार गोल नहीं होता । कर्ता निरपेक्ष है । करण सापेक्ष है । इसके अतिरिक्त धातु से कर्ता का व्यापार उवत होता है, करण क्रिया धातु से अभिहित नहीं होती । साधुअसि छिनत्ति' जैसे प्रयोग विवक्षा व आधार पर होते हैं । वक्ता विवक्षा म स्वतन्त्र है

न हि गव्दा दाण्डपाण्डिका इव ववतारमस्वनश्रयति । किं तर्हि । सत्या शक्तौ वक्तु विवक्षामनुविधोयते ।

चन्द्रकीति प्रसन्नपदा माध्यमिकवत्ति प० २४

मण्डन मिश्र न भी विशेष स्थल पर अभिधान के आधार पर करण की प्रधानता स्वीकार की है

करण नाम सवत्र क्त व्यापारगोचर ।

तिरोदधाति कर्तारि प्रधानं तनिव धनम ॥^१

जो निमित्त व्यापारित नही होता और द्रव्य गुण क्रिया विषयक होता है

उसे हेतु कहा जाता है।

सम्प्रदान

कमणा यमभिप्रति स सम्प्रदानम् १।४।३२

करणरूप कम क द्वारा जिससे अभिसम्बन्ध चाहा जाता है वह सम्प्रदान है।

यह तीन प्रकार का माना जाता है

प्रेरक, अनुमत्तक अनिराक्तक। प्रेरक, जैसे ब्राह्मणाय गा ददाति। इस वाक्य का अर्थ यह है कि ब्राह्मण यजमान को गाय दान देने के लिए प्रेरित करता है। और तब यजमान उसे गाय देता है। अनुमत्तक जैसे उपाध्यायाय गा ददाति। उपाध्याय गाय क लिए उसे प्रेरित तो नहीं करता किंतु गाय के मिलने पर उसे साधुवाद देता है देने वाले के व्यापार का अनुमोदन करता है। अनिराक्तक, जैसे आदित्याय पुष्प ददाति। आदित्य न तो फूल के लिए प्रार्थना करता है और न अनुमोदन करता है।

भोज ने सम्प्रदान के तीन भेद को दूसरे रूप से भी दिखाया है —
ददाति कर्माप्य, कममात्राप्य और क्रियाप्य।

—शृंगार प्रकाश प० १५१

अपादान

कायससग अथवा बौद्धिकससग पूर्वक अपाय की विवक्षा होने पर अवधिभूत ध्रुव अपादान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है—निदिष्ट विषय उपात्तविषय और अपेक्षितक्रिय। जहा घातु के द्वारा अपायलक्षण विषय निदिष्ट रहता है उसे निदिष्टविषय कहते हैं जैसे ग्रामात् आगच्छति। यहाँ क्रिया क द्वारा अपाय ग्राम तद निदिष्ट है। उपात्तविषय वहा माना जाता है जहाँ क्रिया अथ क्रिया के अर्थ क अर्थ रूप में स्वाय को व्यक्त करती है जैसे बलाहकात् विद्योतते यहा द्योतन क्रिया का अर्थ नि सरण है। हेलाराज ने गुणभाव और प्रधानभाव दोनों रूप में यहा क्रियाय को लिया है। उनके अनुसार बलाहकात् विद्योतन का दो रूप में कहा जा सकता है—बलाहकात् नि सत्य ज्योति विद्योतत। अथवा बलाहकात् विद्योतमान नि सरति। जहा क्रियापद की प्रतीति होती है किन्तु प्रमाण नहीं हुआ रहता वह अपेक्षितक्रिय है।

जसे साङ्कायकेभ्य पाटलिपुत्रका अभिरूपतरा।

अश्वान तस्मात् पतित —इस वाक्य में वार्तिककार ने ध्रुव अविवक्षित माना है। ध्रुव एकरूपता का नाम है। अपायविषयक ध्रुव आश्रित होता है निरपय (अनुरच्छिन्न) नहीं। इसलिए अपाय में जा अनाविष्ट है वह अपाय में ध्रुव होता है। दीप्त हुए धाडे से गिरने में देवदत्त कन क पतन में तस्त अश्व ध्रुव है क्याकि वह अपाय से अनाविष्ट है। किन्तु देवदत्त अध्रुव है। उसमें अपाय का आश्रय है। अथवा तस्त अश्व का ध्रुव अविवक्षित है। क्याकि कारक का पहल क्रिया में अवय होता है। वह श्रुतिप्रापित कहलाता है। वाद में विरोध से वाक्यीय सम्बन्ध होता है। अतः अश्वान् पतित इस सम्बन्ध में अश्व का अध्रुव नहीं है। वाद में तस्त क

साय सम्प्र ध होने पर भी अधोव्य मे अतरग सपा का नियतन नही होता । विशपण के अपादान न होने पर भी सामयिकी विभक्ति हानी है । वह विपय के अनुरोध पर होनी है न कि अनियम स । अथवा प्रस्त गत भी अपादान है । क्याकि वह प्राग की अपेक्षा म तो अधोव्य है किन्तु पतन की अपाधा म उसम धोव्य है—(कयट, महाभाष्य प्रदीप १।४।२५) ।

भोज न अपादान के तीन भेदा को पाणिनि के सूत्रा म दियाया है । उनके अनुसार ध्रुवमपायऽपादानम् १।४।२४ तिष्ठिष्ट विषय है । भीतार्याना भय हेतु १।४।२५, पराजरसाढ १।४।२६ आदि उपात्तविषय है । पञ्चमाविभक्त २।३।४२ आदि अपाधिन त्रिय हैं । (शृ गार प्रकाश, पृ० १५३) ।

उपाध्यायात् अधीन इम वाक्य के विदलपण म महाभाष्यकार न सन्ततत्व और ज्योतिवद ज्ञान का उल्लेख किया है । जस फल वक्ष स च्युत होकर पुन वक्ष पर नही होता इसी तरह शब्द भी उपाध्याय के मुख स नि सत होकर पुन वहा नही होता । व ही शब्द पुन जान पडत हैं सततत्व के कारण । शब्द का पुन पुन उत्पादन सततत्व है । कयट के अनुसार उपाध्याय के द्वारा व्यक्त की जाती हुई ध्वनिया भिन भिन होनी है किन्तु सादश्य के कारण वे ही जान पडती हैं । वे ध्वनिया सुनने वाले के श्रोत्रेण म पहुच कर व्यक्तिस्फोट के रूप म अथवा जातिस्फोट के रूप म शब्द की अभिव्यक्ति करती है । अथवा ज्वालामयी ज्योति लगातार प्रवाहित होती हुई सादश्य के कारण वही समझी जाती ह यद्यपि वह भिन भि न ह । उसका अनवरत प्रवाह सतत कहा जाता ह । उसी तरह उपाध्याय के ज्ञान भिन भिन हैं । व विभिन्न शब्द के रूप मे ढलकर सतत जान पडत है । महाभाष्यकार का अभिप्राय ज्ञान शब्दत्वापत्तिवात् स है—(महाभाष्य प्रदीप १।४।२६) ।

पाणिनि न जनि क्तु प्रकृति १।४।३० को भी अपादान माना था । पतजलि न इसका प्रत्याख्यान किया ह । गोमयात् वरिचको जायत जसे वाक्या म अपत्रमण रूप म अपाय रूप म अपादान ह । कयट के अनुसार पतजलि का मत लोक आधार पर ह । लोक की मायता म जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती ह वह उससे निकलती है । दग्धन के क्षेत्र म भि न विचार हैं । क्यापिक दशन म परमाणु समवन काय कारण से अपयक दग म उत्पन्न होता ह । इसलिए काय का अपत्रमण नही होता । सारयत्नान के अनुसार भी अपत्रमण नही ह । ज म और नाश आदिर्भावि और तिरोभाव के रूप म परिणामविशेष हैं । क्षणिक दशन द्रव्यांतर आरम्भ दग्धन अथवा परिणामदशन के आधार पर पतजलि ने उपयुक्त वाक्य म सततत्व माना ह । जो सत ह उसका जययोग सभव नही ह जो असत ह उसका कत त्व असभव है । कोई तीसरा पक्ष भी नही है ऐसी दगा म अकुर जायत जस प्रयोग कस उपपन्न हान है । इसका समाधान बौद्धिक स्वरूप मानकर किया जाता है । अथ बद्धि व्यवस्थापित हैं । उसका त्रिया म कारकाव उपपन्न हा जाना है—कयट महाभाष्यप्रदीप १।४।३० । ग्रामात् नागच्छति जम निषध वाक्या म अपादान सना प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेधत्नान के आधार पर की जाना ह । इत्तु का भी यही मत ह

तथाह इदुमिध, अय कट न करोति परशुना न छिनत्ति, ब्राह्मणाय गा न ददाति ग्रामात् नागच्छति, राज्ञ नाय पुरुष, गृहे नास्तीत्यादौ द्वितीयादिभि न भवितव्यम् । नञा निषेधात् । उच्यते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधा भवति ।^१

—कारकचक्र, पृ० ११७ म उद्धृत ।^१

अधिकरण

पाणिनि के अनुसार आधार अधिकरण ह । कारक क्रिया सापक्ष ह । अतः क्रिया के आधार का नाम अधिकरण ह । क्रिया प्रायः कर्त्ता म अथवा कम म अवस्थित रहती है इसलिए अधिकरण का भी कमस्थक्रियाविषयक अथवा कतस्थक्रियाविषयक ही माना जाय तो स्याली आदि म अधिकरण की उपपत्ति ठीक स नहीं हो पाती ह । इसलिए कर्त्ता और कम से व्यवहित क्रिया के आधार का भी अधिकरण माना जाता ह । अधिकरण तीन प्रकार का होता है औपश्लेषिक विषयिक और अभिव्यापक । आधार और आधेय ता जहां उपश्लेष होता ह उस औपश्लेषिक अधिकरण माना जाता है । जैसे कटे आस्त । विषयिक का उदाहरण गुरो वसति । जिस तरह चक्षु आदि का रूप आदि विषय माने जाते हैं वैसे ही शिष्य का गुरु म अनय भाव रहता ह । उस अनयभाव का विषय गुरु ह । बिना सयोग के भी एक दूसरे पर निर्भरता देखी जाती ह, जैसे राज पुरुष म । अतः गुरु भाव का आश्रय हो सकता ह । अथवा यहा बौद्धिक उपश्लेष है । तिलेषु तल म अभिव्यापक आधार ह । तिल और तल का समाग तो संभव ह किंतु देशविभाग न होने स संश्लेष नहीं माना जा सकता । अतः अभिव्यापक माना जाता ह । रामचन्द्र ने चार प्रकार के आधार माने हैं—

औपश्लेषिक सामीपिक विषयो व्याप्त इति ।

—प्रथिया कौमुदी, पृ० ४४५

अतः हरि दशन मे संपूर्ण विश्व मूतविवृत और क्रियाविवृत के रूप म अवस्थित है । मूतविवृत का आधार आकाश है । क्रियाविवृत का आधार काल है

कालात् क्रिया दिभज्यते आकाशात् सवमूतय ।

एतावाश्च च भेदोऽयमभेदोपनिबन्धन ।

—वाक्यपदीय, माध्या, १/१

सम्बन्ध

सम्बन्ध कारक स भिन्न किंतु कारक के शेष रूप म स्वीकृत है । जगत् प्राण जीव आदि का क्रिया से भीधा सम्बन्ध होता है वसा सम्बन्ध कारक का नहीं होता । आकाश म

१ सार्धार्थ होयने में अपादान के प्रयोग में इदु क एक मत का उ- ११ भी किया है—जगत् कतस्थक्रियत्वात् कर्मसम्बन्ध लकार ३॥ कौमुद १।६।२४, पृ० ११७

शेष रूप में माना जाता है। कारका की अविवक्षा का नाम गण है। कम, करण आदि पद कारको से अत्र सम्बन्ध शेष है।

रान पुरुष जिस सम्बन्ध विगण में, स्वस्वामिभाव में दानि क्रिया का अर्थ देना है। राजा पुरुष को दता है। पूर्व अवस्था की दान क्रिया गण अवस्था में भी अव्यक्त रूप से काम करती है। ऐसे स्थानों में क्रिया कारक सम्बन्ध कारणभूत होता है शेष सम्बन्ध फलभूत होता है। इसलिए गण में भी क्रियाकारक सम्बन्ध अव्युत्पन्न क्रिया के आधार पर हो जाता है। कही कही क्रिया अव्युत्पन्न भी रहती है जिस नटस्य शृणोति। यहाँ श्रवण केवल नटा का विवक्षित है। मित्रो निमित्त न होन से करण आदि कारक की यहाँ प्रवृत्ति नहीं है। अतः शेष कारक है। क्रिया के श्रुत और अश्रुत रूप के आधार पर सग्रहकार ने सबंध दो प्रकार के माने थे—तिरोभूत क्रियापद और सनिहित क्रियापद। तिरोभूतक्रियापद का उदाहरण रान पुरुष है। सनिहित क्रियापद का उदाहरण मातु स्मरति है। मातु स्मरति पर कुछ विवाद था। इसका उल्लेख कमप्रवचनीय के प्रसंग में भी किया जा चुका है। कण्ट ने सारांश इस रूप में दिया है

मातु स्मरणयो अवस्थानादि क्रियानिमित्त सम्बन्ध इति केचिदाहुः। अथ ये तु स्मरणस्य क्रियारूपत्वात् क्रियातरमन्तरेणैव द्वन्द्वेण सम्बन्धोपपत्तिमाहुः। यथा द्वयोः पाठयोः जतुकृत सश्लेष जतुनस्तु काष्ठेन स्वत एव न जत्वन्तरं कृतम्।

—महाभाष्य प्रदीप २।३।५२^१

क्रिया के श्रवण अथवा अश्रवण के रूप में भी कम आदि की अविवक्षा में शेष सम्बन्ध उपपन्न होता है। सम्बन्ध सम्बन्धी के भेद से अनेक प्रकार का होता है स्वस्वामिसम्बन्ध जयजनकसम्बन्ध अवयवावयविसम्बन्ध स्थायादेशसम्बन्ध आगमागमिसम्बन्ध, क्रियाकारकसम्बन्ध आदि। सम्बन्ध की इयत्ता नहीं है। एक शान पण्ठ्यर्था कहा जाता है। परमाथ रूप में सम्बन्ध एक है

यद्यपि भिनोभयाश्रितक सम्बन्ध इति कञ्जटीय (कण्टीय) सम्बन्धलक्षणात् सयोगसमवायी एव सम्बन्धी तथापि विनोपणविनोष्यादीनामुपचरित स्वीकृत भाष्ये। अतः सोऽपि स्वीकृत एवास्मान्नि। सर्वत्र सम्बन्धभेद एव सम्बन्धस्यभेदको द्रष्टव्यः। परमाथस्तु सम्बन्ध एक एव।

—पुरुषोत्तमदेव कारक चक्र पृ० ११३

सम्बन्ध द्विष्ट होता है। पाणिनि ने शेष में पण्ठी का विधान किया है (शेष पण्ठी २।३।५०)। इस पर विवाद था कि पण्ठी विभक्ति राजा के पुरुष अथवा राजन गण से होती है पुरुष गण से भी होनी चाहिए। सम्बन्ध दोनों में है वह द्विष्ट है। किसी प्राचीन व्याकरण में गुणे पण्ठी सूत्र था। इस नियम के अनुसार आपत्ति नहीं है (व्याकरणांतरे तु गुणे पण्ठी—इति वचनात् नास्ति दोष—महाभाष्यप्रदीप २।३।५०)। पाणिनि संप्रदाय में इस आपत्ति का परिहार अथप्राध्याय

मानकर किया जाता है (न हि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम् अथकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम् —महाभाष्य २।३।१०) । लोक में परोपकारी रूप में राजा विवक्षित है । वह पराय है । पुष्प उपकाय है । वह स्वनिष्ठ है । प्रधान है । पट्टी एक में हाती है और गुणभूत में हाती है—

न हि शब्दस्य भावाभावाम्यामथस्य भावाभावो नियते । किं तर्हि । अस्य प्रतिपादधिपया विषयीकरणाकरणाभ्यां शब्दस्योच्चारणानुच्चारणलक्षणौ भावाभावावित्यय । तत्र परोपकारित्वेन राज्ञो विवक्षितत्वात् पट्टी भवति । पुरुषस्य रूपकायतया स्वनिष्ठत्वेन विवक्षितत्वात् प्रथमा ।

—महाभाष्यप्रदीप २।३।१०

विशेषण विशेष्यभाव का स्वेच्छा पर निर्भर हान से पुष्प का राजा की विवक्षा में पुरुषस्य राजा प्रयाग हाता है । इसलिए इस सम्बन्ध में भन हरि की यह कारिका प्रसिद्ध है—

द्विष्टोऽप्यसौ परायत्वादगुणेषु व्यतिरिच्यते ।

तत्रामिधीयमान सन् प्रधानेऽप्युपभुज्यते ॥

—वाक्यपदीय ३, साधन १५७

सम्बोधन

अभिमुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है । सिद्ध पन्था का किया के प्रति विनियोग के लिए संबोधन का आश्रय लिया जाता है । व्याकरणागम परंपरा में इस वाक्याय नहीं माना जाता । संबोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति ग्रामित विभक्ति भी कही जाती है—

यो य स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मांतर सम्बन्ध प्रत्यभिमुखी नियते तत्रामन्वित— विभक्ति । यथा देवदत्त क्रियांतरसम्बन्ध प्रत्यभिमुखी करोति देवदत्त अधीष्ट भुङ्क्ष्वेति ।

—महाभाष्यटीपिका, पृ० १०

पाणिनि ने प्रथमा द्वितीया तृतीया, चतुर्थी पंचमी, पट्टी और सप्तमी विभक्ति का व्यवहार किया है । इनके अर्थ विभक्तयथ कहलाते हैं । पाणिनि ने सूत्र रूप में इन सबके अर्थ बतला दिए हैं । जसे प्रातिपदिकाथलिगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६ आदि । विभक्तयथ प्रातिपदिकाथ से भिन्न माना जाता है । पाणिनि ने अव्यय विभक्ति २।१।६ सूत्र में विभक्ति शब्द का प्रयाग किया है इससे अनुमान किया जाता है कि उक्त विभक्तयथ द्रव्य से अतिरिक्त रूप में अभिप्रेत है । भोज ने स्वाय, द्रव्य और निग का प्रातिपदिकाथ और सन्धा कारक तथा नेप को विभक्तयथ माना है (शृंगारप्रकाश, पृ० १८३, १६०) । विभक्तयथ पर विचार नव्य तथायिका न अधिक किया है । कौण्डभट्ट नागार्जुन आदि ने मुख्य विचार तथाय और व्याकरण परम्परा के मिश्रित रूप में किया है ।

लिङ्ग-विचार

लिङ्ग के विषय में इलोकवातिकार और कात्यायन के यवन्य महत्वपूर्ण हैं। गायत्री विद्व के किसी बाड़ मय में लिङ्ग पर इतने प्राचीन काल में इतने मूढम विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

स्त्रियाम् ४।१।३ सूत्र पर निम्नलिखित "लोकवातिक" हैं—

स्तनकणवती स्त्री स्यात्लोमय पुरुष स्मृतः ।
उभयोरन्तर यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥
लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोजनं भ्रूकुप्ते टाप प्रसज्यते ।
नत्व खरकुटीपदय सटवावक्षी न सिध्यत ॥
नपुंसक भवेत्तस्मिन् तदभावे नपुंसकम् ॥
असत्तु मृगतष्णावत गणधनगर यथा ॥
आदित्यगतिवत्सन् यस्मात्तद्विहितवच्च ततः ।
तयोस्तुतत्कृत दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिष ॥
अयोयसश्चय त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते ।
तटे च सर्वालङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति ॥
सस्त्यानप्रसवी लिङ्गमास्थेयौ स्वकृताततः ।
सस्त्यानेस्त्यायतेष्ट स्त्रीसूते सम्प्रसवे पुमान् ॥
तस्योक्तो लोकतो नाम गुणो या लुपि युक्तवत् ।

आरम्भ में भाषा में लिङ्ग विकास लौकिक लिङ्ग के आधार पर हुआ होगा। यौन चिह्न स्त्री पुरुष के भेदक हैं। कुछ गारीरिक विषयताओं के कारण किसी व्यक्ति को स्त्री और किसी व्यक्ति को पुरुष कहते हैं। ये विषयताएँ भाषा में लिङ्ग भेदक के कारण मानी जा सकती हैं। स्तन के आदि स्त्रीत्व के प्रतीक हैं।^१ रोम आदि पुस्त्व के प्रतीक हैं। इन दोनों के सादृश्य का अभाव नपुंसकत्व का लक्षण माना जा सकता है। इलोकवातिक में उभयोरन्तर शब्द साभिप्राय है। इसके कारण अव्यय और

१ कुछ लोग, जिन्हें नागेश भी है, केश का अर्थ भगवत् हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इस अर्थ में वह प्रयुक्त भी है। जैसे— अट्शूला वनपत्ता शिवशूला द्विजानय । केशशूलारश्च कामिन्द

तिङ्गलपदा म लिंगयोग सम्भव नहीं है। क्याकि लिंग सत्वधम है। अव्यय और आत्मा ताथ असत्त्वभूत हैं। 'तदभावे शब्द भी साधक है। इसके कारण मयूरी, कुक्कुट आदि के समुदाय म नपुसक लिंग नहीं हो सकता। समुदाय समुदायी के सङ्ग होना है मान कर एस स्थला मे नपुसक लिंग की प्राप्ति हो जाती।

किन्तु स्त्री और पुरुष क विशेष शारीरिक चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था का भाषा म सवधा निर्वाह कठिन है। भ्रूकुम (स्त्री वेपधारी नट) म स्नान आदि देखे जात हैं। इस आधार पर उसम स्त्रीत्व मानकर स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय टाप आदि होन चाहिये। यद्यपि भ्रूकुस क साथ स्त्रीत्व चिह्नों का नित्य सम्बन्ध नहीं है फिर भी दशाक का तो क सदा भाषित होते ही हैं। अतः इस प्रतिभास के आधार पर उसम स्त्रीत्व बोधक प्रत्यय होना चाहिये। इसी तरह खरकुनी (नापित गृह) म तोम सम्बन्ध के कारण पुस्त्व धातु प्रत्यय होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त लौकिक स्त्री-पुरुषगत विनोप चिह्नों के आधार पर लिंग व्यवस्था मानन पर अचेतन पदार्थों म लिंग व्यवहार का कोई रास्ता नहीं रह जाता है। खटवा म स्त्रीगत कौन भी विशेषता है कि इसमें स्त्रीत्व माना जाय। उपयुक्त लौकिक आधार पर ता अचेतन पदार्थों म स्त्रीत्व-पुस्त्व की अनभिप्यवित क कारण नपुसकत्व मानना ही उचित होगा। कुछ लोग मानत है कि असत वस्तु म भी कभी कभी प्रतीतिभावना होती है। मगतपणा म जल नहीं है, फिर भी जल का आभास होता है। इसी तरह खटवा आदि म लिंग नहीं है फिर भी लिंग का आभास होता है। तारुणा, पुष्य नक्षत्र जमे विभिन्न लिंगी शब्द एक ही वस्तु क लिये प्रयुक्त होत हैं। उनम वाह्य लिंग नहीं है किन्तु जिस तरह मगमरीचिका म जल की सत्ता न रहते हुए भी जल का अभ्यास हो जाता है उसी तरह अचेतन पदार्थों म लिंग चिह्न न रहते हुए भी चेतनगत लिंग का अभ्यास हा जाता है। अवश्य ही मृगमरीचिका म सादृश्य के आधार पर जल का आराप होना है। खटवा वगैर आदि म स्त्री पुरुष गत लिंग का कोई सादृश्य नहीं है। अतः किस आधार पर आराप सम्भव है? इसके उत्तर म कहा जाता है कि विषय साद य की उपस्था धरक भी अनादि मिथ्याभ्यास-वासनावान् आनिया दबी जाती है। गन्धवनगर की सत्ता नहीं है फिर भी उसकी चन्दा होती है। वह दूर से दिखाई देता है पास पहुँचन पर नहीं दीखता। शब्द मे यथाय अथवा मिथ्या ज्ञान की अभिव्यक्ति की क्षमता समान है।

अथवा खटवा वगैर आदि अचेतन पदार्थों म भी लिंग है किन्तु उसका ज्ञान उसी तरह नहीं होता जिस तरह सूय की गति का सत्ता होने पर भी सूय की गति का भाव नहीं होता। अथवा जिस तरह से वस्त्र म ढकी वस्तु का ज्ञान नहीं होता उसी

तरह खटवा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। पतञ्जलि ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि वस्त्र वं हटा देने पर वस्त्र से आवृत वस्तु का भान हाना है किन्तु खटवा आदि में इस तरह का कोई भान नहीं होता। बड़द हाथ में बगूला और रंगानी लेकर खटवा के गण्ड गण्ड भी कर डालें तो भी उसमें कोई लिंग नहीं मिलता। इसका उत्तर में स्वयं पतञ्जलि का निवेदन है कि वस्तु की सत्ता होत हुए भी उसकी अनुपलब्धि संभव है। प्रायः छ कारणों से वस्तुविनाश की सत्ता रहते हुए भी उसकी उपलब्धि नहीं होती।

(१) अति सन्निकट से जस अपनी आत्मा का अजन अपनी आत्मा से नहीं देखता।

(२) अति विप्रकट से जस बहुत ऊँचाई पर उड़त हुए पक्षी आदि नहीं दिखाई देत।

(३) मूल्य तर व्यवधान से, जस बीच में दिवाल आदि के कारण पार की वस्तु नहीं देखती।

(४) तमसावन से जस अधवार के कारण गड्डे आदि का भान नहीं होता।

(५) अद्वय दौबल्य से—आस की गवित क्षीण होन पर उपस्थित वस्तु भी नहीं दिखाई देती।

(६) अति प्रमाण से—बिसी विषयांतर में आसवन चित्त वाले व्यक्ति को सामने स्थित का भान नहीं होता।^२

अति समीप अति दूर आदि अनुपलब्धि के कारण माने जा सकते हैं, किन्तु अनुपलब्धि के कारण प्रमाणसिद्ध वस्तु के ही होते हैं। किन्तु खटवा आदि में लिंग प्रमाणसिद्ध सत्यभूत वस्तुधर्म नहीं है। इसका अतिरिक्त इस पक्ष में प्रत्यक्ष विरोध भी होता है। क्योंकि दृश्य स्वभाव वस्तु का कभी भी प्रत्यक्ष से ग्रहण न होना फिर भी उसकी सत्ता स्वीकार करना अवश्य ही प्रत्यक्ष विरोध है।

कुछ लोग अनुमान के आधार पर खटवा वक्ष आदि में लिंग की सत्ता मानते हैं। जस प्रकार देखकर आकाश में मघ से आच्छादित ज्योति की सत्ता का अनुमान किया जाता है उसी तरह खटवा वक्ष आदि में स्त्रीत्व पुस्तक बोधक प्रत्यक्ष दलनर उनमें स्त्रीत्व पुरुष की कल्पना कर ली जाती है। परन्तु इस पक्ष में अयोयाश्रय दोष है। लिंग ज्ञान के बाद न न प्रयोग और न न प्रयोग के बाद लिंग का अवगमन यह अयोयाश्रय है। ज्योति और प्रकाश में प्रत्यक्षतः कार्यकारण न न के आधार पर कार्य से कारण का अनुमान संभव है खटवा आदि में तो कभी भी प्रत्यक्षतः लिंग ज्ञान न होने से कार्यकारण भाव संभव नहीं है फलतः अनुमान भी संभव नहीं है। पुनः तट तटी तटम जस एक ही वस्तु में सब लिंग विरोध के कारण नहीं हो सकते। यदि तट में स्त्री-पुंस्त्व हो तो नपुंसकत्व नहीं हो सकता। वह उनके अभाव में ही होता है।

लौकिक निगमजनक विज्ञा के आधार पर 'दारा' 'वलत्र' जस गन्ता को पुननिग और उपसर्गलिङ्ग म नही रखा जा सकता ।

अत वयाकरण लौकिक स्त्री-पुरुषगत निग बोधक व्यजना के आधार पर शास्त्रीय लिङ्ग की व्यवस्था नही स्वीकार करते, यद्यपि कुछ दूर तब उस अपरिहाय मानत हैं । फलत लिङ्ग की टनकी अपनी शास्त्रीय परिभाषा है धीर वह है

सस्त्यानप्रसवी लिङ्गमास्थेयो स्वकृतातत ।

सस्त्याने स्त्यायतेऽष्ट स्त्री सूते सप प्रसवे पुमान् ॥

एक तरह से इस कारिका में स्त्री और पुरुष गन्त की व्युत्पत्ति बताई गई है । सस्त्यान के अर्थ में स्त्य धातु से डट प्रत्यय से स्त्री गन्त निष्पन्न होता है । प्रसव अर्थ में पूड धातु के सकार के स्थान में पकार कर पुमान् गन्त बनता है । प्रसूति अर्थ में पा धातु से दुममुन प्रत्यय द्वारा पुमान् गन्त की निष्पत्ति भी प्रसिद्ध है । कुछ आचार्य पूजा से पुमान् की मिद्धि बतलाते हैं । भट्टोजि दीक्षित इस मत के विरुद्ध हैं ('सूडो दुममुनिति माधव । यच्च उज्ज्वलदर्शन पातेदममुनित्युक्तम्, यच्च पुसोऽमुड' (७।१।८६) इति सूत्रे यासरक्षिताभ्यां पुनातेमङ्गमुन ह्रस्वश्च इति सूत्रे पठित तदुभयमपि भाष्यानुगुणम् — गन्तकौस्तुभ १।२।१४) परन्तु भाष्यकार ने और उनके अनुयायी भल हरि आदि ने इस कारिका के आधार पर एक दार्शनिक दान बना कर दिया है । महाभाष्यकार के अनुसार लौकिक स्त्री का सम्बन्ध स्त्यायति से है और शास्त्रीय स्त्री का सम्बन्ध भी उसी से है । लौकिक पुरुष का सम्बन्ध सत से है और शास्त्रीय पुरुष का भी उसी से सम्बन्ध है । परन्तु लोके में स्त्री अधिकरण है उसमें गर्भ का सस्त्यान होता है । और पुरुष वर्ना है वह उत्पन्न करता है । जबकि शास्त्रीय अर्थ में दोनों भावसाधन हैं—सस्त्यान स्त्री है और प्रवृत्ति पुरुष है । गुणा का सस्त्यान स्त्री है । गुणों की प्रवृत्ति पुमान् है । गुण से अभिप्राय गन्त स्वप्न स्वप्न, रस और गन्ध से है । कैयट ने भट्ट हरि के आधार पर भाष्यकार के मन्त्रों की व्याख्या साम्यान्वयन के सहार की है । उनके अनुसार गुण से अभिप्राय सत्त्व, रजस और तमोगुण से है । सस्त्यान का अर्थ तिरोभाव है । प्रवृत्ति का अर्थ आविभाव है । गुणा का तिरोभाव स्त्री है । गुणा का आविर्भाव पुरुष है । गुणा की साम्यावस्था नपुंसक है । गुणा की य अवस्थाएँ केवल शब्द ग्राहक हैं । साह्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । गुण सदा सन्निय रहते हैं । उनमें मयाग से और उनमें किसी एक की कमी या आधिक्य के आधार पर विविध विश्व की सृष्टि होती है । तब और अचेतन सब पदार्थों में गुणा की सत्ता है । अत गुणों के आधार पर सब लिङ्ग व्यवहार सम्भव है । गुणा की प्रवृत्ति अथवा उपचय पुस्त का प्रतीक है । गुणा का सस्त्यान अथवा अपचय स्त्री का प्रतीक है । गुणा की स्थिति अथवा साम्यावस्था नपुंसकत्व का प्रतीक है । उपचय और अपचय सापेक्ष है । प्रकाश प्रसव, आविर्भाव सत्त्व के धर्म है । प्रवृत्ति त्रिया रजस के धर्म हैं । आवरण तिरोभाव स्थिति तमस के धर्म है । ये ही धर्म लिङ्ग हैं । रजोधर्म लक्षण प्रवृत्ति त्रिया का विशेष अथवा आधिक्य पुरुष है पर इनमें प्रकाशविषय रूप सत्त्व का धर्म और आवरण रूप तम का धर्म भी अनुगत रहता है । दूसरे गन्त

म, सत्त्व और तमधर्मानुगत रजोगुण का आविर्भाव पस्त्व है। तिरोभाव स्त्रीत्व है। प्रवृत्ति का सामान्य रूप नपुंसकत्व है। कोई कोई आचार्य सत्त्व व आधिक्य म पस्त्व, रजस के आधिक्य म स्त्री व और तमोगुण के आधिक्य म नपुंसकत्व मानते हैं।^३ रूप, रस आदि व समुदाय स युक्त पदार्थ म तीनों गुणा का योग तो ठीक है किन्तु केवल रूप केवल रस केवल गन्ध म गुणत्रय तिस तरह है ? इसके उत्तर म भट्ट हरि की भाष्यता है कि रूप भी अवस्था विशेष व तम रूप म परिणमित होता है। वह भी सत्त्वादि गुणात्मक है। क्षण क्षण तब नव अवस्था ग्रहण व कारण रूप म भी किसी अवस्था का आविर्भाव किसी का अपव्यय होता है। परन्तु सूक्ष्म ज्ञान व कारण उनका आकलन स्थूल दृष्टि से नहीं हो पाता है। फल आदि म रूपा के परिवर्तन देखे भी जाते हैं। महाभाष्यकार ने स्वयं माना है कि कोई वस्तु अपने आप म क्षण भर स्थित नहीं है। या तो बढ बढ़ती है या घटती है स्थिर नहीं रहती।^४ अतः गुणा के आविर्भाव और तिरोभाव के आधार पर लिंग व्यवस्था संभव है। हलाराज ने सग्रहकार का एक वक्तव्य उद्धृत किया है। उसमें भी उपयुक्त मन की पुष्टि होती है —

तथाहि सग्रहकार पठति—सस्यान सहनन तमोनिवत्तिरशक्तिरुपरति प्रवृत्ति प्रतिबन्धस्तिरोभाव स्त्रीत्व प्रसवो विषयभावो वृद्धिगतिव-
त्तिलाभोऽभ्युदये प्रवृत्तिराविर्भाव इति पस्त्वम अविषयता साम्य स्थिति
रोत्सुक्यनिवृत्तिरपरायत्वमङ्गाङ्गिभावनिवृत्ति कवत्यमिति नपुंसकत्व
मिति ।—हेलाराज वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २।

साध्य दर्शन के अनुसार पुरुष गणातीत है इसलिए गुणदर्शन के आधार पर पुरुष शब्द में लिंग याग कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि म प्रतिबिम्बित भोग्यभाव शबलित चतय का ही व्यवहार म बोध होता है। अतः प्रतिबिम्बित रूप में सत्त्व धर्म की स्वच्छता आदि से उसका योग सम्भव है। फलतः उसमें पस्त्व आदि की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। पुरुष चिन्ति चतय—इन तीनों रूपों म तीनों लिंगों का अध्यारोप सम्भव है।^५

सर्वथ सभी गन्ता म तीनों लिंगों की सत्ता होते हुए भी किसी विषय शब्द से किसी विषय लिंग की अभिव्यक्ति गिष्ट समाचारवत् है। इसे लोकव्यवहारानुवा-
त्तनी विवक्षा कह सकत है जो लौकिक स्वच्छारूपा विवक्षा स भिन्न है। गुणा के आधार पर लिंग व्यवस्था मानने म स्थिति का प्रश्न बृहज्जटिल हो जाता है। उपर कहा जा चुका है कि गुणा की स्थिति का सम्बन्ध नपुंसक लिंग स है। किन्तु गुणा की स्थिति कब सम्भव है ? गुण सत्ता परिणमित होते रहते हैं। क्षणभर के लिये भी वे स्थिर नहीं रह सकत। पुनः गुणा की साम्यावस्था कबन मूल प्रकृति म ही सम्भव है। विद्वत् की किसी भा वस्तु म गुणा का साम्य साध्यदर्शन व अनुसार असम्भव

३ मगनरनाकर कलिताय की टाका ६०७ २६२ (आनन्दा १०)

४ मन्त्रभाष्य ४।१।२ और १।१।६४

५ वाक्यपदीय ३, वृत्तिमुद्देश ३२३—३२५

है। अतः कोई भी वस्तु नपुंसकलिंग के द्वारा कैसे अभिव्यक्त की जा सकती है ? इस समस्या का समाधान भन हरि ने कई ढंग से करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार प्रवृत्ति की एकरूपता स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ की दो अवस्थाएँ हैं। या तो वह बढ़ता है अथवा घटता है। उसके बढ़ने की क्रिया अथवा उपचय प्रवाह में एक प्रवृत्ति है जिसे हम बढ़याख्याप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसी तरह उसके अपचय प्रवाह में भी एक प्रवृत्ति है जिसे अपायलक्षणा प्रवृत्ति कह सकते हैं। इन दोनों की प्रवृत्ति में अभेद है और इस अभेद के आधार पर प्रवृत्ति की एकरूपता की स्थिति कहत है। अथवा प्रवृत्ति का साम्य स्थिति है। उपचय और अपचय इन दोनों प्रवाहों में भेद मानकर भी उनमें प्रवृत्तिरूप साम्य है। बढ़ने और घटने की क्रिया में प्रवृत्ति समान है और यही साम्य स्थिति है। अथवा आविर्भाव और तिरोभाव के बीच किसी प्रवृत्ति की कल्पना करनी पड़ती है जिसके कारण किसी वस्तु की किसी कला का तिरोभाव होत-होत किसी दूसरी कला का आविर्भाव होने लगता है और उस हतुभूत प्रवृत्ति को स्थिति मान सकते हैं। अथवा गुण का सामाग्य रूप स्थिति है। जिस कारण से ये गुण हैं ऐसी बुद्धि होती है वही गुण सामाग्य हैं। मत्त्व आदि गुण विचित्र विश्व में बदलत हुए अपनी जाति को नहीं छोड़ते हैं। गुणरूपता ही उनकी जाति है। सामाग्य में सभी विशेषताओं के आविर्भाव हान के कारण आविर्भाव और तिरोभाव भी उसके भीतर आ जाते हैं। इसलिये गुण सामाग्य ही स्थिति है। इस दृष्टि से स्त्रीत्वानिलिंगभेद का स्थिति नपुंसकलिंग हुआ। जिस तरह से रूढ़ तत्त्व सबनाम वस्तु भाव का स्पर्श कर सकता है उसी तरह नपुंसकलिंग भी विशेष की अविवक्षा में सर्वलिंग का परामर्श करना है और अव्यक्तलिंग के स्थान में व्यवहृत भी होता है। इस दृष्टि से स्थिति सस्त्यान और प्रभव इन दोनों अवस्थाओं में प्राप्त है और इस तरह सबनाम की तरह नपुंसकलिंग व्यापक महत्त्व पा लेता है (वाक्यपदीय ३ लिंग समुद्देश १७ १८)। कथन के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव के बीच की अवस्था स्थिति है। (आविर्भावतिरोभावांतरालावस्था स्थितिहच्यते—प्रदीप महामाष्य ४।१।३)।

कुछ लोग प्रवृत्ति (गुणों के चित्य परिणाम) को लिंग का सामाग्य लक्षण मानते हैं। वह प्रवृत्ति ही आविर्भाव तिरोभाव और स्थितिरूप में अलग जान पड़ती है। इन तीनों प्रवृत्तियों में सभी पन्नाथ प्रवृत्ति वाले हैं। प्रवृत्तियुक्त पदार्थ ही गन्द के अभिधेय हैं। आकार युक्त पदार्थ ही गन्द द्वारा सकृत् होते हैं। शुद्ध वस्तुतत्त्व गन्द के अभिधान का विषय नहीं होना। गणविषाण आदि अत्यन्त असत् पन्नाथ में लिंग योग उनकी बौद्धिक सत्ता के आधार पर हो जाता है। अपरिणामी पुष्प में भाक्त त्वधर्म के आरोप से लिंग योग मभव है। स्त्रीत्व स्त्रीता जस सस्त्यान आदि में भी प्रवृत्तिलक्षणलिंगयोग है। साम्यगण के आधार पर लिंग का उपयुक्त विवचन चित्य है। गुण गन्द से भाष्यकार का अभिप्राय साम्य दर्शन के गुणों से नहीं जान पड़ता। भाष्यकार ने सस्त्यान और प्रवृत्ति का विवचन या किया है— किस का सस्त्यान स्त्री है और किसकी प्रवृत्ति पुमान है ? गुणों की। किनकी ? गन्द, स्पश, रूप, रस और

गंध की। सभी मूर्तिया ऐसी होती हैं, उनमें सस्यान और प्रसवगुण होते हैं और वे गन्ध, स्पर्श, रूप, रस गंध वाली होती है। जहां अल्प गुण होते हैं उनमें गन्ध, स्पर्श, और रूप होते हैं। रस और गंध सबकुछ नहीं होते। प्रवृत्ति भी नित्य है। कोई भी इस संसार में क्षण भर भी अपने आप में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बढ़ता है जितना कि उसे बढ़ना चाहिये अथवा विनाश की ओर अग्रसर होता है। ये दोनों (सस्यान और प्रवृत्ति) सबकुछ हैं। यदि सबकुछ हैं तो (लिंग की) व्यवस्था किस सम्भव है? विवक्षा स। सस्यान की विवक्षा में स्त्री। प्रसव की विवक्षा में पुमान्। दोनों की अविवक्षा में नपुंसक — महाभाष्य ४।१।३

गुणा के सस्त्यान या गुणा की प्रवृत्ति में गुण गन् साख्यप्रसिद्ध गुण के अथ म महाभाष्यकार द्वारा प्रयुक्त नहीं जान पड़ता । साख्य दर्शन में प्रसिद्ध गुण के अथ म गुण गन् का व्यवहार महाभाष्य में नहीं है । दार्शनिक विचार रूप में जब कभी गुण गन् का व्यवहार महाभाष्य में हुआ है सदा शास्त्र स्वरूप आदि अर्थों में ही हुआ है । अतः रज या तमोगुण के अथ म नहीं । तस्य भावस्त्वतली ५।१।११६ सूत्र के भाष्य का कुछ अर्थ निम्नलिखित है—

किं पुनर्द्रव्य के गुणा । शब्दस्पर्शरसगन्धा गुणा । ततोऽयं द्रव्यम् ।
गुण शब्दोऽयं बह्वयम् । अस्त्येव समेष्ट्यवयवेषु वतते । तदयथा द्विगुणा रज्जु त्रिगुणा
रज्जुरिति । अस्ति द्रव्यपदायकम् । तदयथा गुणवानयं देव इत्युच्यते यस्मिन् नाय
सम्मानि च वतते । अस्त्यप्रप्राधान्ये वतते । तदयथा यो यत्राप्रधान मयति स ग्राह
गुणभूता ययमप्रति । अस्त्याचारे वतते । तदयथा गुणवानयं ब्राह्मण इत्युच्यते य
सम्यगाचार करोति । अस्ति सत्कारे वतते । तदयथा सत्कृतमनं गुणवदित्युच्यते ।

गुण गत्त कं जितन अथ यहाँ पतजलि न ि है उनम सत्त्व रजस आत्ति अथो
 या उल्लस्य नही है । सत्त्व रजस और तमस गत्त का भी गुण कं अथ म महाभाष्य
 म प्रयोग नही है । सत्त्व गत्त का प्रयोग महाभाष्य म केवल ग बार है और यह द्वय
 और त्रियापय कं अथ म प्रयुक्त है (कयत्त का तत्त्व है कि सत्त्व रजस और तमस
 य गुण हैं गत्त आत्ति पांच गुण उही क परिणाम होने म तत्तमस है सत्त्वरजस्तमात्ति
 गुणारतत्परिणामपात्त तदात्मका एव शब्दादय पचगणा — (महाभाष्य प्रदीप
 ४।१।३)। किन्तु यत्त तक लक्षर है । गत्त आधार पर तो किसी भी वस्तु का गुण कहा
 जा सकता है वयात्ति भाष्य क अनुसार प्रत्येक वस्तु गणा का परिणाम है । इनाराज
 न गत्त आत्ति का सम्बन्ध सत्त्व आत्ति म दूसर गत्त म लिया है । उनर अनुसार गूष्म
 तम गण व्यवहारभाष्य नरा हा पा गत्तिय गत्त परिणामभूत गत्त गत्त आत्ति का
 पत्त विग की व्याख्या म लिया गया है (गूष्मतमा गुणा व्यवहार न शास्त्रादवतर
 ग्तात्ति सत्त परिणाम रूपानां गत्तोनामाविर्भावाद्यवस्थान्ध तिष्ठमाग्यान् भाष्य—

[illegible]

हेलाराज वाच्यणीय ३, लिंगसमुद्देश २४)। परन्तु यह तब भी आपानरमणीय है। गुणों की जो आविर्भाव आदि अवस्था है वह भी विवक्षाधीन है कल्पित है। व्यवहार योग्य नहीं है। पुन विचार के क्षेत्र में रूप आदि भी सत्त्व आदि की तरह सूक्ष्म ही मान जायेंगे। वस्तुतः यदि शब्द आदि से पतञ्जलि का अभिप्राय सत्त्व आदि गुणा से होता है तो वे सत्त्व आदि शब्दों से ही उल्लेख करत है। उनकी गली अस्पष्ट और दूरारूढ कल्पनामयी नहीं है। अतः भाष्यकार के शब्द रूप आदि गुण मान्य के गुण न होकर वशेषिकादि दान में गृहीत गुण हैं।

संस्थान शब्द का अर्थ कथं आदि ने तिरोधान अथवा अपचय किया है। यह अर्थ भी चिन्त्य है। कोण या व्यवहार में संस्थान शब्द का यह अर्थ नहीं मिलता। पाणिनिधातुपाठ में स्त्य धातु के दो अर्थ दिए हैं—शब्द और सघात (स्त्य शब्द सघातयो—पाणिनि धातुपाठ १।६।१५)। यास्क ने स्त्य का अर्थ लजाना भी दिया है (स्त्यायतेरपत्रपक्वमण—निरुक्त १२६)। स्वयं महाभाष्यकार ने स्त्य धातु का प्रयोग सघात अर्थ में किया है (स्त्यायतेऽस्यां गभ इति स्त्री—महाभाष्य ४।१।३)।

प्रवृत्ति शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। पतञ्जलि ने प्रवृत्ति शब्द का व्यवहार अनवरत गतिशील अथवा क्रियाशील के अर्थ में किया है और प्रवृत्ति को नित्य माना है (प्रवृत्ति खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिनात्मनि गृह्यतमप्यव तिष्ठते—महाभाष्य ४।१।३)। किन्तु कथं आदि ने प्रवृत्ति का अर्थ आविर्भाव माना है। भक्त हरि प्रवृत्तिको लिंग का सामान्य लक्षण मानत हैं और आविर्भाव तिरोभाव तथा स्थिति के आधार पर प्रवृत्ति के तीन भेद मानत हैं। भाष्यकार प्रवृत्ति का सम्बन्ध केवल पुलिङ्ग में जोड़त हैं जबकि भक्त हरि उसका सम्बन्ध तीनों लिंगों से जोड़त हैं। यही भेद है। एक भेद और है। पतञ्जलि ने स्थिति की चर्चा नहीं की है जबकि भक्त हरि ने स्थिति पर विचार किया है।

कथं ने भक्त हरि के आधार पर प्रवृत्ति के एक भेद तिरोधान का सम्बन्ध संस्थान से जोड़ दिया है और गुणा के तिरोधान अथवा अपचय से स्त्रीत्व की आविर्भाव अथवा उपचय से पुंस्त्व की तथा स्थिति अथवा अंतरालावस्था से नपुंसक की अभिव्यक्ति माना है किन्तु कथं ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि गुणों के उपचय या अपचय भापने का स्थिर बिन्दु क्या है? उपचय और अपचय निरपेक्ष नहीं हो सकत। पुन तीनों गुणों का एक साथ आविर्भाव या तिरोभाव कस सम्भव है? गुणों की साम्यावस्था भी यथार्थ प्रकृति में असम्भव है।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि पतञ्जलि और श्लाक वातिकार के पूर्व भी शब्द आदि गुणों का स्त्री से सम्बन्ध विचार के क्षेत्र में आ चुका था जमा कि यास्क के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—स्थिय एव एता शब्द स्वरूपपरसंग्रहहारिण्य—निरुक्त १४।२०। इसमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

शब्द आदि गुणों के सस्त्वान का अभिप्राय इन गुणों के अधिष्ठान, एतत् सप्रह म है न कि उनके तिरोधान अथवा अपचय स ।

अतः सस्त्वान का अर्थ सघात और प्रवृत्ति का अर्थ गतिशीलता सम्भन्ना उपयुक्त जान पड़ता है । इस दृष्टि से शब्द आदि गुणों के सघात से स्त्रीत्व की उनकी प्रसवधर्मिता से पुस्त्व की और दोनों की अविवक्षा में नपुंसकत्व की व्यञ्जना माननी चाहिए ।

प्राचीन काल में ही सारथ के गुणज्ञान वाली लिंग व्याख्या सर्वको माय नहीं थी । अतः भट्ट हरि ने दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है । कुछ लोग न वगैरह दशम के आधार पर सस्त्वान का अर्थ नाश और प्रसव का अर्थ उत्पत्ति माना था । भावा का अनौपाधिक स्वरूप ही उनके अनुसार स्थिति है । इस वाद के अनुसार पुष्प चित्ति आदि नित्य पदार्थों में उत्पत्ति विनाश गरीर आदि उपाधिसमूह के सहारे कल्पित हैं

उत्पत्ति प्रसवाऽपेया नाग सस्त्वानमित्यपि ।

आत्मरूप तु भावाना स्थितिरित्यपदिश्यते ॥

—वाक्यपदीय ३ निग समुद्देश २७

स्वयं वशेषिको नेलिंग को जातिरूप माना है । स्तनादि व्यञ्जनविशेष से अभिव्यक्त स्त्रीत्व पुस्त्व और नपुंसकत्व के रूप में लिंगजाति की सत्ता है । गवय अभिनप्रत्यय जाति के सदभाव में प्रमाण है । स्त्रीत्व आदि गो व आदि के सदृश ही है । खटवा आदि अचेतन पदार्थों में भी लिंगजाति है जिसके कारण खटवा आदि में स्त्रीत्व बाधक प्रत्यय करने की इच्छा होती है । अथ गत् पुलिङ्ग है । व्यक्ति ग द स्त्रीलिंग है । वस्तु गत् नपुंसकलिंग है । इन तीनों विभिन्न लिंग वाले शब्दों में से प्रत्येक से ससार की किसी भी वस्तु का निर्देश किया जा सकता है । अथ अथ इय व्यक्ति इद वस्तु इस रूप में । अथ यदि प्रत्येक वस्तु में तीनों लिंगों की सत्ता नहीं होती तो वे उपयुक्त तीनों लिंगों वाले शब्दों से गृहीत न होते । एक ही में उनके परस्पर विरोध को दूर करने के लिए जातिपथ का आश्रय लेना पड़ता है । जाति सवगत होती है । बहुत जातियाँ भी एक में समवाय सम्बन्ध में रह सकती हैं । इस्तिनी और बड़वा दोनों में स्त्रीत्व वृद्धि होती है । स्त्रीत्व और गो व साथ साथ रह सकते हैं । स्त्रीत्व और स्तनादि व्यञ्जन में गोत्व की तरह सामान्यविशेष भाव है । व्याकरण शास्त्रों को अर्थ मानते हैं । इसलिए द्रव्य गुण कम, सामान्य आदि में भी लिंगजाति का योग सम्भव है । इसी दृष्टि से भाव गत् से पुस्त्वोपाधिक सत्ता का बोध होता है । सत्ता शब्द से स्त्रीत्वोपाधिक सत्ता का परिचय होता है और सामान्य गत् से नपुंसकोपाधिक सत्ता लक्षित होती है । तट तटी तटम आदि में भी इसी तरह लिंगजाति की सत्ता है । लिंग में भी दूसरा लिंग योग इस दृष्टि से सम्भव है । गत् जब कभी वस्तु रूप में अपने आपको व्यक्त करेंगे उसके लिंगोपाधिसत्ति ही व्यक्त करेंगे । इसीलिए स्त्री से स्त्रीत्व स्त्रीता और स्त्रीभाव दोनों लिंग सम्भव हैं । कायायन का भावस्य च भाव युक्तवान् (वाचिक ४।१।३ ७) भी इस मत का पोषक है । स्त्री गत् से अभिहित

स्त्रीत्वविशिष्ट द्रव्य में भाव प्रत्यय के द्वारा नपुंसकलिङ्ग आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है^८ । किन्तु कयट लिङ्गसामाय के पक्षपाती नहीं हैं (लिङ्गादिसामाय-सदभाव प्रमाणाभावात्—कयट १।१।३२) ।

कुछ आचार्य मानते हैं कि लिङ्ग स्वभावतः गण्यभिधेय है । बाह्य लिङ्ग की सत्ता नहीं है । शब्द के द्वारा असत् लिङ्ग की अभिव्यक्ति होती है । इसलिये एक ही वस्तु को अथ व्यक्ति अथवा वस्तु रूप में विभिन्न लिङ्गों से व्यक्त करते हैं । इस पक्ष का भक्त हरि न शब्दोपजनितोऽद्यात्मा कहा है ।

कुछ लोग लिङ्ग को केवल शब्दसंस्कार के रूप में मानते हैं । लिङ्ग शब्द का धर्म न होकर शब्द का संस्कारक है । उदात्त अनुदात्त आदि स्वर शब्द के धर्म हैं परन्तु लिङ्ग शब्द का संस्कारक मात्र है । क्योंकि शब्द के अवाक्यान के लिए उसका ग्रहण प्रक्रिया वाक्य में ना तरीयक रूप में होता है । पाणिनि के पुनः कमधारयजातीयदशी येषु ६।१।४२ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक पुनः भाव के पक्ष में लिखा— कुक्कुटयादीनामण्डादिषु पुनर्वचनम् । कुक्कुटी आदि का अण्ड आदि के साथ वृत्ति में पुनर्भाव हो जाना चाहिये जैसे कुक्कुटया अण्ड कुक्कुटाण्डम् । मृगया पद मृगपदम् । काक्या गाव काकगाव । पुनः वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान किया—न वाम्नीपुनर्वचनं विवक्षितवान् । कुक्कुटाण्डम् जस पदाम् पुनर्वचनं से स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है । अण्ड आदि के विशेषण के रूप में जो कुक्कुट आदि पद हैं उनमें जातिमात्र की विवक्षा है इसलिए स्त्रीत्व अविवक्षित है । पुनर्वचन करने पर भी पुनर्वचन से वाच्य जत्र स्त्रीत्व की विवक्षा नहीं है तो पुनर्वचन करना भी निष्प्रयोजन है । मृगया क्षीर मृगक्षीर जमे स्थला में भी पुनर्वचन में स्त्रीत्व अविवक्षित है । सत् वस्तु की भी अविवक्षा देखी जाती है और असत् वस्तु की भी विवक्षा की जाती है जैसे अनुत्तरा कया विध्यो वद्धित-कम में अमग सत् की अविवक्षा और अमत् की विवक्षा है । कुछ लोग प्रक्रिया वाक्य में

८ प्रक्रियाप्रस्ताव के लेखक ने इस मत का समर्थन किया है और पाणिनीयमतदणकार की भाँति इस पक्ष में अभिसक्ति व्यक्त की है—

यत्र वशेन इयं त्रीणि लोकाः सप्रययं म धम त्रीत्वम् । म च गोवादिद्वयं सामायं विशयं । तथा च पाणिनीयमतदर्शणं उक्तम्—

इयमयमित्तिमिति येषु यपदशो दृश्यन्तं लोकः ।

त्रीषु नपुंसकानि प्रोच्यन्ते तानि लोकाः ॥

गोवादिश्चाश्रयैयद्वयं सामायं यमुपलक्ष्यते ।

यत्र वरनुत्तत्वात् त्रीणि पुंल्लिङ्गं तथा ॥

भावानां शसतीनां लोकं प्रतिनियतविशयवान् ।

विचित्रं येन चिदेवाश्रयेण सामायं यमुपपत्तिः ॥

ततो यत्र वैचित्र्याच्च नात्र श्चावमेव हि ।

यत्र यत्र न तु पुंल्लिङ्गं सोऽथ त्रयाभिधीयते ॥

पुमान् नपुंसकं त्रैव द्वित्रिलिङ्गं तथैव च ।

यथा गौरी गिरिर्गोहमर्गं तन्मत्रं लिङ्गं ॥

—नोपदव, पाणिनीयमतदणकार, प्रतिभाप्रसाद में उद्धृत पृ. ३६८ १८ भाग १

लिङ्ग के सम्बन्ध में व्याकरण का उपचयापचयवाद पर आक्षेप करते हुए पक्ष धर मिश्र ने लिखा है—पुलिङ्ग आदि शब्द से उपचय अपचय आदि की प्रतीति नहीं होनी। क्योंकि उपचय अपचय आदि का स्वरूप निर्धारित नहीं है। वक्ष शब्द से वक्ष गत किसी प्रकार के उपचय का ज्ञान नहीं होता। इसी तरह गगा शब्द से गगागत किसी तरह के अपचय का आभास नहीं होता। यदि ऐसा माना जायगा तो वक्ष या गगा की अवधि का ज्ञान आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त यदि पुस्त्र का सम्बन्ध उपचय से स्त्रीत्व का अपचय से और नपुसकत्व का सम्बन्ध दोनों से माना जायगा तो नपुसक शब्द की स्थिति पहनी कम जायगी। क्योंकि एक ही वस्तु में उपचय अपचय जैसे दो विरोधी धर्म कैसे भलकेंगे। साथ ही, पथिवी, सुमेरु, कुल जस निश्चित लिङ्ग वाले शब्द सदा एक सा अर्थ व्यक्त करते हैं, विशेष (उपचयादि सहित) नहीं। (प्रशस्तपाद भाष्य-संशुटीका १० ८४, ८५)। व्याकरण इस आक्षेप का समाधान उपचय अपचय को विवक्षाधीन मानकर देता है। उपचय अपचय दोनों से रहित दशा का सम्बन्ध नपुसक से मानने पर पक्षधर मिश्र का नपुसक शब्द के विषय में उपयुक्त आरोप निराधार हो जाता है (उपचयापचयरहिता यावस्था तदात्मिका स्थिति नपुसकत्वम्—याम ४।१।३, पृष्ठ ८०६)। भक्त हरि के अनुसार ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिससे लिङ्ग का याग न हो सक। जा गुणात्मात पदार्थ हैं उनमें भी लिङ्ग व्यवहार होना है जस आत्मा (पुलिङ्ग) चित्ति (स्त्रीलिङ्ग) चैतन्यम् (नपुसकलिङ्ग)। भक्त हरि ने सम्भवतः पञ्चशिख आचार्य के आधार पर चित्ति जस गत्तो में लिङ्गयाग के लिए प्रतिविम्बवाद का आश्रय लिया है। चित्ति शक्ति बुद्धि में प्रतिविम्बित होनी है। बुद्धिमनान्त होने से चित्ति में बुद्धिगत (भाग्यगत) धर्म आभासित होते हैं। यही धर्म शब्दाचर है। सत्तात दशा में भोक्तशक्ति और भोग्य शक्ति में भेद जान पड़ता है। चित्तिशक्ति स्वयं अपरिणामिनी है किन्तु सत्तात दशा में अचेतन में भी चैतन्य की छाया ला देती है

यश्चाप्रवृत्तिधर्मायश्चित्तिरूपेण गृह्यते ।
अनुयातीव सोऽप्येषा प्रवृत्तीविप्लवाश्रया ॥
तेनास्य चित्तिरूपं च चित्तिकालश्च मिथ्यते ।
तस्य स्वरूपभेदस्तु न कश्चिदपि विद्यते ॥
अचेतनेषु सत्तात चैतन्यमिव दृश्यते ।
प्रतिविम्बकधर्मेण यत्तच्छब्दनिबन्धनम् ॥

—वाचस्पतीय ३ वृत्तिप्रमुद्गे ३२० ३२१

गोत्व आदि सामान्य (जाति) भी प्रवृत्तिधर्म के चपट में आ जाता है। क्योंकि वह यक्ति से सवथा भिन्न नहीं है

सामान्यमपि गोत्वादिकं यस्तेरयतिग्वित्त्वात् प्रवृत्तिधर्म —

—कण्ट महाभाष्य प्रतीप ४।१।३

ताम्र के अनुसार यहाँ व्यक्ति को जाति से गत्यतिरिक्त मानना व्यक्ति अनुगत ब्रह्म की सत्ता वाले वाद के आधार पर है। ताम्र के अनुसार सामान्य भी प्रवृत्ति का

विराभी विषय विराभ है। यद्यपि अनुसार विराम साध्यव्यवहारानुयायिनी माननी
आह्वित, प्रायश्ची गहा । हनाराज व अनुसार विराम म अभिप्राय प्रायश्ची स है
व्यवस्थापनी लीनरी गही—

लोरव्यवहारानुयायिनी विषया माधोयने न तु प्रायोश्ची ।

—यद्यपि महाभाष्यप्रमाण ४।१।३

तथा च प्रायोश्ची विषयात् न लीनरी स्थेष्टाधारस्तेषुक्त भवति ।

—हनाराज यापयणीय ३ निगममुद्ग २१

दाता ही आभाव अतः पता स्थान पर टीका है। यद्यपि न प्राधात आभावों
का परम्परा व अनुसूत निगम्यवस्था व विषय म सात का हा प्रमाण माना है
(लिंगव्यवस्थायां लोच प्रमाणमिषय कपट प्रदीप ६।१।३)। अतः उनकी दृष्टि
म लिङ्ग भी लिंग व विषय म सात का ही अनुगमा करत है। हनाराज का अभिप्राय
यह है कि लिंग व्यवस्था स्वच्छाव्यवहार पर अभिन नहा है। अपितु परम्परा स लिङ्ग
व व्यवहार व आधार पर उगता निणय लिया जाता है। यद्यपि मायना है कि
लिंग व स्वयं का ज्ञान ज्ञान स हा सम्भव है अतः उगता जा सम्भव नहा है
(अनेन लिङ्गस्वरूपमपि लोकाश्रय ज्ञायत इत्युक्त भवति—कपट प्रदीप ६।१।३) ।
हनाराज व अनुसार लान म भी निगम्यवस्था लिङ्ग जना व व्यवहार पर ही अव
लम्बित है। लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य जस वास्यो म हनाराज व अनुसार लान गान
का अर्थ लिङ्ग है (इह लोकाश्रयेन लिङ्ग विवक्षिता—हनाराज वास्यपणीय ३
लिंग समुद्ग २१) । नागव का भुक्त भी लोकाश्रय का अर्थ लिङ्ग की धार है। उन
अनुसार जिम गान का जिम लिंग व साथ साधुत्त और धमबुद्धि स लिङ्ग न व्यवहार
किया है उस दाह का वही लिंग है

एयञ्च येषां शब्दानां यल्लिङ्गमुपादाय लिङ्गं साधुत्वावगमनपूर्वक
धमजनकत्व बुद्ध्या प्रयोग कृति तेषां तदेव लिंगमिति नियम सिद्ध इति
भाव ।

—नागव महाभाष्य प्रदीपोद्योत, ४।१।३

लिंग के विषय म वातिककार के कुछ महत्वपूर्ण बातें हैं। उनमें एक है—लिंग
मक्षिप्य लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य । यद्यपि यह वातिक वतमान वातिक पाठ म नहीं
मिलता फिर भी यह वाक्यायतन का वचन है। महाभाष्यकार ने स्वयं कहा है—
पठिष्यतिह्याचाय लिंगमक्षिप्य लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य इति । पुन पठिष्यति—
एकार्थे गन्दायत्वाद दष्टि लिंगायत्वम अवयवा यत्वाच्चेति (महाभाष्य ४।१।३) ।
इनमें एकार्थे गन्दायत्वाद दष्टि लिंगायत्वम और अवयवा यत्वाच्च य दा वातिक
६।१।६२ सूत्र पर पठित हैं । इन वातिकों का और लिंगमक्षिप्य इस वातिक का कर्ता
एक ही है जा भाष्यकार के पठिष्यति और पुन पठिष्यति गान से स्पष्ट है। अतः इस
वातिक की सत्ता किसी सूत्र पर अवश्य रही होगी। अस्तु वातिककार के लिंग के
विषय म जितने मौलिक विचार हैं उनमें लिंग अक्षिप्य वाला वचन य बहुत महत्वपूर्ण
है। वातिककार ने यह अनुभव किया होगा कि किसी शास्त्रीय नियम से लिंग व्यवस्था

का निर्वाह कठिन है। शास्त्रीय नियम एक बार बनाए जा सकते हैं किन्तु भाषा के विकास में लिंग व्यत्यय बराबर देखे जाते हैं। पुनः व्याकरण लाक का अनुयायी है। अतः लिंग व्यवस्था में भी लोक ही प्रमाण है। शास्त्रीय उपदेश के बिना भी लोक व्यवहार में लिंग परिचय सुलभ है। लोक में लिंग-व्यवहार स्तन आदि चिह्ना पर निर्भर नहीं है। लिंग के स्वरूप पर भी लोक ही प्रमाण है। अतः वार्तिककार के मत से लिंग अशिष्य है। भाष्यकार ने भी अनेक बार कात्यायन के इस मत का दुहराया है और इसी आधार पर पाणिनि के सप्तसूत्र २।४।१७ सूत्र का प्रत्याख्यान किया है (इदं तर्हि प्रयोजनं सप्तसूत्रमिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिंगस्य महामाष्य २।१।१२)। भाष्यकार ने वार्तिककार के भी कई वार्तिका का प्रत्याख्यान उपधुक्त्वं वार्तिकं का आधार पर किया है जैसे सर्वालिंगता च २।१।३६ वा० ५ का प्रत्याख्यान लिंग अशिष्य के सिद्धांत पर किया है। आचार्य पाणिनि भी अशिष्य सिद्धांत का ही समर्थक है। उन्होंने स्वयं पूर्वाचार्यों के सूत्र लुपि युक्तवद व्यक्तिवचन १।२।५१ विशेषणानां चाजात १।२।५२ आदि का तदशिष्य सनाप्रमाणत्वात् १।२।५३ का द्वारा प्रत्याख्यान किया है। उनका लिंगप्रकरण परम्परा पालनमान है (एव च लिंगप्रकरणं जात्याख्यायामित्यादि सत्याप्रकरणं च पूर्वाचार्यानिरोधेन कृतम् इति ध्वनितं सूत्रकृता नागेश, महामाष्यप्रदीपोद्योत १।२।५३)। इलाक़ वार्तिककार का तस्योक्तो लोकतो नाम (४।१।३) वक्तव्य भी लाक पक्ष का ही समर्थक है। इस निष्कर्ष पर जो लोग सस्यान आदि लक्षणा को अलौकिक कहते हैं वे भ्रम में हैं—

यद्यपि अविचारितरमणोप लिंगमाश्रित्य वक्तार शब्दानुच्चारयति, श्रोतारश्च प्रतिपद्यत तथापि वस्तुतत्त्वनिर्णयो भाष्यकारेण कृत इति यदयमवध्यायि सस्यानादिलक्षणमलौकिक लिंगम् इति तदपाकृतं भवति।

—कण्ट, महामाष्यप्रदीप ४।१।३

हेलाराज ने वार्तिककार को भी गुणवादी माना है। उन्होंने अपने ग्रंथ वार्तिकोपेय में इसका विवरण दिया है पर यह ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। अतः हेलाराज के कथन की ठीक समीक्षा सम्भव नहीं है परन्तु प्रकीर्णकप्रकाश में इस पक्ष में उनके तक लक्ष्य है। उनसे अनुसार लिंगमशिष्य वाला मत प्रत्याख्यात है और इसलिए गुणावस्था वाला मत ही वार्तिककार का हाथ—

तदित्यमनेनकार्यं शब्दा यत्वादिना लिंगमशिष्यमिति च प्रत्याख्यानेन शब्दशक्तिभेदोपवर्णनतात्पर्यरूपेण गुणावस्था सवत्र सम्भवितो लिंगमिति सूचितं भवति। वाक्यकारस्यापीदमेव दगनमिति वार्तिको मेवे वक्षितमस्माभिः।

—वाक्यपदीय ३, लिंगसमुद्देश २६ टीका

किन्तु हेलाराज ने स्पष्ट नहीं किया है कि लिंगमशिष्य वाला मत कहा किस रूप में प्रत्याख्यात है। महामाष्य में इसका प्रत्याख्यान नहीं मिलता।

लिंग के विषय में वार्तिककार का वार्तिक एकार्यं शब्दा यत्वाददष्ट लिंगा यत्वम् ४।१।६२ भी महत्त्वपूर्ण है। लाक में एक ही वस्तु के लिए भिन्न भिन्न नाम प्रयुक्त होते हैं। यह शब्द भिन्नता लिंग भिन्नता का एक आधार मानी जा सकती है। एक वस्तु के लिये पुष्प तारका तथा नक्षत्र शब्द का व्यवहार होता है।

पुप्य गद पुल्लिङ्ग तारता स्त्रीलिङ्ग और नक्षत्र नपुंसक लिङ्ग है। मठ, कुटी, गह आदि भी एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिङ्गों का प्रयोग है। कथ्य दस वाचिकों को व्याख्या या करते हैं—प्रत्येक पन्थाय सर्वाङ्गिता जाता है। उसका गद किसी गद से जाना कराया जाता है किसी विशेष लिङ्ग के साथ ही उसका भाव होता है।

अवयवायत्वाच्च ४।१।६२ ७ वाचिक भी लिङ्गभेद का निर्देशक है। कथन गद के भेद से ही लिङ्गभेद नहीं होता अवयव के उपजन आदि में भी लिङ्गभेद देखा जाता है। कठो और कुटीर गमी और गमीर गुण्य और गुण्यार जस गता म स्वाधिक प्रत्यय के होने पर भी अवयव में भेद का जाने के कारण लिङ्गभेद एक ही गद में देखा जाता है।

अथभेद से भी एक ही गद में लिङ्गभेद अवगत होता है। जिस तरह स्वरभेद से एक ही शब्द विषयांतर में साधु माना जाता है वैसे ही लिङ्गभेद से भी एक ही शब्द विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है। अक्ष गद देवनाक्ष और गवनाक्ष दाना का बोधक है किन्तु जब अन्तोन्त होता है तब देवनाक्ष का बोधक होता है आदि उन्त की अवस्था में शकटाक्ष का प्रत्यायक होता है। अध शब्द समप्रविभाग अर्थ में नपुंसकलिङ्ग है एकदेशमान के अर्थ में पुल्लिङ्ग है। सार शब्द चाय से युक्त अर्थ में नपुंसक है (नतत्सारम्) उत्कथ अर्थ में पुल्लिङ्ग है (चत्सार)।

कुछ लोग मानते हैं कि एकाग्र शब्द के भेद से लिङ्गभेद में भी कोई न कोई विशेष बात रहती है। कुटी और कुटीर में केवल लिङ्गभेद ही नहीं है, कुछ अर्थभेद भी है। कुटीर छोटी कुटी को कहते हैं। अरण्य और अरण्यानी में भी यही भेद है। इसलिये अरण्यानी में स्त्रीत्व अरण्य के एक विशेष अर्थ एक विशेष गुण का बोधक हो जाता है। इस तरह सबमें ही कुछ न कुछ गुणव्यतिष्ठ के कारण एकाग्र गद में लिङ्गभेद की व्यवस्था करनी चाहिए। शब्द की नियतलिङ्गता भी किसी विशेष कारण से ही लोक में देखी जाती है। तक्षक (बद्ध) तक्षण छेदन आदि अनन्त क्रियाएँ करता है। उनमें से एक तक्षण क्रिया के आधार पर उसे तक्षक कहते हैं। कुम्भकार कुम्भ के अतिरिक्त गराव आदि भी बनाता है किन्तु कुम्भ क्रिया के कारण उसे कुम्भकार कहते हैं। इसी तरह शब्द भी स्वभावतः अथवा अभिधानव्यतिष्ठ के कारण किसी विशेष लिङ्ग में अभिहित किये जाते हैं। इस अभिधानव्यतिष्ठ को भन हरि ने उपादान कहा है और उसके आधार पर भी लिङ्ग के निम्नलिखित सात भेद किये हैं

१—कुछ गद केवल पुल्लिङ्ग हैं जैसे वध आदि।

२—कुछ गद केवल स्त्रीलिङ्ग हैं जैसे तत्का आदि।

३—कुछ गद नपुंसकलिङ्ग में ही नियत हैं जैसे त्वि आदि।

४—कुछ गद पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों का हैं जैसे जस, गय, गयम् पम्, पम्पम्।

५—कनिषय गद स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में नियत हैं जैसे नागधयो, भाग धेयम्।

६—कुछ गद स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग में साधारण हैं जैसे वत्ता वम् आदि।

७—अनेक शब्द तीना लिंगा में व्यवहृत होते हैं, जैसे, तट, तटी, तटम आदि ।

उपादानविक-पाश्च लिङाना सप्त वर्णिना ।

विकल्पसन्नियोगाम्यः। ये शब्देषु व्यवस्थिताः ॥

—वाक्यपदीय ३, लिङसमुद्देश ३

मन्त्र लिंग सब वस्तु म है । किसी गन्ध स सकृत्त वस्तु किसी विशेषलिंग का जक है और इस तरह नियत लिंग की व्यवस्था सस्कृत के व्याकरण न की है । प्र सर्वेषा लिंगाना सवत्र भावात् केनचिच्छ्रुतेन प्रत्याग्यमान वस्तु कस्यार्चिल्लिगस्य प्रकनिति दारादिषु नियतलिंगता सिद्धा ।—कपट, महाभाष्यप्रदीप १।२।५३

काशिकाकार न लिंग की व्याख्या कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार नम एक तरह स सामान्यविशेष है। सामान्यविशेष शब्द का ठीक अर्थ आज ज्ञात नहीं है। काशिकाकार न केवल इतना कहा है कि स्त्रीत्व आदि सामान्यविशेष हैं, गो व आदि भी तरह बहुप्रकार व्यक्ति हैं

केय स्त्री नाम । सामान्यविशेषा स्त्रीत्वादयो गोत्वादय वद बहुप्रकारा
यवन्तय । वदचिदाश्रयविशेषामावाद उपदेशव्यङ्ग्या एव भवति, यथा
ब्राह्मणत्वादय ।

—काशिकावलि ४।१।३

जिनद्वन्द्वबुद्धि का अनुसार सामान्यविशेष का अर्थ है जो सामान्य भी हो और विशेष भी हो। तुल्यजातीय पदार्थों में साधारण होने के कारण सामान्य है। परस्पर तथा विजातीय में भी भेद होने के कारण विशेष है। यदि इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जाय तो गोत्व उसके समीप है। गोत्व सामान्य भी है। क्योंकि विभिन्न गोयुक्ति में अनुगतान्तरबुद्धि के आधार पर अभिन्न व्यवहार का हतु होता है। गोत्व विशेष भी है। क्योंकि अश्वत्व आदि से विनाश की अभिव्यक्ति करता है। इसी तरह से स्त्रीत्व आदि भी सामान्यविशेष हैं। वे तुल्यजातीय सब में रहने हैं और विजातीय में व्यापक हैं। हरन्त न सामान्यविशेष शब्द के दो अभिप्राय दिये हैं। एक तो यह अर्थ मन्त्र है कि कुछ सामान्य है और कुछ विशेष। दूसरा यह कि सत्ता का अतिरिक्त अर्थ जिनमें अर्थों में सामान्य शब्द का व्यवहार किया जाता है उन सब के लिये सामान्यविशेष शब्द दिये हैं।

सामा यविनेया इति । कानिचित् सामा यानीत्यत्र । यइया सत्ताप्रतिरिक्तेषु
सामा यविण्य गइो रुद्ध तिलो वातरजानय इत्यथ ।

—पदमन्तरी ४।१।३ पृष्ठ १६

और इस तरह स वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका स दसवा स अथ
जो निया है —

तिलो जाय एयता देशाचिन समप्रस्थिता ।

अदिरुद्धा विरुद्धामि नोमहिष्यादिजातिभिः ॥

—वाक्यपदीय ३, लिङसमृद्धेश ४

इस स मायविप क आय क वचिच्य तनिग म नी वचिच्य घा तता

कोई सामान्यविशेष किसी व्यञ्जक के आश्रय से अभिव्यक्त होता है। सब सय से अभिव्यक्त नहीं होता। क्योंकि पदार्थों की शक्ति नियतविषय वाली होती है। इसलिये जिस अर्थ (वस्तु) से स्त्रीत्व व्यक्त होता है, पुरुष अथवा नपुंसकत्व व्यक्त नहीं होता, वह स्त्री है। इस तरह से जिससे पुरुष की अभिव्यक्ति हो वह पुरुष और नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति हो वह नपुंसक है। चेतन पदार्थों में उनके व्यञ्जक यौन चित्ता के आधार पर लिंग व्यवस्था हो जायगी। अचेतन पदार्थों में लिंग-व्यवस्था उपदेश के आधार पर उपदेश-योग्य के रूप में मान ली जायगी। इसी तरह आशा, आकाश जैसे निराश्रय शब्दों में भी लिंग उपदेश-योग्य है। जैसे ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि उपदेश-योग्य हैं। प्रत्यक्ष नहीं है उसी तरह स्त्रीत्व आदि भी विशेष स्थानों में उपदेश-योग्य हैं।^१ कोई शब्द एक ही लिंग में शक्ति है, कोई दो में और कोई तीन में। दो या तीन के व्यञ्जकत्व के आधार पर द्विलिंग या त्रिलिंग शब्दों की व्यवस्था सम्भव है।

भट्टोजि दीक्षित ने लौकिक लिंग और पारिभाषिक लिंग का जोड़कर लौकिक लिंगविशिष्ट शास्त्रीयलिंग की भी कल्पना की है—

कुमारब्राह्मणादिशब्दास्तु लौकिकपुंस्त्वविशिष्ट शास्त्रीयेषु स्त्वे शक्ता लौकिक स्त्रीत्वविशिष्टे च शास्त्रीयस्त्रीत्वे। कथमप्यथा कुमारी कुमार इत्यादयः प्रयोगाः प्रवर्तिष्येरन् ।

—शब्दकोशसुम १।२।६४, पृ० ४५

लिंग-शब्दनिष्ठ है अथवा अर्थनिष्ठ है? इस प्रश्न पर व्याकरणों में मतभेद रहा है। दोनों तरह के विचार मिलते हैं। कुछ लोग मानते हैं कि लिंग-शब्दनिष्ठ है, पुलिङ्ग-शब्द जिस वक्त-य-शब्दनिष्ठ लिंग के योग्य है। स्वमोनपुंसकात् ७।१।२३ में पाणिनि ने शब्द का ही नपुंसक कहा है। इसमें विरुद्ध कुछ आचार्य लिंग को अर्थनिष्ठ मानते हैं।

उन्नीचामात स्यान् यत्पूर्वाया ७।१।६६ सूत्र में पाणिनि ने अथधम स्त्रीत्व का शब्द में आरोप माना है—स्त्रीलिंगनिर्देशस्तु तस्य समुदायस्याथधर्मेण स्त्रीत्वेन वेदितव्यं, यास ७।३।४६, पृ० ७६८। कथट ने अनुसार भी इस सूत्र में पाणिनि ने अथगत स्त्रीत्व का शब्द में आरोप किया है—अथगत स्त्रीत्व शब्दे समारोप्य निर्देशः कृतः। कथट प्रदीप ७।३।४६।

महाभाष्यकार ने कहा है—न हि नपुंसक-नाम शब्दोऽस्ति (महाभाष्य ७।१।२३)। कथट ने अथधमत्वात्तिलगस्य (७।१।२३) कह कर अर्थनिष्ठ-पद का समयन किया है। नागार्जुन ने भी, अथधमस्य स्त्रीत्वस्य शब्दे आरोपः कह कर तथा शब्दनिष्ठमेव लिंग

१ इस बोधदेव ने पाणिनीयमतपरम्परा में या रत्नाकरद्वारा किया है—

अत्यन्तसाधय सादृश्यात् व्यञ्जकभावना

उपदेशोक्तद्वयं कृत्वा यथा वाच्यं वाचि ।

आश्रयस्थानातिशयवाच्यतायावत्किं भवेत्तत्

उपदेशोक्तद्वयमवस्थान्तिगता गमनं यथा ॥

मिति नव्योक्त परास्तम (महामाध्य प्रदीपाद्योत ४।१।३) कहकर स्पष्टरूप से लिंग की अथनिष्ठता का समयन किया है।

नागेश का यहाँ नय से सकेत कौण्डभट्ट की ओर है। कौण्डभट्ट न शब्दनिष्ठ पक्ष का समयन किया था। उनके अनुसार भाष्यकार के मत में भी लिंग शब्दनिष्ठ है। क्योंकि वे पुल्लिङ्ग शब्द जैसे व्यवहार करते हैं। पुल्लिङ्ग का अर्थ पुल्लिङ्गवाचक करना भी उपयुक्त नहीं है। अथवा घट शब्द जस प्रयोग हो सकन हैं। उपचार अथवा आरोप के आधार पर पुल्लिङ्ग शब्द जस प्रयोग का सिद्ध करने में निमित्त शक्ति की कल्पना करनी होगी। लिंग का अथनिष्ठ मानने में तट, तटी तटम् आत्मा ब्रह्म जैसे प्रयोगों की उपपत्ति नहीं बठ पाती है। छागी का भी यन्त्र में प्रयोग होने लगगा—

वस्तुतस्तु भाष्यमते लिंगशब्दनिष्ठमेव। पुल्लिङ्ग शब्द इति व्यवहारात् पुल्लिङ्ग वाचकत्वात्तथेति चेत्तहि घट शब्दे इत्यपि स्यात् आरोपे निमित्तानुमरणमित्यादेरतिगौरवात्। अथनिष्ठत्वे तटस्तटी तटमित्यादेरात्मा ब्रह्मत्यादेरनुपपत्तेरुक्तत्वाच्च। छाया यागप्रसगाच्च।

—कौण्डभट्ट, व्याकरणभूषण, पृ० १२३

नागेश ने मजूपा में कौण्डभट्ट के उपयुक्त मत की समीक्षा विस्तार से की है और अथनिष्ठपक्ष का समयन किया है—

एतदवस्थानयस्य पदयमान सत्त्वाद इदं केवला वयि। इयं प्रकृति इदं वस्तु अयं पदार्थ इत्यादिप्रवहाराणां सर्वत्राप्रतिबद्धप्रसरत्त्वात्। अथनिष्ठं च तत्। तथाच भाष्यम्—एकार्थे गदशयत्त्वाद दृष्टं लिंगा यत्वेन अवयवायत्वाच्चेति। पुण्य तारका नश्यन्नमिति शब्दनानां वदशनात् स्तनकेनाद्यतिरिक्तमेव लिंगम् अथनिष्ठम्। कुटी कुटीर इत्यादौ रेफस्यावयवस्योपजने लिंगभेददगनाच्चेत्यथ इति कथं। अत एवोपक्रमभाष्ये रूपरसस्पर्शशब्दानां स्थानप्रसवौ लिंगमित्युक्तम्। न हि रूपादयः शब्दगताः। पुल्लिङ्ग गद इति तु वाच्यवाचकयोरभेदोपचाराद बोध्यम्। अत्र आद्यजन्तु वा तत्। आत्मनि सर्वस्याध्यस्तत्वेन परस्परया तत्रापि स्थानादिसत्त्वाद आत्मा अत्यति व्यवहारोपपत्तिः। पशुना यजेतेत्यादौ पुस्त्वस्य विवक्षितत्वात् न स्त्रिया याग इति भीमासकाः।

—नागेश, मजूपा पृ० ११४२ ४२

किंतु भाषा की दृष्टि में हलाराज का गदशय लिंग योग अधिक उपयुक्त जान पड़ता है (व्याकरण हिं में वस्तुषमों लिंगमिष्यते, अतितु गदशयस्य लिंगयोग, हलाराज, वाक्यपदीय ३ अनिसमुद्देश ३२८)।

जयान्तिय के अनुसार लिंग शब्दप्रति हान पर भी अथभेद के आधार पर निर्भर देया जाता है—

गदरूपाश्रया चेद्य द्विलिङ्गता वृत्तिदयभेदेनापि व्यवतिष्ठते—काशिका २।४।३१। उनके अनुसार पदम घोर गद ग न निधि के अर्थ में पुल्लिङ्ग हैं जनक के अर्थ में उभयलिङ्ग हैं। भूत ग न पिताच के अर्थ में उभयलिङ्ग है किंतु श्रिया गद के रूप

म इसका लिंग अभिधेय ने अनुसार होता है जस भूत काण्टम भूता शाला भूत घट । स धवगा लवण के अथ म उभयलिङ्ग है योगिक गत् के रूप म इसका लिंग अभिधेय के आधार पर होता है जसे स ज्व मत्स्य स घन जलम स धवी गफरी । मार गब्द उत्कष के अथ म पुं लिङ्ग है च त्तसार । कि तु अनुपयुक्त अथ म नपुंसक लिंग है नतनसारम ।

सारगब्द उत्कर्षे पुल्लिङ्ग यामादनपेते नपुंसकम नतत सारमिति—

पाणिनी २।४।२१।

अभयनगी न ग न्निष्ठपथ का समथन किया है—

शब्दजनितप्रत्ययवर्गा स्त्रीत्वादय इहामिप्रेता न वस्तुवर्गा । अयाप्ते । शब्दो हि श्रोत्रपथ गत लिङ्गसदृशत्वात् स्वप्रत्यय जनयति । स प्रत्यय खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु सम्भवति ।—जने द्रमहावृत्ति ३।१।३ पृ० १५०

जानपीठ सस्करण

पाणिनि क स्त्रियाम ८।१। सूत्र पर विचार करत हुए वात्स्यायन ने लिंग के प्रत्ययाथपथ प्रकृत्ययविशेषणपथ और समानाधिकरणपथ पर भी विचार किया है । जिस तरह गुल आदि गुणगत् गुण और गुणी दोनों क लिए व्यवहृत हात ह जसे गुक्त पट पटस्य गुक्त उसी तरह स्त्रीगत् भी गुण और गुण क आश्रय दोनों क लिए प्रयुक्त होता है । जत्र स्त्री गत् स गुणमात्र स्त्रीत्व व्यक्त किया जाता है द्रव्य वाची प्रातिपदिक स स्त्रीत्व वाच्य अथ म टाप आदि प्रत्यय हात हैं । इस रूप म यह प्रत्ययाथ पथ है । जत्र स्त्रीयुक्त द्रव्य स्त्री गत् स कहा जाता है स्त्रीत्वयुक्त द्रव्यवाची अगीकृतस्त्रात्वात् प्रातिपदिक स टाप आदि प्रत्यय हात है—यह प्रकृत्यय विशेषण पथ है । स्त्रीत्व युक्त द्रव्य स्त्री गत् स व्यक्त किया जाता है स्त्रीत्व उपलब्धद्रव्यवाची प्रातिपदिक स टाप आदि हात ह—यह स्त्रीसमानाधिकरणपथ है । अत्रयप्रतिरक् के आधार पर भी प्रत्ययाथ पथ की कल्पना की जाती ह । दपत् वाच्य आदि गत् म प्रत्यय क प्रयत्न जान क बिना भी स्त्री अथ वा अभिव्यक्ति होती है इस आधार पर भी प्रकृत्ययपथ की सम्भावना की जाता है ।

स्या समानाधिकरण पथ का नश्य कर वार्तिककार न किया—

स्त्रीसमानाधिकरणादिति चेद भूतादिष्वतिप्रसङ्ग ।—४।१।३ ५

पट सप्तकस्य च प्रतिषेध ।—८।१।३ ४

मका अभिप्राय यत् न निमित्त तरत् म कुमार स्या म स्त्री गत् म प्रयापित अथ म कुमार गत् वा है और त्म दृष्टि म स्त्राप्रत्यय का विधान इस पथ म हाता न उमा तरह भूतमिय आश्रया आदि म ब्राह्मणा गत् म उपलब्धित स्या न अथ म वनमान न्त आदि गत् म टाप प्रत्यय हात लगता । त्मी तरह पञ्च पत् म न नत् त्म ब्राह्मण म न्त आदिगत् म स्त्राप्रत्यय क प्रसङ्ग म न पत्स्यस्यात्स्य (८।१।०)

स प्रतिषेध कहना पडगा । प्रकृत्यथविशेषणपक्ष म य दोष नहीं हो सकते । क्योंकि भूतमिय ब्राह्मणी म स्त्रीत्व विवक्षित नहीं है अपितु पौन्य विवक्षित है । स्त्रीत्व के विवक्षित होन पर प्रत्यय हात ही है जस— भूता ब्राह्मणी । यहा सत्यवादिनी अथ है अथवा चलवमी (अतीता) अथ है पौन्य नहीं । पच पट् आदि स भी भेद वाचन गणनात्मक मस्या विवक्षित है स्त्रीत्व नहीं । इसलिए स्त्रीप्रत्यय की अप्राप्ति स प्रतिषेध प्रत्याख्यान है । इस रूप म प्रकृत्यथविशेषण पक्ष निर्दोष है । इसको सूचित करन क लिए वार्तिककार ने कहा

सिद्धतु स्त्रिया प्रातिपदिकविशेषणत्वात् स्वार्थे टावादेश (४।१।३ ५)

प्रत्ययाथविशेषणपक्ष की भी भीमामा वार्तिककार ने की है—

स्त्रियामिति स्ययामिधाने चेष्टावादेशो द्विवचनबहुवचनानेकप्रत्ययानुपपत्ति (४।१।३ १)

स्ययस्य च प्रातिपदिकाथत्वात् स्त्रियामिति लिंगानुपपत्ति

(४।१।३ २)

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि प्रत्ययविशेषणपक्ष म प्रकृत्यथामनन स्यात्त्व का प्रत्यय म ही अभिधान हो जायगा । स्त्रीत्व प्रधान हो जायगा । स्त्रीत्व के एक होन से कुमारी गन्ध मे एक वचन हो हागा परन्तु द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे । यद्यपि गन्ध रूप आदि गुणों क अवस्थाविशेष लिंग है । अवस्था अवस्थात स अभिन्न है । यन् म गन्ध रूप आदि अनक का सनिवन्ध है फिर भी गन्ध आदि क बहुत्व होन पर भा सनिवन्ध क अभेद की विवक्षित होन पर घट एक वचन म प्रयुक्त होना है । इसी तरह स अवस्थाविशेष लिंग भी सस्यान आदि के रूप म एक है । सस्यान की विवक्षा म एक वचन ही हागा द्विवचन और बहुवचन नहीं । स्त्रीत्व के एक होने से अनेक प्रत्यय भी प्राप्त न हो सकेंगे । गार्ग्यादिणी कारीपगव्या आदि म तो तो स्त्रीत्वबोधक प्रत्यय हैं । गार्ग्यादिणी म एफ और डीप दा स्त्री प्रत्यय हैं । अब एक म स्त्रीत्व क उत्पन्न हो जान पर टाप अनुपपुक्त्वं हो जायगा । इसी तरह सस्यानवाची डट प्रत्ययान् स्त्री गन्ध स डीप् नही हागा क्योंकि स्त्रीत्व स्त्री म ही उत्पन्न हो जाता है ।

वार्तिककार ने इन आक्षेपों का स्वयं समाधान भी किया है—

गुणवचनस्य बाधघतो लिंगवचनमायात् (४।१।३ ६)

भावस्य च भावपुञ्जत्वान् (४।१।३ ७)

तात्पर्य यह है कि गुणवचन शास्त्र स आश्रय के आधार पर लिंग और वचन जान हैं । कुमारी गन्ध स द्रव्य का ही अभिधान होता है इसीलिए द्रव्यगत मस्या के आधार पर द्विवचन और बहुवचन हो जायगा । यद्यपि प्रक्रियात्मा म स्त्रीत्वका प्रत्ययाथ मानत है फिर भी गन्धमिति क स्वभाव म गुणप्रधानभाव मे विषय भा दिया जाना है । इसलिए स्त्रीत्व अप्रधान हो जाता है और द्रव्य प्रधान । मन्त्र प्रत्ययाथ प्रधान नहीं होना । गन्धमिति क आधार पर अप्रधान भी प्रधान होता रहता है । अत आश्रय की प्रधानता मानकर वचन-अवस्था सम्भव है । अथवा गुण और गुणों म अभेद की विवक्षा म कुमारी गन्ध स द्रव्य का ही अभिधान होता है । अथवा सस्यान आदि घम द्रव्य म अव्यतिरिक्त रूप में ही प्रतिमानित होत हैं । स्वभावान् प्रत्या

क द्वारा द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का बोध नहीं होता । यह मर्त्य मामानाधिकरन्ध्रता प १ क तीन प्रकार यही प्रमाण है—

१ स्त्रीत्व का सम्प्रदाय द्रव्य का प्राप्ताय ।

२ अभिधानार ।

३ द्रव्य से व्यतिरिक्त स्त्रीत्व का प्राप्ताय ।

गाम्यायिणी धाति म नाता स्त्रीप्रत्ययों से स्त्रीत्व की अभिव्यक्ति मान ली जायगी । पाणिनि ने एक ही विषय ही कहा है । धोतन से भी एक की अभिव्यक्ति होती है जिस धन अधिकार से धनक दात से एक धन की अभिव्यक्ति । अथवा ही २ वचन दृष्टान्त के साथ गाम्य सात के लिए दण्ड प १ म प्रत्यय का धातु माना पड़ेगा । वागिकारार । दूसरे दण्ड से समाधान किया है जो मूल में है और वागिकार मन्त्र रगता है । उक्त अनुसार स्त्रीत्व का स्त्रीत्व के साथ याग व्याभाषिक है । (भाष्यस्य च भाष्यवृत्तत्वात् । ४।१।३ ७) भाव का भाव से वस्तु का वस्तु से क्रिया का क्रिया से याग स्वाभाविक है । स्त्री ३ भी द्रव्य रूप है । धातु धातु स्त्री य के साथ उक्त याग प्रसिद्ध है ।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रातिपदिक से व्यक्त्वरूप का अभिधान होता है और प्रत्यय से धर्मरूप का । जस उक्त धाति विभक्ति धातिरूप का प्रत्यापन है और प्रातिपदिक वस्तुभूत का । और इस तरह अभिधानभक्त से स्त्रीत्व का स्त्रीत्व से याग बना जाता है । वागिकारार न स्त्रीत्व का प्रत्ययाय और प्रकृत्ययविशेषण दोनों रूप से स्वीकार किया है स्त्रीत्व च प्रत्ययाय प्रकृत्ययविशेषण चेत्युभयत्रापि प्रयुज्यते ।

—वागिकारवति ४।१।३

भाष्यकार ने लिंग को सत्त्व (द्रव्य) का गुण माना है स्त्रीपुनपुसकानि सत्त्व गुणा—महाभाष्य १।१।३८ १।२।६४) । यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है । कयट नागेन आदि इस वक्तव्य पर मोन हैं । सम्भवत उनके साम्य आधारित गुण लिंग दशन की पुष्टि इस उक्ति से नहीं होती । भाष्यकार के अनुसार गुणवचन गान्ध अपन आधार के अनुसार लिंग और वचन ग्रहण करते हैं । वचन गुक्त वस्त्र गुक्त गानी शुक्ल कम्बल आदि प्रयाग उपपन्न होत है । इसी तरह स्त्रीत्व आदि भी अपने धातिन द्रव्य के लिंग को ग्रहण कर सकते हैं । इस आधार पर लिंग में भी लिंगयोग सम्भव है । स्त्रीत्व तीनों लिंगों द्वारा यत्न किया जा सकता है । जस स्त्रीभाव (पुल्लिंग) स्त्रीता (स्त्रीलिंग) और स्त्रीत्व (नपुंसकलिंग) ।

एक ही वस्तु के लिये विभिन्न लिंगों के व्यवहार पर वातिकार के मत का उत्तर उपर ही चुका है । पतञ्जलि ने एक दूसरा मौलिक सुभाव दिया है । पाणिनि के पुयोगान्तरायाम ४।१।४८ सूत्र के विवचन के प्रसंग में भाष्यकार ने कहा है कि पुरुष के लिंग के लिये स्त्रीलिंग का और स्त्री के लिये पुल्लिंग का प्रयोग सम्भव है । और इसका कारण यह है कि पुरुष में स्त्रीत्व के कुछ लक्षण मिल सकते हैं । और स्त्री में भी पुरुष के कुछ लक्षण मिल सकते हैं । लक्षण १ भी मिल तब भी एक के धर्म का दूसरे पर आरोप या अध्यास अथवा परस्पर तात्पर्य सम्भव है । तात्पर्य,

तात्पर्य, सामीप्य और साहचर्य के आधार पर जिसमें जो धम नहीं है उसमें भी उस धम का आरोप देखा जाता है। इस दृष्टि से दारा (पुल्लिंग), स्त्री (स्त्रीलिंग) और कलत्रम (नपुंसकलिंग) शब्द स्त्री के क्रमशः पुस्त्व स्त्रीत्व और नपुंसकत्व स्वरूप के द्योतक हैं। दारा शब्द विनाशक पुष्प अर्थ को व्यक्त करता है जो पुरुष के लक्षण से मल खाता है। (दारयत्तीति दारा : अथवा दीयते तैर्दारा, महाभाष्य भाग २ पृ० १४७ किलहान सस्करण)। कलत्र शब्द स्त्री के अनिर्जात अथवा रहस्य स्वरूप का द्योतक है और इसलिये नपुंसकलिंग से व्यक्त किया जाता है। वे वस्तुएँ जिनके गुण पूर्णतया ज्ञान न हों अथवा सदिग्ध हों नपुंसकलिंग द्वारा व्यक्त की जाती हैं। (अनिर्जातेऽर्थे गुणसदहे च नपुंसकलिंग प्रयुज्यते—महाभाष्य १।२।६७ भाग १ पृष्ठ २५०) तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु के विभिन्न पहलू हों लिंग उनके विभिन्न स्वरूपों के प्रत्यायक हैं। हम बात को हलाराज न यो स्पष्ट किया है—

शब्देभ्यो वस्त्वर्थो एकस्वभावा अपि विस्तार भवति, तेभ्यो नानारूपाणां प्रकाशनात् । तथा च दाराशब्दस्त्रियं पुस्त्वविशेषणमावष्टे, भार्याशब्दस्त्रित्वविशिष्टाम् ।

—वाक्यपदीय वृत्तिसमुद्देश १६७ ।

जातिपदान्यदशन और द्रव्यपदान्यदशन के आधार पर भी लिंग पर विचार किया जाता है। जातिपदान्यदशन में शब्द से आकृति का अभिवान होना है। आकृति सदा आविष्टलिङ्गा होती है। जाति के आविष्टलिङ्ग मानने का तात्पर्य यह है कि जाति निश्चललिङ्गवाली होती है। जाति की आविष्टलिङ्गता शब्दविशेष सापेक्ष है। सबत्र तीनां लिङ्गा की सत्ता होने पर भी किसी विशेष शब्द से किसी विशेष लिङ्ग की अभिव्यक्ति होती है। पाणिनि ने जाति पदान्य को सामने रखत हुए ग्राम्यपशुसघेष्वातरुणेषु स्त्री १।२।७३ सूत्र का निर्माण किया था। लोक में गावें इमा अजा इमा जसे प्रयोग दमे जात थे। ऐसे प्रयोगों की साधुता के लिए पाणिनि ने उपयुक्त सूत्र लिखा था। गावें इमा' इस वाक्य में गो शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया गया है। यद्यपि सम्भृत में गो शब्द पुल्लिंग है किन्तु प्राचीनकाल में ही इसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होना आया है। अति प्राचीन काल में स्त्रीगवी और पुगव जसे शब्द गो शब्द के असम्बन्ध अर्थ जताने के लिए चल पड़े थे। केवल गो शब्द में भ्रम की सम्भावना रहती थी। इसलिये गो शब्द से यदि गाय अर्थ अपक्षित रहना था तो उसमें स्त्री शब्द जाड़ कर स्त्रीगवी शब्द का व्यवहार किया जाता था जसे आज अगरेजी में बकरी के लिए गी-गोट शब्द का व्यवहार किया जाता है। अथवा अयम या व्यम सबनाम शब्द का साथ जाड़कर बल या गाय का वाद्य कराया जाता था जसे गो अय य शब्द वदति गो इय या समा ममा विजायते (महाभाष्य ५। १५५) ।

जिन्नु कालान्तर में गो शब्द गाय के लिये अधिक प्रयुक्त होन लगा। जैसा कि गावें इमा (महाभाष्य १।२।७३) के प्रयोग से जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि गो शब्द का स्त्रीलिङ्ग में व्यवहार भाष्यप्रयोग के आधार पर और लिंग व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए—

भाष्यात् लोकाच्च गोशब्द व्यवहार प्रायेण स्त्रीगवोत्वेवेति दृष्टव्यम्

—नागग महाभाष्यप्रतीपोद्योत १।२।७३

गाव इमा इस वाक्य का आभप्राय है गाव उना का भुण्ड । यद्यपि उम भुण्ड म बल भी रहत थे किन्तु उन निना उस पूरे भुण्ड को गाव इमा गाया का भुण्ड कहा जाता था । पाणिनि का तात्पर्य यह है कि ऐसे ग्राम्य पशुसमूह म स्त्रीगप हाता है और पुस्त्व की अविशेषता हाती है । इसलिय गाव उमा वाक्य से गाव बल दोना के भुण्ड अभिप्रात हैं कि तु गाव म कबल स्त्रीत्व निर्देश है । इसी तरह अजा और अग दानो क भुण्ड म होने पर भी अजा इमा य अजा नै एमा ही प्रयोग होता था । कि तु जगली पशुग्रा के भुण्ड क लिए या बछड़ो के भुण्ड क निग स्त्रीगप का नियम लाक म प्रचलित नही था । जगनी सूअर और सूअरि टाना क लिए सूअरा इम कहा जाता था । इसी तरह जिस भुण्ड म बाछा और बछिया दाना हात थे उनके लिए बत्सा इम इस वाक्य का प्रयोग होता था । ता नय यह है कि प्रयोग के नियत होने पर जाति कभी आश्रयनिड ग द्वारा स्त्री न स और कभी पुस्त्व से व्यक्त होती है—

अनेन प्रकरणन प्रयोगस्य नित्यत्वात् जाति क्वचिदाश्रयगतलिङ्गेन स्त्रीत्वेन व्यपदिश्यते क्वचित्तु पुस्त्वेनेत्युक्तं भवति ।

—कपट—प्रतीपोद्यात् १।२।७३

महाभाष्यकार ने पाणिनि के उपयुक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया है । उनका कथन है कि जब गाव इमा चरति कहा जाता है तब प्राय गाया क चरन का ही निर्णय किया जाता है । बल रहत ही कहीं है । उह बधिया बनाकर उनमे भार ढान का काम लिया जाता है अथवा उ ह बच लेने है । केवल गाव ही बच रहती है—

गाव उत्कलितपुस्का वाहाय च विश्रयाय च स्त्रिय एवावशिष्यते ।

—महाभाष्य १।२।७३

यद्यपि गाया क साथ एक लो वधभ (रल) भी सम्भव हैं फिर भी आश्रय क आधार पर स्त्रीत्वमय निर्णय कमे ही सम्भव है जब कि ती गाव म अधिक पहलवानो क हान क कारण उसे मलनग्राम कहा जाता है । जाति पशुव ज्ञान के मानने पर सूत्र के प्रत्याख्यान करने पर गाव इमा जम स्थला म लिङ्गनियम न गतिभेद क आश्रय पर प्रवृत्ति माना जाता है । जानि मग आश्रयगत निङ्ग से सपृक्त रहती है । वक्ष पाप्म तह इतम आशिष्ट वक्षज नि मग पुस्त्व विशिष्ट ही हाती है कभी भी स्त्रीत्व अथवा नपमकत्व विगिष्ट नही । इसी तरह गिगपागन जानि स्त्रीत्व विगिष्ट हा हाती है । पनमम म नपुंसकत्व विगिष्ट ही हाती है । अपु अगनि अथवा नमम नम जस नम द्विलिङ्गी हैं तह आशि त्रिलिङ्गी ह । इन सवम निङ्ग नियत है कभी भी उमम परिवर्तन नहा होता । इसी आधार पर जाति को आशिष्ट निङ्ग रूप म स्वीकार किया जाता है । किन्तु ताक म स्वन कग आशि लिङ्ग व्यञ्जक पमो क हान हुग भी आशिष्टनिङ्ग वाला नियम सवत्र सफल नही हाता । दारा (पुल्लिग) कनयम (नपुमालिङ्ग) म निङ्गभेद है यद्यपि व्यञ्जन समान हैं । इसक परिहार क निग भन हरि न प्रवृत्ति का ही निङ्ग का सामान्य लक्षण माना है ।

(वाक्यप्रदीप ३, वृत्तिममुद्ग ३२१)

द्रव्यपन्थावात् की दृष्टि में विचार करने पर भी आविष्टलिङ्गता का नियम ज्यों का त्यों रहता है। अवश्य ही जाति आविष्टलिङ्गत्ववाली होती है जैसी द्रव्य अनियतलिङ्गता वाला होता है। फिर भी ज्यों का त्यों पन्था में इस रूप में साम्य है कि जाति की आविष्ट लिङ्गता नियतजातिसत्ता द्वारा लिङ्गग्रहण अभावस्वरूप में होता है। केवल एकलिङ्गता का परिग्रह आविष्टलिङ्गता नहीं है। व्याकरण में लिङ्गता का ग्रहण वस्तुधर्म के रूप में न होकर गन्तव्य के लिङ्गता के रूप में होता है। द्रव्यपन्थापन्थ में गुणावस्था लिङ्गता है। उपपन्नविकल्प के रूप में लिङ्गता के जातिमात्र भेद पहले कह जा चुका है वही इस पन्थ में आविष्टलिङ्गता है—

लिङ्गमिति न भेदोऽस्ति द्रव्यपक्षेऽपि कश्चन ।

तस्मात् सप्तविकल्पा ये सत्ताविष्टलिङ्गता ॥

—वाक्यप्रदीप ३ वृत्तिममुद्ग ३२८

जानिपदावपक्ष में शब्द का प्रधान रूप में वाच्य जाति है। द्रव्य उसके उपकारक होने के कारण गुणभूत रूप में अवगणित माना जाता है। द्रव्यपन्थापन्थ में शब्द का अभिधेय द्रव्य है आकृति उसके अवच्छेदक होने के कारण गुणभूत होती है। जो गन्तव्य जातिविशिष्ट द्रव्य के अभिधायक हैं उनमें लिङ्गगण आश्रय के आधार पर होता है। जो गन्तव्य केवल जानिपदाव हैं उनमें लिङ्गगण अभेदोपचार के आधार पर में अथवा इस नियम के आधार पर होता जाता है। जाति निराश्रित नहीं रह सकती। अतः साहचर्य के कारण आश्रयगन्तलिङ्गता से वह संपृक्त होता जाता है। कुछ लोग केवल जाति अभिधायक गन्तव्य को अथवा केवल द्रव्य अभिधायक गन्तव्य को अथवा मानते हैं। जानिपदावपन्थ में केवल शुद्ध जाति गन्तव्य से वाच्य है द्रव्यपन्थापन्थ में केवल शुद्ध द्रव्य गन्तव्य से वाच्य है। पन्था में अनभिधीयमान द्रव्य अथवा जाति में लिङ्गगणयोग आधार भेदों की कल्पना से अथवा स्वगन्तलिङ्गता कल्पना से सिद्ध किया जाता है। हेनाराज के अनुसार पार्श्विक का यही मत है—

केवलजात्यभिधायी गन्तव्य एव । अथैव कल्पनव्यासिद्धाधी । उभयत्रापि चानभिधीयमाना जाति द्रव्य वा यथायोगमाधारभेदप्रकल्पनेन स्वगत लिङ्गगणस्यादिधमप्रकल्पनेन चोपकरोतीति भगवतः पार्श्विकेराधायस्याय पक्षः ।

—हेनाराज वाक्यप्रदीप ३ वृत्तिममुद्ग ४७

लिङ्गता के आधार पर, गन्तव्य का दावों में विभक्त किया जाता है। आविष्टलिङ्गता और अनाविष्टलिङ्गता। जाति द्रव्य और परिमाणवाचक गन्तव्य आविष्टलिङ्गता है। जाति गन्तव्य जिस दिग्ग के आश्रय में व्यक्त होता है कभी नहीं होता—

आविष्टलिङ्गा जाति यत्लिङ्गपुरुषादयः प्रवर्तन्ते उपपत्तिप्रभत्ताविनाशान् तल्लिङ्गं जहानि ।

—महामात्र १।२।५२

आकृतिव्यवहार और उपपत्तिव्यवहार के रूप में जाति गन्तव्य की है। इनमें आकृति

व्यग्य आविष्टलिङ्ग शब्द—गौ, मग, पशु, सप, सिंह, वध, कुमारी, कुष्म स्त्री पुमान् नपुंसकसम आदि हैं।

उपदेशव्यग्यजाति वाले आविष्टलिङ्ग शब्द—ब्राह्मण, गाय, कठ, क्षत्रिय, वैश्य, गृध्र मृत पारंगव आदि हैं। द्रव्य भी मापन और निरूपण रूप से दो तरह का है। इनमें सापेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—गुरु पिता पुत्र भ्राता, जामाता, मित्रम माता स्वमा दुहिता भार्या आदि हैं। अनपेक्ष द्रव्य आविष्टलिङ्ग शब्द—चय मय, इन्द्र चन्द्र सूर्य, काल आकाश, प्राची प्रतीची गची लक्ष्मी आदि हैं। नियत और अनियत भेद से परिमाण भी दो तरह का होता है। इनमें नियत परिमाण आविष्टलिङ्ग शब्द—द्रोण खारी पलम भार, कोण, योजनम अश्वोहिणी, आदि हैं। अनियत परिमाण आविष्टलिङ्ग शब्द—सघ, पूग, साथ, समाज वग, शणि कुटुम्बम परिपद पक्ति यूथम वनम् सेना आदि हैं।

गुणवाचक सरथावाचक वचन और सवनाम—ये सब अनाविष्टलिङ्ग हैं। इनमें श्वेन स्वादु शीघ्र मन्द दीघ, ह्रस्व युवा वृद्ध जैसे शब्द अनुरजक अनाविष्टलिङ्ग हैं। दक्ष जिह्व जड प्राज्ञ खल साधु गूर भीरु लघु गुरु जैसे शब्द अनुरजक अनाविष्टलिङ्ग हैं। सग्या दो रूप में गृहीत होती है। लिंगवती और अलिङ्गा। इनमें लिंगवती—एक एका एकम् द्वौ द्वे त्रै आदि हैं। पञ्च षड अष्टौ आदि अलिङ्गा हैं। सवनाम के भीतर सर्वादिगण और असर्वादि दोनों लिए जाते हैं।

—भोज शृंगार प्रकाश, पृ० ७

सवनामा में युष्मद् (त्वम्) अस्मद् (अहम्) के लिंग के विषय में सस्कृत व्याकरणों में कुछ विवाद था। इनका उल्लेख कयट ने किया है। नाटिकार और महाभाष्यकार ने युष्मद् और अस्मद् शब्दों को अलिङ्ग माना है। अलिङ्ग युष्मदस्मदी—महाभाष्य ७।१। ३। अभिधेय के अलिङ्ग होने से ये शब्द अलिङ्ग मान जाते हैं। शब्दों की स्वभाव के आधार पर ऐसा माना जाता है। इन शब्दों से लिंग रहित रूप में ही अर्थ का भान होता है। शब्दों की सहाये ही शब्द अपने अर्थ का प्रत्यायक है। शब्दों के सामर्थ्य का अवधारण लौकिक प्रयोग से होता है। लक्षण में युष्मद् अस्मद् शब्दों से लिंग का अवगमन नहीं होता। कुछ लोग मानते हैं कि युष्मद् अस्मद् शब्दों का अभिधेय अर्थ रूप शब्द है वस्तु रूप नहीं। ब्राह्मण आदि शब्दों से उसी का लिंगयुक्त रूप में प्रतिपादन होता है। यह नियम नहीं है कि सत्त्वभूत अर्थ अवश्य लिंग युक्त होता है। क्योंकि पञ्च सप्त आदि कण्ठों से लिंग का भान नहीं होता। इसीलिए कुछ वक्तव्यकार न पटमनन से स्त्रीप्रत्ययप्रतिषेध का प्रत्याख्यान किया है। गण्य आचार्य मानते हैं कि युष्मद् अस्मद् शब्दों से भी लिंग सवनाम नपुंसक याग होता है। इसी आधार पर निगिनी नुन नुम् का तथा युष्मद् अस्मद् विभक्त्यादश का विप्रतिषेध कहा गया है। कुछ अन्य आचार्य विप्रतिषेध का समाधान दशमभेद के आधार पर मानकर युष्मद् अस्मद् में लिंग याग मानते हैं। उनका मत है कि सत्त्वभूत अर्थ का लिंगयोग अवश्य होता है। कयट भाष्यप्रतीप—७।१। ३३। नागार्जुन लिंग वाले पदों का समर्थन किया है और इसके विरोध में कहा गया भाष्यकार के वाक्यों का एकदेशीय माना है अर्थ

लिंगवत्त्वपक्ष एव युक्त सूत्रवातिकोभयसमतत्वात् ।

—नागेन, महाभाष्यप्रदीपाद्योत ७।१।३३

अव्यय म लिंगयोग के विषय म भी मतभेद है । जो अव्यय अमत्त्वभूत अथ क अभिधायक हैं उनस लिंगयोग नहीं होता । जो सत्त्वभूत अथ के प्रतिपादक हैं उनस भी शक्तिस्वभाव के आधार पर लिंगयोग नहीं होता । कुछ लोग मानते हैं कि अव्यय का लिंगविशेष से ता योग नहीं होता किन्तु लिंगसामान्य से याग होता है । कथं इस पक्ष के समर्थन नहीं जान पड़ते । उनके मत म लिंगसामान्य की सत्ता म कोई प्रमाण नहीं है—

केचित्तु लिंगादिविशेषणयोगात्, तत्सामान्येन तु योगमव्ययानामाहु । तद-
युक्तम । लिंगादिसामान्यसदमावे प्रमाणाभावात्—

—कथं महाभाष्यप्रदीप १।१।३८

लिंगसामान्यदर्शन यासकार का है लिंगसत्याकारकविशेषस्यानुपदानात् सामान्यरूपोपादाभावाच्च—यास १।१।३७ पृ० ८२ । उनके मत म, तत्र शालायाम वाक्य मे तत्र शब्द अव्यय है फिर भी इसमे स्त्रीत्व छानक टाप प्रत्यय होता है और अव्यय के कारण टाप प्रत्यय का लोप हा जाता है । यद्यपि 'तत्र शालायाम' म वाक्याथ म स्त्रीत्व है फिर भी वाक्याय के द्वारा तत्र म भी स्त्रीत्व है (यास २।४।८१) ।

त्रियाविशेषण नपुसर्कलिंग मान जाने हैं । त्रिया विशेषणाना च क्लीयतेष्यत । महु पचति । शोभन पचति—वाशिका २।४।१८ । यासकार के अनुसार त्रिया स्वयं द्रव्य नहीं होती अतः उसके विशेषण भी द्रव्य नहीं माने जात । द्रव्य न होने से उनम लिंगयोग भी नहीं होता—

त्रियाया सायत्वात् कर्मत्वम । तद् विशेषणमपि कर्म भवति । तच्चासत्त्व भवति । त्रियैव हि तावद द्रव्य न भवति । कुत पुनस्तदविशेषण द्रव्य भविष्यात् ।

—यास २।३।३३

यद्यपि संस्कृत के वैयाकरणों ने यह अनुभव कर लिया था कि लिंग के नियम व्याकरण द्वारा सर्वथा नियंत्रित नहीं किए जा सकते और इसलिए यह घोषणा की थी कि इस सम्बन्ध म शास्त्रापदेश अनिवार्य नहीं हैं । (शास्त्रोपदेशेन विनापि सिद्धि लिंगस्य लोकव्यवहारगम्या—कथं, भाष्यप्रदीप ५।३।६६) फिर भी याज्ञिक आदि ने लिंग के विषय म अनेक नियमों के उल्लेख किये हैं । विशेष नियम लिंगानुयासना म वर्णित है । यहाँ कुछ प्रत्यया आदि के सम्बन्ध मे सकेत दिए जा रहे हैं ।

एक ही वस्तु शब्दभेद से—प्रत्ययभेद म अथवा विषय उत्पन्न करती है । जस—काश्य नगिमा कृता । इन शब्दों म प्रकृति समान है किन्तु प्रत्ययभेद से लिंग भेद है और उपयुक्त गुणदर्शन के आधार पर—गुणा की स्थिति प्रसव और सस्त्यान भेद से अर्थभेद की कल्पना की जा सकती है ।

जलम और आप
दारा और भार्या

जस गन्ता म गतिभेद क आधार पर लिंग भेद है । द्वयम गन्त अलिंग है किन्तु अतिद्वयानि गन्त लिंगयुक्त है ।

संस्कृत म कुछ गन्त ऐसे हैं जिनके प्रातिपदिक रूप स भी लिंग का भान होता है जम—नमित (स्त्रीलिंग) दण्ड (स्त्रीलिंग) । कुछ गन्ता म लिंगभान प्रत्यय के आधार पर होता है जस गौरी, किगौरी । पाणिनि न स्त्रीत्व के भान के लिए अनक प्रत्यया का विधान किया है । और कइ गन्तो के एक स अधिन रूपा का निर्देश किया है जस—

चन्द्रमुखी	—	चन्द्रमुखा
अतिकभी	—	अतिकशा
स्निग्धकण्ठी	—	स्निग्धकण्ठा
विम्बोष्ठी	—	विम्बाष्ठा
तिलादरी	—	तिलोदरा ।

किन्तु मुभगा पृथुजघना जस गन्ता म दो रूप नहीं चलत थ । कही-कही दा रूपा म अवभेद हान थे जस निम्न जोडा म—

कुण्डी	—	कुण्डा
गोणी	—	गाणा
स्थनी	—	स्थला
भाजी	—	भाजा
काली	—	काला
नीली	—	नाला
कुंगी	—	कुंगा
कामुका	—	कामुरा
पाणिगहीरी	—	पाणिगहीरा ।

किन्तु व्यवहार म य भेद निराहित हान लग थ । जस—

कुचलयदलनीलाकालितायालयून ।

—वामन, काव्यालसार १२ । ६६

यही नीली क स्थान पर कवि न नाला का प्रयोग किया है । संस्कृत म कुछ गन्ता म प्रत्यय क कारण अवभेद न हान दूण भा निगम गता है । जिन गन्ता म तद्धित प्रत्यया क कारण मूल निग बना रहता है व तत्तिली है । जम—मन एव मानगम । मन और मानम गन्ता नाना नपुमक निग है । यत्पुत्र्य वाच्य । य धु और वाच्य गन्ता नाना पुंनिग है । इता तरत यय मावत । जिन गन्ता म प्रत्यय क कारण निगम किया जाता है व मान तिली है जम उताय एव श्रीगणेशम । यगी उताय पुंनिग और श्रीगणेश गन्ता नपुमक निग है । एव एव रहता । एव गन्ता पुंनिग और रहता एव स्त्रीनिग है । इमा तरत रहता एव दशनम ।

स्त्रीनिग प्रत्यय स्त्रीभाव प्रकटित गित का अनुसरण करत है । किन्तु कना कना एव निगम म स्त्रीनिग भी गता जाता है । जम कुता (स्त्रीनिग) कुतार

(पुल्लिंग) इसी तरह शमी—शमीर गुण्डा, गुण्डार ।

अनेक शब्दों में विवक्षा अविवक्षा के सहार लिंग विचार किया जाता है ।
 वृद्धा, नज्जा जस शब्दों में लिंग विवक्षित है । आतक जस शब्द में अविवक्षित है । बाधा
 बाध, ऊहा ऊर्, ब्रीडा ब्री, जस शब्दों में विवक्षा और अविवक्षा दोनों होते हैं ।

पाणिनि ने द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परस्पर लिंग का विधान किया है । भक्त-
 हरि ने भाष्यकार के आधार पर द्वन्द्व समास में लिंगयोग स्वाभाविक और वाचनिक
 दोनों रूप में लिखा है । च के अर्थ में द्वन्द्व समास होता है । च का अर्थ समुच्चय
 भी है । समुच्चय के साथ दो तरह के विचार हैं । एक पक्ष समुच्चित को प्रधान
 मानता है । दूसरा पक्ष समुच्चय को प्रधान मानता है । समुच्चितप्रधान पक्ष में लिंग
 योग स्वभावतः होता है । समुच्चयप्रधानपक्ष में लिंगयोग वाचनिक माना जाता है ।
 कुछ लोग कहेंगे कि अनुसार समुच्चितप्राधायपक्ष में भी लिंगयोग स्वाभाविक न होकर
 वाचनिक होता है क्योंकि समुच्चय निमित्त है, समुच्चित निमित्तिक है । निमित्त से
 निमित्तिक का स्वरूप आच्छादित रहता है । इसलिए समुच्चित में स्वधर्म की प्रतिपत्ति
 न होने से शास्त्र द्वारा लिंग का प्रतिदत्त किया जाना है । किन्तु भक्त हरि के अनुसार
 यह मत उपयुक्त नहीं है । उनके अनुसार समुच्चय का समुच्चित के निमित्त के रूप में
 ग्रहण भ्रमि मूलक है (वाक्यपदीय २, वृत्तिमुद्देश २०१) ।

बहुव्रीहि समास में लिंग के विषय में विप्रतिपत्ति वातिककार न उठाई थी ।
 बहुव्रीहि समास में पदार्थाभिधानपक्ष और विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष के रूप में विवाद
 प्रचलित थे । दोनों पक्षों का उल्लेख कात्यायन ने किया है । इनमें विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष
 में बहुव्रीहि समास में लिंग योग की उपपत्ति नहीं हो पाती है । क्योंकि लिंगयोग सत्त्व
 भूत द्वय से होता है । विभक्त्यर्थ अद्वय है । उसमें लिंगातिदत्त संभव नहीं है ।

विभक्त्यर्थाभिधानेन्द्रियस्य लिंगसंश्लेषचारानुपपत्ति

पा० सूत्र २।२।२४ पर वातिर १

भाष्यकार ने इसका समाधान किया है कि जब गुणवचन शब्दों में आश्रयगत-
 धर्म के आधार पर लिंगयोग होता है उसी तरह बहुव्रीहि समास में भी हो जाया
 करेगा । व्याकरणशास्त्र में पञ्चवचन अधिक अवाक्यान् और वाक्यावधि अवाक्यान्
 दोनों गीत हैं । पञ्चवचन अवाक्यान् पक्ष में सामान्यमात्र का सामान रखकर पद
 सम्भार किया जाता है अतः बहुव्रीहि समास में भी सामान्य में तत्पुरुषलिंग और एक-
 वचन निधम के अनुसार तत्पुरुषलिंग और एकवचन की ही प्राप्ति होती है चार्त्त किन्तु
 विवक्षणात्ता चाजान १।२।१२ सूत्र के अनुसार गुणवचना के आश्रय के आधार पर
 लिंग और वचन प्रतिपादन किया जाता है । अतः पदसम्भार पर लिंगविधान

१. समासावधारण न करके शब्दों के रूप में इस वातिक का एक दूसरा पाठ भी दिया है—अथ प्रा-
 —विभाष्य धीमेन द्वयस्यलिंगस्य-वाचनानुपपत्ति—समान य २।२।२४ उपर्युक्त वातिक में
 अथ इस वातिक में कहा है कि उसमें अव्यय पद पाठ है इसमें द्रव्यस्य समासक
 प्रत्ययवधि पाठ है ।

शास्त्रीय है। वाक्यसंस्कार पञ्च म बहुव्रीहि समास म लिंगविधान यायसिद्ध है। क्योंकि इस पञ्च म पद के संस्कार आश्रयविशेष व आश्रय स ही हात हैं। अर्थात् वाक्यसंस्कार पञ्च म लिंगविधान वाचनिक न होकर स्वाभाविक है। चित्रगु शब्द म बहुव्रीहि समास है। यद्यपि चित्रगु शब्द स सम्बन्ध का अभिधान हाता है फिर भी अभ्येष्टोपचार स सम्बन्धी का ग्रहण हो जाता है। यद्यपि सम्बन्ध द्विष्ट हाता है फिर भी प्रधानता व आधार पर स्वामी की अभिधेयता मान ली जाती है और उसी के आश्रय स लिंगयोग होता है गाय के आश्रय से नहीं। जिस तरह गुल गद्द कही गण का बोधक होता है और कभी गुणी का उसी तरह चित्रगु शब्द भी कभी सम्बन्ध का बोधक होने लगेगा और कभी सम्बन्धी का। उसे केवल सम्बन्धी का ही वाचक माना चाहिए। इसके उत्तर म भाष्यकार की भावना है कि कृत्स्न पदार्थ की अभिव्यक्ति हाती है। पाणिनि न अनङ्गमयपठार्थ २।२।२४ सूत्र म अथ ग्रहण के द्वारा यह प्रकृत किया है कि कृत्स्नपदार्थ का अभिधान हो—

यद्यथग्रहण करोति तस्यतत प्रयोजन कृत्स्न पदार्थो यथाभिधीयते सद्र य
सल्लिग सस्यस्यचेति। महाभाष्य २।२।२४

बहुव्रीहि समास म यदि कृत्स्न पदार्थ का—सबका अभिधान मान लिया जायगा तो लिंग के भी अभिधान हो जाने के कारण लिंग विधिवाल नियम नहीं हो पायेंगे। इसका परिहार भाष्यकार न वाचनिक रूप के आधार पर किया है कि समास द्वारा लिंग के अभिहित होने पर भी स्त्रीत्व द्योतक टाप आदि प्रत्यय हान म कोई बाधा नहीं है।

नञ् समास म भी लिंग याग स्वाभाविक माना जाता है। नञ् समास म तीन तरह व विकल्प भाष्य म वर्णित हैं। अयपदार्थप्रधान पूर्वपदार्थप्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अय पदार्थप्राप्त म नञ् समास म, लिंग का प्रश्न सामने आता है। अवषा कहने स ह्रस्व का बाध होता है। अय यदि अयपदार्थ प्रधान माना जाय तो ह्रस्व शब्द म जो लिंग है उस ही अवषा शब्द म भी होना चाहिए। पूर्वपदार्थप्राप्त म भी नञ् के अय व प्रधान होने व कारण लिंगयोग की प्राप्ति नहीं हो पाएगी। इसका परिहार इस रूप म किया जाता है कि विशद वाक्य म नञ् असत्त्वभूत अय को यक्त करता है किन्तु समास म सत्त्वरूप अय की अभिव्यक्ति करता है। और एसा स्वभावत हाता है। महाभाष्य म स्वाभाविकत्वात् व अतिरिक्त आश्रयत्वात् के अनुसार भी नञ् समास म लिंगयाग की कल्पना मिलती है गुप्त वस्त्र गुप्त गानी आदि व सद्गु नञ् समास म भी जिस द्रव्य व आश्रित गमाय होगा, उसम जा लिंग हागा समास म भी वही लिंग माना जायगा। इस प १ म अवषा ह्रस्व अन्त्य स्त्री अन्तज मिक्ता जस प्रयोगा म लिंगयोग की उत्पत्ति ठीक नहीं हो पाता है। इसलिए भाष्य म नञ् समास म उत्तरपदार्थप्राप्त का आश्रय लिया गया है। हनाराज न स्वाभाविक दान व आधार पर पूर्वप्रधानप्राप्त का भी निर्णय माना है—

यद्येष नञ्प्रतिप्रतिनियमादप्रयोगे पि विगपस्य दिगिष्टे लिङ्गस्ये सिध्यत
एवेति पूर्वपदार्थप्रधानप्राप्तपि न त्याग्य।

उत्तरपक्षाय प्रधानपक्ष म भी अमित्र जैसे शब्द म लिंगयाग जटिल हो जाता है । किन्तु हरदत्त ने अमित्र शब्द को न मित्र अमित्र रूप म न लेकर अभिधातु से ऋच् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न शब्द माना है—

अभेद्विपतीति ऋच् प्रत्यय । न पुनरयं नञ् समासः । परदल्लिङ्गप्रसङ्गात् ।
लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य । स्वने दोष चित् स्वरो हीयते बृहवचास्तु मध्यो-
दात्तममित्रशब्दमधीयते ।

—पदमजरी २।२।१३१ पृ० ६५०

लिंग की दृष्टि से समस्त पदा मे सहजीकरण के नियम सुदूर प्राचीनकाल मे संस्कृत भाषा म दिखाई देने लगते हैं । इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण महाभाष्यकार का निम्नलिखित प्रयोग है—

द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु ।

—महाभाष्य १।४।१०६—पृ० ३५४, कौलहान संस्करण

इस पर कयट ने या टिप्पणी दी है द्रुता च मध्यमा च विलम्बिता चेति
द्वे कृते भाष्यकारवचनप्रामाण्यात् ह्रस्वः ।

—कयट, भाष्यप्रदीप १।४।१०६

स्पष्ट है कि प्रयत्नलाघव के आधार पर समस्त पदो म आन्तरिक लिंग तिरोहित होने लगते । कालिदास के 'दूधभक्ति' (रघुवंश १२।१६) जैसे प्रयोग भी इसी दिशा के संकेतक हैं ।

वाक्य विचार

संस्कृत व्याकरण में वाक्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में देखा जाता है

- १ विग्रह वाक्य के लिए । जैसे राजपुरुष के लिए राज पुरुष । राज पुरुष वाक्य है ।
- २ लौकिक वाक्य के लिए । जैसे 'देवदत्त ओदन पचति ।
- ३ पारिभाषिक अर्थ में । निघात आदि की व्यवस्था के लिए शास्त्रीय वाक्य-लक्षण वाक्य शास्त्र से व्यवहृत किया जाता है ।

इस अध्याय में केवल लौकिक और पारिभाषिक वाक्य लक्षण पर विचार किया जा रहा है ।

पारिभाषिक वाक्य का लक्षण सवप्रथम सभवन कात्यायन ने किया । क्योंकि पतञ्जलि ने इनके वाक्य लक्षण को अप्रुव कहा है—

इदमद्याप्रुव क्रियते वाक्यसंज्ञासमानवाक्याधिकारश्च ।

—महामाध्य २।१।१ पृ० ३३८ निणय सागर संस्करण

अप्रुव शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि इसका पूर्व वाक्य का लक्षण उस रूप में नहीं पात था जसा कि कात्यायन ने बतलाया । कात्यायन का एक नाम वाक्यकार भी है । बहुत समभव है कात्यायन का यह नाम उनके वाक्यलक्षण निर्माण के कारण पड़ा हो । अवश्य ही व्याकरण संप्रदाय में वातिक और वाक्य पर्याय मान जाते हैं और वातिककार के अर्थ में वाक्यकार का प्रयोग बराबर मिलता है ।^१

प्राचीन विचार क्षेत्र में जैमिनि का वाक्य-लक्षण भी प्रसिद्ध था । जैमिनि के वाक्य-लक्षण और कात्यायन के वाक्य-लक्षण में पूर्वापर का विचार कठिन है । भाष्यकार के अप्रुव शब्द से जान पड़ता है कि कात्यायन ने ही सवप्रथम, शास्त्रीय दृष्टि से, वाक्य पर विचार प्रस्तुत किया । लौकिक वाक्य के स्वरूप पर कात्यायन के पूर्ववर्ती व्याख्यान सग्रह में विचार किया था और पाणिनि की दृष्टि भी उस पर गई थी ।

१ वाक्य विवरण बर्तितक । यन् करणान् कात्यायना बर्तितकः उच्यते ।—शंकर, ह्यचरिते २०३। १० १११ बन्द संस्करण

जमिनि और कात्यायन दोनों के वाक्यलक्षण के विषय में दो तरह के विवाद प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। मीमांसा सूत्र के प्राचीनतर टीकाकार जमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण मानते थे। कुमारिल और उनके अनुयायियों ने उसे शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। व्याकरण संप्रदाय में भट्ट हरि,^१ कैयट,^२ भोज^३ विटठल^४ आदि ने कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय वाक्यलक्षण माना है। नागेश ने उसे लौकिक वाक्यलक्षण माना है अथवा उसे लोक शास्त्र-आधारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।^५

कात्यायन के वाक्यलक्षण का रूप निम्नलिखित है—

आख्यात साध्यकारकविशेषण वाक्यम् । एकतिङ् ।

—वार्तिक महामाध्य २।१।१

महामाध्य में इसके विशेषण में कहा गया है कि साध्यय सकारक सकारक विशेषण और सक्रियाविशेषण आख्यात वाक्य है। एकतिङ् वाक्य है। जैसे—

साध्यय—उच्चै पठति ।

सकारक—ओदन पचति ।

सकारकविशेषण—मदु विगदम ओदन पचति ।

सक्रियाविशेषण—मुष्टु पचति ।

एकतिङ्—ब्रूहि ब्रूहि ।

कात्यायन के दस शास्त्रीय वाक्यलक्षण पर इस ग्रंथ में क्रिया विचार के अवसर पर भी प्रसंगत चर्चा की गई है।

इस वाक्यलक्षण के अव्यय कारक और विशेषण में से प्रत्येक अलग अलग और समुदित रूप में भी गृहीत होने हैं। अव्यय यद्यपि कारक और विशेषण भी हो सकता है फिर भी स्पष्टताय उसका पृथक् उल्लेख किया गया है। सविशेषण नाम में प्रत्यासत्ति के आधार पर जो वाक्य का विशेषण होता है उसी का ग्रहण किया जाना है न

१ निघातादिव्यव थाथ शास्त्रे यत् परिभाषितम् । वान्यपदाय २ । ३

२ नानाकारकान् निघातादिनिवृत्तये, क्वचित् प्रवृत्तये च समानवाक्य निघातशुभ्मदादेशा वदन्ते । तत्र लौकिकवाक्यग्रहणनिषेधाथ वाक्य परिभाष्यते ।

—कैयट महामाध्यप्रणीतोद्योत २।१।१

३ वार्तिककारस्तु शब्दवै लौकिकान् पारिभाषिक वाक्यलक्षणमारभते । न च तेन लौकिको व्यवहारः सिध्यतीति उपेक्ष्यते ।

—भोज, रा गारप्रकाश पृ० ११६ मैसूर सम्करण

४ वाक्यमहा पारिभाषिकी महामाध्ये उक्ता ।

—विटठल, प्रक्रियाप्रमाद, भाग प्रथम, पृ० ७१

५ परे तु आख्यातसंश्लेषण वाक्यमिति लक्षणं लौकिकमेव पत्रतिमवतायेतत् साधारणम् । यत्तु कैयटेनायं पारिभाषिक वसुध्नं तत् प्रमादान् ।

—नागेश महामाध्यप्रदायोद्योत २।१।१

सम्माद आख्यलक्षण वाक्यस्य टरिख्यन्त शास्त्रलोकसाधारणम् ।

—महामाध्यप्रदायोद्योत २।१।१ पृ० ४४ गुरु प्रसाद लोकाय

कि क्रिया के विनोपण का । आस्यातम' इस शब्द में, सगणविधानसामर्थ्य का आधार पर, एकवचन विवक्षित है । आस्यात स क्रियाप्रधानता लक्षित है । पञ्चन 'देवन्तम' शयितव्यम् जैसे अतिङ्गित स्थाना में भी वाच्यत्व माना जाता है । आस्यात में एकत्व विवक्षा के कारण 'पचति भवति' में साध्यमाधन होने पर भी दो आस्यात के कारण और समानवाक्यता के अभाव के कारण निघात नहीं हो पाता है । एतद्गुण म एव गच्छ, कण्ट के अनुसार सस्यावाची न होकर समानवचन है और इसमें बहुव्रीहि समास है ।

वार्तिककार के उक्त शास्त्रीय वाक्यलक्षण में दो विप्रतिपत्तियाँ उठाई गई थी और उनका परिहार किया गया था । उक्तलक्षण के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त' इस वाक्य में देवदत्त गन्तव्य स पाणिनि सूत्र ८।१।१६ के अनुसार निधान प्राप्त नहीं हो सकेगा । क्योंकि देवदत्त पद यहाँ तो अव्यय है न कारक है और न उसका विनोपण है । इसका परिहार या किया जाता है कि उक्त लक्षण में साध्यम्, सकारक आदि का सामान्य रूप में अभिधान किया गया है । फलतः वार्तिककार की वाक्यपरिभाषा के अनुसार भी निघात हो जायगा । क्योंकि उक्त परिभाषा के आधार पर सक्रिया-विशेषण भी आस्यात वाक्य कहलायगा । व्रजानि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया व्रजानि देवदत्त इस वाक्य की व्रजति क्रिया में भिन्न है । क्योंकि एक का संबन्ध सर्वोपदेय देवदत्त से है और दूसरे का असंबन्ध देवदत्त से है । क्रिया का विनोपण कभी सामानाधिकरण्य रूप में होता है जस शोभन करोति । यहाँ करोति क्रिया का अर्थ शोभन के अर्थ से संपन्न रूप में ही उपस्थित होता है । क्रिया का विशेषण कभी वयधिकरण्य रूप में होता है । जस व्रजानि देवदत्त । इस वाक्य में गमनक्रिया और देवदत्त का सामानाधिकरण्य नहीं है । जाने वाला अर्थ व्यक्ति है और देवदत्त अर्थ है । किन्तु देवदत्त की सम्बोधन कर गमन होने के कारण यहाँ व्रजति क्रिया विशिष्ट हो जाती है और उसे क्रियाविशेषण मानकर निघात हो जाता है ।

दूसरी आपत्ति इस वाक्य में है—

‘पूव स्नाति पचति ततो व्रजति ।

इस वाक्य में तत के बाद व्रजति क्रिया के होने से वाक्यभेद के कारण निघात नहीं हो सकेगा । किन्तु हाना चाहिए । इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस तरह अनेक क्त्वात् गन्तव्य तिङ्गित के विशेषक होने हैं वस ही तिङ्गित भी तिङ्गित का विशेषक होता है । स्नात्वा भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति इस वाक्य में स्नान, भोजन और पान से गमन क्रिया ही विनिष्ठ मानी जाती है । उसी तरह उपयुक्त वाक्य में स्नान क्रिया आदि स व्रजति क्रिया ही विशिष्ट रूप में सामन आती है । उपयुक्त वाक्य में व्रजति क्रिया प्रधान है और दूसरी क्रियाएँ इसके विनोपण रूप में हैं । इसलिए सविशेषण क्रिया एक मानकर वाक्य भेद न होने से निघात सिद्ध हो जायगा ।

भत हरि न कात्यायन और जमिनि के वाक्यलक्षणा में असमानता का संकेत किया है । जमिनि ने यजुस के अवसाननिश्चय करने के लिए वाक्य की परिभाषा बताई थी जो यों है—

अर्थैकत्वादेक वाक्य साक्षात् चेद विभागे स्यात् —मीमांसा सूत्र २।१।४६

इसका तात्पर्य है कि पदसमूह वाक्य है यदि वह एकाधिक हो और विभक्त दंगा में साक्षात् हो। विभाग में साक्षात्ता और अविभाग में एकायता के रूप में वाक्य को स्वीकार करने के कारण निम्नलिखित वाक्य एक वाक्य के रूप में मीमांसा ज्ञान में गृहीत होता है—

दशस्य त्वा सवितु प्रसवे अश्विनो माहूष्याम, पूष्णो हस्तायाम अग्नये जुष्ट निवपामि ।

इसमें अग्नये जुष्ट आदि पद को पथक करने पर दशस्य त्वा आदि पदसमूह साक्षात् है। सत्रको एक साथ उन पर मपूष पदसमूह का एक ही निर्वाप अर्थ है। अतः उपयुक्त समूह एक वाक्य है।

मीमांसा के इस वाक्यलक्षण को व्याकरण दंगन में स्वीकार करने पर मत्र तरह से काम नहीं चल पाता है। उदाहरण के लिए जसा कि पुण्यराज ने उल्लेख किया है अथ दण्डा हरानन आत्न पच तव भविष्यति जैसे स्थला में, जमिनि के वाक्यलक्षण के अनुसार निघान हो जायगा क्योंकि प्रयोजन में ऐक्य है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि में इन स्थला में निघात नहीं होता। कात्यायन के वाक्यलक्षण के अनुसार भी इनमें निघात नहीं होता। अतः जमिनि के वाक्यलक्षण की अपेक्षा कात्यायन का वाक्यलक्षण इस सामित दृष्टि से उद्धर है।^१ कैपट ने जमिनि के वाक्यलक्षण को लौकिक वाक्य का लक्षण माना है और कात्यायन के वाक्यलक्षण को शास्त्रीय मानकर उनमें भेद किया है—

अर्थैकत्वादेक वाक्य साक्षात् चेद विभागे स्यादिति लौकिक वाक्यलक्षणम् । इह तु वाक्य पारिभाषितम् आख्यात साध्यकारकविगोषण वाक्यमिति ।

—महाभाष्यप्रदीप ८ । १ । १८

लौकिक वाक्य लक्षण

लोक व्यवहार में अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। इस तत्त्व का उमीलन प्राचीन काल में ही हुआ था। फलतः वाक्य के स्वरूप पर भी ऊहापोह सुदूर भूत में ही आरम्भ हो गया था। भूत हरि ने अपने समय तक प्रसिद्ध प्रायः उन सभी वाक्यवादा का निर्देश निम्नलिखित कारिकाओं में किया है—

आख्यातगद सघातो जाति सघातवर्तिनी ।

एकोनवयव गद त्रयो बुद्धयनुसंहृति ॥

पदमाद्य पृथक्सवपद साक्षात्समित्यपि ।

वाक्य प्रतिमतिभिन्ना बहुधा यावदादिनाम् ॥

वाक्यपत्नीय २।१२

पुण्यराज के अनुसार इन कारिकाओं में निम्नलिखित आठ वाक्य विकल्पा का

उल्लेख किया गया है—

- १ आख्यातशब्द
- २ सघात
- ३ जाति (सघातवर्तिनी)
- ४ एक अनवयव गण
- ५ क्रम
- ६ बुद्धयनुसंहति
- ७ आद्यपद
- ८ पथक साक्षात् सवपद

पुण्यराज के अनुसार सघातवर्तिनीजाति एक अनवयव गण और बुद्धयनुसंहति य तीन वाक्य विकल्प अष्टपक्ष में हैं।

आख्यातगण क्रम सघात आद्यपद और पथक साक्षात् सवपद—य पांच वाक्य विकल्प अष्टपक्ष में हैं।

इनमें भी सघात और क्रम ये दो वाक्य विकल्प अभिहितवाक्यवाचक अनुसार हैं। और आख्यातशब्द आद्यपद और पथक साक्षात् सवपद अविनाविधानवाद के आधार पर हैं।

यद्यपि इन आठ वाक्य विकल्पा में कुछ का सम्बन्ध पुण्यराज ने मीमांसा दर्शन से दिखलाया है किन्तु प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल शालिकताथ सुचरितमिश्र पाथ शारथि आदि ने इन आठ वाक्य विकल्पा को व्याकरण ग्रन्थ के रूप में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उल्लेख किया है और इन सबका खण्डन किया है। वस्तुतः ये वाक्य के आठ विकल्प एकत्र वाक्यपदीय में ही पाये जाते हैं। अतः वाक्यपदीयकार के वाद के लेखकों ने बिना विशेष विचार के इन आठों वाक्यलक्षणा का सम्बन्ध व्याकरणग्रन्थ से जोड़ दिया है।

ऐसा जान पड़ता है इनमें से कुछ वाक्य विकल्पों का सम्बन्ध किसी प्राचीन मीमांसा दर्शन से अवश्य था। उपयुक्त कारिका के व्याख्याननाम (व्याख्याननाम) शब्द से भी यही ध्वनित होता है। प्राचीन तन्त्र में व्याख्यान शब्द मीमांसा दर्शन के लिए व्यवहृत किया जाता था। अतः निश्चित है कि इन आठ विकल्पों का मूल केवल व्याकरणग्रन्थ में नहीं है और न महाभाष्य आदि आकर ग्रन्थों में इन सबका स्मरण दिखाई देता है।

उपयुक्त वाक्य विकल्पा के अतिरिक्त वाक्य के अष्टपक्ष और सप्तपक्ष पर भी विचार प्रातिगम्या के युग में आरम्भ हो गया था। वेद के संहिता रूप को मूल मानने वाले अष्टपक्षवादी के पद पाठ को अधिक महत्त्व देने वाले सप्तपक्षवादी थे।

अब प्रातिगम्य में संहिता को पञ्चप्रवृत्ति कहा गया है। पञ्चप्रवृत्ति गण के दो तरह से विग्रह संभव है—पञ्चाना प्रवृत्ति पदप्रवृत्ति (तत्पुरुष समास) अथवा पञ्चानि प्रवृत्ति यस्या सा पञ्चप्रवृत्ति (बहुव्रीहि समास)। पहले पक्ष के अनुसार पदा का मूल (प्रवृत्ति) संहिता है अथवा संहिता पहले है। पदा की सत्ता बाद में। दूसरे

गन्तव्य सहिता नित्य है, अपौरुषेयी है, पद अनित्य हैं, पौरुषेय हैं । दूसरे पक्ष के अनुसार सहिता का मूल (प्रकृति) पद हैं । पदा की सत्ता पहले और सहिता की सत्ता बाद में है । पद नित्य हैं, अपौरुषेय हैं । सहिता अनित्य है, पौरुषेयी है ।

इनके अनिर्विकल भवृ हरि न इस सम्प्रदाय में दो अर्थ माना का भी उल्लेख किया है । किसी के अनुसार पद और सहिता दोनों ही नित्य हैं । पद सामान्याय प्रतिपादक रूप में नित्य हैं और सहिता सामान्याय प्रतिपादक रूप में नित्य है । पुन कुछ अर्थ आचार्य मानते हैं कि सामान्याय नित्य है और वह एव है । उस एक ही सामान्याय की दो गिनतियाँ हैं—विभाग शक्ति और अविभाग शक्ति । विभागशक्ति (पद) प्रतिपादक है और अविभाग शक्ति (सहिता) प्रतिपादक है—

केषांचित्तु नित्याद्युभावप्येतो सामान्यायौ । पदसामान्यायस्तु प्रतिपादकत्वेन नित्य इतरस्तु प्रतिपाद्यत्वेन नित्य । केषांचि नित्यस्य कस्यामन्यायस्य द्वे एते विभागाविभागशक्तौ प्रतिपादकप्रतिपक्षद्वयेण वर्तते ।

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय २।५८ लाहौर म०

सामान्यायकार न एव स्थल पर कहा है कि पदकारों को लक्षण के अनुसार पद करना चाहिए । लक्षणा को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए ।^१ इसका तात्पर्य है कि लक्ष्य नित्य है । शास्त्र केवल उसका अनुविधान करता है । शास्त्र स्वयं अनुविधेय नहीं है । इस दृष्टि से भाष्यकार को भी अखण्ड पक्ष ही अभिप्रेत जान पड़ता है ।^२

आख्यात शब्दवाद

वाक्य के उपयुक्त आठ विकल्पा में पहला आख्यात शब्द है । आख्यात शब्द ही वाक्य है । आख्यात शब्द में क्रिया शब्द अभिप्रेत है । वाक्य में क्रियापद की प्रमुखता के आधार पर क्रियापद का ही वाक्य कहा गया है । मन हरि के अनुसार अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वाक्य का आश्रय लिया जाता है । वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों का स्पष्ट ज्ञान वाक्य के प्रयोग से होता है और वाक्य से स्पष्ट प्रतीति तभी होती है जब उसमें क्रिया पद हो । क्रिया पद श्रूयमाण भी हो सकता है और अनुमेय भी । दोनों रूप में वाक्यार्थ के स्पष्ट आभास के लिए क्रिया की सत्ता अनिवार्य है ।^३

मन हरि के अनुसार एकत्व और नित्यत्व के पक्षपाती आचार्य विगिष्ट क्रिया को ही वाक्य का प्रतिपाद्य मानते हैं । एक शब्द है वह क्रिया है । एक ही अर्थ है

१ न लक्षणैः पदकारा अनुवर्तया । पदकारै नाम लक्षणमनुवर्त्यम्—

—सामान्याय ३।१।२०६ भाग २ पृ० ६५ कोलहान म०

२ यत्र शब्द पदा यस्यैवाति तत्र प्रतीतिरिति भाष्यकारस्यान्यत्र स्पष्टपक्षोऽभिप्रेत इति दर्शितम्—

—पुरयराज वाक्यपदीय २।४६

३ तन्मान श्रूयमाणक्रियापदम् अनुमयमान क्रियापद वा वक्यमेव सर्वत्र व्यवहारपुण्यत्वं नि ।

—वाक्यपदीय २।४३० हरिवृत्ति, इतलेख

वह क्रिया है। अपोद्धार पड़ति स, व्यवहार क निग एक का ही प्रत्यय विभाग किया जाता है। क्रियापद वाल कारक, पुरुष, उपसर्ग आदि स यथाशक्ति अनुगता रहता है और उगवा अथ एक होता है उसमें विगणविगण्यमाय परिवर्तित होत हैं—

एकत्वनित्यस्ययादिनस्तु ममते विगिष्टा हि क्रिया यथातमय वाससापन द्वयपुरुषोपसर्गादिभि अनुगता वाक्येनाभिधीयते। स चक गदो व्यवहाराय प्रथिमक्तोद्देश्य सविगणविगिष्ट परिवर्तितविगणविगण्यभेदे एक स्मि नये यतते। तस्य गतिरपोद्धार्य व्यापहारिको विभागोऽनुगम्यते।

—वाचस्पतीय २।४४७ ६८ हरिवृत्ति, हस्तलेख

कुछ क्रियाएँ नियत साधन वाली होती हैं। उनका प्रयोग स उनका अनुसूल कर्ता कम आदि का भान आदि स आदि हो जाता है। जग—वपति क्रिया है। वपति क्रिया क प्रयोग स देव जल वपति इस रूप में कर्ता और कम का अभ्याहार स्वत हो जाता है। यहाँ कवल आख्यात पद वाक्य का काम कर रहा है। आभ्यासपद—वाक्यवाद का यह भी एक पक्ष है।

जिस तरह से एक क्रियापद संपूर्ण वाक्य है उसी तरह स कुछ विगण पद भी अकेले वाक्य माने जाते हैं किन्तु [एक स्थला स क्रिया चरित (गर्भीभूत छिपी) मानी जाती है।^१

क्रिया क अनुगण के बिना पदार्थ क भी अस्तित्व का ज्ञान नही होता। व्यवहार में क्रियापद के उपसर्गहार स ही यथाथ का बोध होता है।^२

यद्यपि जस नाम पद साक्षात् होते हैं वस क्रिया पद भी साक्षात् हात हैं। बिना कारक के क्रिया की आकांक्षा नहीं मिलती। फिर भी क्रिया साध्य क रूप में प्रधान मानी जाती है। वाक्य स उपसर्गहीन अर्थ के लिए पदल क्रिया का विभाग किया जाता है, पश्चात् कारका का किया जाता है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अगभूत माने जाते हैं।^३

आख्यात पद के मुख्य होने से वह वाक्य है। साथ ही वह विगिष्ट पद है वह अर्थ कारक पदा स भिन्न होता हुआ भी उनकी गतिया स युक्त है। वह उन पदा के अर्थों का स्वत आक्षेप कर सकता है। फलतः संपूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति

१ वाक्य तदपि भवति यपद चरितक्रियम्।

अन्तरेण त्रिणशब्द वाक्यादेव हि दर्शनात् ॥

वाचस्पतीय २।३२६

इमं श्लोक का द्वितीय चरण प्रकाशित वाचस्पतीय में नहीं है किन्तु हस्तलेख में मिलता है और कुछ असम-स है।

२ क्रियापदोपसर्गहारे तु सत्यासत्यभावेन प्रतिपत्तु यवहारोऽवति ठते।

—वाचस्पतीय २।४३१ हरिवृत्ति, हस्तलेख

३ विभागेन सर्वथा साकाक्षमुपलभ्यते। सायस्त्वर्थोमा स्वफलप्रयुक्त प्रधानान् सर्वस्य वाक्योपसर्गहत्याधरस्य पूर्व प्रविभज्यते। तेन तु प्रविभज्य साधनप्रलभ्य वादा मलाभस्य साम योद्धितानि साधनानि प्रतीयन्ते।

—वाचस्पतीय २।४३४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

में समर्थ है। इसलिये वही वाक्य है। 'मम मन म वाक्य म आध्यात्मिक' क अनिश्चित और कारक पदों की सत्ता केवल नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य क आशेष म विशेष पद का उपादान नियम कहना है। जैसे 'पानु व परमज्यानि' इस वाक्य म सामान्य के आशेष म विशेष का प्रयोग किया गया है। विशेष क आशेष म सामान्य का उपादान अनुवाद कहना है। 'वपति' क्रिया में देव का जलवपन अथ रत्न आभासित हो जाना है। यदि देव जल वपति कहा जाय तो देव और जल पदों केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आध्यात्मिक क विवरण म अतः परि न सम्बन्ध प्रामाण्य अनुवादाय वा 'म वाक्य' का प्रयोग किया था। इस प्रयुक्त वाक्य क दो अर्थ किए जाते हैं— मनुष्य और शिवल। मनुष्य अथ मानव वाता क मत म आध्यात्मवाद पद म कारक पद नियम और अनुवाद पदों का काम करते हैं। नाम पद म अत्रत्यव्यतिरेक क आधार पर प्रकृति और प्रयत्न की कल्पना की जाती है। इनम प्रकृति अथ प्राणिपत्ति रूप है। प्राणिपत्ति गति कारक का प्रतिरूप है। आध्यात्मिक वाक्यवाद के अनुसार क्रिया म ही कारक पदों का अर्थ माना जाता है किन्तु यह सामान्य रूप म होता है विशेष रूप म नहीं। प्रयुक्त कारक पदों का प्रकृति अथ सामान्य म व्यवस्थित का विशेष म विधान करता है। इस तरह पद का प्रकृति अथ नियामक हो जाता है। कारक पद म प्रकृति अथ के अनिश्चित विभक्ति अथ है। विभक्तियाँ उपात्त गति का ही जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है उसी का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप म कारक पद प्रकृति द्वारा नियामक और प्रत्ययों द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ साथ काम कर रहे हैं।

जा लाग वा का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनमें मन म कारक पद या तो नियामक होता है या अनुवाक्य। आध्यात्मिक पद म व्यवहार भाष्य गति का अभिधान होता है गति के आधार विशेष का नहीं। इसलिये उसमें नियम के लिए नामपदों का वाक्य म व्यवहार किया जाता है। जैसे आश्रयति क्रिया पद से किसी के आश्रय रूप म कम गति का अत्रत्य हो जाता है किन्तु आश्रयविशेष म उसे नियंत्रित करने लिए भाणव कम जैसे पद जोड़ दिए जाते हैं। कवन आश्रय क्रिया में आश्रय सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व भवता है भाणवक आश्रयति इस वाक्य से भाणवक विशेष भाष्य आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा वपति क्रिया पद से जल वर्तन का बोध होता है 'देव जल वपति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्द व्यक्त अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक पद या तो नियामक होता है या अनुवादक।

आध्यात्मिक पदों का आधार कायायन का आध्यात्मिक भाष्यकारक विशेषण वाक्यम यह वार्तिक ही जान पड़ता है। यद्यपि सम्प्रदायवाक्यमप्रदाय म ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कायायन न आध्यात्मिक को ही वाक्य माना था परन्तु आध्यात्मिक क विशेषण के रूप म अव्यय और कारक का भी स्वीकार किया था। व्याख्याकारों ने सुझा-

म समर्थ है। इसलिए वही वाक्य है। इस मत में वाक्य में आख्यात-पद के अनिश्चित अर्थ-कारक-पदों की मता के-अन नियम अथवा अनुवाद के लिए होती है। सामान्य के आश्रय में विशेष-पद का उपादान नियम कहलाता है। जैसे 'पातु व परम-याति' इस वाक्य में सामान्य के आश्रय में विशेष का प्रमाण किया गया है। विशेष के आश्रय में सामान्य का उपादान अनुवाद कहलाता है। 'वपति त्रिया से देव का जलवपण अथ स्वत आभामित हो जाता है। यदि देव जल वपति' कहा जाय तो देव और जन शब्द केवल अनुवाद का काम कर रहे हैं।

आख्यातवाद के विशेषण में भक्त हरि ने सम्भवतः शिष्याय अनुवादाय का 'स वाक्याय' का प्रयोग किया था। इसमें प्रयुक्त वा 'स' के दो अर्थ किए जाते हैं—समुच्चय और विकल्प। समुच्चय अथ मानने वाला के मत में, आख्यातवाद पक्ष में कारक-पद नियम और अनुवाद दोनों का काम करते हैं। नाम-पद में अव्ययतिरक के आधार पर प्रवृत्ति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। इनमें प्रवृत्ति अथ प्रातिपदिक रूप है। प्रातिपदिक 'क्ति' कारक का प्रतिरूप है। आख्यातवाद-वाक्यवाद का अनुसार त्रिया से ही कारण-पदों का अर्थ भक्तव आता है किन्तु यह सामान्य रूप में होना है विशेष रूप में नहीं। प्रयुक्त कारक-पदों का प्रवृत्ति अथ सामान्य में व्यवस्थित का विधान में विधान करता है। इस तरह पद का प्रवृत्ति अथ नियामक हो जाता है। कारक-पद में प्रवृत्ति अथ के अनिश्चित विभक्ति अर्थ है। विभक्तियाँ उपात-क्ति का ही, जो अर्थ दूसरे उपाय से व्यक्त हो गया है, उपाय का ही प्रतिपादन करती हैं। इस रूप में कारक-पद प्रवृत्त्या द्वारा नियामक और प्रत्ययाय द्वारा अनुवादक भी हैं। फलतः नियम और अनुवाद दोनों साथ साथ काम कर रहे हैं।

जा लाग वा का अर्थ यहाँ विकल्प मानते हैं उनका मत में कारक-पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक। आख्यात-पद से व्यवहार योग्य शक्ति का अभिधान होता है 'क्ति' के आधार-विशेष का नहीं। इसलिए उसके नियम के लिए नाम-पदों का वाक्य में व्यवहार किया जाना है। जैसे आश्रयति त्रिया पद से त्रिमी के आश्रय रूप में कम-क्ति का अवबोध होता जाता है किन्तु आश्रय-विशेष में उसे नियत करने लिए माणव-कर्म जैसे पद जोड़ दिए जाते हैं। केवल आश्रय-क्रिया में आश्रय-सामान्य का अधिकरणत्व अथवा कर्मत्व भ्रमरता है। माणवक आश्रयति इस वाक्य से माणवक विशेष सामने आ जाता है और सामान्य अर्थ छूट जाता है। अतः पूरा नाम-पद नियामक का काम कर रहा है। अथवा वपति त्रिया पद से जल वरसन का बोध होता है 'देव जल वपति' इस वाक्य का भी वही अर्थ है। अतः देव और जल शब्दों के अर्थ का ही पुनः विधान करते हैं अतः अनुवादक हैं। इस तरह कारक-पद या तो नियामक होते हैं या अनुवादक।

आख्यात-पक्ष का आधार कायायन का आख्यात साध्यकारक-विशेषण वाक्य में यह वातिक ही जान पड़ता है। यद्यपि ससृष्ट-याकरण-मन्त्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध नहीं है। कात्यायन ने आख्यात की ही वाक्य माना था परन्तु आख्यात के विशेषण के रूप में प्रत्यय और कारक को भी स्वीकार किया था।

रक विशेषण और सन्निधाविशेषण को भी बीच में ले लिया था। बाद में 'आख्यात सविशेषण' यही वाक्य का रूप निष्कण्ठ रूप में सामने लाया गया था। जिस आचार्य ने 'आख्यात अथवा आख्यातशब्द' को वाक्य के रूप में स्वीकार किया उसने सविशेषण पद को भी उड़ा दिया। क्योंकि सविशेषण पद के बिना भी आख्यात के सम्बन्ध से अव्यय कारक आदि विशेषका का अध्याहार स्वभावतः ही हो जायगा। और जहाँ विशेषण नहीं है, वहाँ उसकी आवश्यकता भी नहीं है केवल आख्यात पद भी वाक्य माना जायगा।

सघातवाद

सघातपक्ष वाले आचार्यों के अनुसार एक अथपरक पञ्च समुदाय वाक्य है।

पदसघातज वाक्यम्

वणसघातज पदम्

यह एक प्राचीन उक्ति है। मत हरि ने इसे उद्धृत किया है। वाक्यपदीय के टीकाकार रूपम के अनुसार यह उक्ति सग्रहकार की है।^१ शौनक के बृहदश्वेता में भी मिलती है।^२ पदसघातवाला पञ्च शब्दस्वामी की भाष्यता में भी अनुरूप है। इस मत के अनुसार सभी पद एक में मिलकर एक अथ की अभिव्यक्ति करते हैं। एकाथपरक पदममूह ही वाक्य है। जिस तरह तीनों प्रावा मिलकर उल्ला को धारण करते हैं जैसे चारों पहार मिलकर पालकी ढात हैं जैसे सभी साधन एक साथ पाक किया में सहायक होते हैं उसी तरह सभी पद मिलकर वाक्याय व्यक्त करने हैं— सन्न यया अयोऽपि प्रावाण उल्ला धारयति चत्वारोऽप्युद्यत्तार शिखिनाम उद्यच्छति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाक साधयति तथा पदाद्यपि सर्वाणि वाक्यायमवबगमयति।

—शृंगारप्रकाश, पृ० २७७

सघातवादी मत में पञ्च की स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रता के रूप में दो तरह के विवाद थे जो आगे चलकर भीमाभा दर्शन में अभिहितवाक्यवाद और अजिज्ञाभिधानवाद से प्रगिद्ध हुए। किन्तु ये विचार कुमारिल और प्रभाकर से बहुत पहले मत हरि के समय में भी सामने आ चुके थे। सघात परावृत्त है इस वाक्य के अनुसार पञ्च वाक्य के लिए ही हैं उनका पृथक् कोई व्यक्तित्व नहीं है। समुदाय समुदायी से भिन्न होता है इस आधार पर पञ्च पदसघात (वाक्य) से भिन्न हैं। समुदाय और समुदायी में अभिन्नता के आधार पर पञ्च वाक्य से अभिन्न भी हैं।

सघातवाद के अनुसार केवल वक्ष्य मात्र वक्ष्यत्व जाति का सक्तक है। वक्ष्य अस्ति वक्ष्य नास्ति वक्ष्य छिन्न जस वाक्या में भी वक्ष्य मात्र वक्ष्यत्व जाति का प्रयोजक है। भाव (वक्ष्य की सत्ता) अभाव छिन्न आदि का वह नहीं व्यक्त करता है और न

१ वाक्यपदीय भा० ३, मन्त्राभिधान (जातीय मन्त्राभिधान)

२ बृहदश्वेता २।१।७

भाव अभाव, ऐतन आदि का जाति के साथ सम्बन्ध है। किसी अर्थ आधार पर प्रतिष्ठित वस्तु किसी अर्थ का प्रत्यायक नहीं होती। वीर पुरुष जिस वाक्य में एक पद का दूसरे पद के साथ सामानाधिकरण्य होने से विरोध विरोधभाव रूप में अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। यह आधिक्य वाक्यार्थ है। भाव यह है कि वीर शब्द से प्रथमा विभक्ति जब होती है स्वाध्याय से होती है उस समय दूसरे पद के सप्तम की या विरोध विरोध भाव की अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह पुरुष नाम से भी प्रथमा विभक्ति निरपेक्ष रूप में होती है। वाद में आकाशा आदि के आधार पर विरोध विरोध भाव सामान्य आता है। वाद में भावित होने के कारण यह बहिर्ग माना जाता है। बहिर्ग अंतरगन्तव्यस्कार में बाधक नहीं हो सकता। भाष्यकार ने इस स्पष्ट किया है कि वाक्य में पदार्थ सम्बन्ध की उपनिधि होती है। देवदत्त गाम अभ्याज गुक्ताम' इस वाक्य में यदि बसल देवदत्त मात्र कहा जाय तो कर्ता का निर्देश होगा, कम, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। यदि गाम मात्र का उच्चारण किया जाय कम निर्दिष्ट होगा किन्तु कर्ता, क्रिया और गुण अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। अभ्याज मात्र कहने से क्रिया का बोध होगा शेष अनिर्दिष्ट रह जाएंगे। किन्तु यदि देवदत्त गाम अभ्याज शबलाम इस पूरे वाक्य का उच्चारण किया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि देवदत्त ही कर्ता है दूसरा नहीं। गौ ही कम है अर्थ नहीं। अभ्याज ही क्रिया है दूसरा नहीं। गुक्ताम रगवाली का ही काली की नहीं। यह पद पहले भाष्य अर्थ की अतिशक्ति करते हैं वाद में जिस विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वह वाक्यार्थ है—

एव पदाना सामान्ये वतमानानां यद विरोधे अवस्थान स वाक्यार्थः ।

—महाभाष्य १।२।४५ भाग १ पृ० २१८ कीलहान सम्भरण

कयट के अनुसार इसका अभिप्राय है कि पदार्थ ही आकाशा आदि के सहारे सप्तम रूप में वाक्यार्थ है। कयट यह भी मानते हैं कि ध्वनिव्यय नित्य वाक्य पदार्थसंगरूप विनिर्दिष्ट अर्थ का वाचक है। यदि ऐसा गौ माना जाय तो वाक्यार्थ अनाद्य होगा—

पदार्था एव त्वाकाशायोम्यतासि निधिवन्ता परस्परसंयुक्ता वाक्यार्थ इत्यर्थः ।

ध्वनिव्यय नित्य वाक्य विनिर्दिष्टस्यायस्य पदार्थसंगरूपस्य वाचकम् ।

अथवा ह्यशाब्दो वाक्यार्थः स्यात् ॥^१

—कयट प्रत्या १।२।४५

१. नागेश ने अशाब्द पर टिप्पणी करने हुए लिखा है कि शब्द प्रयोज्यत्व के रूप में शाब्दिक नहीं माना जा सकता। अथवा प्रत्यक्ष देखे हुए धूम के आधार पर भी प्रयत्न होने लगेगा। साथ ही सुने हुए धूम शब्द में उर्ध्वगत धूमायवीय वहि का भा शाब्दिकवाच्य होने लगेगा। यदि शब्दत्व से अभिप्राय परसमन्वितारूप आवाजा और उसके कारण ब्रह्म शब्दवाच्य में कारण है तबसे ही पदार्थ की पदार्थों में सात्वित मिश्र नहीं होगी। अतएव 'अशाब्दो यदि वाक्यार्थ पदार्थाऽपि तथा भवन्' (वाक्यपदीय २।१६) प्रमाण (भक्त हरि ने) कहा है। यदि ऐसा माना जाय कि असन्वय में बोधानकता नहीं माननी जा सकती तबलिय पदार्था के

महामाध्य के उपयुक्त आधार पर सघातवादियों ने पद का पहले सामान्य म पश्चात् विशेष म वृत्ति माना है। अर्थात् पद जिस अर्थ का बोधक है वाक्य म भी उसी अर्थ को जताता है। पुनः समुदाय म पदों के परस्पर अवयव होने पर जो आधिन्य (ससंग रूप) भासित होता है वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की अनेकपदसमर्थता सघात का प्रतीक है। सघात पक्ष म भी तीन विकल्प भेद हरि न दिखाए हैं। एक मत म वाक्यार्थ की जाति की तरह प्रत्यक म परिसमाप्ति है। जाति अनेकाश्रित होते हुए भी प्रति आश्रय म पूर्ण रूप से रहती है। ब्राह्मणत्व जाति जस अनेक म वसे ब्राह्मण समुदाय के एक अंग एक ब्राह्मण में भी अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ रहती है। उसी तरह वाक्यार्थ भी अनेक पदाश्रित होते हुए भी एक पदाश्रित भी है। उसमें एक पदाश्रित होने के कारण आवृत्ति-यूनता नहीं आती और न वह खण्डित होता है। दूसरे मत के अनुसार सघात पक्ष म वाक्यार्थ की समुदाय परिसमाप्ति मानी जाती है। जैसे बीम रक्ष्या की पूर्णता बीस समुदाय म है प्रत्येक अक म नहीं। किंतु रक्ष्या के प्रयापन म प्रत्येक अक निमित्त है। उसी तरह वाक्य का समुदाय परिसमाप्ति होती है किंतु वाक्यार्थ प्रत्येक पद स प्रत्याप्य है। तीसरे मत के अनुसार गत्यापार सामान्य अभिधानपूर्वक विशेषाभिधान करता है। स्वायत्त मात्र व्यवहृत करने वाले सभी भेदा म सामानाधिकारण्यमयी योग्यता हानी है वही सामान्य है तथा अथवा अथवा सवथा रूप म सामान्य की कोई नियत अवस्था नहीं है। जो कुछ है वह विगप ही है। उस सामान्यावस्था म किसी भेद के अनिरूपण से और गत्यापार से अर्थ की सवभेद का सप्रहीन करने वाली योग्यता के द्वारा सवस्वगमयी कल्पना की जाती है उस अर्थकल्पना को सम्भव विषयांतर से तत्पर विशेष विषय म नियमित करना है। इस तरह से अर्थ की योग्यता मात्र के अवच्छेद करने से अध्यापनियम नहीं होता अर्थरूप म अनुपातान योग्यता भी उहा हानी और न वह अर्थरूप स भिन्न ही हानी है।^१ पुण्यराज के अनुसार तीसरा मत अविताभिधानवाद के समीप है जो पक्ष को ही वाक्यार्थ मानता है। उनमें अनुसार यही पहले दो मतों से तीसरे मत का भेद स्वरूप म है कि पूर्व मत म पक्ष का वाक्य म भी वही अर्थ होता है जो उनका अर्थ (वचन) म होता है और समस्त सघात वाक्य होता है। तीसरे मत के अनुसार पद का अर्थ सामान्य रूप है जो विगप के सम्पक से विगप रूप म जान पड़ता है—

साय पदों के शक्तिरूपमन्त्रों की कथना करता जाता है समभिधानार में समगताय कारणता का भी इसमन्त्र में बहुत समस्त रहता है। अतः वाक्य में सामान्य मन्त्र मानना चाहिए।

—नागरी, महामाध्यप्रणीताचार्य १।१।६५

नागरी ने भाष्यकार के वाक्यार्थ शब्द का भाग शब्द के अर्थ में निर्या है—वाक्यार्थ वचनान्तर । विशेषतानामि शब्द व मन्त्रावमुत्तिनाम—महामाध्यप्रणीताचार्य १।१।६५ द्रष्टव्य मन्त्रा ५० ६।८

१ कथनाय १।१।६५ हरिवृत्ति ५० ३०

पूषत्र पदानां वाक्ये तावानेवार्थो वायानेव केवलानाम ससगस्तु सघातवाच्य ।
इह तु तथाभूत एष सामान्यरूप पदस्याथ यस्तत तत विशेषसन्निधौ तन
तद विशेषविभ्रात ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।४५

सघातपक्ष में, सम्बन्ध रूप में जो वाक्याथ अवगत होता है उस सम्बन्ध का कोई नियत रूप नहीं है । वह अनुसृत है । असत्त्वभूत है । उसे यह ऐसा है आदि शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता । वह विशेष शब्द के सन्निधि में विशेष हो जाता है और सभी जगहों में विविष्ट रूप से आभासित होता है । साधन और साध्य भी परस्पर नियत हैं । केवल आकाश आदि के सहारे अन्य पदार्थों के सन्निधान से नियम के रूप में व्यक्त होता है । भाव यह है कि वाक्याथ क्रियाकारकसंग रूप है । क्रिया सम्बन्ध के बिना कारक की उपपत्ति नहीं होती । केवल विशेष में सम्बन्ध मानने से अनन्त्य अन्ति दोष आ जाते हैं । इसलिए क्रिया सामान्य अविवक्षित ही होती है । कारक पक्ष का सम्बन्धग्रहण कारक में होता है और सम्बन्धग्रहण के अनुसार अभिधान होता है । सामान्य में अविवक्षाभिधान घटित होता है क्योंकि व्यवहार काल में क्रिया विशेष से अविवक्षित रूप में ही कारक की उपलब्धि होती है । क्रिया की भी प्रतीति विशेष कारक से अविवक्षित रूप में होती है ।

सघातवाद की समीक्षा

यद्यपि पुण्यराज ने सघात पक्ष को अभिहितवाक्यवाद के अनुकूल माना है किन्तु कुमारिल भट्ट ने स्वयं सघातवाद की समीक्षा की है और उनका अनुयायी सुचरित मिश्र और पायसारथि मिश्र आदि ने उनका अनुमोदन किया है । कुमारिल के अनुसार पदसघात को वाक्य इसलिए नहीं माना जा सकता कि पदों में परस्पर अनुग्रह नहीं है—

एवमाद्यत सर्वेषां पथक सघातकल्पने ।

अयोयानुग्रहमावान पदानां नास्ति वाक्यता ॥^१

—श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण, ४६

भत हरि ने भी सघातवाद की आलोचना की है । यदि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं तो बाद में विशेष की अभिव्यक्ति करते हैं इस नियम का माना जाय तो सामान्य के तिरोहित हो जाने पर विशेष की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती । देवदत्त गाम अभ्याज इस वाक्य में देवदत्त शब्द के उच्चारण करते ही सामान्य अर्थ सम्बद्ध देवदत्त की अभिव्यक्ति होगी और उसके विलोप हो जाते ही विशेष अर्थ की उपलब्धि न हो सकेगी । जो शब्द अपने आविर्भाव काल में विशिष्ट अर्थ न व्यक्त

१ इस पर सुचरित मिश्र का टिप्पणी है—पदानां पृथक्भूतानां सघातवर्तिना वा न वाक्यत्वम् । पृथक्भूतेषु हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते । सघातकल्पनेऽपि न पृथक्संघो विशेषे तदानां मध्यम्यन्योन्यानुग्रहस्य तत्त्ववगमान् । अमति चाग्रहे वाक्यवे कल्पनाभावम् । एवं कस्यापि तत् प्रसमान् । श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हस्तलेख

अव्यपदेश्य हा जायगा । १

किंतु भक्त हरि ने सघात पक्ष के समयन में भी कहा है कि जिस तरह सावयव वण स्वयं निरर्थक हात हुए भी समुदित रूप में साथक हो जात है वैसे ही पद भी समुदित रूप में वाक्य बन जाते हैं साथक हो जाते हैं—

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् ।

अथ वन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ॥

—वाक्यपदीय २।५४

सघातवर्तिनी जाति

कुछ आचार्य शास्त्रजाति को ही वाक्य मानते हैं। शब्दावृत्तिवाद के पक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं वे ही जाति वाक्यवाद में भी उपस्थित किए जाते हैं। इस मत में सम्पूर्ण वाक्य एक गद्य है और वह गद्य जातिनिबन्धन है। शास्त्रावृत्ति वाक्यवाद का उपपत्ति भ्रमणत्व जाति का आधार पर की जाती है। भ्रमण आश्लेषविशेषजनित होता है। उसमें कम्पन, रचन, उत्प्रेषण आदि भेद हो सकते हैं किन्तु भ्रमणत्व जाति एक ही है। भ्रमणत्व में उन भेदों का ग्रहण नहीं होता। यदि भ्रमण की आवृत्ति की जाय तो प्रत्यक्ष आवृत्ति में भ्रमणादि त्रिया द्वारा भ्रमणत्व जाति अभिव्यक्त होती है। वण, पद वाक्य भी ध्वनियों से व्यजित होते हैं। इनमें भेद तुल्य और अतुल्य ध्वनि उप व्यजन है। वण अपचित ध्वनिव्यञ्ज है। उसका सदा दूरी ध्वनियाँ से निरवयव पद व्यजित होता है। उसी तरह तुल्य अतुल्य प्रचिततम ध्वनियाँ से वाक्य व्यजित होता है।^१

पुण्यराज ने गन्धर्व वाक्पदा को जातिम्फो माना है।³

दवत्त गाम अभ्याज इम वाक्य म दवत्त आनि वण स भिन अनेक
आधारवाली किंतु एक जानि है । वह विभिन्न वणधनियः स अभिन्यसत हानी है ।
निय है । निरवयव है । वही वाक्य है ।

निरवयव वाक्यवाद

वास्य एव है निरवयव है। वास्य भ अक्षर का कल्पना बाट भ की जाती है। मूल

१. वाचस्पत्यय २।२८, ११। पुनश्चरान् न अनुसरन् इति श्लोकात्। मं अभिनिन्दन्त्येषां श्रीर र्चिता भिषागमद शाना को भानाचना का म् हे।—‘द्वय रपिचयो दूषण’ पश्या वाच्य तान्दव इ वाचि रयाकद्वयनभि रग्यर्षा।

—पुण्यराज बरहद्वाय २।१८

२ गणनरव बाधव भ्रमगणवा एषा नानादन्ता । मर्यादाभित्यस्यत्तु वक्तुं ।
मर्यादाभित्यभिनिमित्तैः मर्यादाभित्यस्य मृत्ति न तत्रक निवद्य च पश्यथापरा । तथापि तु वास्तुयै
मर्यादाभित्ये वास्तुनिधि ।

—बासनाजीव २।२१ दृष्टि

३ एतन्निद्रादौर्गन्धर्वनिद्रा ५ अर्धपरा विनयः पति वाद्यम् । वाद्यम् ३३३

रूप म वाक्य एक अविच्छिन्न, अपने आप म पूण वस्तु है। वाक्य के निरवयव रूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणानि न चित्रबुद्धि, पानकरस मयूराण्डरस आदि का सहारा लिया है। चित्र एक है। अनश है। चित्र को हम सवप्रथम उसकी समग्रता म ही देखते हैं, वह अपने पूणरूप म हमारे सामने रहता है। बाद म चित्र क भिन भिन भाग म दष्टि जाती है और उसे समझन अथवा समझने के लिए उसने भिन भिन अवयवों और रंग आदि पर हम विचार करने लगते हैं। इसी तरह से वाक्य भी अपने आप म पूण है। निराकाङ्क्ष है। अवयवरहित है। उस समझने के लिए हम उस शब्द म बाँटते हैं, तोड़ते हैं शब्द का एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर हम वाक्य का विश्लेषण करते हैं और इस तरह उसके भाग प्रस्तुत करते हैं। किन्तु मूलरूप म वाक्य म भाग नहीं है। वह निर्भाग है।^१

पानकरस-पाण्डव शवत म अपने आप म विलक्षण रस है। निरश है। किन्तु उसके विश्लेषण करते समय मधुर तिक्त अम्ल, कटु कषाय आदि रसा अथवा ओषधियाँ को सामने लाया जा सकता है। इसी तरह वाक्य अभिन्न है। किन्तु वण, पद आदि के रूप म उस विभक्त दिखाया जा सकता है।^२

जिस तरह मयूर के अण्डे म—उसके रस म भावी मयूर के अंग प्रत्यग चक्र आदि अविभक्त रूप म पड़े रहते हैं बाद म विभक्त होकर अलग अलग अवयव के रूप म प्रत्यक्ष होते हैं उसी तरह वाक्य म पद आदि अविभक्त रूप म होते हैं। उनकी अलग अलग सत्ता अवाक्यान्त के सहारे सामने आती है।

अथवा जिस तरह पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति प्रत्यय म विभक्त करते हैं। किन्तु प्रकृति प्रत्यय काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं। उभी तरह वाक्य का समझाने के लिए हम अपोद्धार पद्धति से उसे पद म विभक्त करते हैं, किन्तु पद भी प्रकृति प्रत्यय की तरह कल्पित अथवा असत्य हैं। वास्तविक नहीं। वास्तविक केवल वाक्य है। ऋषभ, वपभ उदक यावक शब्दों म कुछ ध्वनियाँ समान हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से निरर्थक हैं। केवल दूसरों को समझाने के लिए अवयव व्यतिरेक दिखाने के लिए उनकी सत्ता मान ली जाती है। सब तरह के विभाग, प्रक्रियाभेद न जानने वाला को जानने के लिए कल्पित रूप म मान लिए जाते हैं। वस्तुतः वाक्य का विभाग नहीं होता। विभाग का आश्रय यथासम्भव गीघ्र बोध कराने के लिए लिया जाता है। अविभक्त का विभक्त के आश्रय से जान करना लघुप्रश्नमा पद्धति है। गुरुप्रश्नमा पद्धति प्रतिपद पाठ की तरह दर म बोध कराने वाली है। कुशल व्यक्ति वह है जो भेद को अभेद के

१ चित्रयैक रूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः ।

बीजादिभिः समाख्यानं त्रियते भिन्नलक्षणैः ॥

तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सत्तम् ।

शब्दान्तरैः समाख्यानं साक्षादनुगम्यते ॥ वाक्यपदीय २। ८, ९

२ पानकरस का उदाहरण पुण्यरान ने रखा है जो उपयुक्त नहीं है। इससे तो यह भी कहा जा सकता है कि जिस तरह मधुर तिक्त, अम्ल, लवण आदि रसों के योग से विश्लेषण पानकरस की निष्पत्ति होती है उसी तरह पदों के योग से विलक्षण वाक्य की सिद्धि होती है।

आश्रय ता देना है

परप्रतिपत्तिपूर्विका हि सामान्यविशेषावग्रहोपाया सत्प्रक्रममा विभागेना विभक्तस्य प्रतिपत्तिः प्रकृतिप्रत्ययादि प्रतिपत्तिवत् । नृप्रक्रममा त्वत्र सामान्य रूपस्य प्रतिपत्तिरविभागेन प्रतिपरपाठवत् । नृप्रक्रममा प्रतिपत्ता तयमेव भेदम भेदानतिशयेन पश्यति । प्रक्रियामेवैतन्नास्त्र विभागनिर्वाचनम् ।

—वाक्यपदीय २।१२ हरिवर्ति

ब्राह्मणत्वस्य दण्ड म यदि ब्राह्मण दण्ड वा भ्रमण उद्धारण किया जाय श्रोता को ब्राह्मण दण्ड व गुण पर भी और एक तरह म दण्ड व प्रतीयमान ज्ञान पर भी उगव अभिप्राय की प्रतीति नहीं होगी और इसीलिए उगव लिए ब्राह्मण दण्ड अनयक ही होगा । जो तरह दण्डत गाम भ्रमण जस वाक्य म भी दण्डत दण्ड दण्ड वा भ्रमण प्रलग ग्रहण होत पर भी उनका प्रलग प्रलग दण्ड नहीं है और इसीलिए व पथक रूप म अनयक है ।

अत हरि व अनुसार भ्रमण नम रूप म जान पड़ता है जो भ्रमिभान है यह विभागापन्न ता हो जाता है । वाक्य का मूल स्वरूप भ्रमिभान है, एक है इसीलिए पूण वाक्य एक गान है । भ्रमण्ड है । भ्रमिभान का विभक्त दण्डभाग दण्ड मध्यमा और विलम्बिता वक्तिया व आधार पर दण्ड उच्च उपागु परमोपागु और महत्तम के रूप म हो सकता है । दण्ड वाक्यात्मक गान व गान और उच्च रूप ता परमवच है किन्तु उपागु परमोपागु और सहत्तम दूसरा द्वारा नहीं जान जा सकत । उपागु म प्राणवत्ति का योग ता रहता है किन्तु दण्डध्वनि का दण्ड कोई सुन नहीं सकता । परमोपागु दण्ड म गान बुद्धिसमाविष्ट रहता है उसम प्राणवत्ति का समावेश भी नहीं होता । सहत्तम दण्ड म बुद्धि म दण्ड भ्रमण रूप म समाविष्ट मान जात हैं । गान भी अव्यक्त रूप म रहत हैं यदि नम सभावित हैं ता मध्यारोप व रूप म ही । अत हरि के अनुसार दण्ड जव कुछ कहना चाहता है भ्रमण रूप म दण्डवा मसष्ट रूप म अवस्थित गान पहले उसकी बुद्धि म पुन प्रयत्न प्राण करण दण्ड व सहारे नम रूप म परिणत हो जात है और श्रोता को भी नमरूप म जान पड़त है । किन्तु नम रूप म गान के उपलब्ध होने से और उसी व वाक्यार्थिक होने पर भी गान के मूल नमस्वरूप का विघात नहीं होता । जस आकाश के प्रलग प्रलग विभाग आश्रयभेद से सभव हैं किन्तु मूल आकाश एक है वसे ही बुद्धिगत मूल वाक्य एक है एक गान रूप म है निरवयव है

ससष्टवक्तयश्च क्रमसहारेण समाविष्टवाचा प्रयोक्तव्या गन्दा बुद्धौ प्रयत्ने करणेषु च क्रमवर्तितानुभूय प्रतिपत्तव्यपि क्रमप्रत्यस्तमयेनैव समावेश प्रतिपद्यते । तत्रोपलब्धुपायानुपातो क्रमवर्तितक्षितो भेदो वाक्यार्थमपि गन्तव्यं नानुपतति । क्रमसहाराश्रयण (?) हि वाक्यार्थ एव विच्छिद्यते । तस्माच्च नमाणादिवत् (?) प्राप्तदेशविभागका यत्र बुद्धि स एताद्यतयोरेको वाक्यार्थ गन्तव्य इति ।

—वाक्यपदीय २।१६ हरिवर्ति

पुण्यराज ने इस अक्रम रूप का स्फोट नाम दिया है और अनवयव पक्ष को व्यक्त स्फोट का रूप माना है

परमायतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मा प्रतिभास । उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धि विततेवानुगम्यत इति बोद्धव्यम् । अनेन एकोनवयव शब्द इत्युद्दिष्टस्य व्यक्तस्फोटस्य स्वरूपमुक्तम् ॥

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१३

मल्लवानि ने वाक्य के अनवयव स्वरूप का आधार भवन (द्रव्य) का अनवयव होना माना है । भवन अर्थात् भाव एक और अखण्ड होता है । वाक्य भी भाव है अतः वह भी अनवयव होगा

एकोऽनवयवगद्दो वाक्याथ । भवनस्यानवयवत्वात् । इह तु द्रवति भवतीति द्रव्यं भवनं भावः ।

—द्वान्तारनयचक्र प० ३०३

वाङ्मय मूरि ने किसी मत के आधार पर, आकार के आश्रय से अखण्ड-वाक्यवाद को उद्धृत किया है । इस मत में वण पद कल्पित हैं । वाक्य निर्विभाग है अर्थात् तु श्रोत्रकारानवयव शब्द परिकल्पितवणपदविभागो वाक्यमित्याहुः ।

—स्यादवात्तरत्नाकर प० ६४५

वाचस्पति मिश्र ने निरवयव वाक्य का उल्लेख माया द्वारा वण और पद की मिथ्या प्रतीति के रूप में किया है

अनवयवमेव वाक्यम् । अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवणपदविभागमस्या निमित्तमिति केचित् ।

तत्त्वविदुः प० ६ मद्रास संस्करण

अनवयव वाक्य की समीक्षा में धमकीति ने कहा है

एकत्वेऽपि ह्यमिन्नस्य त्रयशो गत्यसमवात—१।२५० (२।३)

कालभेद एव न युज्यते । मह्येकस्य त्रयेण प्रतिपत्ति युक्ता । गहीतागहीतयोरेभेदात् । गहीतागहीताभावात् । त्रयेण च वाक्यप्रतिपत्ति दृष्टा । सदवाक्य-याहारश्रवणस्मरणकालस्यानेकक्षणनिमेषानुक्रमपरिसमाप्ते । वणरूपा सस्पतिश्चकबुद्धिप्रतिभासिता शब्दात्मनो प्रतिभासनात् । वणानुक्रमप्रतीते । तद्विरोधेऽप्यनुक्रमकृतत्वाद् वाक्यभेदस्यानुक्रमवती वाक्यप्रतीति । वणानुक्रमोपकारानपेक्षणे तु यथाकथञ्चित् प्रयुक्तरपि यत् किञ्चिद् वाक्य प्रतीयत । विना वा वणं । तदनुक्रमवदभि अक्रमस्योपकारायोगात् । अत्रमेव च व्याहृतुं अशक्यत्वात् । गत्यंतराभावाच्च । न च वाक्ये वणं शक्तिः । तदकमेव शब्दरूप यजकानुक्रमवशादनुक्रमवद्वणविभागवच्च प्रतिभातीति चेत् अनुक्रमवता यजकेनाक्रमस्य व्यक्त प्रत्युत्पत्ता । यक्ता यक्तविरोधात् । अवणभागे च वाक्येऽसकलश्राविणो सकलवाक्यगति न स्यात् । एकस्य शकलाभावात् । सकलश्रुतिवाक्यचित् ।

—प्रमाणवातिक—प० १२८।१२९ रोम संस्करण ।

धमकीति का अभिप्राय है कि यदि वाक्य को निरवयव माना जाय, उसमें

क्रम का आभास संभव नहीं होगा। काल भेद ही नहीं सिद्ध होगा। एक ही वस्तु का क्रम से ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि गृहीत और अगृहीत के अभाव होने से यहाँ गृहीत और अगृहीत में अभेद है। वाक्य के ज्ञान में क्रम देखा जाता है। पूर्णवाक्य के उच्चारण, श्रवण, स्मरण में काल अनेकगुण व्याप्त हो सकता है। ऐसा शब्द नहीं होता जिसमें वण सस्पृश का आभास न होता हो। (शब्द में) वण का अनुक्रम की प्रतीति होती है। यदि वण के स्पृश अस्पृश प्रश्न छोड़ भी दें तो भी अनुक्रम के आधार पर वाक्यभ्रं हाता है और इसलिए वाक्य की प्रतीति में अनुक्रम रहता है। यदि वण का अनुक्रम के आधार पर वाक्य प्रतीति न मानी जाय तो वणों के प्रयुक्त होने पर भी वाक्यप्रतीति नहीं के बराबर होगी। अथवा अथवा प्रतीति होने लगगी। अथवा बिना वणों के भी होने लगगी। अनुक्रम वाल वणों का अक्रमवस्तु के साथ कोई सहयोग संभव नहीं है। अक्रम रूप में तो वाक्य का उच्चारण भी संभव नहीं है कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

यदि ऐसा मान लिया जाय कि वाक्य में वण नहीं है वाक्य अविच्छिन्न है एक शब्द रूप है, केवल व्यञ्जक ध्वनियाँ के अनुक्रम के कारण वाक्य भी अनुक्रमवाला और वण विभागवाला-सा ज्ञान पड़ता है तो यह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि अनुक्रम वाल व्यञ्जक से क्रम रहित वाले अक्रम की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि व्यक्त और अयक्त में परस्पर विरोध है। यदि वाक्य में वण विभाग न माना जाय उसे अखण्ड माना जाय तो वाक्य का केवल एक भाग के सुनने वाले को केवल उसी भाग के अर्थ का ज्ञान न हो सकेगा (जा कि होता है) अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण में पूर्ण वाक्य का ज्ञान होने लगेगा (जो कि किसी को नहीं होता)।

निरवयव वाक्यवाद पर किए गए धमकीति के उपयुक्त आक्षेपों के समाधान की चेष्टा मण्डन मिश्र न की है। मण्डन मिश्र ने पहली धमकीति का आक्षेप का उत्तरेख विस्तार से किया है और इसका बाद उनका उत्तर अति संक्षेप में दिया है। उनके शब्द निम्नलिखित हैं

एकत्वेऽपि क्रमशो गतिरनुपाख्येयोपाख्येयाकारप्रत्ययभेदेन पुरस्तात् प्रपञ्चिता।

व्यञ्जकसादृश्यात् शब्दांतरग्रहणाभिमान, तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति।

—स्फोटसिद्धि प० २३८।२३६

मण्डन मिश्र का अभिप्राय यह है कि वाक्य को अखण्ड मानकर भी क्रम प्रतीति का निवारण अनुपाख्यय आकार और उपाख्यय आकार वाल ज्ञान भेद के आधार पर हो जायगी। वह ज्ञान अनुपाख्यय माना जाता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप से (इदं तत् रूप में) ग्रहण नहीं कर पाई होती है। ध्वनियाँ से पहले अनुपाख्येय आकार वाल प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होते हैं और वे पुन स्वयं अनुपाख्ययाकार वाले प्रत्यय बार-बार घटित होने से अग्रास आदि से, उपाख्ययाकार प्रत्यय हो जाते हैं। वण या पञ्च के क्रम रूप स्वीकार करने पर ध्वनियाँ का समुचित रूप में एक साथ न हाने के कारण अन्त्य बुद्धि से उनका ग्रहण भी ठीक से नहीं हो पाएगा। संपूर्ण भी वण स्वरूप अभिव्यक्ति हाकर भी जब तक बुद्धि में आविष्ट न हो पाया

हो तब तक वह अनुपलब्ध सा रहेगा और उस व्यवहार न हो सकेगा। इसलिए वणक्रम को मानकर अनुपादय्याकार और उपाख्येयाकार प्रत्यय भेद के आधार पर अखण्ड वाक्य की प्रतिपत्ति संभव है।

धमकीर्ति के दूसरे आक्षेप—अवगणन म वाक्य के केवल एक भाग के सुनने पर उस भाग का अर्थ न भासित होना अथवा अपूर्ण वाक्य के श्रवण में पूर्ण वाक्य का ज्ञान हो जाना—क उत्तर में मण्डन मिश्र का करना है कि व्यञ्जक ध्वनिया के सादृश्य से वण पद आदि का आभास होता है वस्तुतः वाक्य एक अवगण है। इसलिए अवगण अथवा सकलश्रवण का प्रश्न नहीं उठता। स्फोटसिद्धि के टीकाकार ऋषिपुत्र परमेश्वर (द्वितीय) के अनुसार वाक्य के निर्माणपथ में भी भ्रांति में भाग की प्रतीति होती है अतः श्रवण या सकलश्रवण का आरोप असंगत है।

तत्र कारणेन परमार्थभागपक्षेऽपि भाग्यो ग्रहणमुपपद्यत एव न पुन अवगण वा सकलश्रवण चापद्येतेति ।

—स्फोटसिद्धि टीका पृ० २३६

वणकगोमी ने मण्डन मिश्र के उपयुक्त तक की महत्त्व नहीं दिया है। उनके मत में सकल असकल वण भाग के ज्ञान के समय अखण्ड वाक्य का श्रवण ही नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वाक्य के ग्रहण के अवसर पर वण ग्रहण की बात भी अयुक्त है। वर्णात्मक और अवर्णात्मक महत्त्व नहीं माने जा सकते इसलिए व्यञ्ज और व्यञ्जक में भी सादृश्य नहीं हो सकता।

तेनयदुच्यते मण्डनेन यञ्जकसादृश्याच्च वाक्ये तदात्मग्रहणामिमान तेन नाश्रवण सकलश्रवण वेति तत्पास्तम् । सकलासकलवणभागप्रतिपत्तिकाले निष्कलस्य वाक्यस्याश्रवणात् । न हि यञ्जकयो सादृश्य वर्णावर्णात्मकत्वेन विसदृशत्वात् । ततश्च वाक्ये वर्णात्मग्रहणामिमान इति यत् किं चिदेतत् ।

—वणकगोमी प्रमाणवातिक टीका, पृ० ८६८, ४६६

जयन्त भट्ट ने वाक्य के निरवयववाद के विरोध में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं वाक्य निरवयव नहीं है। सावयव है। प्रति वाक्य में पद और उसके अर्थ का अलग अलग आभास स्पष्ट रूप से होता है। और जब अवयव विभाग का ग्रहण नहीं होता वाक्य और वाक्यार्थ का भी आभास नहीं होता। इसलिए मान लेना चाहिए कि अवयव प्रतीति होती है। उस प्रतीति को भ्रांत नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रांति का कोई आधार होना चाहिए। सादृश्य को भ्रांति का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि किसी किसी साथ सादृश्य है यह स्पष्ट नहीं है। यदि कोई मुख्य अवयव प्रसिद्ध हो उनके सादृश्य से अन्य सादृश्य के न रहते हुए भी सादृश्य ज्ञान भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। पूर्ववाक्य भी आपके मत में भाग रहित हैं। नरसिंह में भी नर के अवयव और सिंह के अवयव अलग अलग दिखाई देते हैं ऐसा ही यहां भी माना जाय तो किसी वाक्य में अवयवों की संज्ञा माननी पड़ेगी। चित्र आदि के जो उदाहरण निरवयव पथ के समर्थन में दिए गए हैं वे भी

कुमारिल भट्ट के अनुसार निरवयव वाक्यवादों को महावाक्य और अवान्तर वाक्य में भेद नहीं मानना पड़ेगा। यदि भेद माना जायगा तो दो वाक्यों से दो अर्थ स्वतंत्र रूप से सामने आयेंगे।^१

किन्तु इसका उत्तर व्याकरण यह देते हैं कि जिस तरह स अपोद्धार पद्धति पर पद की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है उसी तरह उसी पद्धति से अवान्तर वाक्य की भी सत्ता मान ली जायगी। यथायु दृष्टि से वाक्य में जैसे पद की सत्ता नहीं है महा वाक्य में अवान्तरवाक्य की भी सत्ता नहीं है।

क्रम-सिद्धान्त

क्रम की वाक्य माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह है कि क्रम के अतिरिक्त वाक्य की सत्ता नहीं है। वस्तुतः इस मत में वाक्य की सत्ता ही नहीं स्वीकृत है। ध्वनि समूह से अथवा पञ्च समूह से जो कुछ अर्थ भासित होता है वह क्रम के कारण होता है। अतः क्रम ही मुख्य है। उससे भिन्न वाक्य नाम का किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। क्रम क्या है? क्रम शब्द से भिन्न वस्तु है। क्रम का सम्बन्ध काल से है। काल में प्रतिपत्ति और अभ्यनुत्ता ये दो प्रकार की गतियाँ हैं। गत की ग्राह्य अभिव्यक्ति इन दोनों शक्तियों की सक्रियता से होती है। इसलिए शब्दों का शब्द और अर्थ का अनुगमन कालवृत्ति के अधीन है। शब्दों में जो क्रम है उसे काल शक्ति का उनमें सन्निवेश समझना चाहिए। अतः क्रम कालशक्ति से भिन्न वस्तु नहीं है। क्रमों ही शब्देषु कालशक्तिव्यतिरेक निवेश इत्यत्र। स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

पदों के नियम सन्निवेश में एक विशेषता आ जाती है। यदि विशेष ही वाक्य है तो यह विशेष क्रमजय है। अतः क्रम ही वाक्य है। इस मत में पञ्च में अर्थ सत्ता मानी जा सकती है किन्तु वाक्य एक प्रमाण मात्र है।

तेन वाक्यमित्यवस्तुक्रमेवेद अभिलापमात्र पदमेवायवदिति।

—वाक्यपदीय २।५० हरिवृत्ति

क्रमशक्ति का आविर्भाव पदों के सन्निवेश में होता है केवल वर्णों के सन्निवेश में नहीं होता। यद्यपि क्रम की सत्ता वर्णों में भी है किन्तु अर्थवाचक केवल वर्ण से नहीं होता, पद से होता है। वर्णक्रम को पद और पञ्चम को वाक्य कहा जा सकता है किन्तु वे वाक्य नहीं हैं। वाचकता केवल क्रम में है।

सन्तानवृत्ति का नाम क्रम है। पद चाहें अनर्थक रूप में माने जाएँ अथवा स्वार्थ के कारण साधक रूप में स्वीकार किये जाय, सब तरह से क्रम से उच्चरित होकर ही अपन से कुछ भिन्न वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए क्रम वाक्य है।^२

१ श्लोकवार्तिक ७।१४० पृ० ८८६ चौखम्बा संस्करण

२ वाक्यपदीय २।५५

क्रमवाद की समीक्षा

पञ्चमवाक्य यात्र म, कुमारिल व मन म मुख्य लोग य है कि पञ्चम का वाक्य मानन पर पञ्चम व भेद स वाक्य म भी भन हान लगगा । गो गुप्त का जात्रम है वही गुप्तो गो का नही है । यदि पञ्चम को वाक्य माना जाय तो यहा १ वाक्य मानन पडग और वाक्य भेद स भय भेद भी होन लगगा ।^१ वायसारथि न इम स्पष्ट करत हुए कहा है कि वणत्रम का पञ्च मान लना तो ठीक भी हो सारना है क्योंकि यह भय के पान म साधन है यदि वण वत्रम वस्त्र निण जाय तो वही भय नया भनवगा । किंतु पदत्रम साधन नही है । स्मृतन म पञ्चम व वस्त्र नन पर भी भय वही हागा । वायवाय पान म पञ्चम उपायभूत नही है । उपायभूत मानन पर त्रमभेद से वाक्याथ भेद हागा ।^२

किंतु जसा कि ऊपर कहा गया है त्रमसिद्धान्त व समथर प्रागय पञ्चम को वाक्य न माननर वाक्य की सत्ता ही नही मानत हैं । तन वाक्य न विद्यत ।^३

पदारूपा वाक्यमना व गान्धर्व नप्यत तयो '६' प्राणि वक्त्रया द्वारा भन हरि न स्पष्ट कर दिया है कि त्रम का नाम वाक्य नही है किंतु त्रम वनी वाम करता है जो भय दशन म वाक्य करता है । और इसी दृष्टि स त्रम को वाक्य कहा जाता है । अथथा त्रम और वाक्य भिन्न भिन्न वस्तु है । वाक्य का सम्बन्ध गान्धर्व म है । त्रम का सम्बन्ध काल से है । दूसरे गान्धर्व में वाक्य गान्धर्व धम है त्रम कालधम है । त्रम अपन आप म भग द है ।

बुद्धयनुसहारवाद

शब्द का मुख्य स्वरूप बाह्य नही है आन्तरिक है । लिपि गान्धर्व नही है । किंतु शब्द का प्रतीक अथवा सकेतक है । और इसलिए अक्षर चिह्नो को शब्द कह दिया जाता है, किंतु अक्षर चिह्न स्वय शब्द नही है । वे वास्तविक भी नही है । इसी तरह बाह्य ध्वनि शब्द का सकेतक है । शब्द का वास्तविक रूप आन्तरिक है । बाह्य ध्वनि अक्षर चिह्न की तरह आगात्विक है । अन्त शब्दतत्त्व अक्रम है । यद्यपि वह त्रम काल भागो (वण अथवा नाद) स व्यक्त किया जाता है किंतु अपन आप म वह अत्रम है त्रम रहित है । त्रम वाले वण या नाद या भाग अक्षर चिह्नो जस हैं और उही की तरह अथथाथ है । ये आन्तरिक शब्द को अभिव्यक्त करते हैं । उस अत्रम रूपवाले आन्तरिक शब्द का दूसरा नाम बुद्धयनुसहार है । उसमें पदरूप विभजत नही है । वह एक शब्द है । और एक शब्द शब्द को एक वाक्य कहते है

१ श्लोकवार्तिक वाक्याधिकरण ५५

२ श्लोकवार्तिक यात्रया, याधरत्नाकर ७५५

३ वाक्यपदीय २।५०

४ २।५२

स च य बुद्ध्यनुसहारलक्षण आंतर शब्दात्मा तत्र समाम्नात ।

तस्यचेत्यभावे विच्छिन्नपदरूपप्रविभागदर्शन एक एवाय वाक्याख्य ।

—वाक्यपदीय २।३० हरिवृत्ति

भत हरि के मत में आंतर शब्द दो शक्तियों से संपन्न है—अनपायिनी शक्ति और अपायिनी शक्ति। उस शब्दात्मा में प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों संपृक्त हैं। शब्द प्रकाशक है। अथ प्रकाश्य है। यद्यपि प्रकाशक और प्रकाश्य आंतर शब्द में परस्पर संपृक्त हैं, अविभक्त है, फिर भी प्रकाशक में प्रकाश्य विभक्त जसा जान पड़ता है। इसी तरह से काय और कारण दोनों आन्तर शब्द में मल्लिष्ट हैं। कारण और काय एक दूसरे के आधित हैं। और अपने मूल रूप में उभय शब्दात्मा में अभिन्न रूप से अवस्थित हैं। किंतु व्यवहार दशा में एक दूसरे से विभक्त जान पड़ते हैं। मिथ्याभ्यास भावना के कारण अभेद में कल्पित भेद की सृष्टि होती रहती है और इस तरह जो अविरोध है वह विरोध जान पड़ता है। आंतर शब्द की अनपायिनी शक्ति का सबंध उसके अविभक्त स्वरूप में है और अपायिनी शक्ति का सबंध उससे प्रतिभासिक विभक्त स्वरूप से है। वस्तुतः अंतर शब्द तत्त्व में भाव अभाव का विभाग नहीं है। शक्ति भेद से भेद का आभास होता है।

उस आन्तर शब्द में अस्तित्व और व्यस्तित्व भाव और अभाव उसके एकत्व का अतिक्रमण नहीं करते। दोनों एक ही की दो शक्तियाँ हैं। अक्रम में ज्ञान का सवेदन अभाव से भाव दशा का उन्मीलन है। बुद्ध्यनुसहार पक्ष में शब्दाद्यतत्त्व अन्तर्मात्रा भिन्नित्वेशी है। पुण्यराज ने बुद्ध्यनुसहार को ही आंतरस्फोट माना है

आख्यतरस्य स्फोटस्य तु बुद्ध्यनुसहृतिरित्यनेनोददेशः ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय टीका २।१

शब्द का मुख्य रूप शब्द की आत्मा वाक्यतत्त्व एक है अभिन्न है अतर्निवेशी है, अव्यपदेश्य है। जिस तरह से शब्द, मुख्य रूप में, बुद्धिगत है उसी तरह अथ भी बुद्धिगत है। बुद्धिगत अथ भी अव्यपदेश्य है किंतु ज्ञान से उपचित होकर प्रत्ययनियत रूप में उत्पन्न होकर बाह्य वस्तु रूप में व्यवहार का विषय बनता रहता है। शब्द नि यत्त्व पक्ष में, बुद्धिगत अथ क्रमशः शक्ति के सहारे विभक्त रूप में प्रकट होता है। जब तक बुद्धि में अथ का स्वरूप स्थान न प्राप्त कर लिया हो वह बाह्य वस्तु के रूप में यावत् हारिक अथ क्रिया में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए सभी बाह्य व्यवहार का आधार अन्तर्निविष्ट अथ है। शब्द और अथ एक ही वाक्यात्मा के दो स्वरूप हैं। अथ भाग के द्वारा आन्तरिक अथ की अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज ने इस आन्तरिक अथ को प्रतिभात्मक अखण्ड वाक्याथ माना है। (वाक्यपदीय २।३१)

ज्ञान स्थान में बुद्ध्यनुसहृति को विज्ञान के सहारे स्थापित किया गया है। विज्ञान शब्द है। विज्ञान ही शब्दाथ है। रूप रस घट पट आदि बाह्य वस्तु विज्ञान से उद्बुद्ध होते हैं। विज्ञान कल्पना है अभिजल्प है बुद्ध्यनुसहृति है। वही वाक्य है।

यही वाक्यार्थ है।^१

प्रभाचंद्र ने बुद्धयनुसंहति को दो षण म विभक्त कर बुद्धिवाच्यपण और अनुसंहतिवाच्यपण की कल्पना की है।^२ किंतु यह विभाग भर्तृहरि द्वारा अभिप्रेत नहीं है।

पुण्यराज ने बुद्धयनुसंहारवात् को बोध दान व वाच्यस्वरूप व सदन माना है। उनके अनुसार गान्धर्व सिद्धांत में वाच्यमातरित्य आकार विशेष का बाह्य अभ्यास मात्र है। बोध आकार अनानि वाच्यवागना व प्रवाच्य स उदबुद्ध होता है और क्रम रूप में भासमान किंतु अक्रम रूप में अवस्थित पदा स विनिष्ट रूप म उभरता है। उसका बाह्य अभ्यास वाच्य है। और इस तरह बुद्धयनुसंहति का सहाय्य-सा है।^३

किंतु धर्मकीर्ति ने वाच्य की बुद्धिप्राप्ति को नहीं माना है। समस्त षण सस्कारवाली अन्त्य बुद्धि स वाच्य का भवधारण कपोलकल्पना मात्र है। अक्रम एक बुद्धिप्राप्त वाक्य संभव नहीं है। षणों का क्रम स ही भान होता है और बिना षण के सस्पश किए किसी को प्रतिपत्ति नहीं होती। जब कभी पद वाक्य का स्मरण होता है षण सत्ता क्रम रूप म ही भासित होते हैं। अक्रम बुद्धि म पूर्वापर का भान संभव नहीं है। अथवा पद वाक्य भेद म कोई भेद न रह जाय।^४

किंतु बुद्धयनुसंहार पक्ष का आधार अत्य बुद्धि-प्राप्तता वाला सिद्धान्त नहीं है। अतः धर्मकीर्ति की आलोचना युक्तिसंगत नहीं है।

आदिपदवाद

आद्य पद वाक्य है। जिस पद का वाक्य म सर्वप्रथम प्रयोग किया जाना है वह पद ही वाक्य है। उसी पद से अन्य पदा का आक्षेप हो जाया करता है। जो पद आरंभ म प्रयुक्त होता है वे या तो क्रिया पद होते हैं या कारक पद। क्रिया और कारक परस्पर अविनाशित होते हैं उनमें साहचर्य होता है। उनमें जो भी पहले प्रयुक्त होता है अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य पद के अर्थ का आक्षेप कर लिया करता है। जैसे धूम से वह्नि का आक्षेप हो जाता है। और इस आधार पर प्रथम पद को कुछ आचार्य वाक्य मानते हैं। प्रथम पद को ही वाक्य मान लेने पर अन्य पद, इस मत म व्यर्थ नहीं होते। वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं जसा कि आख्यात-वाच्य वाद वाले भी मानते हैं।

भर्तृहरि ने एक अन्य प्रकार से भी इस मत का संकेत किया है। इस मत म

१ विज्ञान शब्दाथ । विज्ञानमेव हि शब्द तच्च विज्ञान कल्पना बुद्धयनुसंहति वाचाथ । द्वात्शारन्यचम प० ११५१

२ बुद्धि वाच्यम् । अनुसंहति वाच्यम् । प्रभयकमलमानण्ड प० ४६०

३ पुण्यराज, वाच्यपदाय २।१

४ प्रमाणवर्तिक आधानुमानपरिच्छेद पृ० ८३ काशी सरकार

विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक मान जाते हैं और वे शब्दांतर के सबध से किसी आगतुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप में शब्दांतर के अर्थ को व्यक्त करते हैं।^१

पुण्यराज ने इस मत का सम्बन्ध अविताभिधानवाद से जोड़ा है। उनके अनुसार 'देवदत्त गाम् अभ्याज' इस वाक्य का देवदत्त शब्द 'देवदत्त गाम' प्रधान इस वाक्य के देवदत्त शब्द से विशिष्ट अर्थ में ही वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रम से सकल साधारण जान पड़ता है। बाद में (उत्तरकाल में) गो आदि पद के सप्रध से विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। आरम्भ में ही संपूर्ण विवक्षित अर्थ को मन में रखत हुए वक्ता विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। अतः आद्य पद में ही सकल वाक्य और सकल वाक्यार्थ की परिसमाप्ति हो जाती है

तेषामेवोपगहीतसर्वविशेषे एकस्मिन् अर्थे

बहुशब्दान्भ्युपगच्छतामविकल्प कृत्स्न

वाक्याय प्रतिपद प्रतिवण वा समाप्यते ॥

—वाक्यपदीय २।१८ हरिवृत्ति

इस मत की समीक्षा में प्रायः सभी आलोचकों ने यही कहा है कि एक ही पद से यदि समस्त वाक्यार्थ की अवगति हो जाय, अथ पद व्यर्थ मान जायेंगे। भक्त हरि ने इस आपत्ति के दो उत्तर दिए हैं। एक तो यह कि एक पद से सकल अर्थ का अभिव्यक्ति होना पर भी दूसरे पदों का सानिध्य से उन अर्थों का जो पुनः जान होगा वह जान वह आवृत्ति, नियम के लिए होगी। अथवा आदि पद से उक्त अर्थ को अर्थ पद और अधिक स्पष्ट कर देता है। यही अनुवाद है। अतः दूसरे पदों की अव्ययता नियम और अनुवाद रूप में मान लेनी चाहिए। दूसरा यह कि आदि पद में संपूर्ण अर्थ व्यक्त करने की क्षमता होना पर भी अर्थ पद अभिव्यक्तक है। उनके साहचर्य से ही संपूर्ण अर्थ व्यजित हो पाता है (व्यक्तोपव्यजना सिद्धि — वाक्यपदीय २।१८)^२

पुण्यराज ने नियम और अनुवाद वाले पक्ष से सतोप नहीं व्यक्त किया है। व्यक्तोपव्यजन वाले पक्ष के विषय में एक स्थान पर उन्होंने निराशा व्यक्त की है किन्तु दूसरे स्थान पर उसका समर्थन किया है।^३

आद्यपन्वाक्यवाद के आधार पर अर्थ पद वाक्यवाद की भी कल्पना की गई थी। यद्यपि अन्त्यवाद का उल्लेख या संकेत भट्ट हरि ने नहीं किया है किन्तु इस वाद की

१ वाक्यपदीय २।१७

२ वाक्यपदीय २।११६

३ पदाना नियमाद्यनुवादाय बोधवारण भवेत् । न चैतन् युक्तमिति वक्ष्याम । व्यक्तोपव्यजना इत्यसमाधानमेव ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।१८

‘यदा पुनः सहभूतेष्वेवासौ प्रत्येकं समाप्तोऽथ इत्युक्ते । यथोक्तं “व्यक्तोपव्यजना सिद्धिरथस्य प्रतिपत्तिर्यु” (वा० प० २।१८) इति । तदा नागत्यैव सहभूतानामुपान्ताने कश्चिद्वैकल्यम् — पुण्यराज, वाक्यपदीय २।११६

आलोचना कुमारिल भट्ट ने की है। सुचरित मिश्र और पायसारथि ने स्पष्ट कहा है कि किसी (वाक्य) ने अन्त्यवाक्यवाद का उल्लेख नहीं किया है फिर भी उसरी सभावना कर कुमारिल ने समीक्षा की है।

जो हेतु आद्यपदवाक्य पक्ष में दिए जाते हैं वे ही अन्त्यपद वाक्य पक्ष में भी दिए जाते हैं। मुख्य होने का कारण आद्यपद वाक्य है। इसी आधार पर अन्त्य पद भी वाक्य है

अन्त्यपदवाक्यता पररपठिताऽपि यावत् समवधुपयासादुपदर्शिता। एष हि ते स यत्, मुख्यत्वाद् आद्यमेव पद वाक्यमिति। अन्त्यञ्च। तदनन्तरमप्यवगतः।

—सुचरितमिश्र श्लोकवातिनवांगिका ७।४६ हस्तलेख

मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अन्त्यपदवाक्यवाद का उल्लेख पूर्वपदनाम हितसंस्कार के आधार पर किया है। भर्तृहरि के अन्त्य ध्वनि से बुद्धि परिपाक वाला सिद्धांत इस विचार का मूल हो सकता है।^१

भोजराज एक पद में, चाह वह आदि का हो या अंत का, वाक्य गणित मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में यदि एक शब्द में सभी पदों के अभिधेय व्यक्तित्व करने की शक्ति मान ली जायगी, उसीसे व्यवहार होने लगेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। यदि गो शब्द के उच्चारण से सक्ता गोगत गुण और उसकी सभी क्रियाओं की अभिव्यक्ति हो तो श्रोता को किसी एक गुण या क्रिया को अवगत करने में कठिनाई होगी। ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे नियत गुण अथवा क्रिया का ग्रहण हो सके। पदांतर सन्निधान को नियामक नहीं माना जा सकता। वह भी जप, मंत्र आदि के सदृश केवल स्वरूप मात्र से सन्निहित होता है अतः उसमें कोई वशिष्ट्य नहीं है।^२ किन्तु जसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कुछ आचार्यों के अनुसार साध्य (क्रिया) नियत साधनवाला है। और साधन (कारक) नियतसाध्यवाला है। क्रिया कारक का यह नियत स्वरूप प्रति पद में अभिधेय की भांति स्थित रहना है। यह नित्य नियतत्व नियम का हेतु ही जाता है। इसलिए दूसरे शब्दों के प्रयोग के सान्निध्य मात्र से बोधवर्त्ता को आदि पद से (अथवा केवल अन्त्य पद से) समग्र वाक्यार्थ भलक उठता है। अतः आद्य पद वाक्य है

नियत साधन साधये क्रिया नियतसाधना।

स सन्निधानमात्रेण नियम सन प्रकाशते ॥

—वाक्यपदीय २।४७

पृथक् सर्वपद वाक्यवाद

पृथक् सर्वपद वाक्य हैं। कुछ आचार्यों के मत में सभी पद अलग अलग वाक्य हैं यद्यपि

१ अतः च पद वाक्याथ । स च पूर्वपदज्ञानाद्विमतमकारापेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः ।

—आदर्शालंकरण, पृ० ६११

२ १ गार प्रकाश, पृ० २७७ मैमूर संस्करण

वे परस्पर साक्षात् होत हैं। इस पक्ष में प्रायः वे ही हतु उपस्थित किए जाते हैं जो सघात पक्ष में वहे जाते हैं। जिस तरह से तीना आवा उता को धारण करते हैं जैसे चारा बाहक शिविका को वहन करते हैं वैसे ही सभी पद वाक्य हैं और सभी पद अपने अपने अर्थ से युक्त रहते हैं।^१ 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में इस मत में, प्रत्येक पद वाक्य है। क्योंकि सभी पद सर्वात्मक हैं। देवदत्त भी गवात्मक है, अभ्याजात्मक है क्योंकि वह प्रवक्तृ है और इसलिए उन उन रूप वाला हो जाता है। इसी तरह गो भी देवदत्त आदि के रूप में ढल जाता है अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है।^२ भत हरि की शब्दावली में, देवदत्त आदि पद की प्रत्येक परिममाप्ति है। पथक सवपद वाक्य पक्ष में प्रत्येक शब्द संपूर्ण व्यापार वाला (वृत्स्तव्यापारकारि) है। एक एक के रहने से संपूर्ण व्यापार संपन्न होता है, एक के भी रहने से व्यापार संपन्न नहीं हो पाता है। अतः पथक सव पद का वाक्य मानना चाहिए।

सघातवाद और पृथक् सवपदवाद में यह भेद है कि सघात पक्ष में पद सघात परतत्र है जबकि पृथक् सवपद पक्ष में पद स्वतंत्र हैं। सघातपक्ष में पद की स्थिति शकट के अग्रवक्त्र के रूप में है। शकट (गाड़ी) के सभी अंग, मिलकर काम करते हैं किंतु प्रत्येक अंग शकट से अलग अपना काम नहीं कर पाता है। पथक सवपदवाद में पद की स्थिति शिविकावाहका जैसी है। बाहक मिलकर पालकी ढोते हैं पर स्वतंत्र भी अपना काम कर सकते हैं। यदि देव सूरि के अनुसार 'पथक सवपद साक्षात्तम' में पथक विशेषण इसे सघातपक्ष से अलग करता है और सब विशेषण इसे आभ्यातवाद से और आद्यपदवाद से अलग करता है

पथगिति सघातादवच्छिन्नति । सबमिति आद्य पदात् आह्याताच्चावच्छिन्नति ।

तेन सर्वाण्येव पदानि अयोयसापेक्षाणि प्रत्येक वाक्यमित्यथ ।

—स्यादवादरत्नाकर पृ० ६४५

पुण्यराज ने पथक सवपदवाक्यवाद का भी सम्बन्ध अवितामिधानवाद से जोड़ा है। वाक्य में कारक सदा क्रिया का मुख देखते हैं क्रिया भी कारक का विरह नहीं सह पाती है। इस परस्पर सम्बन्ध के आधार पर पद स्वतः वाक्य का अर्थ अवगत करा देते हैं। क्रिया और कारक की परस्पर उन्मुखता सन्निधान मात्र से व्यक्त हो जाती है। इनमें परस्पर मुख्य या गौण भाव आकाक्षा पर निर्भर करता है। आकाक्षा व्यपेशाश्रित है। भत हरि के अनुमान व्यपेशा अर्थ में हो या न हो, शब्द में सत्ता सन्निविष्ट सी रहती है।^३ उसे शब्द व्यक्त करता है। कारक पद क्रिया में

१ पृथक् स्वेन स्वार्थेन युक्तानि पदानि वाक्यम् ।

—द्वादशारनयनम् पृ० १०७८

२ वाक्य च पृथक् सवपदम् । यथा देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम् इत्यत्रैकैक पद वाक्यम् । तस्मादेव देवदत्तोऽपि हि गवात्मकोऽभ्याजात्मकश्च । तथा प्रवक्तृनात् तत्तत्पक्षे । तावपि तथा पक्षे रिति ।

—द्वादशारनयनम् पृ० ४२६

३ अर्थेषु सत्ताममर्ती वा शब्दवृत्त्यनुकारेण पुरुषो व्यपेक्षो मनीहते । ता शब्द एव प्रकाशयति । सा हि नित्यनिविष्टरूपव शब्दात्मनि ।

गुणभूत होकर अथ पद की भाषा में करता है। त्रिधा प्रधात रूप में रहकर कारक पदा की अपेक्षा रखती है।^१

सत्यवाचि क्षमाश्रमण ने मन्त्रवाच की एक दूसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। वाक्यपदीय २।१२१ वं आधार पर उक्त कहना है कि सभी वाच्य का सत्तामान अथ है। वाच्य का अर्थ केवल प्रत्याय्य होता है। उस निश्चित रूप से नहीं धरना दिया जा सकता। अपूर्व देवता, स्वर्ग जस वाच्य वं जा अथ भागित जान है व प्रत्यय नहीं हैं, उनका निरूपण संभव नहीं है। इसी तरह गा आदि वाच्य को भी समझना चाहिए। गमन, आगमन, गजन जस वाच्य का अर्थ है इतना ही सत्य है उस अर्थ व्यक्त्या का निरूपण विशेष रूप में संभव नहीं है। इस सिद्धांत व आधार पर सभी पद वाक्य हैं।^२ इस दृष्टि से पथक सवपद साक्षात् वं दो भाग हो जाते हैं—पथक मन्त्रवाच और साक्षात् सवपदवाद। सुचरित मिश्र भी इस दो भागों में विभक्त करत जान पड़ते हैं।^३

बौद्ध सम्प्रदाय में भी वही-वही पद की वाक्य सत्ता दी गई है। पद ही वाक्य है। किंतु उनकी पद की परिभाषा एक तरह से वही है जो एवाचपरत पद समुदाय वाक्यवादियों की है

पदपर्यायो वाक्यम। यावदभि अथवदभि पद विवक्षिताथपरिपूरि (पूर्ति) भवति तावता समूह पदम इत्यभिधायिका। —अभिधमनीय पृ० १०६

कणकगोमी ने भक्त हरि वं नाम से एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार सभी पद अलग अलग अर्थवान हैं और उनमें प्रत्येक में संपूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदों में से जिस किसी का भी प्रथम ग्रहण हो उसमें दूसरे पदों व अर्थ समाविष्ट रहते हैं वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद वं लिए होते हैं

यदाह भक्त हरि —सर्वेषां पृथक् अथवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्द कृत्स्नाथपरिसमाप्ते । तथा यदेव प्रथम पदमुपादीयते तस्मिन् सवरूपार्थोपप्राप्तिं नियमानुवाद निव धनानि पदांतराणि विज्ञायते ।^४

—प्रमाणवार्तिक टीका पृ० ४६४

इस उद्धरण से भी ऐसा जान पड़ता है कि पथक सवपद और साक्षात् य अलग अलग भेद हैं।

यागदशन भी सवपदवाक्य सिद्धांत का पोषक है। उसके अनुसार सभी पद में वाक्य की शक्ति है। पद वाक्य है। वक्ष इतना कहने पर भी वक्ष है ऐसा बोध देखा जाता है। पन्था सत्ता निरपेक्ष नहीं होता। सवपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः^५

१ वाक्यपदीय २।४७ ४८

२ द्वादशारण्यचक्र पृ० १३३

३ एकैकापयिष्ये वाक्यार्थोदशानां सवाणि वाक्यम। परस्पररोहितानि पृथक् कल्पना वन्ति। श्लोकवार्तिक काशिका ७।४६ हरतलेख

४ इस उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि भक्त हरि ने वाक्यपदीय पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। यह अष्ट वाक्यपदीय २।१ पर होगा जो आज अनुपलब्ध है।

वक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते । न सत्ता पदार्थो व्यभिचरति । तथा न ह्यसाधना क्रिया अस्ति इति ।

—योगसूत्र व्यासभाष्य ३।१७

उपयुक्त वाक्य विकल्पा के अतिरिक्त पुण्यराज ने भीमात्मक, नयाधिक और शाक्य मत में भी वाक्य के स्वरूप का निर्देश किया है और उनका उपयुक्त बान्ते में अतर्भाव दिखाया है । उनके मत में जमिनी का वाक्यलक्षण लौकिक वाक्यलक्षण है और उसका अतर्भाव सघात पक्ष में हो जायगा । वास्तविकार के वाक्यलक्षण का भी अतर्भाव, पुण्यराज के अनुसार, सघात पक्ष में हो जायगा ।^१

पायदशन में पुण्यराज के अनुसार, पूर्व पूर्व पदस्मृति सचित अन्त्यपद नष्ट होता हुआ भी अनुभव का विषय बनकर वाक्य का स्वरूप लेता है । इसका भी अतर्भाव प्रायः सघातपक्ष में हो जाता है । वाक्य दशन में गृहीत वाक्य का लक्षण वृद्धयनुमहति पक्ष के समकक्ष है ।^२

ऊपर जितने वाक्य विकल्पा का उल्लेख किया गया है इसमें किसी की विशेष प्रतिष्ठा नहीं हुई । लोक व्यवहार में एकात्मक पदसमुदाय को वाक्य माना जाता रहा और अनेक विचारों में और व्याकरणों में भी उस स्वीकार किया । इस दृष्टि से कुछ प्रसिद्ध वाक्यलक्षण यहाँ लिए जा रहे हैं ।

१ पदसघातत्र वाक्यम् ।—याडि ।

२ पदसमूहो वाक्यमथपरिसमाप्ती ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० १७६

त्रिवे द्रम सस्वरण

३ एकाय पदसमूहोवाक्यम् ।^३—काशिका ८।१।८

४ सुप्रतिष्ठन्तश्च वाक्य क्रिया वा कारकाविता ।

—अमरकाण्ड, प्रथमकाण्ड, शब्दाविभग

५ पदसमूहो वाक्यम् ।—पास ४।४।१

६ विशिष्टकाथप्रतिपादकनिराकाशपदसमूहो वाक्यम् ।

—वचनाय पायगुण्ड चन्द्रालोकटीका पृ० ८

पुण्यराज के अनुसार इन सभी वाक्य विकल्पो में भक्त हरि का भुक्ताव एक निरवयव शब्द वाक्यवाद की ओर था । पुण्यराज ने इसकी दूसरी सना स्फोट दी है । स्फोट बाह्य रूप में और आन्तरिक रूप में वाक्य है

टीकाकारश्चामुमेव पक्ष सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्त मयमान बाह्यरूप आतरो वा निविभाग शब्दाथमयो बोधस्वभाव शब्द स्फोटलक्षण

१ अथवा मयानान्तेऽतर्भाव । वाक्यपदायटीका २।१

२ पुण्यराज वाक्यपदीय २।१,२

३ हरदत्त के अनुसार यहाँ काशिका में पाठ भेद था—क्वचित् एकानि पदसमूहो वाक्यमिति पठ्यते क्वचित्तु न निविदपि वाक्यलक्षण पठ्यते ।

एव यावयमिति ।

—गुण्यराज, वासवाश्रीय २।६

किन्तु भक्तु हरि ॥ स्वयं वाक्य विचार य प्रसन्न म मनो ॥ ना ना प्रयत्न प्रयोग
नही किया है ।

हेलाराज भी निरवयव वाक्यवान् व समयक हैं याग्यस्य निरगम्य याचन
त्यादन्तरादप्रतिपत्ति विभ्रम इति ।

—हजार राज यावत्पत्नीम् ३।१

वाक्य के भेद

व्यावहारिक वाक्य लक्षण को सामन रखकर वाक्य भेद पर भी विचार मिलन है। वाक्य भेद के मुख्य आधार क्रिया पद हैं। एक क्रिया हो तो एक वाक्य, अनन्त क्रिया हो तो अनन्त वाक्य मानने चाहिए। किन्तु राजशखर श्रान्ति इसस सहमत नहीं है।

प्राख्यातपरतप्रा वाक्यवत्ति । अतः यावदाख्यातमिह वाक्यानि—इत्याचार्या ।
एकाकारतया कारकप्रामस्यकायतया च यद्योवत्ते एकमेवेद वाक्यम इति
याथावरीयम् ।

—काव्य मीमांसा पृ० २३ बडोदा सं०

फिर भी आर्यात के आधार पर दम तरह के वाक्या का उल्लेख काय भीमासा
में मिलता है

एकाख्यात । अनेकाख्यात । आवताख्यात । एकामिधेयाख्यात । परिणताख्यात ।
अनुवताख्यात । समुच्चिताख्यात । अयाहताख्यात । कृदभिहिताख्यात । प्रोर
अनपेक्षिताख्यात ।

भोज न इसमें एवान्तराख्यात नामक एक और भेद जोड़ कर वाक्य के ग्यारह भेद माने हैं।^१ इनमें व्याकरण के विचार क्षेत्र में एकाख्यात और अनेकाख्यात इन दो रूपा पर अधिक विचार है। क्रिया विचार के प्रसंग में कहा जा चुका है कि इस विषय में पाणिनि और वार्तिककारों में मतभेद दिखाई देता है। पाणिनि के अनुसार अनेकाख्यात के योग में भी यदि पद साक्षात् ही एक वाक्यत्व रहता है।

तत्र भवत्त मयते बहुवचि तिङ्तेषु येषु अथ लक्षणा काचिद् आकांक्षा विद्यते
तेषाम् एकवाक्यत्वं न यावत्स्यते ।

—वाक्यपदीय २।४५० हरिवन्ति, हस्तलेख

कात्यायन एक तिड वाले मत के प्रवक्तक हैं। फलत

पश्य मृगा धावति ।'

अथ दण्ड हरानेन

जस वायव एक भी है और नाना वायव भी है ।

अस्ति स मे रोचत ।

नास्ति रम ।

भवेदपि भवत ।

स्यादपि स्यात् ।

अपि भवदन्त भवत देवदत्त ।

अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरपु वस्याम् तत्रौदन भाष्यामह ।

‘स स्वपिबति एष बुद्धयत्

जैसे वाक्य विचार भेद से एक वाक्य भी है और नाना वाक्य भी हैं । अनेक क्रिया पद होने से नाना वाक्य हैं । परस्पर साक्षात् होने से, क्रिया में परस्परलभ्य लक्षण भाव होने से अथवा काल विशेष के लक्षण होने से एक वाक्य है । जो लोग वाक्य भेद का आधार बुद्धि में अर्थ का उल्लेख मानते हैं, उनके मत में भी उपयुक्त वाक्यों में एकवाक्यता है ।’

महाभाष्यकार का एक वाक्य है

भवति च किञ्चिद्वाच्यार्थं क्रियमाणमपि चोदयति

—महाभाष्य २।४।६२, ६।१।६७

कैयट ने इस एक वाक्य भी माना है और दो वाक्य भी माना है

भवति च किञ्चिदित्येक वाक्यम् । अथवा चोदनक्रिया भवति क्रियाया

कर्त्री भवताति एकमेव वाक्यम् ।—कैयट प्रदीप ६।१।६७

विशेष उदाहरणा का छोट दें तो सस्कृत में वाक्य के प्रकृत स्वरूप पर विशेष विवाद नहीं है । वाक्य के विषय में दो तत्त्व सस्कृत में सदा से परिगृहीत हैं । पहला यह है कि वाक्य में पदक्रम का कोई नियम नहीं है । केवल निपातो के प्रयोग पर कुछ नियम हैं । दूसरा यह कि वाक्य की कोई सीमा नहीं है वाक्य लम्बे-से लम्बे हो सकते हैं

न च वाक्यरूपावधिपरिग्रहे नियमोऽस्ति ।

—वाक्यपदीय २।७६ हरिवर्ति

प्रधान वाक्य और अप्रधान वाक्य के रूप में भी वाक्य पर विचार है । प्रधान वाक्य को केवल वाक्य, अथवा महावाक्य कहते हैं । अप्रधान वाक्य को अवयव वाक्य अथवा अवान्तर वाक्य कहा जाता है ।

सस्कृत में द्विष् अथवा द्विगत वाक्य को भी वाक्य के एक रूप में माना गया है

वाक्यापि द्विगतानि दृश्य ते

न्येतो धावति । अलम्बुसाना यातेति ॥

—महाभाष्य ८।२।३ पं० ३८८ कीलहान सं०

दो अथ अथवा दो प्रयोजन व्यक्त करने वाले वाक्य द्विष्ट वाक्य कह जाते हैं ।
‘द्वेष्ट धावति’ को दो वाक्यों में बंटला जा सकता है—

१—‘वेत धावति ।

२—‘इवा इत धावति ।

ससृज्य में कतिपय ऐसे भी पद हैं जो वाक्य के अथ में प्रयुक्त होते हैं । उन्हें अवचन वाक्य कहा जाता है ।

श्रोत्रिय = जो बच्चा पढ़ता है ।

क्षेत्रिय = जिसका राग किसी अथ में माध्यम में निरिह्य होता है ।

इस तरह के शब्द पद होकर भी वाक्य का काम करते हैं ।

वाक्यार्थ विचार

वाक्य के साथ साथ वाक्यार्थ पर भी विचार गूढ़ प्राचीन काल में प्रारम्भ हो गया था । एक तरह से वाक्यार्थ को सामने रखकर ही वाक्य पर विचार प्राचीन आचार्यों ने किया था । सग्रहकार व्याडि ने वाक्यार्थ की प्रतिष्ठा की थी और स्पष्ट सिद्धांत स्थापित किया था कि पद के स्वरूप और उसके अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थ पर ही निर्भर करता है

पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थोऽव जायते ।^१

महाभाष्य में वाक्यार्थ सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण वक्तव्य मिलते हैं । एक तो यह कि पद पहले सामान्य अर्थ व्यक्त करते हैं बाद में विषय अर्थ व्यक्त करते हैं । पद का सामान्य से विषय में अवस्थित होना ही वाक्यार्थ है

पदानां सामान्ये वक्तमानानां यद विनये अवस्थान स वाक्यार्थ ।

—महाभाष्य १।२।४५, भाग १ पृ० २१८, कीलहान संस्करण

कैयट ने इसका अभिप्राय निकाला है कि वाक्यार्थ पञ्चसम रूप है । वाक्य ही मुख्य शब्द है और वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दावयव है । किन्तु भाष्यकार का यह वक्तव्य अभिहित-वयवाद का बीज माना जा सकता है ।

महाभाष्यकार का वाक्यार्थ के विषय में दूसरा वक्तव्य यह है कि जो कुछ आधिक्य रूप में सामने आता है वह वाक्यार्थ है । प्रातिपदिकार्थों में क्रिया के योग में क्रियाकृत विनये उत्पन्न हो जाते हैं । वही आधिक्य है । वही वाक्यार्थ है ।^२

गबर स्वामी का वाक्यार्थ निरूपण महाभाष्यकार के वक्तव्य के सदृश है । पद सामान्य वृत्ति वाला है । वाक्य विशेष वृत्ति वाला है । सामान्य में प्रवृत्त पदार्थों

१ वाक्यपदीय १।२४ हरिवर्च में सग्रहकार के नाम से उद्धृत पृ० ४२ लाही संस्करण

२ अद्वैताधिक्य वाक्यार्थ स

—महाभाष्य २।३।४५, पृ० ४६२ कालहान संस्करण

प्रातिपदिकार्थों की क्रियाकृतविशेषा उपजायन्ते ।

—महाभाष्य २।३।५० पृ० ४६४

का विशेष मे अवस्थान वाक्याथ है ।^१

हेलाराज ने भी ऐसे सम्बन्ध को वाक्याथ माना है

वाक्याथश्च सामान्ये वतमानानां विशेषेऽवस्थापक सम्बन्ध ।

—हेलाराज, वाक्यपदीय गुणसमुद्देश १

वाक्याथ सत्यभूत है । उसकी आत्मा किसी विशेष म स्थित नहीं है । पुण्यराज के अनुसार पानकरस की भांति अथ विभागरहित है । पदाथ लोहे की छड़ (अथ शलाका) की तरह है । वाक्याथ के सपक से उनम प्राण प्रतिष्ठा हो जाती है ।^२

पदाथ मे अथवा समुदाय म वाक्याथ की कही भी परिसमाप्ति नहीं होती । शृंगग्राहिक ढग से उसके स्वरूप का विवचन नहीं हो सकता । केवल अवाख्यान के लिए वाक्य के पदा म साक्षात्त्व की कल्पना कर वाक्याथ का निरूपण किया जाता है । वाक्याथ अपने आप म एक है अखण्ड है ।^३

अभिनवगुप्त न भी नियत एकघनाकार वाक्याथ का अवग्रोह एकाकार रूप में ही सहज माना है । इसी दृष्टि से अनुपदकार आदि ने 'हनेभूते विषय मे चार तरह के अवधारण का आश्रय लिया है । 'याख्यान के लिए एक वाक्य के भीतर अवान्तर वाक्य के उत्थान से वाक्य भेद नहीं हाता ।^४

जैसे वाक्य एक है अखण्ड है । वैसे अथ भी एक है अखण्ड है । वाक्याथ का अनुगम चित्र परिचान के सदन है । जमे शब्द का कोई विभाग नहीं होता अथ का भी कोई विभाग नहीं होता ।^५ केवल समझन समझाने के लिए अथ के स्वरूप पर विचार किया जाता है ।

वाक्याथ ससग रूप म अथवा भेद रूप म अथवा भेद ससग उभय रूप म गहीत होता है । ससग सम्बन्ध को कहा जाता है । भेद से तात्पर्य व्यावृत्ति स, अथ से अलग करने से है । राज पुरुष कहने से पुरुष विशेष का स्वामी विशेष से स्वामी-विशेष का पुरुष विशेष स जो सम्बन्ध है वही ससग है । अपन से अय से और स्वामी से अय से जो व्यावृत्ति भासित होती है वह अथसिद्ध है । दो वस्तुओं का सम्बन्ध जब तक अय सम्बन्धियों से अलग रूप म न दिखाया जाय, ससग नहीं कहनाता । यह ससगवादियों का मत है ।

जो लोग भेद को वाक्याथ मानत हैं उनके मत मे व्यावृत्ति ही वाक्याथ है । जब तक अथ रूप म गहीत ससग का सम्बन्धांतर से व्यावृत्तन न हो वह स्वरूप ही नहीं ग्रहण कर सकता । अतः अय से व्यावृत्तन की प्रमुखता होने के कारण भेदवाक्याथ

१ शाबर भाष्य ३।१।१२, पृ० १५१ काशी संस्करण

२ वाक्याथे योऽभिसम्बन्धो न तस्यात्मा पृथक् स्थितः । व्यवहारे पदाधाना तस्मात्मानं प्रचक्षते ॥

वाक्यपदीय २।४४५

३ एकार्थत्व हि वाक्यस्य मात्रयापि प्रतीयते । वाक्यपदीय २।४४८

४ इश्वरप्रपन्निहो विवर्तितविमर्शिनी, भाग १ पृ० २१७

५ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।

की दृष्टि में भेद वाक्याय है।

कुछ आचार्य दोनों मतों को जोड़कर भेद और ससग दाना का वाक्याय रूप में स्वीकार करते हैं।

वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है किन्तु उस प्रतिपत्ति का बाद निश्चित प्रकार नहीं है। किसी को किसी रूप में प्रतिपत्ति होती है किसी का किसी रूप में। कोई आचार्य पाणिनि की प्रक्रिया के आश्रय से अर्थ का अवगोचर करता है कोई किसी अर्थ व्याकरणसम्मत प्रक्रिया से। श्रोत्रिय शब्द से वचन पढ़ने वाला व्यक्ति का बोध होना है किन्तु इस बोध की प्रक्रिया भिन्न भिन्न हो सकती है। किसी मत से श्रोत्रिय शब्द श्रोत्र गन्ध से घ प्रत्यय से बना है और थात शब्द स्वतः छन्द गन्ध का आरोपित रूप है। किसी के मत में श्रोत्रिय गन्ध श्रोत्र से विण गय कम क अर्थ में निष्पन्न होना है। गवायान की प्रक्रिया भिन्न भिन्न होती है। भेद वाक्य विभाग के आधार पर हात है। रानपुष्ट कहाँ से ससृष्ट रूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है रान पुष्ट कहन से विभक्त रूप में। भत हरि के अनुसार भेद और ससग अध्यारोपसिद्धात, नियमसिद्धात अथवा अपराग सिद्धात की प्रक्रिया से भिन्न भिन्न व्यक्तियों को वाध कराने के उपाय मात्र हैं।

वाक्याय एक है अण्ड है। जैसे पदार्थ के ज्ञान में वण के अर्थ पर ध्यान नहीं जाता वैसे ही वाक्य के अर्थ के लिए पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती।^१

इसके विपरीत कुछ आचार्य मानते हैं कि वाक्याय पदार्थ में सन्निविष्ट रहता है, पदार्थ वण के अर्थ में सन्निविष्ट रहता है। वण और पद भी अर्थवान हैं। इनके अर्थ के द्वारा ही वाक्य भी अर्थवान होता है। वाक्य और पद के अर्थ ता स्पष्ट प्रतीत होते हैं किन्तु वण के अर्थ सूक्ष्म है अप्रत्यक्ष से है किन्तु वण वाचक अवश्य हैं। जिस हेतु के बल पर पदार्थवादी पद में अर्थ की कल्पना करते हैं उसी हेतु के बल पर वण वादी वण में अर्थ की कल्पना करते हैं।^२

बुद्धयनुसहार वाक्यवाचक के समर्थक जस आन्तर शब्द की सत्ता मानते हैं वैसे ही आन्तरवाक्याय की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। संपूर्ण वाक्य एक शब्द है, उस शब्द के दो भाग हैं। एक भाग से अन्त शब्द तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है दूसरे भाग से अन्त अर्थ तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थभागस्तथा तथामा तरोथ प्रकाशते

—वाक्यपदीय २।३१

सभी व्यवहार पहले अन्त बुद्धि में बद्धमूल होते हैं इसलिए सभी अर्थ अन्त-रिक्त हैं।

भत हरि ने इस विचारधारा के पोषक किसी प्राचीन सारथ्य अथवा आचार्य पचगित्त का मत उद्धृत किया है। इस मत में अर्थ के ज्ञान की प्रक्रिया या है—विषय

(वस्तु) का बुद्धि में सक्रमण होना है बुद्धि आत्मा से संपृक्त हाती है बुद्धि में जिस वस्तु का विम्ब है पुष्प भी तदामक हो जाता है, फलतः पुष्प की अथ ही उपलब्धि होती है। उस उपलब्धि का भोग (विभाग ?) विषय का भोग, अथ का परिचान होता है। इसमें सहायक दो शक्तियाँ हैं। भोक्तृ शक्ति और भोग्य शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ असंकीर्ण हैं अलग अलग हैं फिर भी अविभक्त ही हाकर भोग का निष्पादन करती हैं। यह भोग बुद्धि में घटित होता है। बुद्धि प्रकाशमयी है। उसमें चतुर्थ पुष्प और वस्तु दोनों ही प्रतिविम्बित हैं। दूसरी शक्ति में बुद्धि पुष्पपुष्प और वस्तुरूप दोनों हो जाती है। इसलिए जो विभक्त है वह अविभक्त-सा हो जाता है। विभक्त का अविभक्त सा हो जाना ही भोग है। भोक्तृ शक्ति अपरिणामी है और सक्रमणशील नहीं है। वस्तु परिणामी है। किंतु भाग्यशक्ति वस्तु में सक्रमण सी होकर वस्तुगत धर्म का अनुभव करती है। ज्ञान की प्रवृत्ति इस चतुर्थ युक्त बुद्धि वृत्ति से अविनिष्ट है। भोग और ज्ञान समान है। भोग की तरह अथ ज्ञान भी बुद्धिमत्ताविष्ट है। भोक्तृ और भोग्य शक्ति की तरह प्रतिपादक और प्रतिपत्तय शक्ति बुद्धि में अविभक्त सी रहती हैं। हमारे शब्दों में शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि में एकत्र अविभक्त से संपृक्त रहते हैं। य एक ही शब्दात्मा ने दो भेद है। विषय भेद से उनका विभाग कल्पित है।

वाक्याथ की सत्ता बौद्ध है बुद्धया मक है। अथ मत्ता एक बुद्धि से अवमष्ट होता है। वह आंतरिक है। बाह्य नहीं है। किंतु प्रवाह्य बाह्य रूप में प्रतीत होता है और अपाद्वार के सहारे उसका विभाग किया जाता है। यो अर्थ विज्ञानमय है, बौद्ध है वह बाह्य रूप में प्रतिभासित होता है। बाह्य रूप में, हो चाहे वह सत्ता या असत्ता, उपचार के सहारे अपाद्वार पद्धति पर उस अर्थ का विभाग किया जाता है

सप्रत्ययार्थाद बाह्योऽथ सत्तत्त्वा विभज्यते ।

बाह्योऽप्युक्त्य विभागस्तु शक्त्युपपाद्वारलक्षण ॥

—वाक्यपदीय २।४४६

पुण्यराज ने इस कारिका के सप्रत्यय शब्द का अर्थ बुद्धि या विज्ञान किया है। उनके अनुसार निष्कप यह है कि यदि अर्थ विज्ञानाकार है किंतु विकल्प वासना के प्रभाव से बाह्य अर्थ के साथ एकाकार होकर सत्य रूप से बाह्य रूप में अवस्थित होता है शब्दाथ बाह्य है। यदि असत्य रूप में अवस्थित होता है, शब्दाथ बौद्ध है।

अर्थ के बौद्ध या बाह्य दोनों रूप में अपाद्वार समान है। वाक्यवाणी वाक्य की ही सत्ता स्वीकार करने वाले अखण्ड वाक्य की 'युत्पत्ति' में पद 'युत्पत्ति' को उपाय (साधन) मानते हैं। पदवाणी प्रकृति प्रत्यय आदि की 'युत्पत्ति' को उपाय मानते हैं।

१ वाक्यपदीय २।३१ हरिवृत्ति । अतः हरि व यद्वा निम्न वाक्यों का प्रयोग किया है व वाक्य योगमधु-यास माधु २।३ और धार २ में व्यो क त्या भिन जाने हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ये विचार पश्चिम के हैं अतः हरि ने इस दर्शन का उल्लेख वर्तमान मुद्रा ३३५ में भा किया है—

अच्युतेषु सप्तान्तेनैतन्मित्र दृश्यते ।

प्रतिविम्बकर्मण्य या द्वा दन्ति वनम् ॥

यायोगी व पालन होने से उत्तरी श्रुति सन्तान में नहीं हो सकती। अतः पालन पद्धति का आश्रय लिया जाता है। अतः पालन पद्धति भी प्रचलित है। पालन में भी पालन पद्धति की प्रथा से प्रत्येक पालन प्रथित होता है। अतः बुद्धि से पालन का प्रयोजन पालन पद्धति कहना है। जो पालन प्रयोजित है वह पालन सन्तान में प्रयोजित होता है। पालन में पालन पद्धति का प्रयोजन पालन पद्धति कहना है। पालन में पालन पद्धति का प्रयोजन पालन पद्धति कहना है। पालन में पालन पद्धति का प्रयोजन पालन पद्धति कहना है।

जस वास्य क शिष्य म वासयाय क शिष्य म भी मयाधिक विचार वास्यपत्नीय
म है । पुष्कराग क भगुमार वास्यपत्नीय म शिष्यान्विता ह वास्यपत्नी का निम्नपण
है—

- १—सतग वाक्याथ
- २—सतष्ट वाक्याथ
- ३—तिराकाश पदाथ वाक्याथ
- ४—प्रयाजन वाक्याथ
- ५—प्रिया वाक्याथ
- ६—प्रतिभा वाक्याथ

इस छ प्रवार व वाक्याय व अनिरिक्त मीमांसागान की दृष्टि स विधि वाक्यायवा, नियोगवाक्यायवा और भावना वाक्यायवा तथा गाय दान और बौद्ध दशन म गहीत वाक्याय पर भी पुण्यराज ने कुछ प्रमाण डाला है और उनका उपयुक्त भेदा म अतर्भाव लिखाया है ।

ससग वाक्याथ रूप में

जो आचार्य पदसंघात की वाक्य मानते हैं उनके मत में ससग वाक्याथ है । भक्त हरि ने इस मत के आधार के लिए महाभाष्यकार की आधिक्यवादी उक्ति उद्धृत की है । पदा में परस्पर सम्बन्ध होने पर जो आधिक्य अवगत होता है वह अनेकपत्न्यान्वित ससग है वही वाक्याथ है

सम्ब धे सति यत्त्व यदाधिक्षयमुपजायते ।

वाक्याथमेव त प्राहरनेकपदसंश्रयम् ॥

—वाक्यपदीय २।४२

ससग का वाक्याथ के रूप में स्वीकार करने वालों में भी तीन विनल्प हैं। एक जाति के सदृश वाक्याथ को प्रत्यक्ष में परिसमाप्ति मानता है। दूसरा सरया की

१ ज्ञानप्रतिविम्बितय हि बाह्यानुकारित्वेन सादृश्य सत्त्वेन प्रकारात् । सकल्पितसादृश्यस्य बह्वय निवृत्तनात् । बाह्य च्चाणोऽभियमाद्यस्य पदस्य दावयाधोऽपरिवर्त्यनया अश्वत्थ एवापोद्धारो युवत । अधापोद्धार एव हि पथापोद्धारस्य निमित्तम् । अन्तिमरो । हृतरिमन् वर्णापोद्धारस्यापि प्रसङ्गात् तेषामपि व्युत्पत्त्या त्वात् । वायथाधश्च स्थिरलक्षणानिरश कारकाकलितशरात्रियावभाव ॥

तरह वाक्याथ की परिसमाप्ति समुदाय में मानता है। तीसरा, सामान्य विरोधी विगेष विश्रांत पक्ष का समर्थन करता है। इनका उल्लेख सघात वाक्यवाद के अवसर पर किया जा चुका है।

वाक्याथ का विगेष स्वयं ससग है। जो आचार्य वण या पद को साधक नहीं मानते, उनके मत में भी पद समुदाय से विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है

यथवानथक वर्णे विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ।

पदरन्थकरेव विशिष्टोऽर्थोऽभिधीयते ॥ —वाक्यपदीय २।४१६

वाक्य की असमाप्ति तथा पदों से जो ज्ञान होता है वह इस मत में, प्रतिपत्ति का उपाय मात्र है।

अपरिसमाप्ते यद वाक्ये सामान्यमात्रे

पदभिधेये देवदत्तादिश्रुते ज्ञानमुत्पद्यते ।

प्रतिपत्त्युपायएवासी पुरस्तात् व्याख्यात ।

—वाक्यपदीय २।४१७ हरिवृत्ति हस्तलेख

पद चाह अनर्थक है अथवा उपाय के रूप में साधक है, मदा नम से उच्च स्ति होने पर एक विगेष अर्थ के जनक होते हैं। वह विशेष ससग है

अनर्थकापुपायत्वात्पदार्थेनाथवत्ति वा ।

क्रमेणोच्चारितायाह्वाक्याथ सिन्नलक्षणम् ॥

—वाक्यपदीय २।५५

कुछ विचारकों के मत में अर्थ का निर्धारण अशक्य होता है। शब्द अर्थ के स्वभाव का ज्ञान नहीं करा सकता। शब्द अर्थ के अवधारण में उपायभूत नहीं है। शब्द केवल एक प्रकार की स्मृति मात्र जगाते हैं जो अर्थ के अवभास रूप होती है। घट पट आदि शब्द बुद्धि में घट पट आदि के आकार से व्यक्त करते जान पड़ते हैं किन्तु इन शब्दों में आकार की अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है। शब्द तो अर्थ को दूर हटाता है, वह अर्थ के अश्वबोध में विशेष सा उत्पन्न करता है। अर्थ का परिज्ञान अशक्य व्यापार है। वह निर्विकल्प है। अभिज्ञाह हिमदाह शस्त्रदाह जैसे शब्दों में दाह शब्द से भिन्न भिन्न अर्थ भक्तकते हैं। इसलिए मान लेना चाहिए कि शब्द में अर्थ के अवधारण का सामर्थ्य नहीं है। शब्द स्मृतिकल्प है।

सर्वत्र अशक्यमर्थानां स्वभावावधारणम् इत्येकेषां दग्धम् ।

—वाक्यपदीय २।४२४ हरिवृत्ति हस्तलेख

पुण्यराज ने, इस मत में पदार्थ को विपरीताभ्यातिरूप अथवा असत्प्रातिरूप माना है। पदार्थ असत्य हैं। वाक्याथ सत्य है। पदार्थ अपना पथक अर्थ रखते हैं तो भी वाक्य में बिना अवस्थित हुए वे अर्थ के प्रयायक नहीं होत। इन्द्रिया में गति होती है किन्तु शरीर के आश्रय से ही वे अपने अपने व्यापार को कर पाती हैं। वाक्य से अलग पद में अर्थवत्ता नहीं है। वाक्य में अथवा पद में ससग रूप प्रतीत ही होता है। इसलिए वाक्याथ का स्वरूप पदार्थ से विलक्षण है और वह ससग रूप है

ससगरूप ससष्टेष्वथवस्तुषु गृह्यते ।

—वाक्यपदीय २।४२८

ससृष्ट वाक्यार्थ रूप में

पुण्यराज के अनुसार जो आचार्य आद्यपत्या और पृथग गात्रांग मयपत्या के समर्थ हैं उनके मत में ससृष्ट वाक्याथ है। ससग वाक्याथ और सगृष्ट वाक्याथ में बहुत यह भेद है कि ससग वाक्याथ पक्ष में वाक्यार्थ में पदार्थों में विनिष्टय माना जाता है। ससृष्ट वाक्याथ पक्ष में पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्याथ है, वाक्याथ में कोई आधिन्य नहीं आता। दूसरे शब्दों में ससग पक्ष में पदार्थों का विनिष्टय वाक्याथ है। ससृष्ट पक्ष में विनिष्ट पदार्थ ही वाक्याथ हैं। एक पक्ष अपने अर्थ से पक्ष अनुगत होकर दूसरे पक्ष से जुड़ता है। अतः पक्ष पहले ही विनिष्ट हो गया रहता है। वह सदा विनिष्ट रूप में ही पदान्तर के सन्निध्य में आता या प्रवरोद्धा को अपना बोध कराना है।

पूर्वैरर्थैरनुगता मयार्थात्मा पर पर ।

ससग एष प्रकातस्तथाप्यवयवस्तु ॥^१

—वाक्यपदीय २।४१८

निराकाक्षपदार्थ वाक्यार्थ रूप में

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि निराकाक्ष किन्तु विशेष विश्रान्त पदार्थ ही वाक्याथ है। यह मत ससगवाद का ही एक पक्ष है। ससगवाद में और इसमें भेद यह है कि उसमें पक्ष परस्पर साक्षात् होते हैं इसमें निराकाक्ष। ससगपक्ष में पदार्थ ही वाक्याथ नहीं है। इस मत में पदार्थ ही वाक्याथ है। पदार्थ विशेष विश्रान्त अवश्य हैं किन्तु उनका सम्बन्ध ससग न होकर असत्त्वभूत है उस ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। वह प्रत्यक्ष नहीं है। वह अनुमेय है। वह सम्बन्ध अभिधेय के स्वरूप का अतिव्रमण नहीं करता।

कार्यानुमेय सम्बन्धो रूप तस्य न दृश्यते ।

असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्त प्रतिजानते ॥

—वाक्यपदीय २।४६

प्रयोजन वाक्यार्थ रूप में

जिसी वचन में पद का अर्थ अभिधेय माना गया था और वाक्य का अर्थ प्रयोजन था। इस मत में प्रयोजन वाक्याथ है।

१ पुण्यराज के अनुसार इस कारिका में ससृष्ट पक्ष का प्रतिपादन है जो अन्विताभिधानवाद के अनुकूल है—

अनेन श्लोकेनान्विताभिधानसमाख्येण ससृष्ट वाक्याथ दर्शनं प्रियतम् । तदा हि अभिहितार्थे कर्तुं पूरपूर्वाभ्यानुगतं ससग वाक्याथ । अन्विताभिधानान्तिरुत्तरोत्तरपदार्थादगतं प्रथमतरमत्र समष्टि एव ॥

अभिधेय पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थं प्रयोजनम् ।

—वाक्यपदीय २।११४

यह मत अभिहितायवाद का ही एक पूर्व रूप जान पड़ता है । तात्पर्यार्थ और प्रयोजन समान हैं । वाक्यपदीयकार न इस मत की स्त्रय समीक्षा की है । प्रयानन को वाक्याय मानने पर वाक्या में परस्पर सम्बन्ध दिखाना कठिन होगा । वाक्य लोहे की गलाका की तरह होते हैं । उनमें परस्पर सम्बन्ध अग्नि ज्ञेय के द्वारा सम्भव है । किन्तु पद का अर्थ अभिधेय मानने से और वाक्य का अर्थ अग्नि ज्ञेय न मानने से, वाक्या में सम्बन्ध दुष्ट होगा ।

क्रिया वाक्यार्थ रूप में

आख्यात शब्द को वाक्य मानने वाला के मत में क्रिया वाक्याय है । बिना क्रिया के अनुपग के वाक्याय की प्रतीति नहीं होती । कुछ के मत में क्रिया सत्ता गणित विशेष (कारक) से युक्त होकर तुल्य रूप में और अनुल्य रूप में भी विनिष्ट स्वरूप वाली ही होती है । कारक केवल बोध में उपायभूत होता है

इह केचित् मय ते तुल्यरूपा चातुल्यरूपा च वाक्येषु विनिष्टव फलरूपान्याम
गणितविशेष भुक्ता क्रिया मुण्डि कुटि चचिबत प्रजाता प्रतिपत्तणाम् ।

—वाक्यपदीय २।४२१ हरिवर्त्ति हस्तलेख ।

मुण्डयति माणवकम्—गालक के सिर के बाल काट रहा है—इस वाक्य में मुण्डयति की व्युत्पत्ति मुण्ड करोति के रूप में की जाती है । कुछ लोगों के मत में मुण्ड गन्ध नामाद्य प्रवृत्ति को व्यक्त करता है किन्तु निश्च करोति विशेष में होता है सामाद्य में नहीं । कुछ आचार्यों के अनुसार मुण्ड धातु के गच्छेत्त के अर्थ में प्रयुक्त होता है । मुण्डयति से क्रियाविशेष का स्वभावतः अभिधान होता है

यद्यपि क्रियाविशेषानिधायित्वं मुण्डादीनां नवोपास्त तथापि स्वामाविकत्वादर्थानि
मिधानस्य प्रयोगादेव तदवसोध्यते ।

—कण्ट, महाभाष्य प्रदीप २।१।८

मुण्डयति के अर्थ में कुटयति का प्रयोग होता है किन्तु मुण्ड करोति की तरह कुट करोति प्रयोग नहीं होता । अतः क्रिया तुल्य रूप में है और अनुल्य रूप में । दूसरे शब्दों में क्रिया क्रियांतर में भिन्न विनय है ।

जा आचार्य एकत्व और नियत्व दोनों के अनुगामी हैं वे भी मानते हैं कि वाक्य में विनिष्ट क्रिया का ही बोध होता है । वह क्रिया काल, कारक चयन आदि से अनुगत होता है

एकत्वनित्यत्वदगिनस्तु भवते विनिष्टा हि क्रिया यथा सन्नव कालसाधन
द्रव्यपुरयोपग्रहाग्नि अनुगता वाक्येनानिधीयते ।

—वाक्यपदीय, २।४८७ हरिवर्त्ति, हस्तलेख

कुछ आचार्यों के मत में क्रिया में भी गणित भाग होता है अथवा भाग और जाति भाग । क्रिया कभी व्यक्ति भाग में अथवा व्यक्त करती है कभी नामाद्य भाग में ।

इसके विपरीत कुछ साधारण त्रिया म जानि व्यक्ति भाव नहीं मानते हैं । जानि और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं त्रिया के नहीं । त्रिया पूरा और अपर रूप म पनी हुई इत तत जस सवनाम से बोध्य नहीं है । इसलिए उगम जानि व्यक्ति नहीं गम्य है । हो उसके सत्त्वभावापन जान पर बात दूसरी है । त्रिया म जानि व्यक्ति धर्म व गम्यका का मत है नि त्रिया म भी सामान्य और विशेष भाव देगा जाना है—तोना ही धर्म स्पष्ट हैं । प्रतिगमयोग, समुच्चय आदि म भेद व्यवहार म त्रिया का व्यक्ति धर्म देगा जाता है । अयावति अभेदकत्व सग्या आदि म सामान्य धर्म देगा जाता है

इह केचित त्रियायामाकृतियवित्यवधारो नास्तोत्पद्य प्रतिपन्ना पदांतर धर्मभेद्य त प्रतिजानते । विप्रकृता पूर्वापरीभूता साध्यावस्था त्रिया । तस्या इद तत इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेश्युक्तकृत्यात् जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति । केचित्तु भवते तस्यामपि सामान्यविशेषवतिरुपतामात्रमस्ति हेतु । सा तु अवचित व्यक्तिसाधेनोपकरोति । अवचित सामान्यसाधेन ।

—वाक्यपदीय २।४६५ हरिवृत्ति हस्तलेख

त्रियावाद की छाया म एक दार्शनिकवाट भी खड़ा हो गया था । वह मानता था कि जगत वस्तु गूँथ है । बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है । बुद्धि ही साध्य (त्रिया) रूप में अथवा सिद्ध (कारक) रूप म व्यक्त होती है और गान्धर्व से उसी की प्रतीति होती है । जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है । बुद्धि अपनी महिमा से उलसित होकर काल्पनिक आकार म परिणत होकर भेद का जनक होती है । वस्तुतः बुद्धि के अतिरिक्त अथ किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसमें सिद्ध और साध्य का विवाद खड़ा हो । कुछ लोग बुद्धि की आकार भेदवाली त्रिया मानते हैं । उनके मत म बाह्य अथत्रिया की सिद्धि अन्तः सत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राया से किंचित विषय का निर्मास कराते है ।

भत हरि न अथ को सवशक्तिमान माता है और प्रयोग करने वाल की विवक्षा के आधार पर वही अथ कभी सिद्धि रूप म और कभी साध्य रूप म प्रधान दिखाई देता है

सवशक्तेरथस्य य प्रदेनो यथा प्रकथ्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा गणमावेन वा ।

—वाक्यपदीय २।४३५ हरिवृत्ति हस्तलेख

वाक्यपदीय म विधि वाक्याथ नियोग वाक्याथ और भावना वाक्याथ पर विचार नहीं मिलता । ये तीनों ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं । इनमें विधि और नियोग लिङ लोट और कृत्य प्रत्यय के अथ हान के कारण केवल एक देग के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है । भावना वाक्याथवाद क्रियावाक्याथवाद के समान है । केवल प्रकृत्यथ और प्रत्ययाथ की लेकर व्याकरण और मीमांसक म विवाद है । इनके स्वरूप म विशेष अंतर नहीं है । भावना सम्भव होती है त्रिया सम्भव भी

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं । और इस साध्य की एकता के आधार पर त्रियावाक्याथवाद भावना वाक्याथवाद को समेट लेता है ।^१

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जो वाक्याथ को अखण्ड अनश, मानत हैं उनका ही एक वग प्रतिभा को वाक्याथ मानता है । भक्त हरि का एक अपना प्रतिभा दर्शन है । उन्होंने प्रतिभा को वाक्याथ रूप में भी लिया है

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभायैव जायते ।

वाक्याथ इति तामाहु पदार्थरूपादिताम् ।—वाक्यपदीय २।१४४

त्वेदत्तादि के अलग अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदा से एक विशेष प्रतिभा उदबुद्ध होती है । वही वाक्याथ है । पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है । वाक्याथ लक्षण प्रतिभा में कोई विभाग नहीं है, वाक्य और वाक्याथ में अध्यात्मलक्षण सम्बन्ध है । पुण्यराज के अनुसार यह मत व्याकरणा का है

तत्र व्याकरणस्याखण्ड एवकोनवयव शब्द स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभव वाक्याथ अध्यात्मश्च सम्बन्ध इति ।

पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१

अस्त्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है । पदार्थों का परिचय अलग अलग भल ही हो भावाथग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों से प्रतिरिक्त नहीं होती । वस्तुतः पुण्यराज के अनुसार, प्रतिभा में एक अखण्ड भाव का परिचय अभिप्रेत है इसलिए अभिहितवाक्यवाद अथवा अविताभिधानवाद जैसे पदाथ वाक्याथ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्याथ में कोई स्थान नहीं है

प्रतिभाया त्वेकरसव्यभिचरितिरिति न तत्र काचिदभिहिताव्यादिताभिधान-
चर्चा ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्याथरूप प्रतिभा से भक्त हरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक बुद्धि से है । भक्त हरि इस बात को मानते हैं कि उस प्रतिभा को किसी अर्थ से ठीक-ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता । वह स्वसवदनसिद्ध है । प्रतिभा बल में ही पदार्थों में परस्पर सन्निवेश सा होता है । मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार सा धारण कर लेती है । वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना-संस्कार से उदभूत होती है । लोक प्रतिभा को प्रमाण मानता है । पुण्यराज के अनुसार कालिदास की मता हि सदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमतकरणप्रवृत्तयः यह उक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का संकेत करती है । जिस तरह विषय द्रव्या के परिपाक से किसी

इसके विपरीत कुछ आचार्य त्रिया म जाति व्यक्ति मात्र नहीं मानते हैं। जाति और व्यक्ति वस्तु के धर्म हैं त्रिया के नहीं। त्रिया पूर्व और पश्चिम रूप में पत्नी हुई इतना तब जैसे रावनाम से बोध्य नहीं है। इसलिए उगम जाति व्यक्ति नहीं समझा है। हो उससे सत्त्वभावापन्न ज्ञान पर बात दूसरी है। त्रिया म जाति व्यक्ति धर्म व समयका वा मत है कि त्रिया म भी सामान्य और विषय भाव होगा जाना है—जाना ही धर्मो रूपों हैं। अतिशययोग समुच्चय आदि म भेद व्यवहार म त्रिया का व्यक्ति धर्म होगा जाता है। अथावति अभेदकत्व सत्या आदि म सामान्य धर्म दगा जाता है।

इह केचित त्रियायामाकृतिव्यपितव्यवहारो नास्त्येव प्रतिपन्ना पदान्तर धर्ममेव त प्रतिजानते। विप्रकृता पूर्वपरीभूता साध्यावस्था क्रिया। तस्या इद तत इति प्रतिप्लवमानकल्पनया व्यपदेष्टुमशक्यतयात जातिव्यक्तिधर्मो नास्ति। केचित्तु मन्यन्ते नस्यापि सामान्यविशेषवतिरूपतामात्रमस्ति हेतु। सा तु अवचित व्यक्तिभागेनोपकरोति। अवचित सामान्यभागेन।

—वाक्यपदीय २।४६५ हरिवर्ति हस्तनख

त्रियावाद की छाया म एक दार्शनिकवाद भी खड़ा हो गया था। वह मानता था कि जगत वस्तु गूँथ है। बुद्धि ही भिन्न भिन्न व्यवहार का मूल कारण है। बुद्धि ही साध्य (क्रिया) रूप म अथवा सिद्ध (कारक) रूप म व्यक्त होती है और गान्धर्व उसी की प्रतीति होती है। जो कुछ बाह्य व्यवहार है वह माया इन्द्रजाल सा है। बुद्धि अपनी महिमा से उल्लसित होकर काल्पनिक आकार म परिणत सी हाकर भेद का जनक होती है। वस्तुतः बुद्धि के अतिरिक्त अथ किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है जिसम सिद्ध और साध्य का विनाश खड़ा हो। कुछ लोग बुद्धि को आकार भेदवाली क्रिया मानते हैं। उनके मत म बाह्य अथत्रिया की सिद्धि अन्तः तत्त्व से गठित होती है जो अपनी मात्राओं से किंचित विषय का निर्माण कराते हैं।^१

भत हरि न अथ को अवशक्तिमान माना है और प्रयोग करने वाले की विवक्षा के आधार पर वही अथ कभी सिद्धि रूप म और कभी साध्य रूप म प्रधान दिखाई देता है

सव शब्देतरथस्य य प्रवेशो यथा प्रक्रम्यते सिद्धरूपेण साध्यरूपेण वा शेषभावेन वा।

—वाक्यपदीय २।४३५ हरिवर्ति हस्तलख

वाक्यपदीय म विधि वाक्याथ नियोग वाक्याथ और भावना वाक्याथ पर विचार नहीं मिलता। ये तीनों ही मीमांसा दर्शन के विचार के विषय हैं। इनम विधि और नियोग लिङ लोट और कृत्य प्रत्यय के अर्थ हाने के कारण केवल एक देश के छूने के कारण इन पर विचार नहीं किया गया है। भावना वाक्याथवा त्रियावाक्याथवाद के समान है। केवल प्रकृत्यथ और प्रत्ययाथ को लेकर व्याकरण और मीमांसक म विवाद है। इनके स्वरूप म विशेष अन्तर नहीं है। भावना सम्भव होती है त्रिया अव्यक्त भी

होती है किन्तु दोनों ही साध्य हैं । और इस साध्य की एकता के आधार पर त्रियावाक्या-
यवाद भावना वाक्यायवाद को समेट लेता है ।^१

प्रतिभा वाक्यार्थ रूप में

जा वाक्याथ को अखण्ड अनग, मानत हैं उनका ही एक वग प्रतिभा को वाक्याथ
मानता है । भन हरि का एक अपना प्रतिभा दशन है । उ हान प्रतिभा को वाक्याथ रूप
म भी लिया है

विच्छेदग्रहणेऽर्था प्रतिभायव जायते ।

वाक्याथ इति तामाहु पदार्थे रूपादिताम ।—वाक्यपदीय २।१४४

देवदत्तादि के अलग अलग अर्थ ग्रहण के अवसर पर उन पदों से एक विशेष प्रतिभा
उद्बुद्ध होती है । वही वाक्याथ है । पुण्यराज के अनुसार शब्द स्फोट है और अर्थ
प्रतिभा है । स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है । वाक्याथ लक्षण प्रतिभा में
कोई विभाग नहीं है । वाक्य और वाक्याथ में अध्यासलक्षण सम्बन्ध है । पुण्यराज के
अनुसार यह मत व्याकरण का है

तत्र वधाकरणस्याखण्ड एवकोनवयव शब्द स्फोटलक्षणो वाक्य, प्रतिभव
वाक्याथ अध्यासद्वय सम्बन्ध इति ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

असत्यभूत पदार्थों से प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है । पदार्थों का परिचय अलग
अलग भवे ही हो भावाथग्रहण के समय एक ही प्रतिभा उत्पन्न होती है वह पदार्थों
से व्यतिरिक्त नहीं होती । वस्तुतः, पुण्यराज के अनुसार प्रतिभा में एक अखण्ड भाव
का परिचय अभिप्रेत है इसलिए अभिहित-व्यवाहक अथवा अभिहित-विधान-वाक्य जस
पदार्थ-वाक्याथ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभा वाक्याथ में कोई स्थान
नहीं है

प्रतिभाया त्वेकरसव प्रनिपनिरिति न तत्र काचिदभिहिता-व्याचिताभिधान-
चर्चा ।

पुण्यराज वाक्यपदीय २।१

वस्तुतः वाक्याथरूप प्रतिभा से भन हरि का अभिप्राय एक तरह की आन्तरिक
बुद्धि से है । भन हरि इस बात को मानत हैं कि उस प्रतिभा का किसी अर्थ से ठीक-
ठीक रूप में बताया नहीं जा सकता । वह स्वसर्वानसिद्ध है । प्रतिभा बल से ही पदार्थों
में परस्पर सम्बन्ध सा होता है । मानो प्रतिभा ही सब विषयों का आकार सा धारण कर
लेती है । वह कभी किसी शब्द से अभिव्यक्त होती है और कभी अनादि-वासना
संस्कार से उद्बुद्ध होती है । लाक प्रतिभा का प्रमाण मानता है । पुण्यराज के अनुसार
कालिदास की 'सता हि सदह पद्मं वस्तुपु प्रमाणमत करणप्रवर्तय' यह उक्ति
प्रतिभा के प्रामाण्य का सूचक करती है । जिस तरह विषय द्रव्या का परिचायक किसी

विशेष अथ यत्न के बिना ही उम द्रव्य म मन् प्रतिभा स्वाभाविक रूप म प्राप्त होती है उसी तरह प्रतिभा भी स्वाभाविक रूप म मन्दार के घटिरित घट भिमी माधन के बिना ही प्रबुद्ध हो जाती है । यत्न म माधन की कृष् म माधुरी गीत भरता है ? पशिया का घामन बनान की गिता कीत गता है ? यन् मर प्रतिभा का नाय है । पश पशिया म आहार द्वय तरना आति प्राप्त स प्राप्त अताति प्रतिभा का ही होत है ।' इस तरह भन हरि न भूत प्रवति (इस्मिन्) और आन्तरिक भान-वति (स्वप्न) को प्रतिभा भेद माना है । अभिप्राय १ भन हरि की 'प्रतिभा' की परिभाषा निम्नरूप म दी है जा उपयुक्त तथ्या का निष्पन्न गा है

समाधान नमस्यात्मिका प्रतिभा इति तत्रभवद भन हरिप्रभवत ।

—ईश्वरप्रत्यभिषाविविधविगिनी, ततीय भाग, पृ० २०६

प्रतिभा के छ भेद

भन हरि के अनुसार प्रतिभा के निम्नलिखित छ भेद हैं —

- (१) स्वभावजया (स्वाभाविकी) प्रतिभा
- (२) चरणजया प्रतिभा
- (३) अभ्यास निमित्ता प्रतिभा
- (४) योग निमित्ता प्रतिभा
- (५) अदृष्टोपपादिता प्रतिभा
- (६) विशिष्टोपहिता प्रतिभा

स्वाभाविकी प्रतिभा

पुण्यराज के अनुसार वर आदि म जो प्रतिभा देखी जाती है वह स्वाभाविकी प्रतिभा है (स्वभावेन यथा कपि वाक्यपदीय २।१५३) । यहा का खण्डित हरिवृत्ति स ऐसा जान पडता है कि भन हरि स्वाभाविकी प्रतिभा का आधार सत्ता को मानत हैं । भावना अभ्यासवग सभी तरह के ज्ञान गदात्मरूप से सत्ता अथवा परा प्रकृति' म लीन रहत है । उन पूर्व सस्कार का उदबोध स्वभावत होता है । स्वभावजय ज्ञान ही स्वाभाविकी प्रतिभा है । जिस तरह सुपत्तावस्था म जान की सत्ता होने हुए भी वह अप्रबुद्ध मा होता है पर नाक टूट जान पर स्वभावत वह अभि व्यक्त हो उठता है उसी तरह स्वभावजय प्रतिभा भी सस्कार रूप म अनाति अभ्यास वग सत्ता म पडी रहती है और सत्ता क भावविकार क रूप म विवत होने पर वह भी उदबुद्ध हो जाती है । पशिया आदि के घासले बनान की कला एक तरह की पनक प्रवति अथवा चिर अभ्यास सस्कार है । ऐस सस्कार स्वभावजय प्रतिभा के उत्पत्ति के घातक हो सकत है ।

अथवा स्वभावजय प्रतिभा स अभिप्राय स्वत प्रकट आत्मचानमयी प्रतिभा

से है। वाक्यपदीयकार ने स्वभाव शब्द का आत्मा के अर्थ में अनन्त द्वार प्रयोग किया है। उनके अनुसार कुछ ऋषि प्रतिभात्मा में विवर्त प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी सृष्टि के साथ ही उन्हें प्रतिभा का भी परिचय हो जाता है। परिचय की प्रक्रिया को मन हरि ने 'स्वप्नप्रबोध वन्ति' कहा है। अर्थात् स्वप्न में बिना किसी शब्द के सुने ही ज्ञान होना है वैसे ही उन ऋषियों को बिना किसी कल्पना के आपस आप ज्ञान हो जाता है। अविद्या की यानि सत्ता स्वरूप महान् आत्मा का देखते हुए वे प्रबोध प्राप्त करते हैं। स्वाभाविकी प्रतिभा से तात्पर्य इस तरह स्वतन्त्र ज्ञान वर्गन वाली शक्ति से है। कुछ ऋषि विद्या में विवर्तित होते हैं अर्थात् विश्व का अविद्यामय समस्त व्यवहार उनके लिये औपचारिक रूप में ही सत्ता रखता है वस्तुतः वे विद्या के नित्य तत्त्व की स्वभावतः समझते हैं। जिस तरह स्वप्न से बिना सुने शब्द का भी परिचय होना है वैसे ही वे अपनी प्रज्ञा के बल से बिना किसी के बोधने ही सभी वस्तु, सब ज्ञान समझ जाते हैं। इस तरह की प्रतिभा स्वाभाविकी प्रतिभा है।

येषां तु स्वप्नप्रबोधवृत्त्या नित्य विभक्तपुरुषानुकारितया कारण प्रवर्तते तेषां रूपय केचित् प्रतिभात्मनि विवर्तते, सत्तालक्षण महात्मात्मानम अविद्यायोगेन पश्यन्त प्रतिबोधेनाभिसमवन्ति। वचित्तु विद्याया विवर्तते ते च स्वप्न इवाश्रयगम्य शब्द प्रज्ञयव सवमान्नाय सवभेदशक्तियुक्त अभिन गतियुक्त च पश्यन्ति।

—वाक्यपदीय १। १४६ दृग्विति

चरण निमित्ता प्रतिभा

पुष्कराज ने चरण निमित्ता आदि प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है। यह कह कर छोड़ दिया है कि इनके उदाहरण अवगमनीय हैं (चरणादिपूजाहरणाभूत्यानि)। छपी हरिवंश में इस पर यह वाक्य है चरणनिमित्ता काचित् प्रतिभा। तद्यथा। कारणेनवावधतप्रकाशविगमना गति (छादीनाम)। इस कठिन वाक्य का अभिप्राय क्या है? जान पड़ता है चरणनिमित्ता प्रतिभा का सम्बन्ध आचरण या तपस्याजय ज्ञान से है। ज्ञान की प्रकाश रूप में व्यक्त करना भक्त हरि की शक्ती है। गिष्ट जना की अतीत और अनागत का भी प्रत्यक्ष सा देखने की शक्ति आ जाती है।

आदिभूतप्रकाशानामनुपलुतचतसः।

अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षानविनिष्यते।

अतीन्द्रियानसवेद्यान् पश्यत्वाप्येन चक्षुषा।

ये तावान् वचन तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

१ टाकाकार वपमने प्रलय से मग तक का अवस्था को स्वप्नवृत्ति और सग से प्रलय तक की अवस्था को प्रबोधवृत्ति माना है (प्रलयान् मग यावन् मानयायदशानान् स्वप्नवृत्ति। सर्गान् प्रलय यावन् भावव्यवस्था प्रबोधवृत्ति — बृहम-सामयदीय १। ११६ टीका)।

२ वाक्यपदीय १। ३७ ३८। भक्तभूति के निम्नानिहित श्लोक में भक्त द्वार को

निष्ठा या वसिष्ठ आदि जैसे मुनियों की यह अद्भुत शक्ति ही चरण निमित्ता प्रतिभा का प्रतीक है। परन्तु ऐसा अर्थ करने में एक कठिनाई है। एक योग निमित्ता प्रतिभा भी है। चरणनिमित्ता प्रतिभा को उपयुक्त रूप में ग्रहण करने पर योग निमित्ता से उसका भ्रम दूर हो जाता है। किसी किसी प्रज्ञावान् में एक अद्भुत शक्ति होती है। वह स्थल में छोटी वस्तु को भी वे कभी कभी बड़ा करने हैं। इसी तरह बधिर में भी स्वप्न में शब्द श्रवण का उत्प्रेरण मिलते हैं (?)। मन हरि न अथवा बधिर और अर्थ की इस शक्ति का उल्लेख था किया है।

स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम् घनसनिधिटावयवानां च कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेणातर्पणमादिषु सूक्ष्माणामर्थानां दानं सवप्रयादेष्टुमिदम्।^१ काय से कारण शक्ति का ग्रहण किया जाता है। अर्थ आदि में अद्भुत दान क्षमता दायक उनमें प्रकाशमयी प्रतिभा रूप कारण का अनुमान करना सहज है। चरण निमित्ता प्रतिभा का अभिप्राय ऐसी ही प्रतिभा से जान पड़ता है।

श्रम्यासनिमित्ता प्रतिभा

हरियति मन्त्र प्रयोग पर लिखा है— श्रम्यास निमित्ता काचित् प्रतिभा। तद यथा कपलाशोनाम्। कृपणशक्तानां पाठ अनुद्धि जान पड़ता है। मरी नम्र सम्मति

अभ्यास के संगीत से परिचय रखने वाले भी ठीक से उह नहीं समझ पाते । इन्हे भक्त हरि ने स्पष्ट कर दिया है

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते ।

मणिरूप्यादिविज्ञानं तदविदा नानुमानिकम् ॥^१

अतः अभ्यासजय प्रतिभा का उदाहरण सौवर्णिक आदि की प्रतिभा को समझना चाहिये ।

योग निमित्ता प्रतिभा

योगनिमित्ता प्रतिभा स तात्पर्य योगिया की उस शक्ति से है जिसके बल से वह दूसरे मनुष्या व अभिप्राय आदि तुरन्त ठीक ठीक अवगत कर लेता है—जिसके बल से उनमें सवक्तता आती है ।

अदृष्ट निमित्ता प्रतिभा

भूत, प्रेत, पिशाच आदि में दूसरे पर सवार होने (परावेश) और अतधान होन की क्षमता देखी जाती है । उनमें एक तरह की अदृष्ट शक्ति देखी जाती है । अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा स भक्त हरि का अभिप्राय ऐसी ही शक्ति से है ।

विशिष्टोपहिता प्रतिभा

कभी कभी कोई विशिष्ट व्यक्ति अपनी ज्ञान राशि का सन्तमण किसी अथ म कर देते हैं । इसमें दूसरा व्यक्ति भी उस विशेष ज्ञान का वाहक हो जाता है । कृष्ण द्विपायन (व्यास) ने सजय में ऐसी शक्ति का सन्तमण किया था जिससे सजय को दिव्य दृष्टि मिल गई थी । इस तरह की श्रय द्वारा श्रय में आहित प्रतिभा का नाम विशिष्टोपहिता प्रतिभा है ।

इस तरह प्रतिभा के अनेक भेद हैं । वह वाक्य प्रतिपाद्य है और सभी वाक्या का अधिष्ठान भी वही है । वह व्याकरण से परे की वस्तु है । व्याकरण के काल क्रम स विनष्ट हो जाने पर भी और श्रय शक्तियों के नाश हो जाने पर भी उसमें शब्द बीज सनिविष्ट रहते हैं और समय पाकर वही प्रतिभा विवत प्रक्रिया के आधार पर वण पद वाक्य रूप में पुन आभासित होती है

एव प्रतिभा बहुविधापि सर्वैर्वागमिकवाक्यनिबन्धना वाक्यप्रतिपाद्या व्याकरणा त्ययेपि सवशक्तिप्रत्यस्तमये प्रत्यस्तमितनिविष्टशब्दशक्तिबीजकारणात्तभूता निबद्धबीजा धृत्तिकाले प्रथम सूक्ष्मेणापि चत्मना विवतमाश्रामनुभूय क्रमेण घणवाक्यनियतामिरवस्थामि समुच्छ्रती प्राप्तबीजपरिपाकाकारा पुन पुन व्यक्तेन रूपेण प्रत्यवभासत ।

—वाक्यपदीय २।१५३ हरिवर्त्ति ।

भन हरि के अनुसार करण, स्थान, प्रत्यय आदि का परिमाण व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी ग्रन्थ के बताया आपसे आप हो जाता है। क्योंकि शब्द भावना अनादि है वह पौरुषेय नहीं है

अनादिश्चपा शब्द भावना । नह्येतस्या कश्चित् पौरुषेयत्व सम्भवति ।
तथा ह्यनुपदेशाध्या प्रतिभागम्या एव करणविन्यासादय ।

—वाक्यपताय, १।१२३ हरिवर्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवगोचर से क्षेम की प्राप्ति होती है
तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रमया भावविकार प्रकृति
सत्ता साध्यसाधन शक्तियुक्ता सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

वही पृष्ठ ११८

भन हरि के आधार पर भोज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है
स्व स्वमथमभिधापोपरनेषु पदेषु पदाथप्रतिपत्त्यनंतरमुपजायमाना इद तदिति
व्यपदेशयानुपदेशमिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवत्यनुकूला बुद्धि प्रतिभा ।
तथाहि पदनिब धनाना पदावयवनिब धनाना चाथप्रत्यवभासमानाणा अविच्छे
देन प्रवती पदार्थ क्रमेण गृह्यमाण आहितसस्कारामु बुद्धिषु सर्वाथप्रत्यवभास
ससर्गानुगहीता प्रत्यस्मिन्मिदप्रत्यवभासा प्रवत्तिफलप्रसवानुमेया अभिन
जातीयव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तते ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा
शब्द के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यवमश नहीं करती प्रत्यक्ष शयवा अनुमान अपना
काम नहीं कर पाता है। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त
करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वापरप्रत्यवमश शब्दोल्लेखवान प्रतिभया न
श्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमान वा स्रकाय न प्रसाधयति । प्रतिभोपगहीतानि
सर्वप्रमाणानि प्रमाणता लभ ते ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

भाज न पट प्रकार की प्रतिभा का काल, अभ्यास योग ध्यान और अनुध्याय
के आधार पर विभाजन किया है और इन्हें पूज्य म के ग श्रवण जनित सस्कारों का
उदबोधक माना है। जमा वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप ग्रन्थ का उन्मी
लन हो जाता है सभी निमित्तांतर के साग्निरूप में चिर यवहित भी विनिष्ट प्रतिभा
भावनाबीज के सनिवर्ण से वही वाक्य परंपरया प्रतिभारूप स्वाथ का आविर्भाव करता
है। प्रतिभा वाक्याय है। (शृंगार प्रकाश प० २१४)

कुमारिण भट्ट ने प्रतिभा वाक्यायवाच का आगिन रूप में स्वीकार किया है और
आगिन रूप में द्रवकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जयत्व रूप में
प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा किसी-न
किसी रूप में बाह्य ग्रन्थ से सम्बद्ध है तो इस वाद में आपत्ति है। बाह्य ग्रन्थ नियत-

स्वभाव वाला होता है। किन्तु गर ही प्रभु न चरित, वीर पुष्प म ह्य और भीरु म भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्यायवाच्य म इसकी उपपत्ति नहीं बटनी (इति वाक्य, वाक्याधिकरण ३२५ ३२०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भक्त हरि न पन्थायनिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के एते धर्म लक्षण नाम स भी उन दिना प्राप्त थे। भक्त हरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड म इन पर विवेक विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दशवी शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणा के एक भेद बाधा पर विवेक विचार 'बाधा समुद्देश' म भक्त हरि न किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड म लक्षणा की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप म मिलती है। पुण्यराज ने उह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज न भी शृंगार प्रकाश म वाक्यपदीय के आश्रय स इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० बी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने भक्त हरि, पुण्यराज और भोज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के शृंगार प्रकाश' म किया है।^१

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भक्त हरि ने लक्षणा की समस्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु य छ बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं इसका सकेत वाक्यपदीय म नहीं है। भक्त हरि न जिन नामों को गिनाया है व चौबीस से अधिक हैं। पुण्यराज ने इस समस्या का सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणा का सम्बन्ध भूल रूप म भोमामा दान स है। पद पन्थाय के विचार के अवसर पर इन लक्षणा पर विचार उप योगी समझ कर भक्त हरि ने इह अपनाया है।

जमिनि का भोमामादर्शन बारह अध्यायों म विभक्त है। इसके पहले छ अध्यायों मे प्रत्ययविहित धर्म-धर्मों की इतिवृत्तयता पर विचार है। दूसरे छ अध्यायों म अविहित इतिवृत्तयता पर विचार है।

भोमामादर्शन के पहले छ अध्याय को प्रकृति पटक कहा जाता है। इहे उपन्यस पटक भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय म विधि अथवा मन्त्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है सदिग्ध अर्थों का वाक्यरूप के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनका वर्णन प्रासादिक (विधि) मुख्य है और अप्रसादिक हैं।

द्वितीय अध्याय म प्रधान अप्रधान भिन्न अभिन्न पर विचार है। पदविधि कम भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय म श्रुति लिङ्ग वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा शेषवर्तिनियोगलक्षण वर्णित है। शेषोपनिभाव प्रतिपाद्य है।

भक्त हरि के अनुसार करण, स्थान, प्रयत्न आदि का परिचय व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा ही बिना किसी अन्य के बताये आपसे आप हो जाता है। क्योंकि यदि भावना अनादि है वह पोष्य नहीं है

अनादिश्च शब्द भावना । न ह्येतस्या कथञ्चित पोष्यत्व सम्भवति ।
तथा ह्यनुपदेशसाध्या प्रतिभागम्या एव करणविद्यासादय ।

—वाक्यपदीय, १।१२३ हरिवर्ति

प्रतिभा के सम्यक् अवजोय से क्षेम की प्राप्ति होती है
तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वक योगमधिगम्य प्रतिभा तत्त्वप्रभवा भावविकार प्रकृति
सत्ता साध्यसाधन शक्तियुक्ता सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

वही, पृष्ठ ११८

भक्त हरि के आधार पर भाज ने भी प्रतिभा का स्वरूप दिया है
स्व स्वमयमभिधापोरनेषु पदेषु पदायप्रतिपत्त्यनंतरमुपजायमाना उद तदिति
व्यपदेशयानुपदेशमिद्धा हिताहितप्राप्तिपरिहारहेतु प्रवत्यनुक्ता बुद्धि प्रतिभा ।
तथाहि पदनिघ्न धनाना पदायवनिघ्न धनाना चाथप्रत्यवभासमात्राणा अविच्छे
देन प्रवती पदार्थे क्रमेण गृह्यमाण आहितसंस्कारासु बुद्धिषु सर्वाथप्रत्यवभास
ससर्गानुगहीता प्रत्यस्नमितभेदप्रत्यवभासा प्रवत्तिफलप्रसवानुमेया अभि न
जातीयव प्रतिभा प्रत्यात्म विवर्तत ।

—शृंगार प्रकाश प० २१३

प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय में भी प्रतिभा सहायक है। जब तक प्रतिभा
ज्ञान के माध्यम पूर्व अपर का प्रत्यक्ष नहीं करती प्रत्यक्ष अथवा अनुमान अपना
काम नहीं कर पाते हैं। सभी प्रमाण प्रतिभा से उपगृहीत होकर प्रमाणता प्राप्त
करते हैं।

प्रत्यक्षानुमानविषयेऽपि यावत् पूर्वपरप्रत्यक्षमश शब्दोल्लेखवान प्रतिभया न
क्रियते तावत् प्रत्यक्षमनुमान वा स्वसाय न प्रसाधयति । प्रतिभोपगृहीतानि
सर्वप्रमाणानि प्रमाणता लभ ते ।

—शृंगार प्रकाश, प० २१३

भाज ने पट प्रसार की प्रतिभा का काल अभ्यास योग, ध्यान और अनुध्यान
के आधार पर विभाजन किया है और इह पूज्य क ग श्रवण जित्त मस्तरा का
उद्बोधक माना है। कमा वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिभा रूप अथ का उन्मी
लन हो जाता है कभी निमित्तान्तर के साग्निक म चिर व्यवहित भी विगिष्ट प्रतिभा
भावनाबीज के निवर्ण म वही वाक्य परंपरया प्रतिभा रूप स्वाय का आविभाव करता
है। प्रतिभा वाक्याय है। (शृंगार प्रकाश प० २१४)

कुमारिण भट्ट ने प्रतिभा वाक्यायवाक्य का आगिष्ट रूप में स्वीकार किया है और
आगिष्ट रूप में इसकी समीक्षा की है। वाक्य के प्रयोजन अथवा जयत्य रूप में
प्रतिभा का स्वीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु यदि प्रतिभा किसी-न
किसी रूप में बाह्य अथ से सम्बद्ध है तो इस बात में आपत्ति है। बाह्य अथ नियत-

वभाव वाला होता है। किन्तु एक ही अङ्गुल चरित, वीर पुष्प म हय और भीरु म भय उत्पन्न करता है। प्रतिभा वाक्यायवाज् म इसकी उपपत्ति नहीं बैठती (शान्ति, वाक्याधिकरण ३२५ ३३०)।

वाक्यार्थ के अनुग्राहक वाक्य के धर्म

भत हरि ने पत्न्यानिबन्धन वाक्यधर्मों का उल्लेख किया है। वाक्य के ऐसे धर्म लक्षण नाम से भी उन जिना जात थे। भत हरि ने वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड म इन पर विशेष विचार किया था। किन्तु वह भाग (लक्षण समुद्देश) दगावी शताब्दी तक लुप्त हो चुका था। लक्षणों के एक भेद वाक्य पर विशेष विचार बाधा समुद्देश' में भत हरि ने किया था। वह भी आज अनुपलब्ध है। किन्तु वाक्यकाण्ड म लक्षणों की एक लम्बी सूची वाक्य के धर्म के रूप म मिलती है। पुष्कराज ने उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भोज ने भी शृंगार प्रकाश म वाक्यपदीय के आश्रय से इन वाक्यधर्मों पर विचार किया है। डा० बी० राघवन का ध्यान इस पर गया था और उन्होंने भत हरि, पुष्कराज और भाज द्वारा व्यवहृत वाक्यधर्मों का तुलनात्मक उल्लेख अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भोज के शृंगार प्रकाश म किया है।^१

लक्षण अनुपपत्ति के विचार के आधार पर कहा जा चुका है कि भत हरि ने लक्षणा की सख्या विचार भेद से छ, बारह अथवा चौबीस बताई है। किन्तु ये छ बारह अथवा चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं इसका सकेत वाक्यपदीय म नहीं है। भत हरि ने जिन नामों को गिनाया है वे चौबीस से अधिक हैं। पुष्कराज ने इस समस्या का सुलझाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार इन लक्षणा का सम्बन्ध मूल रूप म भीमामा दशन से है। पद पदाय के विचार के अवसर पर इन लक्षणा पर विचार उप योगी समझ कर भत हरि ने इन्हें अपनाया है।

जमिनि का भीमामादान बारह अध्यायों म विभक्त है। इसके पहले छ अध्यायों म प्रत्ययविहित धर्मधर्मों की इतिवृत्तयता पर विचार है। दूसरे छ अध्यायों म अविहित इतिवृत्तयता पर विचार है।

भीमामादान के पहले छ अध्याय को प्रवृत्ति पटक् कहा जाता है। इन्हें उपपत्ति पटक् भी कहते हैं।

प्रथम अध्याय म विधि, अथवाज्, मन्त्र और स्मृति पर विचार है गुणविधि और नामधेय का उल्लेख है सन्निध अर्थों का वाक्यगोप के सहारे अर्थनिर्णय की प्रक्रिया बताई गई है। इनमें वाक्य का प्रामाण्य (विधि) मुख्य है और श्रवण प्रासंगिक है।

द्वितीय अध्याय में प्रधान अप्रधान, भिन्न अभिन्न पर विचार है। पदविध के भेद का विवेचन है। मुख्य प्रतिपाद्य भेद है।

तृतीय अध्याय म श्रुति, निज्ञा, वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्यान द्वारा शेषवित्तियोगलक्षण वर्णित है। शेषवित्तियोग प्रतिपाद्य है।

चतुर्थ अध्याय में ऋत्वय, पुरुषाय पर विचार है। प्रयोजनाप्रयोजक भाव (प्रयुक्ति) प्रतिपादित है।

पंचम अध्याय में श्रुति, अथ पाठ प्रवृत्ति काण्ड और मुख्य के रूप में क्रम नियमलक्षण पर विचार है। नम प्रतिपाद्य विषय है।

षष्ठ अध्याय में अर्थी समय अधिकारी का निरूपण है।

इस तरह प्रथम छ अध्यायों में क्रम से द्विधि भेद, शेषशेषिभाव प्रयुक्ति क्रम और अधिकारी का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ लक्षण से तात्पर्य इहा छ लक्षणा से हो सकता है

एव विधिभेद शेषशेषिभावप्रयुक्ति क्रमाधिकारिणा प्रतिपादनाद्याध्याया पठितं षष्ठ लक्षणानि।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।७७

जो आचार्य केवल छ लक्षण मानते हों और बारह अथवा चौबीस लक्षण के पक्ष में नहीं हों उनका अभिप्राय संभवतः यह होगा कि मौमामासूत्र के प्रथम छ अध्यायों में ही मौलिक लक्षण आ जाते हैं। वा० के छ अध्यायों में उनके मत में, मौलिक लक्षण प्रतिपादित नहीं है। सातवें अध्याय में ऐन्द्राग्न आदि के धर्म बताए गये हैं। आठवें अध्याय में ये धर्म इसके हैं बताया गया है। नवम अध्याय में उनकी प्रयोग प्रक्रिया समझाई गई है। दशवें ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों में उनकी इयत्ता, इतने प्रयोग किए जान चाहिए इससे अधिक नहीं का वर्णन है। अतः प्रकृतिपटक — प्रथम छ अध्याय से प्रतिपाद्य लक्षण ही षष्ठलक्षण हैं।

द्वादशलक्षण के पक्ष में बारहो अध्याय से प्रतिपादित लक्षण द्वादश लक्षण माने जाते हैं। इनमें प्रथम छ अध्यायों से प्रतिपाद्य छ लक्षण और शेष छ अध्याय से प्रतिपाद्य छ लक्षण कुल मिलाकर बारह लक्षण हो जाते हैं। शेष छ अध्यायों में सातवें अध्याय में सामान्यानिर्देश पर विचार है। आठवें में विनोपातिर्देश की चिन्ता है। नवम अध्याय में ऊह पर उहापोह है। दशम अध्याय में बाधा का निरूपण है। ग्यारहवें अध्याय में तत्र विचार है और बारहवें अध्याय में प्रसंग की चर्चा है। इन छ अध्यायों को अतिदेश पटक कहा जाता है। इस तरह इनमें नम से सामान्यातिर्देश विनोपातिर्देश ऊह बाधा तत्र और प्रसंग—य छ लक्षण प्रतिपादित हैं। षष्ठ के छ लक्षण और य छ लक्षण मिलकर कुल द्वादश लक्षण हो जाते हैं।

चौबीस लक्षण कौन-कौन हैं? इनकी समन्विष्ट पहिचान पुण्यराज को भी नहीं थी। चौबीस लक्षण के नामों का स्वल्प निर्धारण करने के लिए उन्होंने एक कल्पना की है। उनके मत में जो द्वादश लक्षण द्वादश अध्यायों के अंत पर स्वीकृत हैं इनमें प्रतिष्ठा रूप में भी दूसरे द्वादश लक्षण इन अध्यायों में वर्णित हैं।^२ पूर्व में मूल बारह लक्षणों में पुण्यराज के अनुसार प्रमाण (विधि) का प्रतिष्ठा संभव नहीं है। सामान्या

२ अन्य प्रतिपत्तिभूतान्यन्त्रि द्वारा व्यवयोगमन्यवकायपुनरितिनि—

तिदेश और विशेषातिदेश के प्रतिपक्ष का सकेत भन हरि ने नहीं किया है। शेष के प्रतिपक्ष अथवा अपवाद होते हैं जो निम्नलिखित हैं

लक्षण	प्रतिपक्ष / अपवाद
प्रमाण (विधि)	—
भेद	अभेद
शेषशेषिभाव	गुणप्रधानभावाविवक्षा
प्रयुक्ति	अप्रयोजक
क्रम	अविवक्षा
अधिकारी	क्रियातरव्युदास
सामान्यातिदेश	—
विशेषातिदेश	—
ऊह	सम्बन्धवाध
वाध	(क) समुच्चय (ख) विक्लप
तत्र	आवृत्ति
प्रासगिक	भेद

इस तरह से प्रतिपक्ष अथवा अपवाद रूप में अभेद गुणप्रधानभावाविवक्षा, अप्रयोजक अविवक्षा, क्रियातरव्युदास सम्बन्धवाध समुच्चय विक्लप आवृत्ति और भेद। ये दस लक्षण और हो जाने हैं। सब मिलकर २२ लक्षण हो जाते हैं। अवशेष दो लक्षण के विषय में पुण्यराज की कोई निश्चित धारणा नहीं है। उन्होंने लिखा है कि शेष दो लक्षण 'लक्षणसमुद्देश' में ढंढा चाहिए। अथवा सामान्यातिदेश का भी अपवाद सामान्यातिदेश का अभाव मान लेना चाहिए। इसी तरह विशेषातिदेश का प्रतिपक्ष सामान्यातिदेश अथवा विशेषातिदेश मानकर अवशेष दो लक्षणों की पूर्ति कर लेनी चाहिए। इस तरह से २४ लक्षण हो जाते हैं—

इत्येवमादिभि सह द्वाविंशतिलक्षणानि भवन्ति । द्वे लक्षणे समुद्देशाद्भूते । अथवा सामान्यातिदेशस्य तदभावा एवापवादः । विशेषातिदेशस्य सामान्यातिदेश एव विशेषातिदेशो वेत्यनयो सप्रतिपक्षत्वमात्रित्य चतुर्विंशति सम्पद्यन्त इत्येवमनेन क्रमेण तानि लक्षणानि । एतदेव मनसिकृत्य षड द्वादश चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानोत्पुषतम् ।

—पुण्यराज वाक्यपदीय २।७७

भन हरि ने वाक्यपदीय २।७७ मं में जिन वाक्य धर्मों का उल्लेख किया है वे निम्न लिखित हैं प्रासङ्गिक, तत्र, आवृत्ति भेद, वाध समुच्चय, ऊह सम्बन्ध, वाध, सामान्यातिदेश विशेषातिदेश, अधिकार, सामर्थ्य, अर्थभेद अधिकार क्रियातर व्युदास, श्रुत्यादिश्रम प्रमत्तावल अविवक्षितश्रम पराङ्ग अप्रयोजक प्रयोजक नान्तरीयक प्रधान, शेष त्रिनियागक्रम साक्षात्पकारी, आराध विगणक शक्ति-यापार भेद, फलभेद सम्बन्धजभेद, अविवक्षितभेद प्रसायप्रतिषेध पुण्यदास, गौण मुख्य

व्याप्ति गुरु, साधय, अष्ट गान्धिभाय, विगल्पा, विगम वाग्यता विगाद्भे^३ अगोदार ।

भोज के अनुसार वाक्य के धर्म विभिन्न विभिन्न हैं प्रमाण, गण, प्रयोजक अप्रयोजक आन्तरीयक मुख्य गौण व्यापक तथे गुरु, अगोदार, अनुसार भेदविधा, अभेदविधा, व्यवहारिता उपायानुपाय तद्भाषावृत्ति, वाग्यतावृत्ति सम्बन्धा बाधन, विगल्पा समुदाय नियम विधेय प्रतिविधि उक्त वाक्य तत्र प्रमाण प्राप्त भेद समाधानितेय विधानितेय, अधिहार अध्याहार विगल्पाय वाग्यताय, अर्थविधि, अपोदार अनिधानप्रश्न विगल्पायुपाय विगाद्भे^३ विगात्भि^४ वाग्यताभि^५, गतिविधिभि^६ श्रुत्यादिनिनियोग श्रुत्यादिनिनियोग श्रुत्यादिनिनियोग प्रमाणभ^७ ।^३

भोज द्वारा लिए हुए वाक्य के धर्मों का भी उत्तरण वाक्यपदीय और उमासी स्वोपन वृत्ति में यद्यत्र मिल जाता है । भाज न उनका एकत्र चयन कर लिया है । हम पहले भक्त हरि द्वारा लिए हुए वाक्यधर्मों पर पुण्यराज और भाज के महार विचार करेंगे ।

प्रासंगिक भक्त हरि ने वाक्यधर्मों में सत्र प्रथम प्रासंगिक की खचा की है । भीमासाहचर्य में प्रसंग पर विचार अन्तिम अध्याय में किया गया है, वह अन्तिम लक्षण है । प्रमाण (विधि) प्राप्ति लक्षण हैं । प्राप्ति का प्रथम तत्त्व अन्तिम के प्रथम ग्रहण में क्या हुआ है ? पुण्यराज के अनुसार भक्त हरि 'वाक्य मात्र का प्रामाण्य मानते हैं । वाक्य मात्र का चाह वह जिस किसी भी दान-शत्रु का हो विचार के लिए अपने दर्शन में स्थान देते हैं । यही सामान्य रूप से वाक्य के धर्मों पर विचार अपेक्षित है जो पद-पदार्थ की व्यवस्था में उपयोगी है, वेदविधि के प्रामाण्य अप्रामाण्य से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है ।^४

शबरस्वामी ने प्रसंग की एक प्राचीन परिभाषा उद्धृत की है 'एवमेव प्रसंग स्यात् विद्यमाने स्वके विधौ—अथवा किया गया का अथवा प्राप्त प्रसंग है । जैसे किसी प्रासाद पर किया गया आलोक राजमाग को भी प्रकाशित करता है ।^५ भक्त हरि ने महाभाष्य विधानी में प्रसंग की परिभाषा या दी है 'यदर्थो प्रयोजक (यदर्थ-प्रयोजक) अथवादारेणाथ प्रतिपद्यते स प्रसंग इत्युच्यते ।^६ अर्थो अप्रयोजक यदि किसी दूसरे के आश्रय से अर्थ की प्राप्ति करता है प्रसंग कहलाता है जैसे 'आम्नाश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता इस वाक्य में आम्ना सचन श्रिया के प्रयोजक हैं पितर अप्रयोजक है आम के लिए डाल गये जल को वे भी प्रसंग से पा लेते हैं ।

पुण्यराज ने, सम्भवतः हरिवृत्ति के आधार पर प्रसंग का लक्षण दिया है

द्वयोरर्थिनो कार्येण समाविना प्रयोजकत्वेन निजातिसामर्थ्यो यत्र अयतर-

३ शृ गारप्रकाश, पृष्ठ ३०७ मैसूर सरकारण ।

४ यद्यपि परपा चोत्तमैव प्रमाण प्रमिद्ध तथापि टीकाकारो 'वाक्यमात्रस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति । अतएव 'तदनायामेव प्रामाण्य' आभा । १ प्रथममव लक्षणनिर्देशन न कृतम् ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।७७

५ शबरभाष्य १०।१।१ पृ० ३०६ काशी संस्करण ।

६ महा १।५ विरुद्धा पृ ४५ पूना संस्करण ।

प्रयुक्तेन अर्थेन अपरोऽभिसम्बध्यमानं कृतमथत्वात् पृथक् प्रयोजकत्वं नोपति
स प्रसंगः । तत् प्रयोजनकं प्रासङ्गिकम् ।^७

जहाँ दो वाक्य होने वाले हों जिनका प्रयोजक रूप में सामान्य बात हो यदि
एक के प्रयोग से दूसरा भी सम्बद्ध रूप में गहरा होकर प्रयोजक नहीं बनता है
उसे प्रसंग कहते हैं । प्रसंग के प्रयोजनक को प्रासंगिक कहते हैं । भाव ने भी पुण्यराज
वाला लक्षण दिया है । प्रासंगिक का लौकिक उदाहरण सघाताध्ययन है । 'य' अन्वयापक
हमारे अध्यापन के लिए है तुम भी इसी में पढ़ो । व्याकरण में प्रसंग का उदाहरण
सर्वादीनि सवनामानि १।१।२७ सूत्र में णत्व का अभाव माना जाता है

सर्वादीनि सवनामानोत्यन णत्वाभाव प्रासंगिकमुदाहरति ।^८

भोज ने प्रासंगिक की एक दूसरी भी परिभाषा दी है

यच्चाद्यद आचक्षानोऽप्यदप्याचष्टे तदपि प्रासंगिकम् ।^९

दूसरी बात कहते हुए यदि कोई अथ बात का भी साथ ही उल्लेख हो जाय
वह भी प्रासंगिक है । जैसे कुमारसम्भव में कालिदास ने काम के वाणप्रहार के समय
का चित्र लेते हुए धनुर्विद्या के रूप पर भी प्रकाश डाला है ।^{१०}

तत्र दूसरा वाक्यधर्म तत्र है । एक ही अर्थ की निश्चिन्ता की इच्छा रखने वाले
कई अर्थों के प्रयोजक के अभेद से अथवा आवृत्ति द्वारा सभ्य की दृष्टि से और लाघव
की दृष्टि से उस अर्थ का एक ही प्रयोग करते हैं । वह तत्र है ।

यत्रार्थिन सर्वे प्रयोजकाभेदेनावस्था वा योऽथ प्रतिपत्तव्यस्तमथम एकमेव
सम्भवात् लाघवाच्च प्रयोजयति तत् तत्रम् ।^{११}

भोज ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है । पत्ने जाने सभी छात्र गाला में एक ही
दीप से काम ले लेते हैं । अथवा जैसे कठाध्यायी शतपथिका की गाला में जलाया गया
दीप व्याकरण पत्ने वाला के भी काम आता है । जहाँ एक ही वस्तु से कई प्रयोगनार्थी
एक साथ काम निकालते हैं वहाँ तत्र माना जाता है । भक्त हरि ने श्वेतो धावति
वाक्य में तत्र माना है । गत की गति का तत्र द्वारा गति अवच्छेद मात्र किया
जाता है । एक ही पुरा शब्द पुरा के अर्थ में भी आता है सह वचन भी है एक ही
आरात गन्ध सन्निवृष्ट अर्थ में दखा जाता है और विप्रवृष्ट अर्थ में भी । इसी तरह
श्वेत शब्द अनन्त गति से युक्त है । प्रतिपत्ता यत्किं गति अवच्छेद के द्वारा अथ-

७ पुण्यराज—वाचस्पदीय २।७७

८ तुलना कीति—चोदय्य एत्वरहित एव प्रयुज्यते ।

तस्यात्र प्रमगेन सामुह्य प्रतिपाद्यते ॥

—कयत्, प्रदापोद्योत १।१।२७

सम्भव पुण्यराज और कैयट दोनों ने भाष्यत्रिणादी से इस तथ्य को लिखा है ।

९ शृंगार प्रकाश ५० ३१६

१० कुमार सम्भव ३।७०

११ वाचस्पदीय, पुण्यराज, २।७७

बोध करते हैं। अर्थात्तरि ग मातो णा णा का उच्चारण किया गया हो। जैमिनी
ही प्रतीत प्रयोगों द्वारा प्रतीति से (तत्र से) आलोचन कर काम निश्चय होता
है। तत्र म भी एही शक्ति है कि वह तत्र ग णा णा का उच्चारण जान पड़ता
है।^{१२} जम अथ द्विगत होता है तत्र भी द्विगत होता है। तत्र म तत्र का प्रयोग म
मभी प्रम और कभी योगपथ का आश्रय देगा जाता है। जम म मज्यनाम अथ
भक्ष्यताम् अथ नीव्यताम्। इस वाक्य म मज्यनाम क्रिया का अर्थ म प्रम म मज्य
दिताया गया है। 'मजा मज्यता मज्यना नीव्यताम् इम वाक्य म प्रम उगमना है।
मज्यता मजि ता अथ म एक माय अर्थ हो जाता है। यह भी तत्र का एक रूप
है। अर्थात्तरि गम्या दूसरी गम्या का साथ तत्रिणी मानी जाती है। आस्यत भवत्याम्
'आस्यत भवति।' इसम आस्यत म एतत्त्व का सम्बन्ध द्वित्व यद्वाच से भी हो जाता
है। प्रान म भी बहुत्व सख्या एतत्त्व और द्वित्व की तत्रिणी होती है। 'कति भवन
पुत्रा' इस प्रश्न म बहुत्व का सम्बन्ध एतत्त्व और द्वित्व से भी है। इसी तरह
नपुंसक का स्त्री और पुरुष म तत्र सम्बन्ध सम्भव है जस किम जातमस्य का उत्तर
'पुत्र जान' 'पुत्री जाना दाना हो सकता है। गोस्वामी व्रजति और गवा स्वामी
व्रजति जस वाक्य म विभक्ति भी तत्रिणी हाती है। गोस्वामी व्रजति वाक्य स
कम अरण्य का आश्रय सम्बन्धविशेष का रूप म हो जाता है। 'गवा स्वामी व्रजति
कहने से पट्टीविभक्ति द्वारा स्वस्वामिभाव के व्यक्त हो जाने के कारण व्रजति क्रिया
से कम का भान अनियत ही रह जाता है। कभी-कभी प्रधान क्रियाविषयक धातु स
उत्पन्न प्रत्यय अप्रधानक्रियाविषयक शक्ति को भी तत्र द्वारा समेट लेता है।
इष्यते ग्रामो गन्तुम जसे वाक्य मे 'इष्यते प्रधान क्रिया का प्रत्यय अप्रधान
गमन क्रिया को भी साथ ले लेता है। पक्त्वा अन्न ओदनो भुज्यते इस वाक्य म
भोजन क्रिया प्रधान और पाचन क्रिया अप्रधान है। अप्रधान का भी तत्र द्वारा,
पहले पकाना है बाद म भोजन करता है के रूप म, ग्रहण हो जाता है। अथवा गुण-
विषयक शक्ति अन्तर्निहित होती हुई भी प्रधान क्रिया का अनुरोध से अभिहित के साथ
जान पड़ती है। भोज ने पद और वाक्य की तरह दो प्रयोजन का सिद्ध करने वाले
प्रकरण और प्रबन्ध को भी तत्र माना है।

व्याकरण शास्त्र मे तपरस्ततकालस्य १।१।७० म तपर तत्र तत्र का आधार
पर बहुव्रीहिसमास के रूप मे (त परो यस्यात सोऽय तपर) और पचमी तत्पुरुष के रूप मे
(तादपि पर तपर) दोनों तरह से गृहीत होता है। लम्बे प्रसारितत तु को तत्र कहा
जाता है। जस वह अनेक तिरधे किए हुए तत्पुरुष का अनुग्राहक होता है उसे ही शास्त्र
मे जब एक अनेक लक्ष्य अनुग्राहक होता है तत्र कहलाता है—तत्र प्रधान को
भी कहा जाता है। सिद्धांत भी तत्र शब्द से अभिप्रेत होता है। महाभाष्यकार ने
निर्देश और विवक्षित के सम्बन्ध मे तत्र शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है।^{१३}

१२ महाभाष्य त्रिपादो पृ० ४५ पृ० सरवरण

१३ तत्र तरनिर्देश महाभाष्य १।१।३३, तत्र य प्राध्याये वतते तत्रशब्द, तत्पुरुषग्रहणम्—

शबरस्वामी ने तत्र को साधारण धम समूह के अथ म ग्रहण किया है ।^{१४}

आवृत्ति एक क्रिया पदार्थ अथवा कारक पदार्थ का अपने अभिन्न रूप से पचाय रूप म अनन्तस्थला म उपस्थित होना आवृत्ति कहनाता है । एक साथ न भोजन करने वाले यदि कई व्यक्ति हा और थानी एन ही हो वारी वारी से एक ही थाली सत्रक भोजन का पात्र बन जाती है । एक ही वस्त्र या भूषण रंगभूषण पर अनन्त नटा के लिए वारी वारी से उपयोगी हो जाता है । वाक्चकार न आवृत्तिसंख्यान क रूप मे आवृत्ति का व्यवहार किया है । महाभाष्यकार ने इसक लौकिक उदाहरण म कहा है कि एक ही कपिला गाय को सहस्र ऋषिया न वारी वारी से सहस्र बार दूध सहस्र दक्षिणा का फल प्राप्त किया था ।^{१५} व्याकरण शास्त्र म एकाच्—अनन्ताच् ग्रहणा म आत्रनिसंख्यान क आश्रय से घटेन तरति जमे स्थला म द्वयचलक्षण ठन प्रत्यय होता है । कैयट के अनुसार आवृत्तिभेद स भी भेदाश्रयकाय की प्रवृत्ति देखी जाती है ।^{१६} इत्यण सप्रसारणम १।१।४५ सूत्र म तत्र अथवा आवृत्ति क आधार पर वाक्याथ और वग दोनों के प न म दो तरह स अथ विण जात हैं । भाषा म त्रिषापद की आवृत्ति और कारक पद की आवृत्ति के उदाहरण अलकृत रचना मे बराबर मिलत है । जैसे—

शशिना च निशा निगया च शशी विभाति ।

सीता विस्मयते निरीक्ष्य हरते दष्टि भदित्याकुला ।^{१७}

भेद जहा पर वस्तु अपने स्वरूप मामथ्य से अनन्तत्व प्राप्त करती है भेद माना जाता है । जस पात्र सहभोजी व्यक्ति के लिए भेद रूप म ही भोजन क आधार होत ह ।^{१८} वेत् म भी 'ग्रह समाष्टि' जमे स्थला म ग्रह विषयक समाजन भेद रूप म किया जाता है । व्याकरणशास्त्र म भी न वेति विभाषा १।१।४६ इस सूत्र के प्रत्यारूपानप न म उभयत्रविभाषा का कभी विधि रूप म कभी प्रतिषेध रूप म, भेदाश्रित प्रवृत्ति हती है । भाज न इस भेद का क्रियाभेद और न भेद के रूप म दिखाया ह । शब्द भेद भी पद और वाक्य भेद स दो तरह का और वाक्यभेद भी प्राकृत, वृत्त भेद से दो तरह का होता है । 'जाग्रते च म्रियते च मन्विषा क्षुद्रजन्तव वाक्य मे 'क्षुद्रजन्तव' म क्षुद्र और जन्तव रूप म पदभेद माना जाता है ।

बाध अर्थित्वमामाय के आधार पर अथवा उपपत्ति के आधार पर प्रवृत्ति के सभव होन पर भी दष्टि अष्ट अर्थों म तुल्यबल वाल विरोधी अथवा अविरोधी

१४ तत्र साधारणो धमग्राम, शबरभाष्य १।१।१

१५ महाभाष्य, पृ० १७ कोलहान संस्करण ।

१६ गोदयच इत्यत्रात्रशब्दप्रतिषेधान् लिङ्गात् आवृत्तिभेदेनापि भेदाश्रयकायप्रवृत्ति ।

कैयट—प्रदाप, शिवसूत्र १

१७ मृ गाप्रकारा, पृ० ३१६

१८ भोज ने उत्तरभारत का किमा परपरा को लक्ष्य कर भेद का लौकिक उदाहरण दिया है—
गङ्गान पय आयावर्ते मभोगमपादनाय भेदेनैवोगमये इति'

अर्थों का अप्राप्त्यनुमान बाध है। उसे बाधा भी कहते हैं। बाध अथवा बाधा वचन, असंभव, चरितायता, फलाभाव, विशेष प्रत्यक्षश्रुति परिसरया आदि कारणा से उदनुद्ध होता है। 'अभक्ष्या ग्राम्य कुक्कुट' इसमें बाध वचनसामर्थ्य से उदनुद्ध है। बुभुक्षित का भक्षण में प्रवृत्ति अर्थित्व साधक है। उसका बाध उपयुक्त वाक्य से किया जाता है। यहाँ बाध वचनाश्रित है। भत हरि न इति वाक्य में प्राप्त्यनुमानबाधा न मानकर केवल बाधा माना है।^{१६} 'गुरुवत् गुरुपुत्रे वृत्तित्वम् अघ्नाच्छिष्टभोजनात्' इस वाक्य में सामान्य उपदेश के आधार पर गुरुपुत्र के पति गुरुमदन व्यवहार करने की प्रवृत्ति है किन्तु उच्छिष्ट भोजन में गुरुसत्त्व व्यवहार का निषेध है अतः यहाँ भी बाध वचनाश्रित है। 'अप्याश्रि यूपोभवति' इस सामान्योपपत्ते का 'चतुरश्रा वाजपयसूप' इस उपपत्ते का एक साथ घटित होना असंभव है अतः यहाँ बाधा असंभव के आधार पर है। व्रीहीन अवहति में सामान्योपपत्ते और अर्थित्व के आधार पर प्रवृत्ति प्राकृत अवहनन 'नखनिभिर्नाना नखापूताना चरन्भवति' इसमें नख द्वारा ही अवधान प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण चरिताथ रूप से बाधित है। इसी तरह गतवृष्ण लश्चरभवति इसमें वृष्ण में फलाभाव के आधार पर अवधान नहीं होना है।

ब्राह्मणभ्यो दधि दीयता तन्न कौण्डिन्धाय' इसमें औत्सर्गिक दधिदान तन्नदान से विनोप में प्रत्यक्ष श्रुति से बाधित है। अर्थित्व के आधार पर पाच नख वाले और बिना पाच नख वाले दोनों के भक्षण में प्रवृत्ति का पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या' इस परि संख्या से बाध किया जाना है। यहाँ पञ्चनखातरा की निवृत्ति भत हरि के अनुसार शब्दवती नहीं है किन्तु सामर्थ्य लक्षण है।^{१७} व्याकरण शास्त्र में उत्सर्ग नियम का अपवाद से बाध निरूपित किया जाता है। जैसे कमण्ठ ३।२।१ सामान्यनियम है उसका आनोनुपसर्गों के ३।३।३ इस विनोप नियम से बाध होता है। कम उपपद हो धातु से अण प्रत्यय होना है—यह उत्सर्ग वाक्य है। कम उपपद रहते भी आकारात् और उपसर्गरहित धातु से के प्रत्यय होना है। यह अपवाद वाक्य है। उत्सर्ग वाक्य का अपवाद वाक्य से बाध माना जाता है। भत हरि के अनुसार उत्सर्ग वाक्य अपवाद वाक्य की परिकल्पना में ही प्रवृत्ति होता है। उनका मत में यहाँ उत्सर्ग वाक्य का रूप है आकारात् तर्जित धातुभा से कम में अण होना है।^{१८} इस सम्बन्ध में दो तरह के सिद्धांत गृहीत हैं। सबविनोपस्वीकारपूर्वक उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अथवा कतिपय विनोप स्वीकार पूर्वक प्रवृत्ति होती है। पहला मत में उत्सर्ग के विषयविभाग के लिए पहले अपवाद की प्रवृत्ति होती है उसके बाद त्यक्त विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है।

१६ अभक्ष्या ग्राम्यकुक्कुट इति। अन्धमुग्य प्रतिषेध इति। न ह्यत्र प्राप्त्यनुमानाभा। किं तर्हि। बाधवचनम्।

सामान्यविधानात्, पृ० १६

२० इसी न शब्दवती। किं तर्हि। सामान्य लक्षणात्।

सामान्यविधानात् पृ० १७

२१ आकारान्तरात् तन्ना धातुस्य कमण्ठस्य सवनायकभूतमेव तदुत्सर्गवाच्यम्।

वाक्यव्यास २।३।१, हरिवृत्ति, हलन्त्यम्।

हमारे मत में, अपवाद विषय की कल्पना कर उत्सर्ग प्रवृत्त होता है।^{१२} इस सम्बन्ध में भक्त हरि ने कई प्रकार से विचार प्रस्तुत किए हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि गान्धर्व से प्रापित का गान्धर्वान्तर से बाध नहीं होता। दाना के अथ के परित्याग में बाध भेद नहीं है। अवश्य ही लोक में गम्यता (जाया) भुज्यमान (उपभोग करो) कहकर कुछ दोष देखकर स्वीयनाम (ठहरो) कहा जाता है। ऐसे स्थल पर गान्धर्वान्तर से प्रापित का गान्धर्वान्तर से निषेध है। किन्तु यहाँ अप्राप्त्यनुमान नहीं है। अप्राप्त्यनुमान बाध्य प्राधक रूप में दया जाता है। वस्तुतः इस प्रसंगा में गान्धर्व में अनन्त विचलन दस्य जाते हैं जसा कि कहा जाता है— यदि प्राप्ति कारण तुम्हें हो प्रतिषेध विचलनाय हाता है आति। गम्यता भुज्यता जस उ सग वाक्य में दाप यदि न हो जाओ ऐसा छिपा हुआ है। बाध में दोषान्तर के दयन से अथवा प्रयाजन के अभाव में, अथवा किसी अन्य प्रयाजन से अपवाद के सम्पन्न से दोषाभाव के रूप में विशेष अनुमित होता है।^{१३}

‘कौण्डिन्य की छात्रर ब्राह्मणा को दधि दो’ इस वाक्य में यद्यपि तत्पदान का गान्धर्व उल्लेख नहीं है फिर भी वह वाक्य नेपभूत है और कौण्डिन्यश्रुति से उसका अनुमान हो जाता है। अथवा अनिरिक्त भी ब्राह्मण गान्धर्व है जिसकी वृत्ति कौण्डिन्य वजिन ब्राह्मणा में है। प्रत्येक सामान्य अन्तः प्रकार का होता है। जैसे ब्राह्मण ही कोई गाय दस्य हो। दधितान में अनुसंग कौण्डिन्य के लिए दधितान गान्धर्व उत्पन्न है तत्पदान गान्धर्व से प्रतीत है। हम यह नहीं कहते कि दधितान का कौण्डिन्य त्व प्रापक है ब्राह्मणत्व उस गान्धर्व की तरह है। यदि माना जाय कि प्रतिषेध उपयुक्त है क्योंकि अप्राप्त्यनुमान ता निरर्थक है। आत्मरूप की कल्पना में चरिताय हा जान के कारण उपस्थित दूसरे विधि को विकल्प रूप में ही कल्पना करेगा। क्या अप्राप्ति का कम अनुमान संभव है? अनुमान की गहृच संवधा नहीं है। कस, ऐसा नहीं है कि प्रतिषेध जहां कहीं प्रवृत्त हो जाता है। वह स्वाभाविकी निवृत्ति का द्योतक है। नित्यपरतन्त्रता के कारण उसका अथ अयसमवायिनी निवृत्ति को द्योतित करना हुआ अनुमान की कल्पना करना है। जहां जहां प्रतिषेध इस रूप में रहता है वहां वहां सामान्यविशेषभाव सहचारि रूप में रहता है। वह अनुमान के लिए पर्याप्त है। जस आग के लिए घस। सम्बन्ध से और सम्बन्ध सम्बन्ध से भी अनुमान

१२ इह दशनन्त्यम् भवति शेषावीकारणं बो मगस्य प्रवृत्ति कतिपय शेषादगाहनेन वा। तत्र पूर्वमिन्त्यने, उत्सर्गस्य विषयविभागाय पूर्वमपवादं प्रवृत्तते। पश्चान्तं मुक्ति विषये उभय । द्वितीयं तु दशने, अपवादविषय परिकलयो सग प्रवृत्तते।

कैयट, महाभाष्य प्रदीप, २।३।४६

१३ अथ केचित्, न शब्देन प्रापितय शब्दान्तरस्य दायनं भवति। सम्योरथपरिधाने भेदाभावात्। ननु च तात्पर्य गयता भुज्यता त्व्युच्चा दोष किंचित् दृष्ट्वा स्वीयतामिति। न च तात्पर्यास्यनुमानम् अत्रागति। न च (तच्च ?) वाक्यवादकभावेनावृत्ति उत। एव प्रकारेण तादृकत्वितात्का शास्त्रेषु शास्त्रेषु विकल्पा दृश्यन्ते। ‘प्रतिषेधो विकल्पायस्तु तच्च चन् प्रातिकारणम्’ इति। अपि च गयता भुज्यतामिति दोषश्च ज्ञा तात्पर्यतु सग वाक्ये प्रसङ्ग्ये। तच्च दोषान्तरदशानात् प्रयोजनाभावाच्च प्रयोजनान्तरस्य बाधबाध प्रक्रियमाणेऽगति दाषाभावस्यप्य विशेषोऽनुमीयत—

—वाक्यपदीय २।२५ ? हरिवर्षा, हस्तलेख।

होना है। वही सामान्य म प्रयत्न होते हुए वा विचार म वही प्रातिप्रमग वा ममम्बर स्वभावनिवृत्त वाच्योप क द्वारा प्रयत्न स्वाभाविक वाच्य म क द्वारा विरोध म प्राप्त करता हुआ सम्भव हो पर भी विद्यागतिमान अनुशासक उक्त विषय बुद्धि प्रगति का हाना हुआ वाच्य क जाना है।^{२४}

कुछ भाषाय उक्तम और प्रयत्न म वाच्य म स्वीकार करता है और कुछ विचार्य इनम नानात्व मानत है। वाच्य वाच्यभाषा भाषा म होता है। सामान्य पक्ष का सबत वाच्यकार कल्याण न तत्र ह्युनादि प्रतिषेधो नानावाच्यत्व त एव वार्तिक म किया है। प्रयत्न क द्वारा उक्तम का वाच्य सामान्यवाच्य म होता है। जहाँ नाना वाच्य है वहाँ वाच्य नहीं होगा। एव वार्तिक की धारणा करना ममय एतद्वति न एकवाच्यत्व का निर्देश किया है। उन अनुसार एव भू क आधार पर वाच्य भू नहीं होता

न विद्वत्स्थमिति कृत्वातो नाता वाच्य भवति विद्वत्स्थमपि सद्वचस्य भवति।^{२५}

—महाभाष्य १।४।६७

जो नानात्व क समर्थक है उनक अनुसार निराकाश प्रधान वाच्य म एतत्त्व सम्भव नहीं है वही नानात्व ही मानना चाहिए

इह साक्षात्क्षणां ससर्गां परस्परमुपकारे घतमानानाम एकवाच्यत्वमपपद्यत।

प्रधानानि तु पृथगात्मनिवृत्तौ व्याप्तानि। तेषां निराकाशत्वात् सत्युपकारे नास्त्येकवाच्यत्वम्।^{२६}

२४ कौण्टि य न दधि ब्राह्मणोऽथो नोयतामित्येत उ सगवाये प्रदान तत्राया न्यमाणयापि वाच्यशपस्य तत्रदानविषया कौण्टिन्यश्रुतिरनुमानम्। अथवा विद्वत् श्वापरो माह्वण शब्द कौण्टि यवर्जितेपेव ब्राह्मणेषु यत्न वृत्ति। प्रदेशसामान्य हि बहुप्रकारम्। यत् यथा, ब्राह्मणो ऽस्ति, अत्र वाचिन् गा पश्यस्यति। ननु च दधिदाने कौण्टि ययानुमेयगयाशब्द प्रन दधि दान, तत्र तु शब्दप्रतीतम्। न ब्रूम कौण्टि य व दधिदानस्य प्रापकम्, ब्राह्मणत्वं तच्छ दधदेव ननु युक्त प्रतिषेधो वाचकचात् अप्रा अनुमानमन्यकम्, आ मरूपप्रकृतये तु क्ताधम विद्यन्तर् मुपजायमान सामान्यान् विकल्पमेव प्रकलयत। तत्र कथमपान्तिरनुमीयते। सवधा नास्त्यनुमानस्य यावति (यावृत्ति १)। कथ न तावत् प्रतिषेध क्वचित्पि प्रवतत एतद्युगम्यते। किं तर्हि, स्वाभाविकता निवृत्ते घोटका स खलु नि यपरतत्त्वादरथाध तानन्यसमवायिनी निवृत्ति घोटयन अनुमान प्रकल्पयति यत्र यत्र च प्रतिषेध इय भूत, तत्र तत्र सामान्य विरोधभावोऽन्य दृष्ट यमिचार सहचारिप्रतीतिवतो विद्यते। सचानुमानायाजम्। यथाग्ने धूम पतगात् धूमका इति सम्प्रधान सम्बन्धमवधा चानुमान भवति। सामान्ये प्रयुयमान विशेषे क्वचित् प्राप्ति प्रमगमिद बुद्ध्या स्वभावनिवृत्त वाच्योपकरणेन वा वाच्योपस्थावच्छेदेन विशेषे प्राप्यमाण सयपिमभवे विद्यामनिधानानुमानत्वान् तद् विषय बुद्धिप्रसग यावत्तयन् वाचक इत्युच्यते। वाच्यपदीय २।३५२, हरिवृत्ति, हस्तलेख

२५ वैयं ने देश शब्द काल का उपलक्षण माना है—न कालभेदान नानावाच्यत्व भवति। शास्त्रे विदेशाधानामन्यन्तरेवावयानामाकाक्षावशादेकवाच्य वदशान्। देशग्रहण चात्र काचर्योरल क्षणम्।

—वैयट महाभाष्य पदीय १।४।६७

२६ वाच्यपदीय २।३५४ हरिवृत्ति, हस्तलेख

आख्यात क भिन भिन हात हुए भी उत्सर्ग और अपवाद में एकवाक्यता के समर्थक अपने पक्ष में नियम प्रतिषेध का विधिशेष आदि की उपपत्ति बनलात हैं। इन्हीं गुणवल्ली १।१।३ सावधानाध्यातुकाध्यातुकयो ७।३।८४ के गुणविधि का रूप है और उसके साथ एकवाक्यता से साथक हाता है। प्रतिषेध भी विधि के साथ एकवाक्यता से सम्पन्नता पाता है। भिन आधार में भी एक शक्ति की कल्पना से एकवाक्यता की उपपत्ति हो जाती है। पुण्यराज ने आकाक्षा योग्यता और सन्निधि के आश्रय से एकत्वपक्ष का समर्थन किया है।^२

भोज न भाषा के व्यवहार में वाक्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

वामेन अग्ना एष पश्यति

किमस्य यन्न रोचत।

आदि वाक्य विशेष के वाचक हैं।^{२८}

समुच्चय तुल्यबलवाने अविरोधिया का एकाग्रपरक उपादान का नाम समुच्चय है। जस दवन्त भोज्य लवणेन मपिषा शाकंन — इस वाक्य में लवण धी गाक का उपादान एक भोजन क्रिया के लिए किया गया है। भाज के अनुसार अविराधिया का तुल्यविधान भिन प्रयाजन वाला का एक काय के लिए ग्रहण समुच्चय कहलाता है। गुण आदि का समुच्चय भेद रूप में और अभेद रूप में दाना तरह से देखा जाता है।

व्याकरणशास्त्र में प्रत्यय वृत्त कृत्य सनाया का प्रत्यय तद्धित, तद्राज सना का एतत् समुच्चय अविरोध और फलभेद के आधार पर, दंगा जाता है।

जयात्तिय ने अनन्त क्रिया के अध्याहार को समुच्चय माना है (अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय — कानिका ३।४।३)। समभिहार से समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार पीन पुन्य अथवा एक ही की पुनरावृत्ति है वह एक ही क्रिया में होता है समुच्चय अनन्त क्रिया में होता है। यामकार ने समुच्चयि को समुच्चय माना है। एक साधन अथवा क्रिया के प्रति क्रियाया की चोयमानता अनन्तता समुच्चय है। समुच्चय तुल्यबल में और जिनका नियतक्रमयोगपक्ष नहीं है उन्ही में हाता है जस, गाम अश्व पुरुष अहरह नययानो ववस्वत — इस वाक्य में एक नयन क्रिया से गाम अश्व आदि का सम्बन्ध है।^{२९}

ऊह ऊह का सम्बन्ध लिंग, वचन विभक्ति आदि के विपरिणाम से है। दो तरह के याग होत हैं प्रकृति और विकृति। जिसमें इतिवृत्तयता आदि संपूर्ण अंग समूह का उपपन्न हाता है वह प्रकृति है। जस दानपूणमाम आदि। जहा सम्पूर्ण अंग का उपपन्न नहीं होता वह विकृति है। जस सोय आदि। प्रकृति की तरह विकृति

२७ वाचस्पत्यकाम्यायोग्यता सन्निधिवशादकवाक्यतागत वाक्य बोद्धव्यम्।

—पुण्यराज, वाक्यशास्त्र २।३५३

२८ गार प्रकाश पृ० ३१७

२९ काशिकाविवरण पत्रिका २।२।२६ केयट और मत्याजिनीहित के भा सम्पन्न मत है। द्रष्टव्य महाभाष्य दाप २।२।२६ तथा शब्दकान्तुम २।२।२६

करती जाति। यह भीमांग का रूप है। प्रकृति में जिस मंत्र का जो अभिप्राय है यदि वह विद्वत् मन्त्राचार्य रूप में गड़ी है। मन्त्र मंत्र की निरति होती है। यदि उमर मंत्र देना तो अभिप्राय गड़ी है तो उमर मंत्र देना की निरति होती है।

भक्त हरि १ महाभाष्यप्रियाणी म ऊर्ध्व विष्णु प्रमाण गता है। भाग १ वाक्य व धर्म पर विचार करते हुए उह पर जो कुछ लिखा है वह मंत्र महाभाष्य प्रियाणी से लिया है। उसका आधार पर यही उह का कुछ विवेक दिया जा रहा है। उह प्रकृति में समस्त मंत्रों का विद्वत् मन्त्राचार्य व अभिप्राय व कारण प्रकृति स्वरूप वचनांतर व उपादान व रूप में लिया जाता है। दूसरे गता में प्रकृति मंत्र व प्रकृति लिग, वचन विभक्ति आदि का दूसरे मंत्र प्रकृति, लिग वचना, विभक्ति रूप में यथावत् उपादान उह कहलाता है। जस प्रकृति याग में मन्त्र त्वा जुष्ट निवपामि (प्राप्तामि) ^३ — इसमें अग्नि मंत्र अगार व अथ म समर्थ देना गया है। विद्वत् याग में मन्त्र व स्थान पर सूर्याय उह कर लिया जाता है।

विद्वत् याग में एक मंत्र की निरति हो जान पर भी प्रिया में मुख्यवृत्ति में उलटपर व कारण (वाध) और अर्थांतर व प्रसक्ति व कारण मन्त्रांतर का अर्थांतर के ग्रहण के रूप में किया जाता है। यदि विचार मीन रूप में, उपागुप्रयोग के रूप में, किया जाय प्रकृति मन्त्रवती होगी जसकि विचार मन्त्र हो जायगा। यदि मन्त्र न कर अग्नि मन्त्र का ही ग्रहण किया जाय अग्नि मन्त्र अपने मुख्य अगार अथ में परिनिष्ठित होने के कारण सूय अथ का प्रत्यायन न कर सकेगा। यदि मुख्यवृत्ति (अभिधा) का आश्रय न लेकर और गौणी वृत्ति के सहारे अग्नि मन्त्र का सूय व अथ में प्रयोग मान लिया जाय प्रकृति व विपरीत शास्त्रप्रवृत्तिधर्म का आश्रय अपनाता हो जायगा। इसलिए उसी विभक्तिवाले दूसरे मन्त्र का उपादान कर लिया जाता है, मन्त्र त्वा जुष्ट निवपामि के स्थान पर 'सूर्याय त्वा जुष्ट निवपामि' कहा जाता है। चतुर्थी विभक्ति दोनों में समान है बवल प्रकृति में परिवर्तन हुआ है। अग्नि के स्थान पर सूय का उपादान किया गया है। इस तरह यह प्रकृति उह है।

लिङ्ग का भी ऊह होता है। जसे 'देवीराप गुद्धा ययम्' ^{३१} देव आद्य शुद्ध त्वम्। पहला वाक्य आप (जल) देवता व विनियोग में है। इसलिये गुद्धा में स्त्रीलिङ्ग है। इस वाक्य को आज्य के साथ रखने में गुद्धा के स्थान पर गुद्ध करना पडा है। यह लिङ्ग का उह है।

विभक्तियों का भी ऊह होता है। जसे आयुरागास्ते ^{३२} के लिए आयुरागासाते अथवा आयुरागासते। जिनका प्रकृति में ही अथवा बिना प्रकृत्यर्थ के सामर्थ्य नहीं है उनका असामर्थ्य व कारण विद्वत् मन्त्र उह नहीं होता है। जसे वायव स्थ ^{३३}

३० वाचस्पत्यो महिता १।१।२।३

३१ मन्त्राधिकारी महिता १।१।१।१।७।५

३२ तत्तिराय महिता २।६।१।७

३३ तत्तिरीय महिता १।१।१

‘उपायव स्य मे प्रकृति म ही बहुवचन के द्वारा एक वत्स का अभिधान होता है। इसलिये विकृति मे यहा ऊह नही होता। इसी तरह ‘अदिति पाशान प्रमुमाक्तु’^{३४} इसमे प्रकृति म ‘पाशान’ म बहुवचन एक प्रकृतिपाग के लिए व्यवहृत हुआ है। यहा भी विकृति मे ऊह नही होता है। किसी वाजसनयी शाखा मे ‘अदिति पागम’ इस रूप म एकवचनात् रूप म पढा जाता है, इस दृष्टि स यहा ऊह प्राप्त हो सकता है। यदि ऐसा नही है अदितिरशना पाग म ऊह नही होता। अथवा यहा नगमविभाषा—वदिक विरल्य है। बहुवचा के प्रयोग म यथेष्ट प्रयाग होता है। भत हरि न निग ऊह क कई उदाहरण यागभेद और शाखाभेद स लिखाए ह। वेद म जूरसिधता मनसा जुष्टा^{३५} इस रूप म स्त्रीलिंग पाठ मिलता है। इसका साद्यस्त्री मे स्त्रीगन वक्ति की उपेक्षा कर, वद म पुल्लिंग रूप में दष्ट न होने पर भी पुनर्द रूप म ऊह हाता है फलत जूरसि धनो मनसा जुष्टो आदि रूप म पढा जाता है। इसी तरह राजक्यणी-सस्तव म चित्सि भनासि धीरसि दक्षिणासि सुप्राची सुप्रतीची भव^{३६} रूप म स्त्रीलिंग रूप म पढा जाता है। इसी को साद्यस्क मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है—चित्सि भनोसि धीरसि दक्षिणोसि सुप्राज सुप्रत्यक मय आदि। वाजसनयी शाखा वाल भी इसी रूप म इनका ऊह किया करते है। इसी तरह सोमक्यणाभ्यन मय म स्त्रीलिंग पद पढे जाते हैं जैसे वस्यसि रुद्रासि चन्द्रासि।^{३७} इनका साद्यस्त्री मे पुल्लिंग रूप म ऊह होता है। वसुरसि, रुद्रोसि चन्द्रासि। इसी तरह पशुप्रकृति म पुल्लिंग रूप म मय पढा जाता है—‘अस्मिन् प्रतिमुञ्चति’। इसका ‘अस्य प्रतिवदय’ रूप म स्त्री प्रत्यय के रूप मे ऊह होता है यदि उस स्त्रीगत्री का आलभन मूर्धा स हा। ‘हुतो याहि पथिभि देवयान’^{३८} का ऊह हुता याहि के रूप म स्त्रीप्रत्यय के रूप मे देसा जाता है।

पाणिनि का घसह्वरणश २।४।८० सूत्र घस ह्वर, णश आन्ति से, छन्द म सिच (लि) क लुक् का विधान करता है। ऊह्य मत्रो म ऐसे मूत्रो की प्रवृत्ति होगी कि नही इस प्रश्न पर विचार भेद था। कुछ आचार्यों क मत म ऊह्य मत्र नही है, इसलिये छन्दम नियमा की प्रवृत्ति इनमे नही होनी चाहिए। ‘अघस्ताम’ जस प्रयोग की उप पत्ति पठित के आधार पर कर लनी चाहिए। कुछ अय आचार्यों के मत म ऊह विषयक मत्र मत्रांतर हैं—एक प्रकार के मत्र हैं। अघसत अघसताम अघसन अभीपु अशन य भव ऊह प्रकरण म पढे जात हैं। वही कही स्वय वद म ही तपध्वम तप्यम्व तप्यथाम जस ऊह प्रयोग निर्दिष्ट है। इसलिये ऊह्य और अनूह्य की ‘याय से व्यवस्था समव होने पर लिंग वचन और विभक्ति क विनियोग के लिए ऊह क विषय म व्याक

३४ मैत्रायिणीसंहिता १।२।१५ २६।०, तैत्तिरीय संहिता ३।१।६।४

३५ वाजमनयी संहिता ४।१७, तैत्तिरीय संहिता १।२।४।१

३६ तैत्तिरीय संहिता १।२।४

३७ वाजमनेया संहिता ४।२१

३८ मैत्रायिणीसंहिता १।५।१०।—६।१।११

रण शास्त्र की अपेक्षा की जाती है। ऊह म प्रनिषेध क विषय म भन हरि न लष
वारिना उद्धत की है

अट्टगानि ज्ञातिनामा युपमा चेद्विद्याणि च ।

एतानि नोह गच्छन्ति मध्निगो विषम हि तत ॥

अध्निगु से अथवा अग का ज्ञातिनामा का उपमा का इन्द्रिया का उह नही जाना ।
अध्निगु म होता है। अग के अनूह क उच्चारण म 'यत पशुर्मायुमकृतोरो या पदिम
राहते । अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान मुञ्चत्यहस' ३६ यह मत्र उच्चा किया जाना
है। इस मत्र म प्रवृत्ति याग म उर ग- एव वचन है और अग का नाम है। द्विपशु
विवृत्ति याग म उर का उरमी रूप म विपरिणाम नही जाना जयवि पशु का पशु रूप
म होता है। इसी तरह वटपशु विवृत्ति याग म पशु का विपरिणाम पशव जाना ३
किन्तु उर का उरानि नही होता। भन हरि क वचनाय स जान पड़ता है कि ऊह परि
गणित हो चुक थे और गणपाठ की तरह उनका भी एव गाम्य था। अग म पाणिपा
गिर गीव आदि ज्ञातिनामा म माना जाता भाता आदि, उपमा म कश्यपवा
साच्छिद्रे श्रोणी कबयारु स्त्रीरगा आदि इन्द्रिया म चय श्रोत्र आदि परिगणित
थे।*

भन हरि क अनुमार इतिवत् यता और गीति क ऊह म याकरण की गति
नही है। उसकी व्यवस्था लोक से लक्षणान्तरा स और प्रातिगाम्या आदि म सभव
है। किन्तु ग-विषयक ऊह म—विभक्ति आदि के विपरिणाम म याकरण की प्रवृत्ति
है। ऊह का विषय वस्तुतः प्रवृत्तिविवृतिभाव से ही है।*१

पुण्यराज के अनुमार सबध याग और विभक्तयन्त्र के योग जहा याकरणशास्त्र
म दिखाया गया हैं वे ऊह के विषय हो सकते हैं। जैसे भूवाप्यो धातव १। ३। १ सूत्र
मे धातव प्रथमात्त है। अनुदात्तङित आत्मनेपदम १। ३। १२ म इसकी अनुवृत्ति होती
है। वहा धातो पञ्चम्य न अपक्षित है फलतः प्रथमात्त का पञ्चम्यत म विभक्ति
विपरिणाम कर लिया जाता है। इसी प्रकार उपदेशेऽजनुनासिक इत् १। ३। २ तथा
तस्यलाप १। १६ मे भी विपरिणाम का आश्रय लिया जाता है। जो विभक्ति जिस
रूप म श्रुत है उसी रूप म जब अवय की उपपत्ति नही होती है तो अयथानुपपत्ति के
आधार दूसरे के साथ सम्बन्ध की चरितायता के लिए विभक्ति विपरिणाम कर लिया
जाता है। यह विपरिणाम सामर्थ्य से अनुमित होता है अथवा क्षीर दधि के विपरिणाम
की तरह भिन्न होता हुआ भी प्रत्यभिज्ञान के बल स अभि न माना जाता है। अथवा
तदेव इदम इस रूप म उपचरित होना है।*२

३६ तत्तिराय संहिता ३। १। ४३

४० कश्यपकवरश्चेकाया कच्छपमस्वनातीपकरवीरवाचिना यद्योपमेयलिग सरयान्तरविपरिणामो
न भवति— हेलाराज, तिसमुदेश ५६०

४१ महाभाष्य त्रिपादी, पृ० ५८

४२ वाजपयदोय, वत्तिसमुदेश ४५६ ४६०

भाज ने मत्र क अतिरिक्त भाषा म भी ऊह के प्रयोग दिखाए हैं।^{४३}

सम्बन्धाबाध—पुण्यराज के अनुसार सम्बन्धाबाधन ऊह का प्रतिपक्षी है। 'देवन्तस्य उच्चानि गृहाणि युक्ता तानि अभिजातस्य' इसम पहले वाक्य के विभक्त्यन्त पदा का वाक्यान्तर के तदनुकूल पदा से संबध हो जाता है। इसी तरह 'वदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वक्ष पचाला जनपद आदि म सम्बन्धाबाधन माना जाता है। वदरी क विषयण मधुर और सूक्ष्मकण्टक शब्द हैं, वदरी के स्त्रीलिङ्ग स उनका भी योग मान कर मधुरा सूक्ष्मकण्टका कहा जाता है। यदि वृक्ष स संबध हो तो वृक्षगत लिङ्ग सत्यायाग होता चाहिए। महामाष्यकार ने ऐसे स्थला पर आविष्टलिङ्गाजाति का सहारा लिया है। जाति क सहारे उसक विनोषणा म भी युक्तवदभाव नहीं होता है। फलत पचाला जनपद प्रयोग उपपन्न होत हैं।

ध्याकरण शास्त्र म बहुगणवतुडति सख्या १।१।२३ सूत्र म बहु और गण गन्ध का वपुत्य या मध क अर्थ म ग्रहण न होकर मत्तवाची क अर्थ म ग्रहण होता है। और उनकी सत्या सना की जाती है। पणा ता पट १।१।२४ म पणाता म स्त्रीलिङ्ग निर्देश मे सत्या स उमका सवत्र हो जाता है। वेद म भी यजमान दण्डेन दोष्यपति जम वाक्या म यजमानम् का संबध अबाधित रूप म हो जाता है।

भोज न संबन्धाबाधन की दूसर रूप म लिया है। उनके अनुसार विनय श्रुति क द्वारा भी सामायश्रुति का अबाध संबन्धाबाधन है। जम ब्राह्मणा भुञ्जता माठरकोण्डिय परिर्विष्टाम, इस वाक्य म विनयश्रुति माठरकोण्डिय से सामायश्रुति ब्राह्मण भुञ्जताम का बाध नहीं होता।^{४४}

सामायानिदेश सामयातिदेश अनिदेश का एक भेद है। अय धम का अयत्र प्रापण अतिदेश है। सामाय का भी अतिदेश होना है और विशेष का भी अतिदेश होना है। सामायातिदेश म अयत्र जो धम स्त हैं उनका प्रसिद्ध अथवा अनुमयभेद सभव संबधिया द्वारा निर्जात भेद वाले वस्तुया (अर्थों) म प्रापण किया जाता है। ब्राह्मणवत अस्मिन् क्षत्रिय वर्तितयम्' इस वाक्य स ब्राह्मण शब्द के जितन प्रसिद्ध अर्थ हैं उनसे सम्बद्ध जो प्रसिद्ध काय है अप्रभोजन आदि उन सबका क्षत्रिय म, जिसम ब्राह्मण शब्द की वृत्ति नहीं है, अतिदेश किया जाता है। सामाय मे

४३ चूडाचुम्बिन कङ्कपत्रमभित्तूणीद्वय पृष्ठतो,

भस्मरत्नोपवित्रनाञ्जदनसुरोधरो त्वन् रौरवाग् ।

मौव्या मखलया नियन्त्रिमथो वामश्च माञ्जिष्ठकम्

पाणौ कासु वमच्चस्रवचनयं दण्टोऽपर पैपल ॥

(उत्तररामचरित ४।१०)

इत्युत्तररामचरिते त्वमेवमुदीश्य भवभूतिजनकमेतं दलोक पाटितवान् । तमेव परचा द्वोरचरिते (४।२२) घत्तस्त्वच रौरवामित्युहयिन्वा रामलक्ष्मणौ द्वावुद्विश्य कुरा वचमपपठन् । अत्रायुर पाणिकाम कासु कादोनामामूहो न भवति । सवधिभेदनेव भेदसिद्धे । भेदन हि प्रतिपत्त्याऽर्थो यावानभेदोऽपि भवति तावन् भिद्यते ।

होता है यक के पर होन से शप से बाध भी नहीं होना, फलत उपसरयान की आव-
श्यकता भी नहीं हानी। शास्त्रातिदेश और कायातिदेश में भेद यह है कि शास्त्रातिदेश
में काय उन उन शास्त्र (सूत्रों) से होता है जबकि कार्यातिदेश में काय अतिदेश वाक्य
से ही होता है।^{४५}

सभी अतिदेशों में कार्यातिदेश प्रधान माना जाता है।^{४६}

पुण्यराज के अनुसार व्यपदेशातिदेश व्याकरणशास्त्र (पाणिनिशास्त्र) में संभव
नहीं है। वह सनापक्ष से भिन्न नहीं है और वत ग्रहण भी विफल होने लगेगा।^{४७}
किंतु कथं आदि ने अनेकस्थल पर व्यपदेशिवन्भाव का आश्रय लिया है

य शब्दो यवान तस्यार्थोपादानपरित्यागाम्या

व्यपदेशिवन्भावो भवति बुद्ध या नानात्वकल्पनात् ।

—कथं, महाभाष्य प्रदीप ६।१।४५

भोज में व्यपदेशमात्र को अतिदेश का काय माना है।^{४८} अतिदेश वत्यादि के
विना भी देखा जाता है। जैसे अब्रह्मदत्त के लिए ब्रह्मदत्त का प्रयोग किया जाता है।
इसकी व्याख्या इस रूप में की जाती है कि ब्रह्मदत्त में जो गुण या क्रियाएँ थी उनका
अब्रह्मदत्त में समारोप कर लिया जाता है। अथवा ब्रह्मदत्त में जो गुण आदि अभी
होंगे उनका बुद्धि से आकलन कर उपमानोपमेय सम्बन्ध के सहारे उपचार से अब्रह्मदत्त
के लिए ब्रह्मदत्त शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

उशीनरवन मद्रेषु यवा ' इस वाक्य में अतिदेश है कि नहीं ? भोज के अनुसार
यहां भी अतिदेश है। यहां उशीनर के यवा का भाव अथवा अभाव रूप में प्रसिद्धो
का मद्र जनपद के यव में अतिदेश किया जाता है। यद्यपि वति प्रत्यय का स्वरूप
समान है। किंतु दो नियमों से प्रवर्तित होने के कारण ये दो भिन्न भिन्न काय करते
हैं। तेन तुल्य क्रिया चत वति १।१।१५ से प्रवर्तित वति प्रत्यय प्रकृत्यय धम का
अथवा अतिदेश करता है। तत्र तस्यव २।१।१६ से विहित वति प्रत्यय आधेय
सम्बन्धि धर्मों का अथवा अतिदेश करता है। तद्दम् ५।१।१७ से विहित वति प्रत्यय
संभवतः सभिन्न बुद्धि वाला यह लिए नियम विधायक है। आपिणल और कागदृत्स्न
व्याकरण में तदहम् नियम नहीं था।^{४९}

४५ शास्त्रकार्यातिदेशयोश्चाय विराय । शास्त्रातिदेश तेन तत्र शास्त्रेण कायाणि भवन्ति । कार्या
तिदेश तु अतिदेशवाक्येनैवेति— पदमजरी ७।१।६५, पृ० ७४०

४६ सर्वानिदेशानां कायातिदेशस्य प्राधान्यात् तद्वैवेदाश्रयणम् ।

महाभाष्यप्रदीप १।१।२१

४७ व्यपदेशिवन् भावस्तु व्याकरणे नैव सम्भवति संज्ञा
पञ्चविंशतः शब्दं करणवैषम्यप्रसंगात् ।

पुण्यराज, वाक्यप्रदाय २।७८

४८ व्यपदेशमात्रमधिकार्यमतिदेशस्य

अ गार प्रकारा पृ० ३०१

४९ तद्दम्भिति नारदः मध्य व्याकरणान्तरे ।—वाक्यप्रदाय वृत्तिसमुद्देश ५६१

आपिणल कागदृत्स्न सूत्रमेतन् नाशेयम् ।

—हेलाराज, वृत्तिसमुद्देश

भोज न उपमान के प्रसिद्ध धर्मों का उपमय व आरोप व रूप म प्रतिदेन की ग्रहण किया है । यह प्रसिद्धि कभी सोच कभी प्रयोक्ता और कभी प्रत्येक मानि प्रमाण की अपेक्षा रखती है ।

सावर स्वामी ने नाम और वचन के आधार पर पांच प्रकार के मानिदणिक माने हैं वमनाम, सस्वारनाम योगिर, प्रत्यक्षधुन और मानुमानिक । उन्होंने प्रतिदेन के स्वरूप के दानक निम्नलिखित प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है ,

प्रकृतात् वमणो यस्मान तत्समानेषु वमसु ।

धर्मोपदेन येन स्यात् सोऽतिदेन इति स्मृत ॥

—सावरभाष्य ७।१२

अथित्व सामर्थ्य और अर्थभेद—न तीन को पुण्यराज ने वाक्यधम नहीं माने हैं । किन्तु वाक्यधम के सम्बन्ध म मनुहरि ने सामर्थ्य और अर्थभेद का उल्लेख स्वयं किया है

वाक्येऽपि नियता धर्मा केचित्त वत्तो द्वयोस्तथा ।

तेऽर्थभेदेन (त्वभेदेन) सामर्थ्यमात्र एवोपवर्णिता ।^{५०}

अथित्व स अभिप्राय एवार्थीभाव से जान पड़ता है । सामर्थ्य से अभिप्राय भेद ससग अथवा भेदससग दानो स है । यदि वक्ति म भेद और ससग न हा, सामर्थ्य नहीं हो सकता । सामर्थ्य भेद ससर्गात्मक होता है । कभी भेद सामर्थ्य होता है और ससग अनुमेय होता है । कभी ससग सामर्थ्य होता है और भेद अनुमेय होता है अथवा युगपत् आश्रित होकर दोनों सामर्थ्य कहलाते हैं । महाभाष्यकार न भेद और ससग की उपपत्ति गहा अवयवव्यतिरेक के सहारे की है । भोज ने भी ऐसा ही दिखाया है ।^{५१} अर्थभेद वाक्य और वक्ति के अर्थ के अभेदत्व का प्रतीकमात्र जान पड़ता है ।

अधिकार पुण्यराज और भोजराज ने अथित्व और सामर्थ्य को स्वतंत्र वाक्य धम के रूप म न लेकर इनका सम्बन्ध अधिकार अथवा अधिकारी से जोड़ा है ।

अथित्व सामर्थ्य शास्त्रपपु दासयोगित्वमधिकार ।^{५२} मीमांसादशन मे यन त्रिया मे उसी का अधिकार माना जाता है जो अर्थी हो, जो दूरफल की इच्छा रखता हो । साथ ही जा अधिकृत वण का हो, निषिद्ध जाति का न हो । अदृष्ट के विषय मे सामर्थ्य असामर्थ्य का निर्णायक शास्त्र है

त्रियासु योग्यत्वमधिकार । क पुन योग्य अर्थी समथ शास्त्रेण पपु दस्त इति ।^{५३}

५० वाक्यपदीय ३ वक्तिसमुदेश ३६

५१ किं पुनरिदं सामर्थ्यं नाम । भेद ससर्ग उभय वा । तत्र राज पुरुष इत्यत्र तावदेतदवधत्तपरायत्त वक्तिरयं पुरुष न स्वतः तदा स्वामिससगस्यावगतत्वात् त्वामिशेषज्ञानोपादीयमानो राजशब्देभ्य स्वाम्यन्तरेभ्य पुरुष व्यावर्तयति । सोऽयं स्वाम्यन्तरवच्छेदो भेद इत्युच्यते ।

—शृ गार प्रकाश अध्याय ३४ हरतलेख

५२ पुण्यराज वाक्यपदीय २ ७१

५३ शृ गार प्रकाश, पृ० ३२३

अदृष्टाथविषये (विशेषे) हि सामर्थ्यासामर्थ्ये शास्त्रादेव समधिगम्येते ।^{५४}

अर्थित्व, सामर्थ्य और अधिकार को साथ रखकर इनकी एक दूसरी व्याख्या भी संभव है अर्थात् एकार्थीभाव सामर्थ्य और अधिकार अथवा व्यपक्षा, सामर्थ्य और अधिकार । इन दोनों पक्षा का महाभाष्य में समर्थ सूत्र २।१।१ में विवेचन मिलता है ।

व्याकरणशास्त्र में अधिकार का सम्बन्ध पुण्यराज के अनुसार, शब्द, अर्थ और पुरुषधर्म से है । यहाँ प्रसंग से पुण्यराज ने शब्द और अर्थ के भेदों पर विचार किया है जो निम्न लिखित हैं ।

शब्द छ तरह के हैं । साधु और असाधु । साधु शब्द भी दो तरह के हैं शास्त्रीय और प्रायोगिक । शास्त्रीय शब्द भी तीन तरह के हैं । प्रतिपाद्य, प्रतिपादक और उभय रूप । प्रायोगिक भी लौकिक और वदिक भेद से दो प्रकार के होते हैं । इस तरह कुल छ प्रकार के शब्द हैं ।

अर्थ अठारह प्रकार के होते हैं

- १ वस्तुमात्र—जिसके बारे में कहा जा सके जो प्रतिपादन का विषय बन सके वह अर्थ का वस्तुमात्र रूप है अर्थात् जो कुछ वस्तु है, चाहे उसकी यथाय सत्ता हो अथवा कल्पित सत्ता हो वह वस्तु मात्र अर्थ है । दूसरे शब्दों में, शब्द निरपेक्ष वस्तु की सत्ता वस्तुमात्र है ।
- २ अभिधेय—अभिधेय वह अर्थ है जो शब्द का अर्थ है । बाह्य यथाय अर्थ नहीं । जो समीहित है वह अभिधेय है । अभिधेय ही शब्द-व्यापार का विषय है । यह दो प्रकार का होता है । शास्त्रीय और लौकिक ।
- ३ शास्त्रीय वह अर्थ है जो पौरुषेय है कल्पित है, व्यभिचरित भी होता है फिर भी जो परंपरा से अव्यभिचरित माना जाता है और जो परिकल्पित होता हुआ भी अविकल्पित-भा शब्दसाधुत्व के निमित्त के रूप में प्रतिपादक माना जाता है । उसकी नियत अवधि नहीं है इसलिए व्याख्याता उसको बहुधा विभक्त कर अवलम्बन किया करते हैं । इसलिए वह आवापोद्धारिक भी है उसका विश्लेषण आवाप उद्धार पद्धति से किया जाता है ।
- ४ लौकिक अर्थ अखण्ड अर्थ है । लौकिक अर्थ में ही शब्द का अधिकार माना जाता है शास्त्रीय अर्थ में शब्द का अधिकार नहीं होता है ।
- ५ विनिष्ठावग्रहसंप्रत्ययहेतु—जब अर्थ विनिष्ठाकार रूप में नान विरोध का प्रत्यायक होता है वह विनिष्ठावग्रहसंप्रत्यय हेतु माना जाता है । कम घातयति बलि वधयति जस वाक्या से भूतकाल के व्यापार नर आदि के माध्यम से वर्तमान काल में दिखाए से जाते हैं । इस तरह के अर्थ के लिए विनिष्ठावग्रह संप्रत्ययहेतु शब्द का व्यवहार पुण्यराज ने किया है ।

५४ पुण्यराज, वाक्यरत्नाकर २।७९, १४ गार प्रकारा १० १२३ पुण्यराज और भोज के इस प्रसंग के कई वाक्य समान हैं । या तो दोनों ने भट्ट हरि से लिया है अथवा भोज ने पुण्यराज से लिया है । द्वितीय पक्ष में पुण्यराज के समय का अन्तिम सीमा ६० १५० हो जाता है ।

६ अविशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु—वाह्य रूप म जो वस्तु जैसी है उसी रूप म उसका उदभावन अविशिष्ट अवग्रह संप्रत्यय हेतु अथ है जैसे गौ शुक्ल ।

७ मुख्य—शब्द के उच्चारण स जिस अर्थ का साक्षात्बोध होता है वह मुख्य है । जैसे गौ शब्द स सास्ना आदि युक्त गौ यवित ।

तस्मात् श्रुतिमात्रेण शब्दस्य येषामर्थेषु तादर्थ्यमवगोचते तेषां मुख्यमर्थमा-
चक्षते । यत्र श्रुतिमात्रविषय प्राकृत यत्नमतिक्रम्य निमित्तांतरात् प्रतिपत्ति
त गौणमित्याहुः ।^{१५}

८ परिकल्पितरूपविपर्यास—किसी निमित्त के आधार पर जिसका रूप विपर्यास कल्पित होता है वह अर्थ परिकल्पितरूपविपर्यास है । दूसरे शब्दा म गौण अर्थ का एक नाम परिकल्पित रूपविपर्यास है । किसी आचार्य के मत म शब्द का अपना स्वरूप ही उसका मूल अर्थ है । उसी क साथ उसका नित्य संबंध है । शब्द के स्वरूप का अर्थ म अंगारोप किया जाता है । जो यह गौ शब्द है वही यह गौ पिण्ड है । श्रवण तो शब्द रूप का होता है किन्तु उसका अर्थ म विपर्यास हो जाता है । कल्पित होने के कारण इसे कल्पितरूपविपर्यास कहा जाता है । सत्र लोक व्यवहार इस विपर्यास से ही परिचालित होते हैं । यह विपर्यास द्वितीयस्थानापन्न है । इसलिए इसे गौण कहा जाता है—

अथ त्वाचार्या मयते स्वरूपे शब्दो नित्य वतते स एव तस्यांतरगो
व्यभिचारी (अर्थव्यभिचारी) शब्दांतरइचासाधारणाऽथ । तत्र चानुपदेश
प्रतिपत्ति सर्वेषाम् । रूप तु शब्दानामर्थेष्वेवाध्यारोप्यते । यो गौ शब्द
सोऽयं पिण्डोऽयं । तथा यो वृद्धि शब्द त आदेच इति । तत्र स्वरूपे-
त्वेव श्रुतयो नित्यावरुद्धा । अर्थस्वरूपयोस्तु रूपविपर्यासमात्रेण सर्वो-
सोऽव्यवहार प्रियते । नित्यत्वान्नेष्ट सव्यपयया गुणरूपना गौणव्यप-
देने निमित्तत्वेनापादीयते । (नित्यस्वरूप श्रूयते) द्वितीयस्थानापन्न
विपर्यासस्वरूप गौणव्यपदेशनिमित्त प्रतिपद्यते ।^{१६}

९ व्यपदेश्य—अवाप उद्धार पद्धति क आधार पर जाति अथवा द्रव्य व्यपदेश्य अर्थ कह जात हैं ।

१० अव्यपदेश्य—वाक्यायत तण अवगण्ड अर्थ का अव्यपदेश्य माना जाता है ।

११ सत्त्वमावापन—अवाप उद्धार पद्धति वाला व्यपदेश्य अर्थ ही सत्त्वमावापन अर्थ है ।

१२ असत्त्वभूत—वाक्यायत तण अर्थ जत्र सत्त्वमावापन न हा, असत्त्वभूत माना जाता है । व्यपदेश्य और सत्त्वभूत अर्थ म तथा अव्यपदेश्य और असत्त्वभूत अर्थ म बचन उक्ति न म भन है ।

१३ स्थितवर्णन—जा अर्थ कमा अपन सम्बंध का कहा छोड़ना वह स्थितलक्षण

१५ वाक्यायत २/१८० दृष्टिविनि ह्यननन शृंगर प्रकाश पृ० ३६१ में उद्धृत ।

१६ वाक्यायत २/२१० दृष्टिविनि ह्यननन शृंगर प्रकाश पृ० ३६० पर भा उक्तम् ।

कहा जाता है अथवा जिसका लक्षण (स्वरूप) स्थित रहता है वह स्थित लक्षण है। राजपुरुष म पुरुष का राजसम्बन्धित्व सदा अव्यभिचरित रहता है। वह स्थितलक्षण है। स्थितलक्षण पदार्थ भी होता है वाक्यार्थ भी होता है।

१४ विवक्षाप्रापितसन्निधान—जिस अर्थ का सम्बन्ध विवक्षाधीन है वह विवक्षा-प्रापित सन्निधान अर्थ है। जैसे राज पुरुषस्य म विशेषणविशेष्य विवक्षाधीन है, फलतः सम्बन्ध अनियत है।

१५ अभिधीयमान—जो अर्थ जिस रूप में कहा जा रहा है उसी रूप में उसका ग्रहण अभिधीयमान कहलाता है। राजसख गत् स यह राजा का सखा है—ऐसा अर्थ अभिहित होता है।

१६ प्रतीयमान—अभिधीयमान से एक कोटि आगे का अर्थ प्रतीयमान माना जाता है जिस राजसख से यह राजा का सखा है—पुनः राजा इसका मखा है यह अर्थ भ्रमकता है। यही प्रतीयमान अर्थ है। वात् म इसे ध्वनिवादिवा ने अपनाया।

१७ अभिसहित—शब्द स संपन्न जो अर्थ रहता है उसे अभिसहित कहा जाता है। जैसे गो शब्द स जाति अथवा द्रव्य तानो दशनभेद से अभिसहित हैं।

१८ नान्तरीयक—शब्द के सहचरित वणसघटना आदि नान्तरीयक अर्थ हैं। पुरुषधर्म व भीतर वक्तृत्व और प्रतिपत्तृत्व दानो गहीत हैं।

उपयुक्त अठारह प्रकार के अर्थ भत हरि ने स्वयं किए हागे। पुण्यराज ने वहीं से इन्हें लिया हागा। इनका कही अर्थ उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य अर्थ नाम से उल्लिखित उपयुक्त गत् भत हरि की कृतियां में बहुधा मिलत है। भोज ने अर्थ द्वादश प्रकार के गिनाए हैं जो व्याकरण की दृष्टि से हैं और वे हैं—क्रिया, काल कारक, पुष्प, उपाधि प्रधान उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ वक्तृत्व पदार्थ और वाक्यार्थ।^{५७}

वस्तुन पुण्यराज ने जिन अठारह प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है वे अर्थ के भेद न होकर अर्थ के विभिन्न स्वरूप के प्रत्यायन हैं। एक ही अर्थ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूप से गहीत हो सकता है। भत हरि के अनुसार गत् म विणिष्ट-अविणिष्ट दाना व अभिधेय की गति रहती है विणिष्टाविणिष्टाभिधेयनिवधनत्वात् गदानाम।^{५८} पुण्यराज ने भत हरि के विणिष्टाभिधेयनिवधन के लिए विणिष्टावग्रह सप्रत्यय अनु गत् का व्यवहार किया है और अविणिष्टाभिधेयनिवधन के लिए विणिष्टावग्रह सप्रत्ययविपरीत गत् का व्यवहार किया है। भत हरि ने विणिष्टाभिधेय का उदाहरण चन्दन गद्य लिया है। चन्दन गत् विणिष्टसन्निधान स युक्त रूप रमादि को व्यक्त करते हैं। वक्त्र रूप रस आदि गत् सवपदार्थ साधारण ज्ञान म अविणिष्टा-

भिधेय है। दशन भेद से व्यपदेश्य अत्र्यपदेश्य का भी यही उदाहरण है। चन्दन से ग घ का व्यपदेश होता है रूप स नहीं होता। अपोद्धार और स्थितलक्षण की चर्चा मत हरि न अपोद्धार पदार्थों से ये चर्चा स्थितलक्षणा (वाक्यपदीय १।२४) में स्वयं की है। अपोद्धारपदार्थ के लिए ही, पुष्कराज ने आवापोद्धारिक गव्द का व्यवहार किया है। अपोद्धार की प्रक्रिया शास्त्रव्यवहार के लिए है लौकिक व्यवहार में उसका अनुगमन करता है। किन्तु अपोद्धार एतत् पञ्च स अवाच्य है। क्योंकि सत्य अथवा असत्य सत्ता अथवा असत्ता का बोध नहीं हो पाता है

सो यमपाद्धारपदाथ शास्त्रव्यवहारमनुपतति ।

शास्त्रव्यवहारसदृश च लौकिकभेदव्यवहारम् ।

स चकपदनिबधन सत्यासत्यभावेनानुपाख्येयम् ।

—वाक्यपदीय, १।२४ हरिवर्ति

स्थित लक्षण अत्र म भी उद्गाप्रविभाग वन्वित होत है। सग्रामयति, नमस्यति जसी नियाम अविवक्षित रूप में अर्पण अथ व्यक्त करती हैं वस ही स्थितलक्षण अविवक्षित, अलक्ष्य अथ है।

मुख्य गीण आदि की चर्चा हो चुका है यथावसर अभी आगे भी होगी। मत हरि ने त्रिविध प्रापित निनिधान अथ का व्यवहार अविवक्षित अथ के लिए किया है। जिस घट के निम्न प्रकाशित दीप्त घट के समीप के अत्र्यपदार्थों का भी छोटक होता है वस ही अथ भा विवक्षित अथ न सम्यक् अथ का प्रत्यायन होता है

गव्दस्य त्वविवक्षितायप्रतिपादने किमप्यत कारणम्

विवक्षाप्रापितसिन्धान एव व्यवहारस्य अर्थात्मा ।

—वाक्यपदीय २। ०१ हरिवर्ति हस्तलख

त्रियांतरव्युदास पुष्कराज के अनुसार गव्द के अथवा शास्त्र के जो धर्म अनधिकार के रूप में रह सके हैं वे त्रियांतरव्युदास माने जाते हैं। भोजन न इमी को दूसरे गव्द में बना है। सामान्य अविवक्षित आदि की निम्नी स्थिति पर अथाव्यता का नाम त्रियांतरव्युदास है। अभी आधारे पर कत्रिया की ये लक्षणतिया प्रसिद्ध हैं

व्यवचित क्वचित् प्रगल्भत । न सद्य सद्य जानाति ।

किमपि कामचिद रोचते । मित्रश्चिहि लोके ।

श्रुत्यान्वितम् पीत्रापय के आधार पर नियत ज्ञानम् है। पुष्कराज ने ज्ञान के घाट प्रकार दिए हैं—श्रुतिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान पाठज्ञान वाङ्मयज्ञान प्रवृत्तिज्ञान प्रतिपत्तिज्ञान, प्रमाणज्ञान और बुद्धिज्ञान।

यन्त्रिज्ञान अत्रि के आधार पर पदार्थों का परिपाटा का प्रमाणपत्र श्रुतिज्ञान है। स्नात्वा व्रजति एव वास्य मत्वा प्रत्यक्ष ज्ञान का निर्णय करता है। वह पहचान स्नात करण है वात्सल्य ज्ञानम् है। व्याख्यानशास्त्र में वाङ्मयि ३ मध्याम्यमनुष्ठा ममानाम् १।२।० तत्र नियम ज्ञानागिना । के दातक है। ममाध्य मन्तरिमम् युवान निदिश्या मुत्तरि मेदन्ति —१२५० ६।१०। ज्ञान ममाध्य में स्थित प्रत्यक्ष पूर्वज्ञान में है। विज्ञान और परिमाण में ज्ञान निर्णय प्रत्यक्ष द्वारा व्यक्त किया गया है।

अथक्रम सामर्थ्य के आधार पर गठित क्रम अथक्रम कहलाता है। 'भुक्त्वा स्नात्वा व्रजति' इस वाक्य में अथक्रम के अनुसार पहले स्नान क्रिया, इसके बाद भोजन क्रिया, तत्पश्चात् गमन क्रिया—य क्रम हैं किन्तु शब्दों में क्रम व्यवहरित नहीं है। अथक्रम का आधार अथ-स्वरूप की पर्यालोचना है। 'अग्निहोत्र जुहोति यावगू अपयति' इस विधि में यावगू के श्रवण का बाद में उल्लेख है किन्तु व्यवहार में पहले यावगू का श्रवण होता है वात् में अग्निहोत्र होता है।

पाठक्रम उच्चारण क्रम का दूसरा नाम पाठक्रम है। यथापठित का यथापठित से सम्बन्ध पाठक्रम है। यथासत्य नियम ही एक तरह से पाठक्रम है। विप्रतिपक्षे परकायम् १।८।२ पूर्वश्रामिद्धम् ८।२।१ य सूत्र पाठक्रम से सम्बद्ध है

इदु स्वर्णमातगपु स्कोकिलकलापिन ।

वक्त्रका तीक्ष्णगतिस्वरकेशस्त्वया जिता ।

इस श्लोक में इदु का वर्णन से स्वर्ण का वर्णन आता है यथानुक्रम सम्बन्ध है। भाज न कालिदास के निम्न निम्नित श्लोक में पाठक्रम दिखलाया है।

अत्र पाणी विधिवन्महीते महाकुलीनेन महोद्य गुर्वी ।

रत्नानुविद्धाणवमेखलाया दिग् सप्तनीमय दग्निस्था ॥५६

अत्र पथिवी सामर्थ्यात् दक्षिणासाधर्म्याच्च पूर्व पतित्व पश्चात् करग्रहणमित्यर्थे प्राप्ते पाठसामर्थ्यात् पूर्व करग्रहण तत पतित्वमिति क्रम ।

—शृंगार प्रकाश अध्याय २६ हस्तलेख

काण्डक्रम वदिक साहित्य में वण आचार सम्बन्धी जो आत्म जिस प्रकरण में उद्दिष्ट है उसी प्रकार से उनका अभिमान होना है। कर्मों का विधान कारिका क्रम से ग्रहणप्रयोग में देया जाता है। 'याकरण शास्त्र में भी अधिकार के रूप में काण्डक्रम सम्भव है। अष्टाध्यायी ६।१।१ से ६।१।१२ तक द्विवचन काण्ड तथा ६।१।१३ से ६।१।४८ तक सप्रसारण काण्ड माना जाता है। भाज न काण्डक्रम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु शावर भाष्य में काण्डक्रम का व्यवहार है।^५ भोजन स्थान क्रम का उल्लेख सम्भव काण्डक्रम के स्थान पर किया है। स्थानक्रम का उदाहरण शृंगार प्रकाश के नवें अध्याय में भू भुव स्वर्गोक्तान तपयति क्रिया है किन्तु २६ वें अध्याय में प्राकृत गाथा उद्धृत कर लिखा है अत्र त्वि त्वि सापि वृशायने रणायत च इति क्रम ।^६

प्रवृत्तिक्रम प्रतिपत्ता क इच्छावश प्रवृत्त क्रम का प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। महाभाष्यकार ने कहा है—जिस आनुपूर्वी में अर्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी तरह

५६ भोजन क्रम श्लोक के प्रथम पाठ का पाठ 'अनेन कृत्याणि करे गृह्णान' इस रूप में दिया है। यह पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। भोजन की विधि भी कर अन्त्य को लक्ष्य कर है। शृंगार प्रकाश पृ० ३० पर भी यन्त्रे पाठ है।

६० तत् (क्रम) श्रुयथवागप्रवृत्तिर्यासुगर्भं वयने—शावरभाष्य ५।१

६१ शृंगार प्रकाश, अध्याय २६, हस्तलेख। अतः हरि ने स्थानक्रम का उल्लेख महाभाष्यदायिका में किया है।

गण का भी होता है। पठव्या, मन्त्रा इन्में पहले स्त्री प्रत्यय लगते हैं इसके बाद एक वचन आदि की उत्पत्ति होती है। भोज के अनुसार प्राग्वन्तोऽग्रमपणानि जपति म प्रवत्तिश्रम है।

प्रतिपत्तिश्रम अवगोच के श्रम को प्रतिपत्तिश्रम कहा जाता है। जैसे राज पुष्प के स्थान पर पुष्प राज के उच्चारण करने पर भी राज सम्प्रची पुरुष के श्रम से ही बोध होता है। वदिक साहित्य में प्रतिपत्ति का उदाहरण दीक्षणीयादि का सोम यन से सम्प्र है। सोमयन प्रधान है। फिर भी दीक्षणायादि यागनिवतन पूर्वक ही सोमयन की प्रतिपत्ति होती है। भक्त हरि के अनुसार प्रतिपत्ति श्रम थाता श्रयता अभि धाता म व्यग्रम्वित नहीं है।^{१२} भोज ने प्रतिपात्तिश्रम का नाम नहीं लिया है।

प्रयोग श्रम प्रयोग श्रम का उल्लेख न ता जगत्स्यामी न शीर न भोज ने किया है। पृथ्वराज ने द्रमक उत्पत्ति म दुःख करने जग धानुषा या मकत किया है। द्रम धानु म गित श्रम म अनुग्रहा का प्रयोग है उगी श्रम म व गता पात है।

बुद्धिश्रम बुद्धिश्रम प्रतिपत्तिश्रम का ही एक रूप जान पड़ता है। व्याकरण म गणपति ६।१।७७ आदि म बुद्धि द्वारा पीडापय की कथना की जाती है। यगमन्तर आदि म बुद्धिश्रम की कथा की जाती है। भक्त हरि व अनुगार पर बुद्धि म आदिष्ट यन्त्र का बह्यन्तर से प्रतिभाग होता है। प्रतिभाजन का भी एक दूसरे म सम्प्र म बुद्धि द्वारा स्थापित है तथा अथ त्रिधा मयव हा पाती है। अन गद्य म बुद्धिश्रम नाम करता है। एक ही भाषामा बुद्धियति म विभाज की जाती है।^{१३}

पराङ्ग पराङ्ग से अभिप्राय समवत पराङ्गवत्भाव से है।

अप्रयोजक जो पराथ उत्पन्न है उसी के काम करता हुआ पर का उपकार करता है वह पर उसका अप्रयोजक माना जाता है। दूसरे शब्दा में स्वयं प्रयोग करने में असमर्थ किन्तु दूसरे द्वारा किये गए काम से जिसका सम्बन्ध हो वह अप्रयोजक है। उस मांस के पाक में घृत आदि के साथ अग्नि का सम्बन्ध अप्रयोजक रूप में होता है। स्नान करने वाले के द्वारा स्नानीय द्रव्य से स्नानशादी का अप्रयोजकरूप में सम्बन्ध है। छत्रच्छाया के प्रयोजक राजा है किन्तु छत्रच्छाया में सम्बन्ध हस्ती का है हस्ती अप्रयोजक है। तत्र, अप्रयोजक और प्रसंग तीनों का स्वरूप निम्नलिखित वाक्यों में है

साधारण भवेत्तत्र पराथ त्वप्रयोजक ।

एवमेव प्रसंग स्यात् विद्यमाने स्वके द्विती ॥ —शास्त्र भाष्य ११।१

प्रयोजक जिसके द्वारा प्रयुक्त होने पर प्रवृत्ति होनी है उसे प्रयोजक माना जाता है। स्वयं यज्ञ का प्रयोजक है। ग्राहस्थ्य अर्थात्पाजन का प्रयोजक है। राजा छत्रच्छाया का प्रयोजक है। कभी प्रयोजक और अप्रयोजक साथ साथ सम्पट रहते हैं और उनका निणय सामर्थ्य के आधार पर किया जाता है।

अर्थानां सन्निधानेऽपि भति चया प्रयोजने ।

प्रयोजनोऽथ ग्राहस्थ्य रूपाभेदेऽपि गम्यते ॥६४

नातरीयक प्रधान क्रिया के निवर्तन में अनिवार्यतः साथ गये धर्म अथवा अर्थ नातरीयक कहे जाते हैं। पाक क्रिया के लिए प्रज्वलित अग्नि के साथ धूम नातरीयक है। भाज के अनुसार जिम सम्बन्ध के साथ क्रिया प्रधान से जुड़ती है वह नातरीयक है (यत सम्बन्धमन्तरेण क्रिया प्रधानेन सम्बन्धयत तन्नातरीयकम् अङ्गारप्रकाश, पृ० ३०८) ।

प्रधान जो साथ है अपराथ है वह प्रधान है। आकरण में क्रिया और विनोप्य प्रधान है। प्रधानभाव विषय पर भी निर्भर होता है।

नेप जो पराथ होता है उस नेप कहा जाता है। शत्रु स्वामी ने अत्यन्त पराथ को नेप माना है। आचार्य गान्धर्व ने द्रव्य, गुण और सम्कार को नेप माना था, याग फल और पुष्प का नेप नहीं माना था। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। अतः द्रव्य पराथ है। गुण भी द्रव्य के आश्रय में क्रिया का उपकारक है। अतः वह भी पराथ है। जिसके होने से कोई वस्तु किसी क्रिया के योग्य होती है उसे सम्कार कहा जाता है। क्रिया के लिए सम्कार के प्रयोजन होने से वह भी पराथ है। नेप है। जमिनि ने धर्म और फल को भी पराथ माना है।

व्याकरणशास्त्र में प्रधान और नेप भाव विवक्षावधान होता है। श्रेष्ठ विनोप्य होता है। भेदक विनोप्य होता है। द्रव्य का साक्षात् क्रिया से सम्बन्ध है। अतः वह प्रधान है। गुण का द्रव्य द्वारा क्रिया से सम्बन्ध होता है अतः वह अप्रधान है

विशेष्य स्यादनिर्ज्ञान निर्ज्ञातार्थो विशेषणम् ।

परायत्वेन शपत्त्वं सर्वेषामुपकारिणाम् ॥ ६५

वसी तरह साध्य होने के कारण क्रिया प्रधान है । सिद्ध होने के कारण कारक अप्रधान है गेप है । विवक्षावशात् कही क्रिया भी गेप होती है ।

विनियोगक्रम गेपशेषिभाव की इतिकतव्यता का नाम विनियोगक्रम है । भोज ने श्रुत्यादिविनियोग का उल्लेख किया है । श्रुति लिंग वाच्य, प्रकरण स्थान और समाख्या का प्रधान और अगत्वं निर्धारण श्रुत्यादिविनियोग है । श्रुत्यादि का कही व्यस्त रूप और कही समस्त रूप में विनियोग दसा जाता है । भत हरि ने विनियोग क्रम का एक बौद्धिक रूप भी दिखाया है । श ८ विनियोग क्रम के सहारे अथ के प्रकाशक होते हैं । ज्ञानि व्यक्ति अथवा क्रिया के रूप में वाच्य वाचक का—बुद्धिस्थ ग ८ का—बुद्धिस्थ अथ के साथ विनियोग होता है । अनकाथ में से अभिप्रेत अथ विशेष का परिग्रहण होता है ।^{६६}

साक्षादुपकारक जो प्रत्यक्ष रूप में अपने आपका उपकारक हो उस साक्षात् उपकारक कहा जाता है । जम अलकार आदि अपने लिए साक्षात् उपकारक हैं । व्याकरण शास्त्र में प्रत्यय का साक्षात् उपकारक प्रकृति है । वेत् में भी दशपूणमासयाग में अवघात आदि साक्षात् उपकारक मान जाते हैं ।

आरादुपकारक जो साक्षात् उपकारक न होकर कुछ दूर से उपकारक हैं वे आरात् उपकारक कह जाते हैं । अलकार अपने आप के लिए साक्षात् उपकारक है पुत्र-पौत्र के लिए दूर से उपकारक है । प्रकृति प्रत्यय का साक्षात् उपकारक है । प्रकृति व विगण आरात् उपकारक है । प्रयाज आदि दशपूणमास के आरादुपकारक हैं । अथवा आरात् ग ८ की तरह जो परस्पर विरोध के रूप में भी उपकारक हो । आरात् ग ८ कभी समीप अथ वा वाचक होता है कभी दूर अथ वा वाचक होता है ।^{६७}

भत हरि ने आरादुपकारक के लिए आरादविगणक ग ८ का व्यवहार किया है । विशेषतः अन्न में वाच्यधर्म नहीं जान पड़ता । भोज ने साक्षात् उपकारक और आरात् उपकारक का अन्तर नहीं किया है ।

गविनश्यापारभेद गविन और यापार के आश्रय से उपस्थित भूत गविन-व्यापार भूत है ।

वसाह्वात् विद्योतते ।

वसाह्वा विद्योतते ।

वसाह्वा विद्योतते ।

६१ ब १११ ४३ ब १११ ४३

६२ वि १११ ४३ ब १११ ४३

अथ १११ ४३ ब १११ ४३

इन वाक्यों में कलाहक शब्द क्रमशः उपादान, अधिकरण और कृतृशक्ति के साथ भिन्न भिन्न रूप में व्यवहृत किया गया है। यह शक्तिभेद है। विवक्षावशात् इन वाक्यों में व्यापारभेद भी है इसलिए शक्तिव्यापारभेद कहा जाता है

व्यापार याति भेदाद्यस्ततः स्वरथयव एवचित्तः।

आत्माभेदानपसोऽस्य एवचिदेति निमित्तताम् ॥^{६८}

'विध्यति धनुषा' इस वाक्य में करण शक्ति अपादान शक्ति को अपने भीतर समेट कर विध्यति के अर्थ में साथ मिल जाती है। धनुष में करणत्व तब तक नहीं आ पायगा जब तक अपादान शक्ति का वह न अपना ले। पुष्कराज के अनुसार शुद्ध व्यापार भेद संभव नहीं है। शक्तिभेद के बिना व्यापार भेद संभव नहीं है। भोज के अनुसार वास्तव शक्ति भेद का उदाहरण निम्नलिखित है—

अग्निं काष्ठानि वहति श्रोत्रं पचति पदार्थानि प्रकाशयति।

सपि अग्निं द्रोपयति पित्तं शमयति, शरीरमाप्यापयति ॥

वास्तव शक्ति व्यापार का उदाहरण में आभ्या कीर्तन—आभ्या पत्र आभ्या दत्तम् है। इनमें आभ्या पद का ल २ आदि पदों के साथ अपादान करण कृत संप्रदान आदि के रूप में अभिधा व्यापार भिन्न भिन्न है।

पयः पयो जरयति वाक्य में कर्ता कर्मविशेषविषय व्यापार है। इसी तरह 'गावो गावो श्रयते', 'पयः पयोऽप्रेषयति' कुण्ड कुण्डे निधेहि जस वाक्यों में नमस द्वित्व बहुत्व कर्माधिकरण विषय से व्यापार भेद है।

फलभेद फल का आधार पर भेद फलभेद कहलाता है। एक ही दान किया का आयु आरोग्य और ऐश्वर्य में भिन्न भिन्न फल हो सकता है। इन सबमें एक ही फल-प्रीति विसर्प है। वस्तुतः क्रियाओं का भी एक फल हो सकता है। भिन्नकर्म के भी क्रिया वहां आलस्य की तरह निमित्त होनी हुई भी अविकृत से समुदित रूप में स्वाध की मिद्धि करती है।^{६९} एक याग किया का फल यजमान को धर्मरूप में अतिव्रत का अर्थ रूप में औदारिक का भाजन रूप में विभिन्न हो सकता है। क्रियाभेद औपाधिक भी हो सकता है जस

उष्ठासिका आस्य ते

हृत्पायिका शम्यते

रपोष पृथ्यति।

समूलकाप कर्षति।

सम्बन्धभेद धातु से उपात्त क्रिया के सम्बन्ध भेद संभेद की प्रतीति सम्बन्धभेद है। पचत पचन्ति में धातु से उपात्त पाक क्रिया एक है किंतु कर्म भेद से

६८ वाच्यपदीय ३, वृत्तिगमुदेश १ १

६९ एवंचित् भिन्नकर्म कापि क्रिया प्रविभक्ततावयवरूपा वेगालेख्यादिप्रविभागन प्रत्यासममाधारण शक्तिभेदनिवेशात् समुदायमगवाये विभागमिव प्रात वाद्य साधयति। तामपि समुदायमगवाये विनी कर्षित् मन्यन्ते। किंचित् भिन्नाना क्रियाणामव प्रभानविषयत्व याच्यते।

भिन्न जान पड़ती है। सम्बन्धभेद श्रौपाधिर भी होता है जस,
 सम्पन्नोपयो ययनेषु गुण्यस्तुष्टुषु विष्ट सुराष्टेषु ।
 परत मघान पदुरासीत पदुतर ऐषम ।

पुण्यराज न सम्बन्धभेद का एक प्रतिपत्ति दिया है जहा सम्बन्धभेद भेद नहीं होता, जस 'आस्यत देवदत्तेन' इस वाक्य में भाव में लकार, साधन भेद के अभिव्यक्ति न होने के कारण त्रिया भेद के भी बतान में असमर्थ है। भाज न सहाचरि भेद का भी उल्लेख किया है।

अविवक्षितभेद भेद का प्रतिपत्तिभूत अभेद अविवक्षितभेद से अभिप्रेत है। जहा शक्ति में अभेद है वहा भेद की अविवक्षा माननी चाहिए। परन्तु श्रौतन भुक्त इस वाक्य में कर्ता और क्रम के त्रियाभेद से शक्तिभेद संभव है कि तुल्यता द्वारा वह विवक्षित नहीं है। इसी लिए इस वाक्य में समानकत कत्व उपपन्न होता है। भोज ने अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर भेद विवक्षा और उससे विषय में अभेदविवक्षा दिखाया है। अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चाला में भेद विवक्षा और 'तान एव गालीन भुञ्जमहे य मगधेषु' में अभेदविवक्षा है।

इस तरह शक्ति श्रौति के भेद से भेद अनेक प्रकार का होता है और अभेद भी कई प्रकार का होता है। भेद और अभेद कही वास्तविक बात हैं कही केवल विवक्षा धीन बात हैं। विवक्षा भी कही लौकिकी होती है कही प्रायोगिकी होती है।

प्रसज्यप्रतिषेध जहा नञ् का सम्बन्ध त्रिया के साथ होता है और वाक्यभेद होता है वहा प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है। जस याकरण शास्त्र में अन्तरिच कारके ३।२।१६ सूत्र में नञ् का सम्बन्ध त्रिया से है। 'असूय पश्या राजदारा अभानु भेद्य तम आदि म प्रसज्य प्रतिषेध है।

पयुदास जहा नञ् का सम्बन्ध त्रिया के साथ नहीं होता और एकवाक्यता होती है वहा पयुदास होता है। पाणिनि के आतोऽनुपसर्गे के ३।२।३ सूत्र में अनुपसर्ग में पयुदास है। अत्राहणम् आनय वाक्य में अत्राहणम् में पयुदास है।

गौण तत्पुरुष समानाधिकरण १।२।४२ में अवयवा के समानाधिकरण से तत्पुरुष का भी समानाधिकरणत्व माना जाता है। गौर्वाहीक सिंहो माणवक आदि गौण के उदाहरण हैं।

मुख्य गूर माणवक जस प्रयोग मुख्य के उदाहरण है। मुख्य और गौण पर विरतत विचार इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है।

यथापि अनेक विषय का रूप बन वाला यथापि है। एक श्रुति द्वारा सम्बुद्धी १।२। ३ में लौकिक साधन की आपकता के कारण उसी का ग्रहण होता है। भोजन इसमें लिए यथापि का प्रयोग किया है और उस त्रियाविषय तथा कारक विषय के रूप में द्विविध माना है।

गुरु अस्तिपि अभिधान गुरु है। 'साहित्यातिमान अयं ग्राम' जस प्रयोग में कर्मधारय और मत्वर्थीय का एकत्र समावेश गुरुप्रथमा है। अस्तिपि में गुरुप्रथमा होता है।

लघु (लाघव) सम्प्लित अभिधान लघु है। शास्त्र में एक शेष, सत्ता आदि का विधान लाघव के लिए किया जाता है। तब और प्रसंग में लघुप्रथमा हाती है।

अङ्गाङ्गिभाव सयुक्तविधान होने पर अगाङ्गिभाव हाता है। एफ का भी अवयव वाक्यान्तर से व्यवहित होने पर भी दूसरे में सम्बन्धमान होकर सम्बन्ध प्राप्त करता है। बहुता में भी अगाङ्गिभाव हाता है। एक क्रिया का अनेक वाक्यांश सम्बन्ध में भी अगाङ्गिभाव होता है। पुण्यराज ने तस्यापत्यम् ४।१।६२ कन्निष्ठम् ३।८।६७ जैसे सूत्रों में अगाङ्गिभाव माना है। दीपक अलंकार में भी अगाङ्गिभाव माना है।

विकल्प तुल्यप्रमाण वाले वाक्यों में विरोध होने पर विकल्प हाता है। वेद में ब्रीहिभि यजेत। यवै यजेत जैसे विधान तुल्यप्रमाण विनिष्ट हैं। और इनमें साथ लेने पर विरोध है। लोक में भी 'दक्षितके कौष्ठीयाय दीयताम्' वाक्य में दक्षिण और तद्वान का एक साथ विरोध है। 'आकरण शास्त्र' में भी पञ्चलनचौ ३।१।१३३ जस सूत्रों में विरोध उपस्थित होता है।

विधि और प्रतिषेध के तुल्यबल होने पर भी विकल्प हाता है। वेद में षोडशिन गृह्णाति न गृह्णाति लोक में किञ्चित्स्थ दीयता न दीयताम् य उदाहरण है। विभाषा का व्यवहार भी विकल्प के रूप में होता है। विभाषा तीन प्रकार से देखी जाती है प्राप्तविभाषा अप्राप्त विभाषा और उभयविभाषा। वाक्य में उत्प्रेक्षा विकल्प का ही एक स्वरूप है। समुच्चय और विकल्प का साथ साथ निर्देश समुच्चयों विकल्पों का प्रकार सब एक वा जैसी कारिकाओं में प्राय मिलता है।

नियम —अन्य की प्राप्ति होने पर अयोग, अययोग व्यवच्छेद के आधार पर निवारण नियम कहनाता है। व्याकरणशास्त्र में पनि मभास एव १।४।८ त प्रागधानो १।४।८० जस सूत्र नियमविधायक हैं। वेद में काल की दृष्टि से नभश्च दृष्ट्वा वाच विमजन नियम है। भाषा में पाय एव धनुधर गख पाण्डुरेव जैसे प्रयोग नियम के ही स्वरूप के स्रोतक है।

योग्यता —अधिकारित्व का ग्रहण योग्यता है। भीमासा दान में अर्थी समय और शास्त्र से अनिषिद्ध योग्य माना जाता है। लोक में भी समर्थ के साथ योग्यता का सम्बन्ध जाड़ा जाता है। धुरि धुर्यो नियुज्यते लाकोविन प्रसिद्ध है। वैदिक क्रिया में भी दभ के स्थान में गार द्वारा प्रस्तरण अतिवज का लाहित उष्णीष विधान आदि योग्यता के निदर्शक हैं। व्याकरण में भी एक पद में एक उदात्त और शेष का अनुदात्त विधान योग्यता से सम्बन्ध रखता है।

लिङ्गात् भेद सन्तानरोपलघ वस्तु के सामर्थ्य से सामान्य रूप में प्राप्ति का विशेष रूप में अवस्थापन लिङ्गात् भेद कहा जाता है। वेद में 'अकना शकरा उपदधाति श्रुति है। जिससे अकन की जिनामा होने पर तबो वै धृतम् इस वाक्यान्तर लिङ्ग के बल से धून से अकन रूप में विशेष की प्रतीति हाती है। भाषा में भी रामा यो भुवनपु इसके अवयव से राम और परगुराम के सन्तुह में भाग के एक वाण से तमानन्ध के विवरण रूपी वाक्यान्तर लिङ्ग से दानरसपुत्र राम का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में भी पुष्पण्यपरे ७।४।८० सूत्र में पुष्पण्यपर' यह वचन द्विवचन

विमिश्रक नि गये शानिभवाय का भावक होता है। वाच्य में निमिश्रक का उदाहरण मात्र में दिया है।

उत्तीर्णस्य जयति शानभुजगघातिस्य मात्रा हरे।

विधुतांगसकाय विनरस्यागद्विगमोऽयम कथा।

इसमें पाठानुसंग और अर्थकथन के कारण में समुदाय के उत्तीर्ण के अर्थ विनय की उपलब्धि होती है। भोजन। अर्थ प्रकरण धीमे-धीमे का भावार्थ का सामांयकाय का विनयक में अर्थकथन को निरूपित किया जाता है।

अपोद्धार विभाग को अपोद्धार कहा जाता है। अर्थकथन का अनुसंग अथवा अर्थकथन में प्रकृत शब्दों का विनयक अपोद्धार कहा जाता है। अर्थकथनी यथाप्य पढ़ा जाता है। इसमें यथाप्य का अपोद्धार कर विनयक का भाव यथाप्य इस रूप में विभाग किया जाता है। यथाप्य यथाप्य दशममासभक्त अर्थकथन का यथाप्य पद से अपोद्धार कर यथाप्यिष्टा दत्ता इस रूप में विभाग किया जाता है। लोक में भी किंग राजा का पुत्र के उत्तर में युद्ध का कहा जाता है। वाच्य में अपोद्धार का उदाहरण कामिनाम के निम्नलिखित शब्दों में है।

पत्यु गिरञ्चद्रकसापनेन स्तुतेति सदया परिहृतपूयम।

सा रञ्जयित्वा धरणी कृतांगीर्मर्त्येन सा नियचन जघान ॥^{३०}

इसमें अना दश सदनम के द्वारा रञ्जयित्वा इस धृति में समयन चरणराग पृथक् किया जाता है।

अतु हरि न उपयुक्त वाक्यधर्मों का एकत्र उत्पन्न किया है। भोज द्वारा दिए गये वाक्यधर्मों में अथवा अनुवाद अवहित कल्पना उपधार कल्पना, तत्त्वावापति प्रतिनिधि, अथवाहार विरिणाम वाक्यधर्म अथवा प्रतिनिधिप्रश्न इन पर पुष्कराज ने जहाँ तहाँ विचार किया है और य अतु हरि द्वारा भी प्रमगत् खलित है। इनमें प्रति निधि और अनिनात प्रश्न की चर्चा अविताभिधानवाद के प्रसंग में की गई है। शेष पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

अथवाद स्तुति अथवा निंदा के लिए प्रतिपाद्योक्ति का आशय अथवाद के नाम से विदित है। अतु हरि के अनुसार अथवाद प्रवक्तव्य भी होता है और निवक्तव्य भी होता है।^{३१}

अनुवाद सिद्धि का विधि अथवा निषेध के लिए उच्चारण अनुवाद कहलाता है। पुन स्पर्शीकरण के लिए सिद्ध वस्तु का पुन उपात्त भी अनुवाद माना जाता है।

७० तैत्तिरीय संहिता २।१।

७१ कुमार सभव ७।१६

७२ अथवास्तु प्रवक्तव्य निवक्तव्य वा। सत्राय प्रवक्तव्य निगद। सर्वा वा इमा दिश पशुया इ च्यभि जयति सर्वान् लोकान् सर्वा प्वारयेमा विशोभिजिता भवति सर्वे लोका। निवक्तव्य न दतो गमयेत् वन्दतो गमयेत् सर्वा एनं धातुका एव सर्वाणैव शमयत्यहिसायै।

प्रमाणांतर से नात अत्र का शब्द द्वारा उल्लेख मात्र भी अनुवाद है।^{७३} 'कथ एव विधायास्तव एव विध पति' इस वाक्य में भोज के अनुसार अनुवाद है।

व्यवहितकल्पना सनिहित पण्य की अयोग्यता के कारण जब व्यवहित का आश्रय लिया जाता है व्यवहितकल्पना होती है। 'प्रविण पिण्डी' कहने पर प्रवेश क्रिया के सानिध्य में स्थित पिण्डी में इसका सम्बन्ध अनुपपन्न होने से व्यवहित भी गृह आदि की अपेक्षा होती है। इसी तरह पिण्डी का सनिहित प्रवेश क्रिया से अयोग्यता के कारण भक्षण क्रिया का आश्रय हो जाता है।

उपचार कल्पना किसी निमित्त के आधार पर अर्थ के धर्म का अर्थ अर्घ्यारोप उपचारकल्पना है। इसके लिए जयादित्य ने गुणकल्पना नाम का व्यवहार किया है।^{७४} उपचार निर्वचन धर्म यहा गुण शब्द से अभिप्रेत है। गुणनिमित्त कल्पना गुणकल्पना है। वह उपचारार्थक होती है इसलिए उसे उपचारकल्पना कहते हैं। जो वस्तु जसी न हो उसमें वसा आरोप अथवा आरोपित भाव जान, उपचार कहा जाता है। मञ्चा क्रोशति, जैसे वाक्या में अर्थ के धर्म का अर्थ अर्घ्यारोप है।

तदभावापत्ति भोज ने विषय सञ्ज्ञा में तत्त्व के व्यपदेश का तदभावापत्ति कहा है। गुणि म रजन का, मृगतण्डिका में जल का व्यपदेश तदभावापत्ति है।

अध्याहार वाक्य के गूढ़ होने पर आकांक्षा की निवृत्ति के लिए विशिष्ट क्रिया कारकपद आदि का उपादान अध्याहार कहलाता है। द्वारद्वार के सुनने से आकांक्षा की पूर्ति के लिए यथावसर निवृत्तताम अथवा आनृत्तताम क्रिया का अग्रहण कर लिया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है

यच्च निम्ब परगुना यच्चन मधुसपिपा ।

यच्चन गन्धमाल्याभ्यां सवन्न कटुरेव स ।

इसमें परगुना (छिनत्ति), मधुसपिपा (सिञ्चति) आदि रूप में अलग अलग क्रियापद का अध्याहार अथसामञ्जस्य की दृष्टि से कर लिया जाता है।

व्याकरण में सोपस्कार सूत्रों में जिन सूत्रों में क्रियापद के प्रयोग सूत्रकार ने नहीं किए हैं क्रिया का अध्याहार लक्ष्य के अनुसार कर लिया जाता है। वक्तिकार ऐसे सूत्रों में क्रियापद के माय ही अर्थ करते हैं जैसे धातोरण भवति कतरि कृत भवन्ति आदि। इको गुणवद्धी १।१।३ सूत्र के लिये 'यत्र गुणवद्धी श्रूयात् तत्रैक इत्युपस्थित द्रष्टव्यम्' इस रूप में अध्याहार किया जाता है।

वाक्यशेष जहां वाक्य से साक्षात् विधि अथवा निषेध न कहा गया हो— अभूत हो वहां उसकी परिकल्पना वाक्यशेष मानी जाती है। यह श्राय निवास है' इतना कहने से यही टहरन की कल्पना हो जाती है। यही वाक्यशेष है। इसी तरह 'इस नदी में ग्राह है' इस वाक्य में स्नान का निषेध वाक्यशेष के रूप में उपस्थित होता है।

मनु हरि ने अध्याहार और वाक्यशेष का समान अर्थ में भी प्रयोग किया है

७३ प्रमाणान्तरावगत्यार्थं शब्देन सकीर्तनमात्रमनुवाद — काशिका २/४/३

७४ काशिका वृत्ति ४।१।८८

सोपस्कारेषु भूयः वाक्येण सम्यक्ते ।

तेन यत् तत् ततोऽप्यन्तं विधाचेतं तत्ति गम्यते ॥१८

अध्याहार और वाक्यशेष म भेद म है कि अध्याहार मात्र माना जा निवर्तक होता है । जबकि वाक्यशेष अर्था माना जा ता निवर्तक होता है ॥^{१८} भन हरि की इस सम्बन्ध म दो बारिकारों हैं

स्वायमात्र प्रकाश्यासी साक्षात्तो विनियतते ।

अयस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति सानिधिम् ॥

पाराध्यस्याविनिष्टत्वात् न गदाच्छब्दसन्निधिः ।

तार्थाच्छब्दस्य सानिध्यं न गदादधसन्निधिः ॥१९

पुण्यराज और भोज दोना ने इस प्रसंग म श्रुतार्थापत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है । पीन देवन्त त्ति म नहा भोजन करता है । इस वाक्य म पीनत्व भोजन के बिना अनुपपन्न है इसलिए वह उपयुक्त शब्द द्वारा सन्निधि भोजन का गमक माना जाता है । पुण्यराज के अनुसार यहा चार सभावनाएँ हो सकती हैं—गद द्वारा गद का आक्षेप अथ द्वारा गद का आक्षेप गद द्वारा अथ का आक्षेप, अथ द्वारा अथ का आक्षेप । इनम शब्द द्वारा गद का आक्षेप पक्ष उपयुक्त नहीं है । स्वाय प्रतिपादन के लिए गद का प्रयोग किया जाता है । अपन अथ के प्रकाशन तक ही उसका व्यापार है । अथ द्वारा शब्द का आक्षेप भी संभव नहीं है । अथ से गद का सानिध्य नहीं है । जिस अश्रुत का अथ सानिध्य अपेक्षित है वह भी परतत्र है । प्रयोजक सानिध्य के बिना उसका सन्निधान संभव नहीं है । अन्य अथ का और अथ शब्द का वाच्य वाचक भाव न होने से अथ द्वारा शब्द का आक्षेप युक्ति संगत नहीं है । शब्द के उच्चरित होने पर श्रुतार्थापत्ति से परिकल्पित शब्दवाच्य अथ का आक्षेप भी अनुपपन्न होगा क्योंकि वाच्य वाचकभाव के न होने के कारण यहा भी शब्द से शब्दांतर वाक्य अथ की उपस्थिति न हो सकेगी । यदि अथ-से अथ का आक्षेप स्वीकार किया जाय तो शब्द एकत्व की उपपत्ति नहीं हो पाती है । पुण्यराज के मत म चतुर्थपक्ष कुछ दूर तक ठीक है । उनके मत मे एक पदों के प्रयोग म श्रुतार्थापत्ति से शब्दांतर का आक्षेप से वाक्याय निष्पत्ति मानने की अपेक्षा एक पद का ही प्रकरण प्राप्ति के बल से अथ प्रत्यायन की क्षमता मान लेना अधिक उपयुक्त है ।

भाज न अध्याहार और वाक्यशेष दोनों के लिए श्रुतार्थापत्ति आवश्यक माना है । पद का ही दीघ दीघ व्यापार का रूप म सब तरह के अथ प्रत्यायन सामर्थ्य मानने के पक्ष म व नहीं हैं । क्योंकि पद या ता अभिधा के द्वारा उन अर्थों का बोध कराएगा अथवा तात्पर्य गति का द्वारा उनका प्रत्यायन कराएगा । अभिधापदाथप्रतिपादन म ही

७५ वाक्यशेष ३ वृत्तिसमुच्चय ४६३

७६ व पुनरवाहवाक्यशेषोक्तिराप । शब्दाकाक्षानिवर्तकोऽवाहार , अर्थाकाक्षानिवर्तको वाक्यशेष इति ।—१ गार प्रकाश ५०३२४

७७ वाक्यशेष २३४१ ४२

क्षीण हो जाती है। तात्पर्य शक्ति का सम्बन्ध प्रतीयमान अर्थ से पवश्य है किन्तु वह सभी काम करती है जब वाक्य और वाक्यार्थ दाना परिपूर्ण हैं, जैसे 'विष भुज्ज मा चाम्य गृह भुज्ज' इस वाक्य में वाक्य और वाक्यार्थ की पूर्णता है। जहाँ वाक्य आदि पूर्ण नहीं हैं वहाँ अर्थाहार वाक्यशेष आदि की कल्पना करनी पड़ती है और इनकी सिद्धि के लिए श्रुतायापत्ति स्वीकार करनी चाहिए।^{१८}

विपरिणाम लिङ्ग, वचन, विभक्ति आदि जिस रूप में उपात्त है उसी रूप में पुन उच्चरित होत हुए भी यदि अर्थान्तरवत्ता उनका दूसरे रूप में सबध दिखाया जाय—वह विपरिणाम कहलाता है। यह एक तरह से ऊह ही है। केवल यही भेद है कि ऊह प्रकृति विकृति को लक्ष्य कर जाना है जबकि विपरिणाम के लिए इस तरह का कोई बन्धन नहीं है। विपरिणाम में विपरिणाम की अपेक्षा अवश्य की जाती है

विविभक्ति प्रकृत्यथ प्रत्युपाधि कथ भवेत् ।

विभक्तिपरिणामे च प्रकल्प्य विपरिणामः ॥ वाक्यपदीय ३, ४५८

तेन तुल्य क्रिया चेन्न वति ५।१।११५ इस सूत्र में तेन में तृतीया समय प्रकृति प्रधान है। क्याकि विनोप्य है। उसको लक्ष्य कर क्रिया शब्द का प्रथमात्त रूप में व्यवहार किया गया है। दाना पन् मित्र विभक्ति वाले हैं। इनमें सामानाधिकरण्य कैसे समझ है? ऐसे स्थलों में सबध की अन्यथानुपपत्ति के कारण विभक्ति विपरिणाम कर लिया जाता है। अथवा वाक्याध्याहार से उपपत्ति की जाती है। अथवा उपाधि के आश्रय से विभक्तिविपरिणाम नहीं माना जाता है

अत्यन्तानुगमात् तत्र सूत्रे न च विग्रहे ।

विभक्तिविपरिणामेन किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥

—वाक्यपदीय ३, वति समुद्देश ४६६

अवधि इयत्ता निर्धारण का नाम अवधि है। इस शब्द का यह अर्थ है अथवा इस अर्थ में यह शब्द है इस तरह की एक बौद्धिक सीमा अवधि कहलाती है। महामाप्यकार आदि ने जहाँ द्विष्ट शब्द का व्यवहार किया है उसी के लिए भोजने अवधि नाम दिया है। यह श्लेष अलंकार का विषय है।

काले नदन्ति नागा यह वाक्य दो रूप में विभक्त किया जा सकता है—

१—काल (समय पर) नदन्ति (गरजत हैं) नागा (साप) ।

२—कालेन (काल) दन्तिना (हाथी पर) अगा (गये हो)

उपगुक्त सभी वाक्यधर्म वाक्यार्थविशेष की प्रतिपत्ति में सहायक माने जाते हैं। एक वाक्य के विभिन्न अर्थों की कल्पना कर अथवा नोक और वेद में उसके विभिन्न अर्थों को देखकर उन अर्थों के निर्णायक कुछ तत्त्वा की कल्पना कर ली गई थी। यही वाक्यधर्म अथवा वाक्य-लक्षण हैं।

वाक्यार्थ की प्रक्रिया

वाक्य और वाक्यार्थ को अण्ड मानने वाले आचार्य भी व्यवहार में पदार्थ की कल्पना करते हैं। जो वाक्य का समुच्चय मानते हैं उनका मत पदार्थ, वाक्य वाक्यार्थ पर विभक्त रूप से विचार स्यात् भवति^१। पदार्थ व अणु अणु को लेकर प्राचीन आचार्यों में पर्याप्त ऊँचाई मिलता है। महाभाष्यकार ने ऐसे प्रसंगा पर अवयव-व्यतिरेक पद्धति का आश्रय लिया है किन्तु वही नहीं आगे आदि का भी सचेत किया है। केवल प्रविण से द्वार का उक्त म देवत का, मामा म सत्यभामा का अवबोध देया जाता है। पतञ्जलि ने वाक्यवत्त्व माना है

अथवा दृश्य ते हि वाक्येषु वाक्यकदेन

प्रयुञ्जाना पदेषु च पदकेशम ।

—महाभाष्य १।१।४५ पृष्ठ १११ कीलहान सस्वरण ।

उद्भूत के विचार

वाक्य में पदों में व्यपेक्षा आदि के सहारे परस्पर अवयव होता है। उदगम के अनुसार वह तीन तरह का होता है ग्राक्त वभक्त और गक्तिविभक्तिमय ।^१

कर्म आदि शक्तियों से निवृत्त को ग्राक्त कहा जाता है। सबध आदि विभक्तियों से निवृत्त को वभक्त कहा जाता है और दोनों से निवृत्त को गक्ति-विभक्तिमय माना जाता है।

क्रिया और सुप विभक्ति से कर्ता और कर्म के अभिधान में ग्राक्त होता है। कृत और आख्यात से भिन्नकालस्थ कर्म गक्ति के अभिधान में और सुप विभक्तियों से कर्म करण और संप्रदान के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात विभक्ति से हतु गक्ति के अभिधान में और सुबविभक्ति से कर्ता कर्म, अपादान और अधि करण शक्ति के अभिधान में भी शाक्त होता है। आख्यात द्वारा कर्ता के अभिधान में सुप विभक्ति द्वारा कथित और अकथित कर्म के अभिधान में भी ग्राक्त होता है।

वभक्त अवयव सबधविभक्ति से, शेषविभक्ति से, उपपदविभक्ति से और सम्बोधनविभक्ति से निवृत्त होता है।

कारकविभक्ति से और सबध उपपद शेष सम्बोधन विभक्तियों द्वारा अभि-युक्त गक्तिविभक्तिमय है। विभक्तियों के लोप होने पर भी जहाँ शक्ति का उदगमन हो वह भी गक्तिविभक्तिमय है। जहाँ एक ओर गति दूसरी ओर विभक्ति हो वह भी गक्तिविभक्तिमय है ।^२

१ पदानामभिधिमिताथग्रन्थनाकार सम्मो वाक्यम् ।

तस्य च त्रिगुणविभागा यापार इत्योभयम् । वभक्त ग्राक्त, शक्तिविभक्तिमयश्च ।

वाक्यमामासा पृ० २२ बङ्गीना सस्वरण ।

२ १ गारप्रकाश २७५ २७२ ।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

वाक्याथ प्रक्रिया के विषय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध वाद हैं। यद्यपि व्याकरणशास्त्र में इन वादों की प्रसिद्धि नहीं है किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, वाक्यपदीय में इन वादों द्वारा स्वीकृत मायताओं की चर्चा है और पुण्यराज ने इन दोनों वादों का खुलकर उल्लेख किया है और इनकी आलोचना की है। नागश ने भी मज्जूपा में इन पर विचार किया है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पद पहले सामान्य अर्थ का वाद कराते हैं बाद में आकाशा योग्यता और सन्निधि के सहार विशेष का बोध कराते हैं। विशेष वाक्याथ है और वह अपदाथ है। प्राचीन आचार्यों में पतञ्जलि और शबरस्वामी का भी ऐसा ही मत है। सादृश्य के कारण लाघव की दृष्टि से, अवयव्यतिरेक का आश्रय लेकर पद और पदाथ की कल्पना की जाती है। प्रतिवाक्य से व्युत्पत्ति भी सबको समझ नहीं है। अतः व्यवहार की दृष्टि से पद पदाथ की कल्पना कर ली जाती है। वाक्य मुख्य है। सप्तम वाक्याथ है। प्राचीन दृष्टिकोण में और अभिहितान्वयवाद में केवल इतना ही अंतर है कि अभिहितान्वयवाद में वाक्याथ की प्रतीति पदाथ प्रतीतिपूर्वक ही मानी जाती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो वाक्याथ का ज्ञान नहीं देखा जाता है।

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि में वाक्य से ही व्यवहार होता है पद से नहीं। एकाग्रपरक पदसमूह वाक्य है। सभी पद परस्पर मिलकर वाक्याथ का अववाध कराते हैं। अन्वित का ही स्वभाव से अभिधान होता है वाक्याथ की साक्षात् उपलब्धि होती है परम्परया नहीं। वाक्याथ समुष्ट स्वस्वरूप है। इस वाद का मूल भी महाभाष्य में मिल जाता है

न च पदार्थाद्वयस्यायस्योपलब्धि भवति वाक्ये ।

—महाभाष्य १।२।४५ पृ० २१८ कीलहान सं०

इस वाक्य का अभिप्राय कथन के अनुसार यह है कि अपने अपने अर्थ को व्यक्त करने वाले पद वाक्य हैं। पदाथ ही आकाशा, योग्यता सन्निधिवश परस्पर समुष्ट होकर वाक्याथ हैं।^३ भट्ट हरि ने अन्विताभिधानवाद का संकेत निम्नलिखित कारिका में किया है

नियत साधन साध्ये क्रिया नियतसाधना ।

स सन्निधानमात्रेण नियम सन प्रकाशते ॥

—वाक्यपदीय २।४७

अभिहितान्वयवादी अन्विताभिधानवाद की समीक्षा में कहते हैं कि यदि पद

३ पदानि स्वस्वमथ प्रतिपादयन्ति वाक्यम् । पदार्था एव आकाशायोग्यतासन्निधिवशात् परस्पर समुष्टा वाक्याथ इत्यथ

का जो अर्थ होता है, पञ्चार्थात् अचित् दत्ता म भी यही होता है अथ की प्रतिपत्ति कन्ध्वक रूप म होगी, पञ्चार्थ का प्रतिभाग उ ह। सवगा । आयाप उद्घात पद्धति स यथा अवसर जाति, द्रव्य गुण, त्रिया क रूप म पञ्चार्थ का विषय विभाग अयगन भी हो जाय, कन्ध्वक रूप म अर्थ की प्रतीति वहा भी होगी । अन्विताभिधान पक्ष म दो पञ्चार्थों का परस्पर सवध भी कठिनाई स जान पड़ेगा क्याकि प्रतिपोगी अनन्त है, फलत अवय भी अनन्त होगा । अवय की अनन्तता से अचित् के अभिधान का सम्बन्ध ग्रहण न हो सकेगा । यदि उससे अनपेक्ष रूप म सवध ग्रहण माना जायगा पढ़ने सुने हुए भी उस अर्थ की प्रतीति होन लगगी । 'गाय' साम्रो कहन पर अश्व बाधो अर्थ का भान हो सकेगा । वद्व्यवहार म भी वाक्य से होने वाली प्रतीति भी पदपर्यवसायी होती है । अथवा प्रतिवाक्य म व्युत्पत्ति की अपेक्षा होगी और ऐसा सम्भव न हाने से, आनन्त्य और कठिनाई के कारण शाब्दव्यवहार का ही उच्छेद हो जायगा । इसके अतिरिक्त अभिनव कवि की कविता से भी अर्थबोध होता है वह पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति के बल पर ही होता है । वाक्याय की व्युत्पत्ति के सहारे नहीं होता । साथ ही अवय अचित् का विशेषण है पहले अचित् का अभिधान हो ले तब अवय काम कर सकता है अथवा नहीं । किन्तु यह एक शक्ति स सम्भव नहीं है । इसकी सिद्धि क लिए शक्त्यन्तर कल्पना करनी पड़ेगी । अन्विताभिधान पक्ष म गाम् आनय वाक्य स यदि गो गद से आनयति क्रिया से विशिष्ट की अभिव्यक्ति माने गो के अर्थ की प्रधानता होगी । यदि आनयति क्रिया से गो अर्थ की विशेषता माने तब क्रिया के अर्थ की प्रधानता होगी । इस तरह से, दो प्रधान अर्थ के होने से, वाक्य-भेद होगा ।

अन्विताभिधानपक्ष मे पहले प्रकृति प्रत्यय का अवय, तदनन्तर पदार्थों का अवय—इस रूप मे दो बार अभिधान मानना पड़ेगा ।

यदि यह मान लिया जाय कि पद अचित् होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है तो उस समय दूसरा पदार्थ अभिहित होता है अथवा अनभिहित । यदि दूसरा पदार्थ अनभिहित हाता है एक ही पद से उसके अर्थ से अनुरजित द्वितीय पदार्थ के भी जान हो जाने के कारण पदांतर उच्चारण व्यर्थ होने लगेगा । इस दृष्टि से, एक ही पद अखिल पद अर्थ को प्रकट करने वाला हो जायगा और उसी एन से ही व्यवहार होने लगगा । किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता । केवल गो कहने से सब वशिष्ठ्य के बोध होने के कारण यह नहीं सम्भव म आयगा कि किस गुण आदि का उपादान हो । नियत गुण-क्रिया आदि से अनुरूप स्वाध की प्रतीति हाती है इसमें कोई हेतु नहीं है । पञ्चार्थ सनिधान को भी नियम हेतु नहीं माना जा सकता । वह जप मन्त्र आदि पदों की भांति यदि स्वरूप मात्र स ही सनिहित होता है अविशिष्ट है । यदि पदांतर का सनिधान अर्थ प्रतिपादन के रूप म नियम का हेतु होता है वह अभिहित अर्थों के अन्वय का प्रतिपादक हो जाता है जो अभिहितावयवाद के अनुकूल है ।

यदि ऐसा माना जाय कि प्रथम पद के अवय के समग्र दूसरे पद का अर्थ अभिहित रहता है तब मानना होगा कि प्रथम पद पञ्चार्थोत्पत्ति अर्थाभिधान की अपेक्षा

रखता है और इस तरह इतरेतराश्रय दोष उपस्थित हो जायगा। यदि दूसरा पद अनवित रूप में अश्रय बाध करा सकता है, पहले का क्या अपराध है। यदि सभी पदों में स्वायमात्र का अभिधान मान लें तो एक तरह से अभिहितवाक्य पद्य का समर्थन होता है।

इसके अतिरिक्त, "अगुण्यग्रे हस्तिपूथगतम्" जमे वाक्य में भी अचिताभिधानपक्ष में, अवयव होने लगेगा।

अचिताभिधानवादी मानते हैं कि वाक्य कायभूत है। वक्ता के मन में अश्रय का पूर्वविज्ञान कारण भूत है ऐसा अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात् बौद्ध अश्रय कारण है बाह्य वाक्य काय है। जान ज्ञेय से अव्यभिचरित है। इससे चेत्यभूत अश्रय का निश्चय होता है। वाचकशक्ति में अश्रय का परिज्ञान नहीं होता। अतः जिस दर्शन में वाचकशक्ति का ही निश्चय नहीं है अवित का अभिधान कैसे संभव है?

अचिताभिधानवाद के समर्थक उपयुक्त आशयों के उत्तर दे दत्त हैं। कदम्बक रूप में अश्रय की प्रतिपत्ति और प्रतियोगिया के अनन्त होने के कारण पदार्थ प्रतिभास की दुष्फरणा के उत्तर में वे अपनी पदार्थावयव प्रक्रिया की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके मत में गौ शुक्ल में गौ गच्छ का शुक्ल से अवित अश्रय नहीं होता ऐसा मानने पर व्यभिचार होगा क्योंकि कृष्ण से अवित रूप में भी उसके अश्रय की उपलब्धि होती है। सब उद्यो से अवित रूप में भी अश्रय नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर आनन्द के कारण अश्रयपरिज्ञान दुर्वोध होगा। वस्तुतः उसका अश्रय आकाशा, सन्निधि और योग्यता के सहारे उपलब्ध अर्थात्तर से अनुरक्त रूप में व्यक्त होता है। यह व्युत्पत्ति पदों के अवाप उद्घाप अथवा रचना वचन के कारण वाक्य से ही प्रकट हो जाती है। जो आकाक्षित है योग्य है सन्निहित है उससे अवित होकर पद अपने अश्रय का प्रदिपादन करता है। भट्ट हरि की निम्नलिखित कारिकाएँ भी इस मत का समर्थन करती हैं

नियत साधन साध्ये क्रिया नियतसाधना ।

स सन्निधानमात्रेण नियम सनप्रकाशते ॥

गुणमात्रेण साक्षात् तत्र नाम प्रवर्तते ।

साध्यत्वेन निमित्तानि क्रियापदमपेक्षते ॥*

सन्निहित, आकाक्षित और योग्य से उपरक्त अपने अश्रय में सम्बन्धग्रहण कर सञ्चन ग्रहण कर लिया जाता है। इसलिए आनन्द और अभिचार के कारण सम्बन्ध अग्रहण का दोष नहीं होगा। पुनः पद-पन्थाय में सम्बन्ध ग्रहण की उपपत्ति होने के कारण प्रथमश्रुत पदार्थ प्रतीति का जो आरोप किया गया था वह निराधार है और गाय लामो इसमें गाय बाधो यह अश्रय भी नहीं भूलवेगा प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति की अपेक्षा भी नहीं होगी और न अभिनव कवि के श्लोक से वाक्याय प्रतीति होती है। अचित्तग्रभिधान शक्ति के आधार पर ही अवयव होता है इसलिए दो शक्तियों के

कल्पना गौरव का दोष भी नहीं है। वाक्यभेद सबधी जो आशय किया गया था वह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अविन सबध कभी प्रधान रूप में और कभी अप्रधान रूप में यथायाग्य उत्पन्न हो जायगा वाक्य भेद नहीं होगा।

प्रकृति प्रत्यय के और पद के अभिधान में दो बार अभिधान हान का जो दोष दिखाया गया है वह भी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि प्रकृति से अविन का अर्थ व्यक्त होता है। प्रत्यय प्रत्ययाद्य और पद्याय से अविन स्वाय का व्यक्त करता है। प्रत्ययाद्य के प्रत्ययार्थवित के पद की अपेक्षा होने के कारण दो बार अभिधान नहीं माना जायगा।

अभिहित पदार्थांतर-अविन के अभिधान पक्ष में दूसरे पद के उच्चारण की व्यर्थता का दोष और अनभिहित पक्ष में इतरेतराश्रय दोष—य दाना भी निराधार है। क्योंकि अविताभिधानवाद के मत में प्रथमश्रुत पद ही अयोय रूप में अन्वित होकर स्वाय की अभिव्यक्ति करता है—एसी उनकी मायता नहीं है। वे मानते हैं कि जिस पद के जितने अर्थ संभव हैं उसका श्रवण से उतने अर्थ स्मृति में भस्कर उठते हैं। पुन आकाशा योग्यता सन्निधि के सहारे परस्पर अन्वित होकर पदों के द्वारा स्मृति आरुढ़ उन अर्थों का बोध होता है। क्योंकि उस व्यक्ति में वाक्याद्य की प्रतीति नहीं जगती जिसने सबध ज्ञान नहीं प्राप्त किया है अथवा जिसमें सबध के ग्रहण करने वाले संस्कार नहीं उत्पन्न हुए हैं। अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं। जिनके संस्कार व्युत्पन्न नहीं हुए हैं वह पद पद को सुनकर इस अर्थ से यह यह आकाशित सन्निहित और योग्य है इसका स्मरण कर लेता है।^४

पदों द्वारा अन्वित का अभिधान यदि स्मृतिसन्निधान के सहारे अपनाया जायगा अनेक स्मृति के उद्बुद्ध होने की संभावना होगी क्योंकि स्मृति प्रत्यासत्ति से संपृक्त होती है। स्मृति के सन्निहित पदार्थों के किसी विनोय का ग्रहण न हो सकेगा। फलतः उल्लास पक्ष में वाक्य में उल्लास केवल पक्ष के अर्थ से अन्वित रूप में ही सामने नहीं आयेगी अपितु कलाय निर्वाप आदि से युक्त भी जान पड़ेगी क्योंकि उनका स्मरण भी उल्लास के साथ-साथ होगा। इसी तरह पक्ष के अर्थ द्रष्टृ का कम से भी संपृक्त हान के कारण उसका भी स्मरण होने से ओदन अन्वित रूप में सामने नहीं आएगा। इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि शब्द से जिनका स्मरण होता है उनका अवयव होता है वद व्यवहार में भी ऐसा दखा जाता है।

४ पाथमार्थ ने 'मृति' वाल उत्तर का समाधान को है। 'मृति' तो अनुभूत का होता है। पद रूप कारण के होने से 'मृति' मात्र भी नहीं माना जा सकता। श्रुत उनके मत में अन्विता भिन्नाना अनुपयुक्त है —

अन्विताभिधायिमाति चन् । वदलोच्चारणे पदार्थग्वरूपावगमान् । स्मरणं तत् इति । अनुभूतप्रमाणम् । मृतिप्रमाणम् । पदरूपानुपपन्नकारणसंभावना । अतः पदरूप तावन्निर्देशमिति नाविताभिधानम् । तिर न च अन्विताभिधानं यावत्तन्मालायां शास्त्र दानिकाया चति ।

इसलिए जा अथ गन्ध से स्मारित है उसी से अचित्त का अभिधान होता है। इसलिए उखा गन्ध से कलाय निर्वृत्ति आदि के अथ स अचित्त की ही प्रतीति होती है। स्मृति के द्वारा अनचित्त के स्वरूप का भी स्मरण हो जाता है। इस तरह स्मृति अनिहित अर्थों से अचित्त स्वाय को पद प्रकट करता है।

गन्ध के श्रवण से स्वरूप का स्मरण कैसा होता है ? गन्ध में अपने स्वरूप को व्यक्त करने की क्षमता नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जिसका जिसके माय काई लगाव (प्रयासक्ति) देखा गया है वह पूर्व संस्कार का जगाकर उसका स्मरण करा सकता है। स्वरूप का शब्द के साथ, अभिधेय मन्थ के आधार पर प्रयामति है। अन गन्ध स्वरूप की प्रतीति करा सकता है। जैसे अथ कभी अपने पद की स्मृति जगा देता है वैसे ही पद भी अथ का स्मरण करा देता है। अविताभिधानवाद के समर्थक स्वीकार करते हैं कि पद से नियत अथ स अन्वय लाभ अविताभिधान पद में ही उपपन्न हो पाता है। पदान्तर अभिधेय के रूप में जो स्मरण कराया जाता है उससे अचित्त का ही वद्व्यवहार में वाच्यत्व देखा जाता है। जहाँ वही अध्ययन होता है वहाँ भी सनिवापिन अथ से विशेष अचित्त अभिधान सिद्ध हो जाता है।

अविताभिधानपद में अन्तर्गुह्ये हस्तिपूयम्' इस वाक्य में भी अन्वय होने लगा। इस रूप में जो दोष दिखाया गया है वह भी उचित नहीं है। क्योंकि स्मृत पदार्थों में भी यदि योग्यता न हो अन्वय नहीं होता इसलिये उपयुक्त वाक्य में अभिधान सम्भव नहीं है। पदार्थ की प्रतिपत्ति तो अवश्य स्मृति से ही होती है। पुष्पवाक्य के प्रमाण के आधार पर पदा में वाचकत्व गति के अनवधारण सबधी जो दाप कहा गया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक तो अविताभिधानवाद पुष्पवाक्यों का अथ में प्रामाण्य नहीं मानता। यदि किसी तरह प्रामाण्य मान भी लिया जाय फिर भी दाप नहीं है। क्योंकि पद अचित्त के अभिधायक रूप में जाना गया है किन्तु अभिचरित होने की आकासे लोक में वह निश्चायक नहीं होता। वाद में पर्यालोचना से अनुमित अथ में अनुवाक्य माना जाता है। इसलिए उसमें प्रामाण्य नहीं आ पाता। किन्तु पद अपना वाचकत्व नहीं छोड़ता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनन्त प्रतियोगी में अचित्त स्वायबोधन द्विपक्षक अनन्त गतिगता की कल्पना करनी पड़ेगी क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रिया की तरह कायभेद की उपपत्ति ही जायगी। आकाशित सन्निहित पदा में स्वाय के अभिधान की गति एक ही है। उस गति से प्रतियोगी के भेद से कायभेद हो जायगा। जहाँ चक्षु में दृशन गति एक ही है फिर भी चक्षु घट आदि प्रतियोगी के आश्रय से अनेक ज्ञान का जनक होती है उसी तरह गन्ध भी प्रतियोगी के भेद से बिना अनेक गति की कल्पना के भी कायभेद का जनक हो जायगा। अविताभिधान पद में ही पद का सत्य अर्थभिधान और एकाधपरक पदसमूह में वाक्यत्व उपपन्न होता है। सत्य अर्थभिधान और सघातार्थ में भेद यह है कि सत्यपद में पद के स्वकाय होने हैं सघातपद में सघातकाय होते हैं। पद का स्वकाय स्वाय की

प्रतिपत्ति है। सहायभाषा में अभिप्राय वाक्यांश की प्रतिपत्ति है। सहायभाषा में एक एक एक शब्दस्वरूपनयन व्यापारशील होता है। शब्दस्वरूपनयन होता है। एक एक एक होने से संपूर्ण वाक्य का भी नियम सिद्धांश है। और एक एक होने पर नहीं होती। इसलिए एक में शब्दस्वरूपनयन मानी जाती है। एक एक में शब्दों का प्रतिपत्ति है। अन्तर अभिव्यक्ति है। अथवा सहायभाषा में भी व्यापार के प्रयोग पर इसी तरह का अभियोग सम्भव है यदि दोष है तो दोना व्यापार में समान है। अतः अभिप्रायवाक्यांश को ही इस व्यापार पर दोषयुक्त नहीं माना जा सकता।

अभिप्रायवाक्यांश को भी किसी-न किसी स्तर पर व्यापार, योग्यता या प्रतिपत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। क्या न अभिप्रायवाक्यांश को प्रत्यय दिया जाय। क्योंकि उसके मत में एक व्यापार की अभिव्यक्ति पर उपरत हो जाते हैं। व्यापार में व्यापार भाषा के सहारे व्यापारों में अभिव्यक्ति की प्रतीति होती है। इससे उत्तर में प्रभाव के सहाय कहता है कि ऐसा सम्भव नहीं है। व्यापार मानने पर सहाय का मान नहीं होगा। क्योंकि व्यापार किसकी है? व्यापार की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति प्रमाणा की? व्यापार और अभिव्यक्ति के अन्तर्गत होने से उनकी व्यापार न हो सकेगी। प्रमाणा की हो सकती है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि व्यापार शब्दान्तर की व्यापार करता है और अभिव्यक्ति अन्तर्गत की। स्वतन्त्र की व्यापार प्रमाण नहीं है। पुरुष की इच्छा का वस्तुस्थिति से कोई सीधा लगाव नहीं है उसकी व्यापार व्यापार प्रमाण के पीछे रहती है। अभिव्यक्ति में पुरुष की व्यापार अभिव्यक्ति में सहाय का हेतु नहीं हो सकती। अतः व्यापार का ही यह व्यापार की तरह दीर्घदीर्घ व्यापार है। व्यापार व्यापार के उपरत हो जाने पर पुरुष की व्यापारमात्र सम्बन्ध का कारण नहीं होती। ऐसा मानने पर व्यापार का ज्ञान अशब्द होने लगेगा। किन्तु यदि साक्षात् शब्दत्व सम्भव हो व्यवधान अयुक्त है। इसलिए पद अन्तर्गत होकर ही अभिव्यक्ति का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ही उपयुक्त है। इस मत में ही सहाय प्रतीति उपपन्न होती है। 'गाम आनय शुक्लाम्' जैसे वाक्यों में सहाय पद का प्रयोग नहीं है जिससे कि सहाय का ज्ञान हो। यदि सहाय पद का प्रयोग भी होता तो भी दश दाडिम वाक्य की तरह अन्तर्गत ही अभिव्यक्ति होता। वस्तुतः व्यतिपन्न का बोध व्यतिपत्ति का बुद्धि द्वारा होता है। यही माग सहाय बोध का है। इसलिए अभिप्रायवाक्यांश की प्रशंसा देना चाहिए।

अभिप्रायवाक्य का मूल आधार मीमांसका की दृष्टि में व्यापार भाषा का निम्न लिखित वाक्य है

पदानि हि स्व स्व पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि

अभेदानां पदार्था अवगता सन्तो वाक्याथ गमयन्ति।^१

पद अपने अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

अभिप्रायवाक्यांश की उपयुक्त वाक्य की अपने सिद्धांत के अनुकूल व्याख्या

करते हैं। प्रमाकर ने 'तस्मात् व्यतिपक्ताधामिधानम् व्यतिपक्तेनावगते व्यतिपगस्य' कहा था।^७ अर्थात् पद व्यतिपक्ता का अभिधायक है। वह व्यतिपङ्ग का अभिधायक नहीं है। भाव यह है कि शब्द से आकृति का अभिधान होता है मायम व्यक्ति का भी मान होता है इसलिए यद्यपि व्यक्ति शब्दजय प्रतीति से ग्राह्य है फिर भी आकृतिगम्य मानी जाती है। आकृति प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त है। जसे आकृति-मान शब्द से गम्य है वैसे व्यक्ति भी गम्य है ऐसा न माना जा सकता। क्योंकि केवल जाति का अवगमन समभव नहीं है। यह आकृति का स्वभाव है कि वह बिना व्यक्ति के आश्रय के प्रतीति गोचर नहीं हो सकती। यह व्यक्ति का रूप है। बिना रूपवान् के रूप में बुद्धि नहीं जम सकती। यदि रूप रूपवान् के बिना भी प्रतीत होता, रूपवत्ता का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए व्यक्ति के माय ही जाति का मान होता है। शब्द भी अपनी शक्ति से जाति का अभिधान करता है। उसका व्यक्ति के बिना ग्रहण दुष्कर है अतः जाति व्यक्ति का भी प्रत्यायन करती है। इसमें शब्द का आकृति प्रत्यायन स्वाभाविक है और उसका निमित्त व्यक्तिप्रत्यायकत्व है। इसलिए आकृति-प्रत्यय व्यक्ति प्रत्यय का निमित्त माना जाता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शब्द से प्रथम अवगत आकृति बाद में व्यक्ति का बोध कराती है। ठीक इसी तरह, अद्वित अभिधायी शब्द द्वारा अवय के बिना अद्वित का बोध नहीं कराया जा सकता। अतः अवय का बोध करता हुआ पदार्थ निमित्तक माना जाता है। शब्दर भाष्य के उपर्युक्त वाक्य में पदार्थ शब्द का अभिप्राय अद्वित से है वाक्यार्थ शब्द का अभिप्राय अवय से है। पद अद्वित होकर अवय का अवबोध कराते हैं।

पायसारथि ने इसे क्लिष्ट भाग माना है।^८ उनके अनुसार भाष्यकार ने वाक्यार्थ में पदार्थ की निमित्तता स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दी है। पदार्थ आकाशा सन्निधि और योग्यता के सहारे अद्वित होकर वाक्यार्थ को व्यक्त करते हैं।

वद्व्यवहार वाक्य से परिचालित होता है। व्युत्पत्ति भी वाक्य से होती है। किंतु वह व्युत्पत्ति एकघटनाकारकसहस्रवाक्यायनिष्ठ है अथवा पदार्थ पर्यन्त है? पहले पक्ष में प्रतिवाक्य में व्युत्पत्ति अपेक्षित होगी इससे आनन्द्य व्यभिचार आदि दोष सामने आयेंगे। पदार्थपर्यन्त मानने पर यह निश्चय करना पड़गा कि इस पद का अर्थ इतना है। सहस्रकारिता पक्ष में शब्द के अवयव का दृष्टान्त दिया जाता है इस दृष्टान्त के द्वारा भी पदव्यापार का निर्धारण अभीष्ट है। पदार्थनियम की अनुरेक्षा से 'गाम आनय' कहने की इच्छा रखने वाला अश्वम आनय' कह सकता है। जिस तरह से वैयाकरण पदपदार्थ विभाग की अपेक्षा नहीं रखते वैसे उसकी भी नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए आवाप उच्चाप की पर्यालोचना में जिनमें पद का अर्थ निर्धारित होता है उतना उसका अर्थ है। अवयव-व्यतिरेक के आधार पर पद की अभिधायी शक्ति केवल जाति में है अथवा व्यक्ति में है अद्वित में नहीं है।

साध्य वृत्ति जिज्ञासा व्यापक है उक्त अभिप्रायों वृत्ति नहीं है । वास्तव की स्ति
त पना म साध्य वृत्ति है अभिप्रायों वृत्ति नहीं है । अतएव वृत्ति-अभिप्राय वृत्ति
अभिप्राय-वृत्ति । अतएव है ।

[illegible]

भोजन उभयवाणी का भी उत्तर दिया है। उभयवाणी अभिहित्वायपथा और अविताभिधानवाद का समन्वय उपस्थित करता है। उनके अनुसार सामान्य की दृष्टि में अविताभिधान होता है विनियम की दृष्टि से अभिहित्वायपथा है। गोदाद स्वाथ का सामान्य से अवित रूप में जताना है, विनियम का मान नहीं हो पाता। यही सामान्य के द्वारा अभिधान है। शुद्ध प्राणि गुण पञ्चांतर से प्रयुक्त होते हैं। यही विनियम के द्वारा अभिधान है। वाक्याथ इस मत में त्रियाकारक सारग रूप है।¹⁵

अविताभिधानवाद और अभिहितावयवान् दोना म पणाय म शक्ति बलपना समान है । पदार्थ के आश्रय स यदि वाचयाय का बोध न माना जाय तो, जसा कि भक्त हरि ने लिखाया है निम्नलिखित पाँच दोष उपस्थित होत हैं —

- १--प्रतिनिधि कल्पना की अनुपपत्ति
- २--पिकादिनियतपदप्र न की अनुपपत्ति
- ३--श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति की बलवत्ता की अनुपपत्ति ।
- ४--अवान्तर वाक्यों में अथवत्त्व या अभाव
- ५--लक्षण की अनुपपत्ति ।

मुख्य वस्तु क अभाव म यदि उसके सत्त्व किसी अथ वस्तु स उसका काम लिया जाता है तो उस सादृश्य वाली वस्तु को प्रतिनिधि कहा जाता है । जस ग्रीहि के अभाव म यत्नि नीवार से काम लिया जाय नीवार प्रतिनिधि है । ग्रीहिमि यजेत' इसमे यजति क्रिया स देवता को लभ्यकर द्रव्य का त्याग अथ सामने आता है । इस लिय द्रव्य यजति क्रिया से एकत्वेभावपन्न होन क कारण उसका भग है और श्रुतिप्राप्त सनिधान है । यहा श्रुतिप्राप्तसनिधान शास्त्र है । ग्रीहित्व आति सामान्यविशेष है । निविशेष सामान्य नही होता इसलिए ग्रीहित्व विशेष से परिपोष होता है । ग्रीहि श्रुति अध्यावापाय है । वह शास्त्रसामर्थ्य प्राप्त द्रव्यत्व मात्र को अविरोध के कारण नही बाधनी । द्रव्यत्व श्रुतिसामर्थ्य प्राप्त है ग्रीहित्व अथसामर्थ्य से आया है वह सामान्य-मात्रप्राप्तसनिधान है । किंतु जिसक विचार म यजति क्रिया के सामर्थ्य से ही ग्रीहित्व

श्रुति की प्राप्ति है उनका अनुसार ब्रौहिश्रुति नियमायक होगी और यवत्व आदि सामान्य विशेष का निवर्तक होगी। इस दृष्टि में ब्रौहित्व से यवत्व आदि गृहचारी द्रव्या का अग्रमारण होगा। जिस तरह से यवन के लिए निषिद्ध पलाण्डु आदि का, अर्थित्व और सामर्थ्य होने पर भी शास्त्र के द्वारा अपयुक्त होने के कारण वचनांतर के न होने के कारण, प्रतिनिधि उपादान नहीं होना उसी तरह नीवार यव आदि का भी ब्रौहादि नियम में निषिद्ध होने के कारण और वचनांतर के अभाव के कारण प्रतिनिधि नहीं होगा। एक दूसरे दान के अनुसार ब्रौहिगन्, शब्द द्वारा अगाध ब्रौहित्व का अग्र रूप में अधिक कल्पित कर लेता है। फलतः द्रव्यत्व का बोध नहीं कर पाना है। क्योंकि न तो यवत्व श्रुति की वृत्ति में उसका व्यापार है और न अभ्यनुज्ञा में। सामान्य का विशेष के साथ अविराध होने के कारण द्रव्यत्व का बोध न होगा। द्रव्यत्व मात्र के आक्षेप में प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी।

श्रुति ब्रौहिश्रुति नियमायक न मानी जायगी, नीवार आदि का विकल्प प्राप्त होगा। ब्रौहि से होना चाहिए अथवा यव से होना चाहिए इस रूप में विकल्प होगा। फलतः ब्रौहिश्रुति निरर्थक होगी। इसके समाधान में भक्त हरि ने असंभव नियम का उल्लेख किया है। ब्रौहित्व से द्रव्यत्व के विशेषित होने पर वस्तु सामर्थ्य के बल से यवत्व आदि की संभावना नहीं है। जहाँ पर द्रव्यत्व ब्रौहित्व एकाग्रसमवायी है वही यवत्व-एकाग्रसमवायी समभव नहीं है। यह असंभव नियम है। दो प्रकार का नियम हेतु है। कोई शब्द सामर्थ्य से प्राप्त जाता है जहाँ पक्ष में प्राप्ति होने पर श्रुति होती है। जैसे व्यक्ति पदार्थ पक्ष में विप्रतिषेध परम। कोई नियम, शब्द व्यापार के न होने पर भी पदार्थों के इतरैतररूपसाक्य के अभाव से एक प्रवृत्ति अपने से अतिरिक्त के निवर्तिफलक होती है इस आधार पर पदार्थस्वरूप के विमर्श से प्राप्त जाता है। इसे असंभव नियम कहा जाता है।

असंभवो नाम नियम शब्दव्यापारो (अशब्दव्यापार) नियमसदृशफल वदचि-
दविषयेऽय एव धर्मोऽयमसंभवनियम इति नियम विभागे यायविद कचिदा
चक्षते ।^१

—वाक्यपदीय २।६= हरिवृत्ति

यहाँ पर शब्द सामर्थ्य में द्रव्यत्व भी उपस्थित है ब्रौहित्व भी। अध्यावाप शब्द व्यापार है। अण्ड वाक्याथ पक्ष में भी अपोद्धार दाना में भेद, ससग श्रुति विकल्प किए जाते हैं। व्याडि के मत में भेद वाक्याथ है। क्योंकि पद से वाच्य द्रव्या का द्रव्यान्तर से निवर्ति अभिप्रेत रहती है। जातिवादी वाजप्यायन के मत में ससग वाक्याथ है। क्योंकि वाक्याथ सामान्या का, पदार्थों का संश्लेष मात्र है।^{११} जहाँ

१० श्री गार प्रकाश में यह वाक्य यों उद्धृत है—

‘असंभवो नाम यन्निर्णयसदृशफल अय एव वागविशय

यमसंभवनियम इत्यामनन्ति ।’

श्री गार प्रकाश पृ० ३१४ मैसूर सम्करण ।

११ अण्डवैदिक वाक्याथनयेऽपोद्धारदशागतो भेदमसगादिविकल्प ।

तत्र ‘यादिमने मेने वाक्याथ । वाजप्यायनस्य तु मत ससगो वाक्याथ ।

—हेलाराज । वाक्यपदीय, जन्मिमुद्रं श ५

यत्न से ग्रीहित्व अधिक रूप में प्रगमाय प्राप्त हो जाता है यही श्रुति से अप्रतिनिष्ठ होने पर भी यय आदि न हो सकेंगे क्योंकि ग्रीहि क माय उक्त सिद्ध—एवायममाय है। यदि हा भी तो विरोध न होने से, सामान्यप्राप्तगतिपान के रूप में, स्रष्ट व्यापार क बिना भी गहीत हा। किन्तु यह विरल का विषय नहा है।

निर्विण्ण सामान्य नहा होना इगलिए यजि क्रिया से विण्णनिष्ठ द्रव्य का आशेष हाना है। इगलिए सभी विण्ण श्रुतिसामान्य से प्राप्त हगि। फलत ग्रीहिभि यह श्रुति श्रुत रूप में भी नियमफल वाली ही हो जाती है अत श्रुत अय का त्याग कसे नही होगा? इसका उत्तर अनुहरि ने यह कहकर दिया है कि प्रतिनिधि क विषय में ऐसा नही होता। क्रिया शब्द से सभी विण्ण संगित नही होत। शब्द सभी विण्ण का अभिधायक नही होता

न हि सर्वेषां सतां शब्दोऽभिधायकः ।^{१२}

शब्द वस्तुचिन्ता का अनुसरण नही करता। वस्तु का कोई भाग ही शब्द का विषय होता है। सबल सनिहितविण्ण का अभिधायक शब्द नही दसा जाता। यजति क्रिया का केवल द्रव्य मात्र के आशेष में शक्ति है द्रव्य विण्ण में नही है। ग्रीहित्व आदि द्रव्य सहचारी विशेष जो क्रियापदाय क एकदेग भूत हैं यजि क्रिया से संगित नही होंगे। वस्तु विवक्षानिवन्धन होनी है। सत पदाय भी अय रूप में असत हो सकता है। विवक्षा शब्द सामान्य क अनुरूप होती है। द्रव्य के साथ शुक्ल आदि गुण भी रहते हैं किन्तु क्रिया शब्द से गुण की विवक्षा क्रिया क अय रूप में नही होती और न उनका प्रत्यायन क्रिया पद से संभव ही है। इसलिए द्रव्यमात्र का ही आशेष शब्द से होता है उसके परिपोष के लिए विशेष का आवाप नियम के लिए नही होता। फलत शास्त्र से अपयुद्धस्त विशेषों के प्रतिनिधि उपपन्न हो जाता है। इस तरह यहा असम्भवनियम त्याग का विवरण है।

जिनके मत में क्रियाविण्ण ही वाक्याय है उनके मत में क्रिया स्वसिद्धि के लिए योग्यद्रव्य साधन का आशेष कर लेती है। वही पदांतर से विशिष्ट कहा जाता है। ऐसी दशा में, जहा श्रुत साधन संभव नही है प्रधानभूत क्रिया की प्रतिपत्ति के लिए किसी अय साधन को प्रतिनिधि रूप में ले लिया जाता है। क्रिया का प्रतिनिधान नही होता क्योंकि वह प्रधान होती है। शिष्टो ने गुणभूत साधन को ही प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किया है। अत प्रधानभूत क्रियापदाय से आक्षिप्त साधनमात्र का त्याग नही होता अपितु ग्रीहिपद से उपात्त द्रव्यविषयक नियममात्र का बाध होता है। इसे नियम मात्रबाध कहा जाता है।

प्रतिनिधि के प्रसंग में असम्भवनियमत्याग और नियमात्रबाध इन दो दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त तीन अय विचारों का भी मत हरि ने उल्लेख किया है। वे हैं—प्राय सामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति, वाक्यायसामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति और प्रकरण सामान्य से प्रतिनिधि की उपपत्ति।

जातिपदाथ पक्ष में आख्यातवाक्य क्रिया से जाति का सम्बन्ध कस होगा। क्रिया साधन से जुटती है। जाति साधन नहीं है। उसके आश्रय रूप साधन से सम्बन्ध करने पर प्रतिनिधि की अनुपपत्ति का भ्रान्त उठ खड़ा होता है। इनके उत्तर में कुछ भाषाओं की भाषना है कि जाति शक्ति का उपलक्षण है। यदि 'वदन्ति' इस श्रुति के अनुसार वही खदिर में बाधने का संयोग न हो तो उसके सन्तत बदर में बाधन का कार्य सम्पन्न किया जाता है। जिस तरह बदर खदिर का प्रतिनिधि हो जाता है, उसी तरह द्रव्यान्तरगत शक्ति का भी, आश्रय की सशक्तता की दृष्टि से, परिग्रहण कर लिया जाता है।

जातिपदाथ सिद्धान्त के मानने वालों में कतिपय जाति को अभिधेय मानते हैं, उपलक्षण नहीं मानते। उनके मत में भी प्रतिनिधि की उपपत्ति हो जायगी। बाधन का प्रयोग अस्वातन्त्र्य है। यदि खदिर शक्तिहीन है तो उसको छोड़कर बदर काम में लाया जाता है। इसमें विधि में कोई दोष नहीं माना जाता। इसी तरह जाति के अभिधान के पक्ष में भी शक्तिहीन का ग्रहण नहीं होगा। गाम् आलभेन जसे श्रुतिवाक्य से भी योग्य ध्येय के साथ क्रिया का सम्बन्ध होता है।

यदि बाधन का अभिप्राय केवल सश्लेष मात्र हो तो प्रकरण आदि की पर्यालोचना से प्रतिनिधि उपपन्न होता है।

प्रतिनिधि के उपादान होने पर भी अखण्डवाक्याथ का अनुष्ठान सम्भव होने से नीवारकरणक्याथ के अनुष्ठान से नित्य, काम्य आदि विधि का लाभ होना लगता। अखण्ड पक्ष में 'क्रिया का प्रतिनिधान नहीं होना द्रव्य का होता है, यह भाषा भी विच्छिन्न हो जायगा। अतः पदाथ द्वारा वाक्याथ का अवबोध मानना चाहिए।

प्रसिद्ध पदाथ के अवधारण के लिए अप्रसिद्ध पदाथ का परिग्रह निर्णय प्रश्न कहा जाता है। जस वनात् पिक आनीयताम् जजरा वरासी चूपनाय दीयनाम्' जैसे वाक्यों के कहने पर सुनने वाले जिन पदों के अर्थ जानते हैं उनके बारे में तो कुछ नहीं कहने किन्तु जिन पदों के अर्थ उन्हें नहीं पता हैं उनके बारे में जिनासा व्यक्त करते हुए देखे जाते हैं। जैसे वन शब्द का अर्थ पता है किन्तु पिक शब्द का नहीं पता है तो पूछते हैं पिक कौन सी वस्तु है जिसे वन से लाना है।^{१३} अथवा विरासी (वरागी ?) क्या है जिसे वपल को देना है। वक्ष वपभ, काण्डीर आदि प्रसिद्ध भेदा में अतः ऋषभ भाण्डीर आदि अर्थ जिनासा में वकार अथवा ककार के अर्थ के लिए वण विषयक प्रश्न नहीं देना जाता है। यदि निरवयव, अखण्डवाक्य से असंख्य अर्थ की प्रतीति होती वनात् पिक आनीयताम् वाक्य से भी अखण्ड अर्थ भासित होता। किन्तु पथक् पिक पद का अर्थ की जिनासा होती है। अतः वाक्याथ अविभागाश्रित न होकर विभागमय

१३ शबर स्वामी ने पिक शब्द को अनाय माना है। जिन निर्णय यह वाक्य उदाहरण के रूप में आया होगा, बहुत से लोग इस शब्द को नहीं पहचान पाए होंगे। वरासी शब्द भी समुदाय के भाषा का ज्ञान पड़ता है। यों वैदिक साहित्य में वरजविशेष के अर्थ में मिलता है।

है। मीमांसा दर्शन में श्रुति और वाक्य के विरोध में श्रुति बलवती मानी जाती है। यदि वाक्याथ अविभक्त रूप में स्वीकार किया जायगा, श्रुति और वाक्य के परस्पर विरोध में पारदोष्य वाला नियम नहीं लागू हो सकेगा। प्रमाणांतर निरपेक्ष शब्द का श्रुति कहा जाता है। भत हरि के अनुसार श्रुति एक शब्दविषया एकपदनिबधना होती है

इह श्रुतिर्नामकशब्दविषयकपदनिबधनार्था।^{१४}

समभिव्याहार अथवा अपशपि वाचकपदा के सह उच्चारण को वाक्य कहा जाता है। श्रुति का सम्बन्ध साक्षात् प्रापित से होता है, वाक्य का यत्न प्रापित से होता है इसलिए श्रुतिधर्म से वाक्यधर्म विलक्षण माना जाता है। चतुष्टयछागमालभेत इस वाक्य में द्रव्य का आलम्बन क्रिया के साथ योग द्वितीया श्रुति (द्वितीयाविभक्ति) से साक्षात् प्रतिपादित है। श्वेतगुणका सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के आधार पर है। निगुण द्रव्य नहीं हो सकता केवल गुण में क्रिया नहीं हो सकती इस लिए गुण का सम्बन्ध आश्रयप्राश्रयिरूप में है यह सम्बन्ध वाक्यीय है। उसका सम्बन्ध सन्निधान वश है। द्वितीया श्रुति और तिङ् विभक्ति श्रोत सम्बन्ध को प्रकट करती है क्योंकि क्रिया और कारक एक दूसरे के स्वरूप से यहाँ अनुविद्ध है। वाक्य के सम्बन्ध का कोई साक्षात् वाचक यहाँ नहीं है केवल योग्याथ सम वय के लिए पदान्तर सन्निधान से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसलिए श्रुति की अपेक्षा वाक्य दुबल माना जाता है। भत हरि ने श्रुति और वाक्य का विरोध और वाक्य से श्रुति की बलवत्ता के लिए निम्न लिखित उदाहरण दिया है

पयसा भुक्ते देवदत्त गतेन

इस वाक्य में पय से उपसर्जन श्रुतिप्रापित है। क्योंकि पयसा से तृतीया श्रुति का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध है। पयविषयक श्रवण वाक्य प्रापित है। क्योंकि उनमें विगणविगण्य भाव है। यहाँ वाक्य प्रापित श्रवण के न होने पर भी श्रुतिप्रापित उपसर्जनत्व का निवर्तन नहीं होता। लोके में उपसर्जन के रूप में अप्रसिद्ध जल आदि हैं उनसे द्वारा श्रवण वाक्य उपयुक्त नहीं माना जाता। अतः पय का ग्रहण कर लिया जाता है किन्तु गत भी उत्क का उपादान नहीं होता। श्रुति और वाक्य के विवर्त्य में श्रवण ही किया जाता है वाक्याथ नहीं।

भत हरि ने श्रुति का सामर्थ्य प्रापित और व्यक्तयथ—अनुपजन—का रूप में ग्रहण किया है। सामर्थ्य प्रापित से तात्पर्य साक्षात् एव शब्द से गृहीत अथरूप से है। इससे अनिर्विकल एक गत्यापात् अथ जय तिसी गत्यांतर से अभिव्यक्ति के लिए सम्बद्ध हो जाता है वह भा किमी सम्बन्धान्तर के आश्रय न लने के कारण—अनाधेय सम्बन्ध के कारण—श्रुति माना जाता है। दूसरे गत्या में, श्रुति अपने अर्थ का सिद्धि

^{१४} वाक्याथ ३०३-विशेष। भोक्तृ न वा उक्तं न किया है—

विशेष। भोक्तृ न वा उक्तं न किया है—

क लिए कम करण, अधिचरण आदि जिसका आक्षेप करती है वह सब भी श्रुत्य माने जाते हैं। जैसे 'अवहयताम' कहने से ब्रीहि आदि का, मूय उयेति कहने से णि या, वरति कहने से दव का आने का जाता है। व्यक्त्वय अनुपग साधन का भी होता है। साधनाश्रय का भी होना है।^{१५} यदि वाक्याय अखण्ड रूप में माना जायगा, और और वाक्यीय का विभाग ही संभव नहीं होगा, पुनः उनमें बाध विचारता संवधा निरर्थक हो जायगा।

यदि पन्थायनिवर्धन वाक्याय नहीं स्वीकार किया जायगा, अर्थात्तर वाक्याय अर्थवत्ता की उपपत्ति कठिन हो जायगी। कभी-कभी एक अर्थ की सिद्धि के लिए वाक्यों के समुदाय एक साथ व्यवहृत होते हैं और वे परस्पर साक्षात् होने हैं, जैसे

“गो दुह्यताम, उवाध्याय पयसा भुक्त्वा मामध्यापयतु।”

“अभिजातासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्याम।”

ऐसे वाक्याय अखण्डपक्ष में, पक्ष की तरह अर्थात्तरवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। वाक्य की कोई सामा नहीं है। वे बढ़ाए जा सकते हैं, जैसे,

गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम अभ्याज।

देवदत्त गाम अभ्याज शुक्लाम आदि।

ऐसी दशा में स्वतन्त्र रूप में जो वाक्य मायक हैं अर्थात्तर वाक्य के रूप में वही निरर्थक होन लगेंगे।

वाक्य के अविभाग पक्ष को प्रथम दन से लक्षण की भी अनुपपत्ति होती है। लक्षण एक तरह में वाक्य धर्म है जो वाक्यायविशेष के परिज्ञान में सहायक होते हैं। ये पट द्वादश अथवा चौबीस तरह के मान जाते हैं। भक्त हरि के लिखन से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने स्वयं लक्षणसमुद्देश में इन भेदों पर विस्तार से विचार किया था

सव्यायलक्षणयवस्थाविरुद्धाचारमविभागपक्षः । तत्र द्वादश पट चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेन सविरोध विस्तरेण व्याख्यास्यते — वाक्यपदीय २।७६ हरिवृत्ति।

लक्षण समुद्देश आज उपलब्ध नहीं है। पुण्यराज के समय में भी उपलब्ध नहीं था

एतेषा च वितत्य सोपपत्तिक सनिदग्गन स्वरूप पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतेव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम् । आगमभ्रान्तात् लेखक प्रमाणेन वा नमणसमुद्देशाच्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः ।

वाक्यपदीय २।८७ ८७ में इनका संकेत किया गया है। इनमें मीमांसा दग्गन में प्रतिपादित प्रसंग तथा बाध आदि हैं कुछ अर्थ भी हैं। इन पर हम वाक्य के

पदायनिवधन धर्म' के रूप में अभी विचार कर चुके हैं। यहाँ बताना यह दिखाना है कि यदि पदाय के आधार पर वाक्याय विचार नहीं होगा तो गुण मुख्य, नान्वरीयक आदि लक्षण विचार भी संभव नहीं हो सकेंगे। यद्यपि ये सब पदायनिवधन हैं।

इस तरह निरवयव वाक्य पर उपयुक्त पात्र प्रतिपत्तियाँ उठाई गई हैं। भूत हरि न इनका परिहार भी किया है। वाक्याय एव है अविभक्त है। विकल्प भावनाश्रित है। पुरुष की आत्मवासना के अनुरूप भिन्न भिन्न विकल्प होते हैं

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रया ॥^{११}

वाक्य को अण्ड मान कर भी अपोद्धार पद्धति से पद-पदाय की कल्पना कर पदायनिवधन धर्मों का निर्वाह किया जा सकता है

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोदधते ।

वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥^{१२}

जैसे एक ही गन्ध का पुष्पगन्ध, चटनगन्ध, आदि के रूप में विलक्षण किया जाता है जैसा एक नरसिंह के नर और सिंह के सादर्य की कल्पना की जाती है जैसे एक निरंश प्रकाश का नील पीत आदि रूप में भाग किया जाता है वैसे ही एक निर्विभाग वाक्य का विभाग के रूप में निवचन किया जाता है। वक्ष्य आनीयताम् इस वाक्य से वनात् पिक आनीयताम् यह वाक्य सवथा विलक्षण है। पिक के योग से यह वाक्य सवथा एक नवीन विलक्षण वाक्य बन गया है। वाक्य के एक देश की, अन्तर्वाक्य की अवयवता व्याकरण भी स्वीकार करते हैं। इस तरह उपयुक्त सभी अनुपपत्तियाँ दूर हो जाती हैं

यस्याप्येक सनिविष्टानेकशक्तिरूपसर्वोपाधिविशिष्ट त्रियात्मा व्यावहारिकाम्या (केन) प्रकल्पितोद्देशविभागेनकेन वाक्याख्येन शब्देनाभिधीयते तस्यापि यावानय पदश्रुतिरूपभेदेन च व्यवहार परस्तादुपपद्यते स सर्वे एकस्मादर्थति शब्दरूपाणि बुद्धयन्तर कृतप्रविभागानि अपोद्धत्यापोदधृत्य प्रकृतिप्रत्ययादिवन् श्रुतिरूप प्रविभागे क्रियमाणे न विरुध्यते ॥^{१३}

अस्तु अभिहितवयवाद और अविताभिधानवाद दोनों से गृहीत पदायशक्ति व्याकरणदर्शन में भी उपोद्धार कल्पना से चरितार्थ हो जाती है। पुण्यराज ने अनेक स्थल पर इन वादों की समीक्षा भी की है और भूत हरि को भी अपने साथ रखने की चेष्टा की है। पुण्यराज की आलोचना का भी प्रसंगवश ऊपर निर्देश किया जा चुका है। उनका मुख्य वक्तव्य निम्नलिखित है

इति अविताभिधान प्रदर्शनम् । दूषणमस्याग्रे तत्र तत्राभिधास्यति यथा 'नियमाया श्रुति मवेत वा० प० २।२४६ इत्यादि । तथा हि यद्येकेन पदेन

सकलवाक्यायस्याशेषविशेषणलक्षितस्यावगति तदोत्तरेषा पदानां नियमाधानु-
वादाय धोञ्चारण स्यात् । न च तत् युक्तमिति वक्ष्याम । एकस्मादेव पदात्
समस्तविशेषणलक्षितस्य वाक्यायस्य प्रतीतेरुत्तरेषामानवयव स्यादेव । न च
तस्मादेव वाक्यायप्रतीति दृश्यते । व्यवतोपव्यञ्जना इत्यसमाधानमेव । यत्
किमेकस्माद् वाक्याथावसायोऽप्येवमुपव्यञ्जकत्वम् । अथ समस्तेभ्य एव तेभ्य ।
सव्योत्तराणि पदानि वाक्याथप्रतीतये उपादीयत एवेत्यवित्ताभिधानम्
समञ्जसमेव । एकस्य थापरपदोच्चारण काले तिरोधानादभिहितावयवस्याप्य-
समव इत्ययभागे दूषणम् । शब्दभागसमाश्रयणेन द्वयोरपि पक्षयो दूषण
'पदानि वाक्ये तायेव' (वाक्यपदीय २।२८) इत्यादि—श्लोकद्वयेनाभिधा-
स्यति ।

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१८

यदि एक पद स सकल वाक्याथ की अभिव्यक्ति हो, अथ पद व्यर्थ होंगे ।
अथवा नियम या अनुवाद के लिये होंगे । हम देख चुके हैं कि भत हरि ने भी आस्थात
सकल वाक्य आदि की व्याख्या में नियम अनुवाद सिद्धांत का आश्रय लिया है । सद्रभूत
के उपादान में व्यक्तोपव्यञ्जन वाले मत का पुण्यराज ने स्वयं समर्थन भी किया है ।

भत हरि ने आलोचना की है कि यदि वाक्य में वे ही पद होंगे, पद में वे ही
वर्ण होंगे, वर्णों में वर्ण भाग सम्बन्धी परमाणु सदृश भेद होने लगेंगे । इसका उत्तर
कुमारिल ने दिया है

सदभावे पदवर्णानां भेदो य परमाणुवत् ।

सर्वमावस्ततश्चेति सेय बालविभीषिका ॥

यह केवल बच्चा की डराना मात्र है । पद और वर्ण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है ।
वर्णानुश के परित्याग से वर्ण की स्थापना सरल है (श्लोकवार्तिक ७।१५०)

भत हरि के अनुसार यदि अखण्डवाक्याथ न मानकर पद-पद के सहारे वाक्याथ
की उपपत्ति मानी जायगी निम्नलिखित वाक्य के अथ का ठीक अवभास न हो
सकेगा

अनङ्गवाह हर गिरसा या त्व अगिनि साचीन अभिधावन्त कुम्भमद्राक्षी ।

इस वाक्य के प्रथम अर्थ सुनने पर अथ अथ उपस्थित होता है, पूरा वाक्य
सुनने पर दूसरा अर्थ सामने आ जाता है और पहला अर्थ छूट जाता है । अखण्ड पद
में पूरे वाक्य से पूरे अर्थ का ज्ञान होता है । इसलिए सामान्य में वतमान का विशेष
में अवस्थान उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

तथा सति नास्ति सामान्येवस्थितानां विशेषेवस्थानम् ।^{१६}

वाक्य और वाक्यार्थ में सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ में परस्पर संबंध, दानभेद के आधार पर निम्नलिखित माने

जाते हैं

१—वाच्यवाचक सम्बन्ध (योग्यता)

२—वाच्यकारण सम्बन्ध ।

३—सर्वेत्त सम्बन्ध ।

४—अध्यास सम्बन्ध ।

इनमें वाच्यकारण अध्यास सम्बन्ध को अपनी भाष्यताया के अनुकूल मानते हैं और उसे स्वीकार करते हैं । सम्बन्ध के विषय में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अन्तर पर विशेष विचार किया जा चुका है ।

वाक्यार्थ निर्धारण के साधन

वाक्यार्थ की व्यवस्था में कुछ अर्थ उपाय भी काम में लाए जाते हैं । वे प्रायः परिगणित हैं । भक्त हरि ने इनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में किया है

वाक्यात् प्रकरणादर्थोचित्याद्देशशालत ।

गन्धार्या प्रविमज्ज्यते न रूपादेव केवलात् ॥^१

साथ ही किसी दूसरे आचार्य का भी मत दिया है

सप्तर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।

अथ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्याप्यस्य सन्निधि ।

सामर्थ्यमोचितो देव कालो व्यक्तित्व स्वरस्य ।

शब्दाद्यस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इनके विवरण नीचे दिए जा रहे हैं ।

एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं । एक स्थान पर दो अर्थों की प्राप्ति हो सकती है । उस समय निर्धारण की अपेक्षा होती है । निर्धारण विभाग द्वारा पथक-करण का नाम है । कुछ उपाय जो समस्त अनेकाय शब्द में समान हैं, वाक्यार्थ के अवच्छेद के लिए काम में लाए जाते हैं । भक्त हरि ने इनका वाक्य, प्रकरण, अर्थ आदि के रूप में उल्लेख किया है ।

वाक्य कभी कभी वाक्य ही विशेष त्रिया से युक्त रहता है और तुल्य श्रुति के हाने पर भी शब्द और अर्थ के प्रविभाग की व्यवस्था में सहायक हो जाता है । जैसे वटवक्ष रीति और 'वटवक्ष स्वादुफल, आरुह्यताम' इन दोनों वाक्यों में वाक्यार्थ ही शब्दार्थ के प्रविभाग में हेतु है । केगान वपति और केगान नमस्यति दोनों वाक्यों में भी शब्दार्थ का अवच्छेदक वाक्य ही है । वट करोति, भीष्ममुदार दशनीयम् इस वाक्य में द्वितीया विभक्ति वट भीष्म उदार दशनीय सभी शब्दों में है । क्योंकि करोति त्रिया से सबका पथक पथक सम्बन्ध है । वाद में विशेषण विशिष्टभाव हो जाना है । वट विशेष्य है और भीष्म, उदार आदि विशेषण है । यहाँ यद्यपि द्रव्य और गुण दोनों के साथ त्रिया का सम्बन्ध है किन्तु ईप्सिततम द्रव्य है इसलिए त्रिया

का सम्बन्ध केवल द्रव्य से होना चाहिए। गुण से नहीं होना चाहिए। इस आधार पर द्वितीया विभक्ति केवल वट शब्द से होनी चाहिए। भीष्म आदि गन्ध से नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर है कि यद्यपि भीष्म आदि में स्वयं कमता नहीं है किन्तु वे विनोप्य के सम्बन्ध से द्वितीया विभक्ति का पात्र हैं क्योंकि उसके साथ उनका एवयोग शेष है सामानाधिकरण्य है। केवल प्रातिपदिक का प्रयोग हो ही नहीं सकता। जैसे राजा का सखा स्वयं निधन भी हा फिर भी राज धन से धन का पत्र प्राप्त करता है वम ही गुण भी द्रव्य के घम से तद्रूप होत हैं। अतः भीष्म आदि से द्वितीया विभक्ति सिद्ध होती है। अथवा द्रव्य निगुण नहीं हो सकता गुण भी बिना आधार के नहीं रह सकत, इसलिए आकाशा आदि के आधार पर उनमें वाक्यीय सम्बन्ध सामानाधिकरण्य के रूप में स्थापित हो जाता है। फलतः भीष्म गुण युक्त वट का करना ही अभिप्रेत वाक्याथ होता है। इस तरह यहा शाय निणय वाक्य की पर्यालोचना पर निभर है।

प्रकरण प्रकरण स्वयं अशब्द होता है फिर भी शाय निधारण में सहायक होता है। जैसे सचय गन्ध का युद्ध के प्रकरण में अश्व अथ होता है भोजन के प्रकरण में लवण अथ हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में भी 'वन करणयोस्ततीया' २।३।१८ सूत्र में, 'कारक' के अधिकार क्षेत्र में होने के कारण करण शब्द से क्रिया का ग्रहण अभिप्रेत नहीं होता। इसी तरह 'शब्दवरकलहाभ्रवप्वमेधेय्य करणे' ३।१।१७ सूत्र में, धातु-अधिकार के कारण, करण शब्द से क्रिया की प्रतीति होती है।

अथ अथ शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शाय निणय में हाथ बटाता है। जैसे अञ्जलिना जुहोति, अञ्जलिना सूयमुपतिष्ठते, अञ्जलिना पूषपात्र हरति। इन वाक्यों में जुहोति आदि शब्द के अथवश अजलि शब्द के भिन्न भिन्न अथ भासित हो जात हैं। व्याकरण शास्त्र में भी पूरणगुण संहित ० २।२।११ सूत्र में अथ ग्रहण के बल से गुण शब्द से अदेड का ग्रहण नहीं होता। इसी तरह न शशददवादिगुणानाम ६।४।१२६ सूत्र में अथ के सामर्थ्य से परतत्र आश्रयी शुक्ल आदि का ग्रहण नहीं होता। वाक्य प्रकाश के टीकाकारों ने अथ शब्द का अथ प्रयोजन माना है जो सगत नहीं है। प्रकरण और अथ में भेद यह है कि प्रकरण अशब्द होता है उसमें प्रयोगदान से प्रतिपत्ति होती है। अथ शब्दान होता है उसमें श्रुत्यनुपातिनी प्रतिपत्ति होती है।

श्रीचिथ (श्रीचिती)—भत हरि ने श्रीचित्य शब्द का व्यवहार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में जो कारिका (सर्गों विप्रयोगश्च) उद्धृत की है उसमें श्रीचिती शब्द है। दोनों समानार्थक ही होंगे। श्रीचित्य (श्रीचिती) के द्वारा भी अथ की व्यवस्था की जाती है। किन्तु श्रीचित्य अथवा श्रीचिती का क्या अभिप्राय है? भत हरि ने श्रीचित्य शब्द का प्रयोग संभवतः ऐसे वाक्यों के लिए किया है जिनमें निन्दा और प्रशंसा दोनों अर्थ भलकत हैं। उन्हीं उपयुक्त कारिका की अपनी वक्ति में लिखा है

श्रीचित्यादपि ध्यवस्था। तद यथा राशतो

दस्यु भद्रमुखइति। विषमयेण निन्दा प्रशंसा वा गम्यते।

राक्षस दस्यु भद्रमुख है—इस वाक्य में निन्दा अथवा प्रशंसा ध्वनित है।

पुन औचित्यी पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है
 औचित्यी केषाचित् प्रयोक्तृणां निन्दाप्रशंसादिषु किंचिदुचितं भवति, भद्रमुख
 दास्या राक्षसादिव (दस्यु राक्षस इव), वणिजा च वाराणसी जित्वरीत्यु-
 पचरति (वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरति) । औचित्यादेव रामस
 दृशोऽयमजु नसदृश इति प्रयोक्तृभेदादथविशेष प्रतिपत्तिः ।^२

इस वक्तव्य से भी भर्तृहरि के मत में औचित्य का सम्बन्ध निन्दा प्रशंसा से है। श्लोकवार्तिककार ने वाराणसी को व्यापारियों द्वारा जित्वरी नाम देने का उल्लेख किया है।^३ कण्ट आदि ने जित्वरी शब्द को मगल के अर्थ में लिया है मगलाय वाराणसी को जित्वरी कहते थे अथवा उनके लिए वाराणसी मगलार्था थी। संभवतः जित्वरी शब्द देशी शब्द था और इसका अर्थ निन्दात्मक था। दोनों तरह से यहाँ औचित्यी है। भद्रमुख नाम भी संभवतः उभयात्मक था। भर्तृहरि ने औचित्य का सम्बन्ध प्रयोक्ता से भी दिखाया है। प्रयोक्तृभेद से जहाँ अर्थविशेष की उपलब्धि होती है वहाँ भी औचित्य है। 'यह राम सदृश है यह अजुन सदृश है' जैसे वाक्य के प्रयोग करने वाला की दृष्टि से भी इन वाक्यों का अर्थ बदलता होगा, कहीं प्रशंसात्मक, कहीं निन्दा-त्मक अर्थ निकलती होगी। अथवा राम और अजुन में विशेष की प्रतिपत्ति होती होगी।

पुष्करराज के सामने भी औचित्यी शब्द का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं था। उन्होंने इसके कई अभिप्राय दिए हैं। उनके अनुसार सौर (हल), भसि (तलवार), मुसल शब्दों का क्रिया निरूपण भी यदि प्रयोग किया जाय तो अमग विलेखन (जोतना) युद्ध और भवहनन (कूटना) के रूप में अर्थ का बोध समुचित क्रिया के आशेष से, शब्दाश्रयनिर्णय के रूप में, हो जाता है। अथवा प्रष्ट आदि शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त पुम में होने का कारण ये पुंलिंग माने जाते हैं। इसमें निमित्त अग्रगामित्व आदि है। पुंयोग का कारण स्त्रीत्व से इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है साक्षात् नहीं। पुंयोगादा-स्यायाम् ४।१।४८ सूत्र में प्रष्ट सम्बन्ध को निमित्त रूप में दिखाया गया है। अतः यहाँ निमित्तत्व औचित्य है।

अथवा नीच निम्न शब्दों पर विचार कीजिए

यच्च निम्न परगुणा यश्चन मधुसर्पिषा ।

यश्चन शयमात्म्या सयस्य वट्टरेव स ॥

इस श्लोक में किन्हीं क्रियापदों का उल्लेख नहीं है। कारकपद ही औचित्य का आधार पर समुचित क्रियापदों का आशेष करा दत्त हैं और इस तरह में एक वाक्याप गायन मनसा जात है जिसमें अन्तर वाक्या के अर्थों का समावेश रहता है और जो अग्रस्तुत प्रगमा (अग्रस्तुत का प्रगमा के माध्यम से अग्रस्तुत की निम्न) का उद्घाटन गद्य कर देता है। जग का व्यक्ति नीम का पत्र को टांगी (कुन्हाड़ी) से काटता है और जो उस पर गद्य तथा माना पढ़ता है गद्य लिए वरु, अथवा दुग्धज स्वभाव का कारण वरु ही है उनका दुग्ध हा बनाता है। किसी व्यक्ति का नीच प्रकृति

को लक्ष्य करके यह श्लोक लिखा गया है। उसकी नीचता दिखाना ही यहाँ अभिप्रेत है। यह निन्द्यामात्र औचित्य से गम्य है। यहाँ पुण्यराज भक्त हरि द्वारा गृहीत औचित्य के अर्थ का समर्थन कर रहे हैं। पुण्यराज ने व्याकरणशास्त्र में औचित्य को दिखाने हुए वाकिका वृत्ति का एक उदाहरण दिया है

पाश्चै यथा पु योगादाख्यायाम् ४।१।४८ इत्यत्रोक्त पु सि गन्धप्रवृत्तिनिमित्तस्य समवात पुशब्दा एते इति ।

औचित्य अथवा औचित्य का अर्थ भोजराज तथा मम्मट के समय तक अवश्य कुछ बदल चुका था। स्तुति निम्न वाला मूल अर्थ ओभन हो चुका था। भोज ने औचित्य के य उदाहरण दिए हैं—

औचित्याद् यथा करमोर, गिरिरिदशना पुण्डरीकमुखी। उपमेयीचिप्राय करमादिशब्द धनु कोटिकुट्टकुडमलकमलानि प्रतीयन्ते । न उष्ट्राचलाग्रछत्राणि ।^४

भोज का अभिप्राय यह है कि करम शब्द का अर्थ धनु कोटि और ऊट दोनों हैं। करमोर कहने पर औचित्य के बत पर धनु कोटि अर्थ निश्चित हो जाता है। इसी तरह गिरिरिदशना में गिरिरि का अर्थ पर्वत की चोटी न होकर, कुन्दवली है। पुण्डरीकमुखी में औचित्य से पुण्डरीक का अर्थ कमल है क्षत्रक नहीं है। अतएव भी भोज ने औचित्य के उदाहरण में लिखा है

सा ध्रुवगौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराम्बा करभोपमोरु ।

आसञ्जयामास यथा प्रदेश कण्ठे गुण भूतमिथानुशासन ॥ —रघुव ६।८३

अत्र अङ्गनाम्पोचित्यात् करमशब्देन धनु कोटिग्रहण विधीयते नोष्ट्रावयव इति ।^५

मम्मट ने औचित्य का उदाहरण दिया है पातु धो दयितामुखमिति सामुख्ये । इसके अर्थ में टीकाकारों में मतभेद है। नरसिंह, भास्करमूर्ति, भट्टगोपाल सामेश्वर आदि पातु क्रिया के अनेक अर्थ लिखाकर एक में नियन्त्रित करते हैं। गोविन्द ठक्कुर विद्याचक्रवर्ती, नागेश आदि ने मुख शब्द के अनेक अर्थ देकर उसका सामुख्य अर्थ में औचित्य दिखाया है। काव्यप्रकाश के किसी टीकाकार का ध्यान ऊपर उद्धृत यश्व निम्ब परशुना श्लोक पर अवश्य गया था किन्तु इसमें औचित्य वह ठीक से नहीं दिखा सका था ।^६ किसी भी प्रसिद्ध टीकाकार ने औचित्य के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है। सब ने उस उचित सम्बन्ध के रूप में ही लिखा है। किन्तु इस रूप में लेने पर सामर्थ्य से औचित्य का भेद बताना कठिन है। गोविन्द ठक्कुर का ध्यान इस प्रश्न पर गया था किन्तु उनका उत्तर सन्तोषजनक नहीं है

४ शृंगार प्रकाश पृ० २२७

५ शृंगार प्रकाश, अध्याय ७, हस्तलेख मल्लिनाथ ने यहाँ करम शब्द का अर्थ हथेली का किनारा माना है ।

६ अत्रपरशुनेत्यय परशुकरणकच्छेदनपरत्वम् । मधुसर्पि शब्दस्य त कारणकसेचनपरत्वम् । न क्षमालयाभ्यामि यम्य तन् कारणकपूनाभावमाहुः ।

यद्यप्यत्रापि सामर्थ्य समवत्येव तथापि मधुनेत्यत्र ततोऽप्येव तदबोधामावेऽप्यो-
चितोमात्रज्ञानादेव शक्तिनियमनमसकीर्णमिति ।^{१०}

देश—अथ यवस्था देश स भी होती है । जैसे मधुराया प्राचीनादुदीचीनात
नगरादागच्छति' ऐसा कहने पर नगरविशेष पाटलिपुत्र का बोध होता है । भत हरि के
समय में कुछ लोग देश शब्द से देशविशेष का अर्थ नहीं करते थे । उनके मत में
संभवतः देश सम्बन्धी औचित्य का अभिप्राय यह था कि किसी स्थान में कोई शब्द
प्रशस्ता वाचक है अथ स्थान में वही शब्द उससे भिन्न अर्थ में व्यवहृत हो सकता है ।
संभवतः प्रोड शब्द ऐसा ही था । कम्बोज में शत्रुति का प्रयोग गति अर्थ में था आर्यावत
में इसका सम्बन्ध निर्जीव से था । भोज ने भी देश भेद से अर्थभेद माना है और
उदाहरण दिया है हरि अरण्ये । हरि द्वारिकायाम् । हरि अमरावत्याम् । यहाँ स्था-
नभेद से हरि शब्द का क्रमशः सिंह विष्णु (वृष्ण) और वासव अर्थ निश्चित हो
जाता है ।

काल शब्द के व्यवच्छेद में काल भी सहायक है । निशिर काल में द्वार
कहने से दरवाजे बन्द करने का भान होता है । ग्रीष्म काल में द्वार शब्द से दरवाजे
खोलने का अर्थ भासित होता है । भत हरि के समय में दक्षिणापथ के किसी एक
प्रदेश में पूर्वाह्ण में पच्यताम कहने से वषा मिश्रित विकलदनमय यवागू पाक का बोध
होता था संध्या के समय पच्यताम कहने पर मोहन प्रधान पाक का बोध होता था ।
कुछ लोग इस काल का उदाहरण न मान कर प्रकरण के भीतर गृहीत करते थे ।
जागृहि जागृहि ऐसा दिन में कहने पर जागृति का अर्थ अर्थ होता था और रात में
कहने पर उससे भिन्न अर्थ होता था । रात्रि में पतंग शब्द कहने पर शलभ द्योतित
होता था सूय नहीं ।

समग विप्रयोग आदि का विवरण भत हरि ने शब्द के नानात्व पक्ष और
एकत्व पक्ष को सामन रखकर दिया है । नानात्वपक्ष में शब्द की तुल्यश्रुति होने पर
भी वे स्वभावतः भिन्न भिन्न माने जाते हैं । किन्तु शब्द रूप अभिन्न रहता है । ऐसी
दशा में उनके अर्थ के अवच्छेद के लिए समग आदि का आश्रय लिया जाता है । एकत्व
पक्ष में अर्थ का अभिधान में शक्तियाँ भिन्न भिन्न होती हैं किन्तु श्रुति सारूप्य के कारण
विभागप्राप्त नहीं होती हैं । निमित्त के आधार पर विवेक रूप में उनका अवच्छेद
किया जाता है ।

किंगी आचार्य के मत में शब्दाय का अवच्छेदक बचन एक तत्त्व है और वह
सामर्थ्य है । अर्थ प्रकरण आदि के आधार पर जिसका स्वामाविर्भूत माना जाता है
वही भी सामर्थ्य ही है । उगी सामर्थ्य का समग, विप्रयोग आदि रूप में विभाग किया
जाता है ।

समग समग के आधार पर सामर्थ्य का विभाग होता है । 'धेनु आनीयताम्
राम वाचय ग धनुः शान्ति' का प्रतीति ता होती है किन्तु विषय धेनु की प्रतीति नहीं

हानी। किंतु यदि 'सक्शोरा धेनु आनीयताम' कहा जाय तो किशोर शब्द के समग से धेनु का अर्थ घोड़ी (वडवा) हो जाता है। यहा ससग अभेद ज्ञान का निमित्त है। किशोर गन्त घोड़े के बछड़े के लिए प्रयुक्त होता है। उसके ससग से धेनु का द्रोघघ्नी विशेष म—वडवा म—सप्रत्यय होता है। इसी तरह सवत्मा धेनु से गाय का, सवकरा से बकरी (अजा) का सकरभा धेनु से ऊनी का बोध होता है। क्योंकि वत्स बकर, करम गद क्रमश गाय के बछड़े बकरी के बच्चे और ऊट के बच्चे के लिये प्रयुक्त होते हैं।

कृष्णकिशोरा धेनु' म जसे किशोर शब्द धेनु का विशेषाधायक है वैसे ही धेनु शब्द किशोर क अर्थ का अवच्छेदक क्यों नहीं होता। भट्ट हरि के अनुसार वत्स किशोर आदि शब्द विशेषण के रूप म अवच्छेदक हो जाते हैं। कृष्णधनुक किशोर के रूप म प्रतिपत्ति नहीं देखी जाती।

जो लोग धेनु शब्द को गाय के अर्थ म ही रूढ मानते हैं उ हें एमे वाक्या म ससग स विशेष सप्रत्यय के रूप म केवल धम मात्र की विवक्षा अभिप्रेत रहती है। जस, तन्म्य परिमाणम ५।१।४७, सत्याया सज्ञानधमूत्राण्यनेषु ५।१।५८। यहाँ पञ्च एव पञ्चका शकुनय म स्वाथ म प्रत्यय माना जाता है प्रत्यय विशेष का सप्रत्यय नहीं कराता है। सस्कृत म दस तक की सख्या सख्याय के अर्थ म व्यवहृत होती है केवल सरयान के लिए नहीं व्यवहृत होता है। दस के बाद की सरयाँ सख्याय और सरयेय होना के लिए आनी हैं। इसलिए पञ्च शब्द से जो पन्थी वाक्य हैं वे ही पञ्चक शब्द से भी वाक्य है। इसीलिए परिमाणपरिमाणभाव के न होने के कारण स्वाथ म ही प्रथम विधान माना जाता है। वैयाक अनुसार यदि पञ्च आदि सख्याया का वक्ति के विषय मे सख्यामात्र म शक्ति मानी जाय परिमाणापरिमाणभाव के आश्रय म भी प्रत्यय विधान सभव है। स्वय पाणिनि ने द्वयकयोद्विवचनवचने १।४।२२ सूत्र म द्वि और एक शब्द का द्वित्व और एकत्व मानकर ही इन शब्द का निर्देश किया है। सख्येयश्रपरक मानन पर द्वयेकेषु ऐसा होना चाहिए था।^८

भट्ट हरि ने ससग के ग्रास्त्रीय उदाहरण म पाणिनि का अवाद ग्र १।३।२१ सूत्र उद्धन किया है। ग धातु दा है। एक ग निगरण तुलादिगण म है। दूसरी ग श ३ अयादि गण म है। यहा अव उपसग क ससग से ग निगरणे का ही ग्रहण होता है और अवगिरत प्रयाग बनता है। ग शब्द के साथ अव उपसग का प्रयाग नहीं देखा जाता। इसलिए उमका ग्रहण नहीं हाता। अथवा अथविरोध के कारण गणाति के साथ अव का योग उपपन्न नहीं हाता। फलत अव के समग से ग धातु का गृ निगरणे के रूप में निणय किया जाता है

मम्मट ने ससग के स्थान पर सयोग पत्ता है।

विप्रयोग—ससग की तरह विप्रयाग भी गन्ताय निर्धारण में हेतु माना जाता है। निज्ञानि सम्बन्ध का विया स व्यपन्न दखा जाता है। जस 'अक्शोरा धेनु

आरम्भ प्रथम या धानीयताम्, इमं वाक्य में विचार सावि न विचाराय न विचारि जाति न धेनु का बोध होता है। जिसका साधन बराबर गवय देगा क्या है उमर विन। भी उमरी का ग्रहण होता है। व्याकरणशास्त्र में भी भुजाजय। १।३।१६ सूत्र में जिस भुज धातु का धारा (धरा) और धावा (धामा) नामा धय होता है उमरी का ग्रहण किया जाता है।^१ तुलागिण पठित कोटिस्थ धय मान भुज धातु का ग्रहण नहीं किया जाता। परन्तु 'विभुजति जानुगिरमी' में सामान्य का प्रयोग नहीं होता।

साहचर्य अथ का अर्थ साहचर्य स भी होता है। गिला धानीयतां स्य द्रव्याणि च। गिला धानीयतां सामान्यः। गिला धानीयतां गणाधनुषी च। इन वाक्यों में गिला शब्द प्रथम गिल सिली (काठ) और सामान्य का बोध है। रामसम्मणी राम वेशवो, युधिष्ठिराजु नी जस दाना म प्रमण राम, बसराय और पाण्डुराज प्रजु न का बोध सम्मण, वगैरे और युधिष्ठिर गद्वय का साहचर्य न होता है। अथ साहचर्य भी विनोपाधायक है। राम शब्द न कई अर्थ हैं, वह व्यभिचारित शब्द है। सम्मण शब्द का एक ही अर्थ है वह अदृष्टव्यभिचार है। अदृष्टव्यभिचार दृष्टव्यभिचार का अवच्छेदक साहचर्य के बल पर हो जाता है

यद्यप्येको दष्टिभ्यभिचारः। तथापि अदष्टव्यभिचारो दष्टव्यभिचारस्य साहचर्यात् तुल्यधर्मतां प्रतिपादयति।^२

व्याकरणशास्त्र में भी विपराम्या जे १।३।१६ सूत्र में वि और परा शब्द साहचर्य के आधार पर, उपसर्ग माने जाते हैं। यही परा शब्द दृष्टापचार है वह उपसर्ग भी है अनुसर्ग भी है। विग न अदृष्टापचार है वह उपसर्ग ही है।^३ इस लिए उपसर्ग का उपसर्ग सहायक हो जाता है।

तद यथा गोद्वितीयेनाथ इति गौरेषोपादीयते। नात्रो न गदम इति।^४

लोक में द्वितीय शब्द कहने पर जिसकी अपेक्षा स द्वितीय शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसको तुल्यजातीय का ही मान कराता है। गो द्वितीय कहने से गो (बल) का ही ग्रहण होता है अथवा गदम का नहीं होता। इसी तरह अंतरान्तरेण युक्ते' १।३।४ सूत्र में अंतरा और अंतरेण दोनों शब्द साहचर्य के आधार पर निपात रूप में गहीत होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने साहचर्य का अर्थ सहचरता किया है। नागेश इससे सहमत नहीं है। उनके अनुसार साहचर्य का अर्थ यहाँ सादृश्य है। किसी

१ महाभाष्य में 'यस्य भुजवनमनवन च चार्थ' ऐसा पाठ है। भन्तु हरि की वृत्ति में यहाँ 'यस्य भुजेनवन चारान चार्थ' पाठ है। अवन पाठ शुद्ध है।

२ वाक्यप्रतीय २।३।७ हरिवृत्ति, हस्तलख

३ बुजविजयति वनम्—यहाँ विशद उपसर्ग है किन्तु जडन् स्वार्थवृत्तिपक्ष में अनर्थक है। अजहत् ग्वाथापक्ष में भी उसने अर्थ के उपसर्जन होने से उसका ग्रहण नहीं होगा। सम्बोधनात् वे का, रूपान्तरयुक्त होने के कारण ग्रहण नहीं होता। एकदेशविभक्ति के आधार पर वे को वि नहीं माना जा सकता क्योंकि वे विभक्त्युक्त वि का विकार है न कि विशद का।

वैयट, प्रदीप ३।१।१६, पुण्यराज २।३।७

के मत में साहचर्य प्रयोज्यता का उपलक्षण है।

विराध विरोध से भी अर्थ का अवधारण होता है। रामजुनो कहने से अजुन पद के सन्निधान से विरोध के आधार पर, राम शब्द का परंराम अर्थ निश्चित हो जाता है।

लिङ्ग वाक्यान्तर में दृष्ट लिङ्ग से प्रसिद्ध भेद का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे 'अकृता शकृता उपदधाति' इस वाक्य में 'तेजो वै घतम्' इस वाक्य के घन से शकृता का घन द्वारा आवृत्य सन्निधापित होता है। अजुन श्रिया का कम शकृता और साधन घृत है। इसी तरह पशुमालभेत इस वाक्य में पशुत्व युक्त सभी प्राणियों की सम्भावना होने पर छागस्य हविषो वपाया मदस इम लिङ्ग बल से केवल छाग सम्वायी पशुत्व प्रतीत होता है। इन वाक्यों में बाध नहीं है। यदि घत से अकृत अनकृत होत, यदि छाग पशु न होता तो बाध उपस्थित होता। सामान्य में 'यूनाधिक' भाव नहीं होता। वह ज्यों का त्यों रहता है। लिङ्ग के बिना भी शब्द का वाच्य अर्थ जितना होता है लिङ्ग के ग्रहण होने पर भी वह उतना ही रहता है। केवल यही अन्तर होता है कि लिङ्ग के उपादान से शब्दान्तर वाच्य का अर्थान्तर में अग्रारोप होता है। किसी अर्थ के अभिधान से जितने अर्थान्तर सम्भव हैं वे सब शब्द के अर्थ नहीं हैं ता फिर पशु शब्द का अवच्छेद (निर्धारण) नहीं होगा। पशु शब्द की पहले पशु और पशुत्व दोनों में वृत्ति है। छाग आदि भी पहले शब्दाय का न बाधित करत हुए स्वाय मात्र को लक्ष्य में आरोपित करते हैं। यह ठीक है। किन्तु सम्वायी विशेषण सम्भव न हो सके। इस लिए शब्द व्यापार के न होते हुए भी बाधाकुल होने के कारण, अवच्छेद मान लिया जाता है। अथवा पहले अर्थ का स्वरूप समग्र से अविशिष्ट रूप में ही सम्बद्ध होता है। दूसरे पद के सान्निध्य से उसमें विशेषता आ जाती है। यदि समग्र भेद से शब्द में कोई विशेषता न मानी जाय सन्निधानमात्र के शब्द होने से अर्थ भी अशब्द मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है।^{१३} शास्त्र में लिङ्ग का उपाहरण अण प्रत्याहार का परणकारक तत्व होना है। उक्त ७।४।७ में तपरकरण लिङ्ग से परणकारक का निश्चय होता है।

शब्दान्तर सन्निधान अर्थ विनाप की अवगति दूसरे शब्द के सन्निधान से भी होता है। जैसे अजुन कातवीय रामो जामदग्न्य। कातवीय और जामदग्न्य शब्द के सन्निधान से अजुन और रामशब्द का विशेष अर्थ स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र में अश्वस्य देवतस्य 'अदम्य समशतनम्य' में अक्ष और अद्व का अर्थ शब्दान्तरसन्निधान से स्पष्ट है। भन हरि ने शब्दान्तर योग के उपाहरण में अग्नि माणवक भी बाहीक का भी उल्लेख किया है। साथ ही अवच्छेद का एक दार्शनिक पीठिका भी दी है। बुद्धि में सब

१३ पूर्व का अधरूप मसर्गोणाविशिष्टमव प्रचलन् । तस्य पदान्तरसन्निधानात् विशयो यदने । यदि हि समग्रो भेद शब्दानुपगृहीत त्वात् सन्निधानमात्रादप्यत्र अशब्दोऽथ प्रतिभयेत्—वाक्यपदीय २।३।८ हरिवृत्ति हरतलेष । (यहां की भन हरि वृत्ति का हरतलेष में पाठ में अतिव्रत मान पड़ता है।)

तरह के अथ समाविष्ट हैं उनमें से कुछ अनिर्धारण (पृष्ठाकरण) इन्द्रिया द्वारा होता है। इन्द्रिय जिसकी अभिलाषा रमती है उग ही पानी है। इन्द्रिय की भी सवाय इच्छा अथ सम्पन्न आदि के द्वारा निर्गमित होती है। किन्तु यह भी सुगम अनेक अथ का प्रत्यायन होता है जसमें अनो धावति अतन्मुमाना याता (वाचस्पतीय २।२५२ हरिवंश हस्तलेख)।

सामर्थ्य सामर्थ्य से भी अथविशेष की प्रतिपत्ति होती है।

अवहनकृतो नागो वाजिन कामु बन्धु या—इयम तिसी ने सामर्थ्य माना था। कुछ लोग यहां अथ का निदर्शन मानते हैं। कुछ अथ आचार्य सामर्थ्य का उदाहरण 'अनुत्तरा कथा' में मानते हैं। यहां पर सामर्थ्य से उदरविशेष की प्रतिपत्ति गम्य है। इसी तरह अभिरूपाय कथा देया वाक्य से सामर्थ्यवत् अभिरूपतराय कथा देया इस रूप में अथविशेष का आभास होता है। शास्त्र में भी प्रथमा निर्दिष्ट समास उपमजनम् १।२।४३ सूत्र में समास शब्द की प्रवृत्ति समासाय शास्त्र में मानी जाती है। एक विभक्ति चापूवनिपाते १।३।४४ सूत्र में जिस समास शब्द का अनुमान किया जाता है उसकी समास में प्रवृत्ति प्राथमकत्पि ही मानी जाती है। इसी तरह अन्त-काणा (विभक्त्यर्थानाम् ?) सरूपे में सामर्थ्यवत् कुछ कम और कुछ सारूप्य गहीत होते हैं।

व्यक्ति लिङ्ग की पूर्वाचार्य सज्ञा व्यक्ति है। व्यक्ति भी अथ निर्धारण में हेतु होता है उसे ग्रामस्याध लभते इस वाक्य में अध शब्द नपुमकलिंग में है। नपुसकलिंग वाले अध शब्द का अथ समप्रविभाग है। अतः लिङ्ग के बल से यहां ग्राम का आधा अथ स्फुट हो जाता है। पद्म पद्म में भी लिङ्गभेद से अथभेद है।

स्वर स्वर भी अथविशेष का ज्ञान करा देते हैं। स्थूलपृषतीयालभेत वाक्य में अतोदात्त स्वर के श्रवण होने के कारण स्थूला चासी पृषती के इस रूप में अथ की प्रतीति होती है। पूर्वपदप्रकृतिस्वर यदि दिखलाई तो 'स्थूलानि पृषति यस्याम्' इस रूप में अथ पदार्थ की प्रतीति होती है। इसी तरह विपाशा के उत्तर के रूप में विशिष्ट अथ की प्रतीति होती है और अन्तोदात्त के श्रवण पर विपाशा नन्ते के दक्षिण के रूप की प्रतीति होती है।^{१४}

आदि पद से सत्त्व गत्व आदि भी लिए जाते हैं। ये भी अथविशेष के परिचय में सहायक होते हैं सुसिक्कम अतिस्तुतम शब्दों में सु और अति कमप्रवचनीय हैं और पूजा तथा अतिक्रमण के अर्थ में हैं। उपसर्ग न होने से और कमप्रवचनीय होने से वे अपने कमप्रवचनीय वाले अर्थ के द्योतक हैं। सुपिक्कम, सुष्टुतम् शब्दों में सु उपसर्ग है इसलिए वे का मूढय आने हैं और अर्थान्तर की उपलब्धि होती है। न और न के विधान भी अथ-परिच्छेद में सहायक होते हैं। प्रनायक और प्रणायक के अर्थ में भेद है। प्रनायक का अर्थ होता है वह देव जिससे नायक चला गया हो। प्रणा

१४ गौतम रूप (गुप्त द्वारा निर्मित रूप) में अथविशेष पर ध्यान दिलाना पाणिनि की महती प्रशंसा मानी जाती है। महती मूढमक्षिका वनत सकारण्य—वाशिका ६।२।७४

यक शब्द से प्रणयन किया के कर्ता की प्रतीति होती है।

नागेश ने वक्तवाद्ब्यवशिष्ट्य प्रतिभादि को भी अथ निणय म सहायक माना है (मञ्जूषापृ० ११२)। ५

सदेह क निराकरण के लिए अथवा नियत अथ के परिचय के लिए उपयुक्त प्रकरण आदि काम में लाए जाते हैं।

भेद पक्ष में भी भिन्न भिन्न अथ के होते हुए भी सादृश्य से अभेद की दृष्टि में प्रकरण आदि का सहारा लिया जाता है। जो लोग गद्द का अथ के साथ नित्य सम्बन्ध मानते हैं उनके लिए भी अथ प्रकरण लिङ्ग आदि के बल से सदेह निवारण पूर्वक अथ की अभिव्यक्ति प्रतिपत्ता को होती है। अर्थात्तर में सम्बद्ध का अर्थात्तर में सम्बन्ध देखा जाता है।

येषां रूप येषां नित्यसम्बन्ध लोके व्यवस्थिता इति दशान तेषामथ प्रकरणादिभिः सिद्धिमात्रेणास्त प्रतिपत्तार प्रति प्रकाशयते। न त्वेकस्य शब्दस्यार्थात्तरयोर्नित्वानन्तर्यात्तरे सत्क्रातिरिति।^{१५}

जहाँ नाम पद और आख्यात पद सदृश होते हैं वहाँ भी सदेह निवारण के लिए प्रकरण आदि की अपेक्षा होती है। केवल स्वरूप के आधार पर कार्यन्तर निबन्धन (कार्योत्साहनिबन्धन) सदृश शब्दों का अथ निणय नहीं हो सकता।

नामाख्यातसरूपा मे कार्योत्साह (कार्योत्साह)निबन्धना।

गद्दवाच्याश्च तेष्वर्थो न रूपादधिगम्यते ॥^{१६}

जैसे अश्व और अश्व शब्द हैं। इनमें एक अश्व शब्द नाम शब्द है। दूसरा अश्व शब्द दुर्गादि घातु के लड़ लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। इसी तरह से अजापय अजापय शब्द है। एक अजापय शब्द वक्री के दूध के लिए नाम शब्द है दूसरा अजापय शब्द जि जय घातु से अजेय के जितने वाले प्रेरक की अथविवक्षा में किसी तरह निष्पन्न होता है। यहाँ सादृश्य से सदेह होने पर प्रकरण के आधार पर अथ निणय किया जाता है। आख्यात सरूप भी नामपद होते हैं। तेन तेन। तेन शब्द तेन विस्तार घातु के लिट लकार मध्यमपुरुष का एकवचन का रूप है। तेन सबनाम भी है। तस्य और यस्य की भी कुछ ऐसी कहानी व्याकरण बताते हैं। भत हरि न नाम और आख्यात के सामान्य निर्देशक शब्दों की एक छोटी सूची दे दी है। घातम घातम। अरण अरण। श्याम श्याम। अस्या अस्या। आचितम आचितम। अश्व अश्व। सम सम। हाल हाल। दुहिता दुहिता।

ऐसे शब्दों में जिनकी स्वरूपनिबन्धना प्रवृत्ति होती है उनके लिए अथ प्रकरण आदि के बल से प्रविभागकल्पना की जाती है।

१५ वाक्यपदीय १.३२६१ हरिवृत्ति हृत्तनेस

१६ वाक्यपदीय २.३२०

१७ पदाधारणोपायान् बहुनिर्द्धारित सूर्य।

क्रमन्यूनानिर्दिक्त च स्वर वाक्य स्मृति युति ॥

पद अवधारण के उपाय

वाक्य की भाँति पद अवधारण के भी कुछ उपाय सोच लिए गये थे। कुमारिल ने उनमें क्रम-यून, अतिरिक्त, स्वर, वाक्य स्मृति और श्रुति का उल्लेख किया है।^{१०}

क्रम भेद से पद भेद होता है। जैसे रस और सर म वणसाम्म है किंतु वणों के क्रम में भेद होने से रस और सर भिन्न भिन्न पद हैं। इसी तरह राजा और जार में क्रमभेद पद अवधारण का उपाय है। कर और करज, गौ और गोमान् म वणों का 'यून और अतिरिक्त भाव अवधारक' है। इन्द्रशत्रु में स्वर के आधार पर तत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि रूप में निणय किया जाता है। वाक्य भी पदावधारण में सहायक होता है। वाक्य से यहाँ अभिप्राय पदांतर समभिव्याहार से है। 'सा रङ्गमागता नतकी' में रंग के समभिव्याहार से मा का अवधारण नतकी से होता है। 'पचते दहि' इस वाक्य में पचते क्रिया न होकर नाम है। इसका निणय अथ पद के समभिव्याहार से हो जाता है। अश्व गच्छति में अश्व शब्द नामपद है, क्रियापद नहीं है। मनुष्यत्व के समान होत हुए भी 'सोम शर्मा का पुत्र आ रहा है' इस वाक्य से ब्राह्मणत्व की स्मृति जगती है। ऐसी स्मृति भी अवधारण में सहायक होती है। उदभिदा यजेत जैसे स्थला में उदभिन्ति अथवा उदभेदयति इस रूप में सदेह होने पर उदभिदा में तृतीया विभक्ति के आधार पर भावनाकरणक यज् के साथ सामानाधिकरण्य के सहारे उदभेदयति (प्रकाशक) के रूप में निणय किया जाता है। यह श्रुति है। अथवा परमे व्योमन जमे स्थला में श्रुति से पदावधारण माना जाता है।

किसी आचार्य ने अवधारण को कुछ और व्यापक आधार दिया है। उनके मतमें व्याकरण, उपमान कोश, आप्तवाक्य व्यवहार वाक्य शेष विवृति और सिद्ध पद का सान्निध्य—ये आठ गृहीत हैं

नक्षितग्रह व्याकरणोपमान कोपाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य नेपाद विवृतेवदति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा ।^{११}

वृत्ति-विचार

पाणिनि न समय को पदविधि माना है। पतञ्जलि न पदविधि के भीतर तीन विषयों को समेटा है—समास विभक्ति विधान और पराङ्गवदभाव।

समास पदविधि है। क्योंकि परिनिष्पन्न शब्दों के विधि स उसका सम्बन्ध है। समास सज्ञा भी है। समुदाय (सनी) भी समास है। समास का मूल आधार विग्रह वाक्य है। जो विग्रह भी हो और वाक्य भी हो उसे विग्रह वाक्य कहा जाता है अथवा विशेष रूप में ग्रहण को विग्रह माना जाता है। विग्रहाय वाक्य विग्रह वाक्य कहलाता है।

विग्रहञ्च तद वाक्यञ्चेति विग्रहवाक्यम्। अथवा विशेषण ग्रहण विग्रह।

विग्रहाय पदवाक्य तद विग्रहवाक्यम्। विग्रहवाक्यस्यार्थो विग्रहवाक्यार्थः।

यास २।१।१

सामान्यविहित विभक्तियों का कमणि द्वितीया २।३।२ आदि के द्वारा जा नियम किया जाता है उसे विभक्ति विधान कहा जाता है। इसी तरह ये पदविधि कहलाते हैं। यद्यपि एकवाक्यता के आश्रय से विभक्तियों का विधान होना है फिर भी पदान्तर सम्बन्ध से जिन विभक्तियों का विधान होता है उनके आश्रय से भी पद विधि रहता है। इसी आधार पर निरपि पद विशिष्टपि पद कहा जाता है। विभक्ति से अवच्छिन्न होने के कारण विशिष्टविधानकम सामान्यविधानक्रिया का होता है। जैसा कि कहा जाता है

सामान्यपुणेरवयवपुण्यि कर्मेति।

पराङ्गवदभाव तादात्म्यातिदेश का दूसरा नाम है। तत्तन् स्वभावता का नाम तादात्म्य है। सुवर्त का आमन्त्रित म अनुप्रवर्त को पाणिनि ने पराङ्गवत् माना है। मद्राणा राजन आदि में भी पराङ्गवदभाव है।

उपयुक्त तीनों पदविधि कहलाते हैं। नागश न पद-संपादक सभी विधि को पदविधि माना है

केचित्तु पदोद्देशक पदस्वसंपादको वा सर्वोपि पदसम्बन्धित्वात् पदविधिरवेति वदति।

—महामाष्यप्रदीपाद्योत २।१।१

इस तरह समय पत्रों के अंतर्गत गणितज्ञों के अंतर्गत गणितज्ञों के विभिन्न विधियों को पढ़ाया जा सकता है। जैसे भीतर गणित गणित पढ़ाया जा सकता है। यह विधि सभ्यता से भी पढ़ाया जाता है। गणित के अभिप्राय का नाम गणित है (परासीमिधान यति — महामाध्य २।१।१)। दूसरे शब्दों में जो समय होता है उसका जहां गणितार से अभिप्राय हो, वह यति है।

वृत्तिविचार सम्बन्धी वातिवकार के कुछ विचार

पाणिनि व समथ पत्रिधि २१११ मूत्र पर निहार करत हूय या निवहार
न एकार्यभाव और व्यापका वा सिद्धान्त स्थिर चिन्ता है ।

पयगर्धानामेकार्योभाय समर्थयचनम २/१/१—१ ।

परस्पर श्यपेक्षा सामग्यमेवे २/१/१—४ ।

एकार्थीभाव उस बात को कहत है जहा पर प्रधान अथ व लिंग अपन अथ का गौण बना लत है अथवा छोड दते है और इस तरह व्यय हा जान है या अथ अथ की अभिव्यक्ति करत है । व्यपभावाद म यह माना जाता है कि पद परस्पर साक्षात् होत है । उनम एक दूसरे की आकाशा रहती है

यत्र पदार्थसंज्ञानोभूतस्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रयत्नार्थोपादानाद
व्यर्थानि अर्थांतराभिधानीनि वा स एकार्थोभावः । परस्परकाभावा
व्यपेक्षाः ।
—महाभाष्यप्रदीप २/१/१

—महाभाष्यप्रदीप २/१/१

वातिककार ने पथक पथक अथ वाले पदा के एकार्योभाव होने को समझ माना है। वाक्य में (विप्रह्वानय म) पत् पथक पथक अथ वान होत है जस, राज पुष्प । यहा राज शब्द राजाध का ही अर्थ करता है, पुष्प शब्द पुष्प के ही अर्थ का प्रकट करता है । वत्ति (समाप्त) म पद एकाधिक होते है । जस राजपुष्प म राज शब्द भी पुष्प के ही अर्थ का कहता है इस तरह दोनो पदा का एकार्योभाव होता है । अथवा अवयवाध स युक्त समुदायाध अर्थ ही प्रकट होता है । इस दृष्टि से एकार्योभाव कहते हैं । जैसे जल और धूल मिल कर एक हो गय रहत है वसी एकार्योभाव म पदार्थ एक स हो गए रहते है । वाक्य म पदा में पथगथता होत हुए भी पदा के आकाक्षा योग्यता वग विनोपणविनोप्यभाववग विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति होती है । वत्ति म भी विशिष्ट अर्थ भासित होना है । इससे यह नही कहा जा सकता कि वत्ति और वानय म नितांत एकाधता है । जिस तरह से ब्राह्मणाना शत भोज्यताम और शत ब्राह्मणा भाग्यन्ताम इन दोनो वाक्या स व्यवहारगत काय म कोई भेद नही है—सी ब्राह्मण खिलाय जात हैं परन्तु शताध भि न भि न है । वाक्य और वत्ति में भी यही बात है ।

एकार्थीभावकृत विनेयता के लिए दो वाक्य महाभाष्य में हैं जो कात्यायन के नहीं जान पड़त परन्तु भाष्यकार ने उनको 'यारया वातिक' की तरह की है। वे हैं—

१—सुयलापो व्यवधान यथेष्टम यतरेणाभिसम्बन्ध स्वर ।

२—सख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमपसजनविशेषण च योगः ॥

अर्थात् विग्रह वाक्य म विभक्ति का लोप नहीं होता । परन्तु समास म सुप

विभक्ति का लोप होता है। जस राज पुंस्व इस वाक्य में राजन् शब्द के आगे की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। परन्तु राजपुरुष इस समास में विभक्ति का लोप हो गया है। पर कुछ ऐसे भी समास होते हैं जिनमें विभक्ति का लोप नहीं होता। जस चर्पासुज (इन्द्रगोप), गोपुचर (कुक्कुट)।

वाक्य में उसके बीच में दूसरा शब्द डाला जा सकता है। जस राज पुरुष को राज ऋद्धस्य पुरुष कह सकते हैं। परन्तु समस्त पद के बीच में कोई शब्द नहीं डाल सकते।

वाक्य के शब्दों को हम जैसे चाहें कम बदल कर रख सकते हैं। जस राज पुरुष का हम पुरुष राज ऐसा भी कह सकते हैं। परन्तु समास में कम निश्चित रहता है। राजपुरुष ही कहेंगे राजासम्बन्धी पुरुष के अर्थ में पुरुषराज नहीं कह सकते।

कभी-कभी समास में भी प्रयोग अनियमित रहता है। जस जातपुत्र और पुन जात दोनों तरह से कहते हैं।

वाक्य में प्रत्येक पद का अलग अलग स्वर (उदात्त) होता है। जस राज पुरुष इसमें राज और पुरुष दोनों में आदि उदात्तस्वर है। परन्तु समस्त पद में एक ही उदात्तस्वर होता है जैसे राजपुरुष में अतोदात्त स्वर है।

कभी-कभी वाक्य में भी एक स्वर दिखाई देता है जस तीक्ष्णेन परशुना वदचन इस वाक्य में है। और तब प्रत्ययात्त वाला एक पद भी दो उदात्तस्वर वाला होता है। जस कतवे एतव आदि।

वाक्य में सख्या विधेय का ज्ञान रहता है जैसे राज पुंस्व राजो पुरुष राजा पुरुष इनमें एकत्व द्वित्व और बहुत्व स्पष्ट ज्ञान पड़ता है। समास में सख्या का ठीक ज्ञान नहीं होता। राजपुंस्व में एकत्व द्वित्व बहुत्व सब छिपे हैं।

कभी-कभी विधेय स्थला में समास में भी सख्या की प्रतीति होती है जस— द्विपुत्र, पचपुत्र, मासजात। मासजात में एकत्वसख्या का ज्ञान होता है। द्विपुत्र आदि में सख्या का ज्ञान द्वि शब्द से होता है।

वाक्य में लिंगविधेय का स्पष्ट ज्ञान रहता है। परन्तु समास में उतना स्पष्ट नहीं होता। कुक्कुटया अण्डम, कुक्कुटस्याण्डम दोनों के लिए समास में कुक्कुटाण्डम कहेंगे। ऐसे ही मृगमासम मगी और मग दाना के मांस के लिए।

कभी-कभी वाक्य में भी लिंग की अविवक्षा देखी जाती है जस, छागस्य मासम् छाग और छागी दोनों के लिए व्यवहृत।

वाक्य में कथन अपेक्षाकृत स्पष्ट रहता है। समास में उतना स्पष्ट नहीं होता। जैसे ब्राह्मणस्य कम्बल तिष्ठति। इसका अर्थ स्पष्ट है। परन्तु यदि ब्राह्मणकम्बल तिष्ठति ऐसा कह तो यह सन्देह होता है कि ब्राह्मणकम्बल यह नाम है अथवा ब्राह्मण का कम्बल यह अर्थ है।

कभी-कभी समास में वाक्य की अर्थ या स्पष्टता अधिक होती है। जस अन्न पानो देवतस्य की अर्थ या अन्नपानु देवतस्य अधिक स्पष्ट है।

वाच्य म प्रत्येक पं प्रपत्ता विनियोग साथ रण मर्यादा है परन्तु समास म प्रत्येक पं प्रपत्ता विनियोग साथ नहीं रण मर्यादा । अद्वय्य रण पुन्य रहता है परन्तु इसी मय म अद्वय्य रणपुन्य रणता नहीं हो सारता ।

कभी-कभी समस्त पं भी विनियोग रणत है जस दयन्तास्य गुणुनम् देव दत्तस्य गुणुन देवन्तस्य दागभार्या प्राप्ति । परन्तु गुणुन दागभार्या जग शब्द मय धिक् व्यवहार के कारण एक पद जग हो गय य भीर इनका समस्त रण प्राप्ति ना हो गया था । तभी ऐसे प्रयोग बोलने जाने सग हगि ।

वाच्य म समुच्चय द्योतक च वा व्यवहार बीच बीच म किया जाता है जस रण गौश्च भवश्च पुरुषश्च । परन्तु समास म एत तरह क सामूहिक मय की स्वत अभिव्यक्ति हो जाने के कारण च वा प्रयोग बीच म नहीं किया जाता । जस रण गवाश्चपुरुषा ।

इन विनियोगतामा के प्रसंग म भाष्यकार न दाय । द्वारा मय का अभिधान स्वाभाविक है मयवा वाचनिक है क साथ साथ जहत्स्वार्थावति, भजहत्स्वार्थावति प्रादि पर भी विचार किया है जिससे दूगर दान भी प्रभावित हैं ।

यदि वृत्ति म एकार्थीभाव नहीं स्वीकार किया जायगा तो वाक्य की तरह इसम भी सख्याविनियोग की प्रतिपत्ति विशेषणयोग प्रादि के रोकने के लिए उपाय करने पडेंगे । शब्द का स्वाभाविक रूप कभी नित्यदशन के आधार पर समभा जाता है कभी कायदशन के आधार पर बहुवोधनाथ उपस्थित किया जाता है । कायपक्ष म अनेक साधारण बातों के लिए नियम बनाने पडत हैं । उदाहरण के लिए जैसा कि कथट ने लिखा है, निष्कौणाम्बि, गौरय, घतघट, गुडधाना, केचूड सुवर्णालिकार, द्विदशा सप्तपण गौरखर प्रादि के लिये भ्रमरा भ्रान्त, युक्त पूण, मिश्र, सधाविकार सुचप्रत्ययलोप वीप्सा और जातिविशेषाभिधायित्व नियम से प्रतिपाद्य हैं । नित्यदान पक्ष म ये सब विशेषताएँ एकार्थीभावकृत मान ली जाती हैं । इनके लिए विनियोग सूत्र की आवश्यकता नहीं है । इसके अतिरिक्त वातिककार ने व्यपे तापक्ष मे दोष निम्नलिखित वातिकों द्वारा भी व्यक्त किया है

तत्र नानाकारकान्निघात पुष्पदस्मदादेशप्रतिषेध २।१।१—५, प्रचये समास प्रतिषेध २।१।१—६

अव्ययीभाव प्रकरण म २।१।१० सूत्र पर कितव्यव्यवहारे च २।१।१० १ वातिक वातिककार के लोक ज्ञान का भी द्योतक है । खलेयवादीनि प्रथमान्ताययपदार्थे २।१।१७ २ भी वातिककार के लोक ज्ञान के साथ लोक जीवन से ली गई गदावली के चयन को स्पष्ट कर देता है । खलेयवम खलबुसम् लूनयवम प्रादि का प्रथमान्त ही प्रयोग होता है (अयतिरिक्त एव प्रातिपदिकार्थे एषा प्रयोग कतय नायत्र—महाभाष्यप्रदीप २।२।१७)

दुसोपध्य घनघात्य पादहारक और गनचोपक इन लोक-जीवन सबधी गता की सिद्धि के लिए वातिककार न वातिक लिखे हैं । कृतापठतम भुक्तविभुक्तम, पीतविपीतम गतप्रत्यागतम यातानुयातम् पुटापुटिका, नयाश्रयिका फलाफलिका,

माना मानिका—य व्यवहारसिद्ध शब्द वातिककार द्वारा सग्रहीत और प्रतिपादित है।

वर्णोवर्णेन २।१।६६ क ता वातिक इष्टि मान जाते हैं। व हैं—

(१) समानाधिकरणसमासात् बहुव्रीहि कदाचित् कमधारय सवध नाद्यथ ।

(२) पूर्वपदातिगये आतिगायिकाद बहुव्रीहि सूक्ष्मवस्त्रतराद्यथ ।

पहले क लिए कयट न इष्टि शब्द का प्रयोग किया है (वातिककारेणोष्टिरूपेण

पठितम्—महाभाष्यप्रदीप २।१।६६) और दूसरे का भाष्यकार न इष्टि माना है।

उष्टिया पर अथत्र विचार किया गया है। इच्छाप्रदर्शक वाक्य का इष्टि कहत हैं।^१

इससे सवधनी सवधीत्री सवकी (नट), गौरखप्रदरप्यम कृष्णसपवान बल्मीक

लाहिनातिमान ग्राम सूक्ष्मवस्त्रतर तीक्ष्ण शृंगतर बह्नाढ्यतर बहुभुजुमारतर

य शब्द मिद्ध होत है। यहा उपसत्यात् वातिक द्वारा शकपाथिव कुतपसीश्रुत

अजातोल्बलि यष्टिमौदगल्य—य शकपाथिवादिगण क शब्द साधित है।

२।२।३ पर वातिक है—द्वितीयादीना विभाषा प्रकरणे विभाषा वचन ज्ञापकम-
वयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य २।२।३-१ अवयवविधि म सामान्यविधि नहीं
होती है। कयट ने अवयवविधान की परिभाषा या दी है

सामान्याश्रयसमूहापेक्षया प्रतिनियतो विशेष एकदेशो भवतीति विशेषविषय
विधानम अवयवविधानशब्देनोच्यते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।३

भिन्नति म शनम क यान् शनम नहीं होता यह ज्ञापन का फल है। यह वातिक-
कार के मत से है। वस्तुतः वाध्यवाध्यकभाव विरोध से होता है अथवा एकफल से
होता है। यहा भिन्न दश होने क कारण विरोध नहीं है विकरणा के अनर्थक हानि के
कारण एकफल का भी अभाव है। किन्तु वातिककार विरोध के अभाव म वाध्यवाधक
नहीं मानते हैं। जैसा कि उनके शनम बहुजकम् नानादेशत्वादुत्सर्गप्रतिषेध २।३।१ २
वातिक से स्पष्ट है। भाष्यकार बिना विरोध के भी सामान्य विशेषविधि म वाध्य
वाधकभाव मानत है।

पष्ठा क प्रसंग म कात्यायन ने प्रतिपदविधाना और कृद्योगा का उल्लेख
किया है। प्रतिपदविधाना पष्ठी के साथ समास वातिककार के अनुसार नहीं होता
किन्तु कृद्योगा क साथ हाता है। प्रतिपदविधाना और कृद्यागा का अर्थ कयट ने या
दिया है

साक्षात् धातुकारकविशेषोपादानेन विधानात् प्रतिपदविधानेत्यथ । कृत
शब्दोपादानेन तु या विहिता सव कृद्योगोच्यते ।

—महाभाष्यप्रदीप २।२।८

पत्रत सर्पिषो ज्ञानम म पष्ठीसमास नहीं होता परन्तु इक्ष्मप्रश्चन पलाशज्ञानम म

१ मनेरनादी मन्त्रमे विभाषावद्विरिष्यत इत्यादिनि इच्छाप्रदर्शकवाक्यानि इष्ट्य —शाय श्रीकृष्ण,
पञ्चविंशकविकरण हस्तलेख, पृ० १२ (लेखक का मध्यह)

[होता है ।

तत्स्थश्च गुण २।२।८ २ वातिक द्वारा तत्स्थ गुणों के साथ पष्ठी समास का विधान कायायन न माना है । किन्तु गुणबोधक शब्दों के विशेषण के साथ नहीं माना है । तत्स्थ गुण से अभिप्राय उस गुण से है जो द्रव्य में अलग स्वतंत्र रूप में व्यवहृत होता है द्रव्य के उपरजन्म के रूप में नहीं । जैसे चन्दनस्य गन्ध चन्दनगन्ध । कपित्थस्य रस कपित्थरस । इन उदाहरणों में गुण और गुणी में वयधिकरण्य है, सामानाधिकरण्य नहीं है । अर्थात् हम सदा चन्दनस्य गन्ध ऐसा ही कहते हैं चन्दन गन्ध ऐसा नहीं कहते । यद्यपि गुण के द्रव्याश्रित होने के कारण पूर्णरूप से उसका अपने आप में अवस्थान (तत्स्थभाव) नहीं संभव है फिर भी द्रव्य के उपरजन्म के रूप में व्यवहृत न होकर जहाँ वह प्रधानरूप से व्यवहृत होता है वहाँ द्रव्य से पृथक् सत्ता रखता हुआ सा जान पड़ता है और इस दृष्टि से ही वह तत्स्थ कहा जाता है । वाक्यस्य काष्ण्यमपि यद्यपि गुण तत्स्थ है फिर भी गुक्ल पट आदि में गुण गुणी में अभेद मानने से द्रव्य का उपरजन्म भी होता है । गुक्ल गन्ध के द्रव्य के अर्थ में व्यक्त होने पर ही उससे भाव में प्रत्यय होता है । अतः वह गुक्ल गुण तत्स्थ नहीं है । यद्यपि गुक्ल और शौक्ल्य में भेद है फिर भी अर्थ की दृष्टि से तत्स्थता मानी जाती है । शब्द में भेद होत हुए भी अर्थ में भेद न होने के कारण गुक्ल गुण में तत्स्थता नहीं है । रूपवान् पट जस स्थला में मत्वर्थीय प्रत्यय के भेद के द्योतक होने के कारण गुण गुणी में अभेद का आरोप नहीं होता । फलतः रूप में तत्स्थत्व रह जाता है और समास होकर पटरूप में प्रयोग बनता है ।

किन्तु वातिककार के अनुसार गुणबोधक गन्त के विशेषण के साथ पष्ठी तत्पुरुष समास नहीं होता । जस घतस्य तीव्रगन्ध । चन्दनस्य मृदुगन्ध । इन वाक्यों में तीव्र और मृदु गन्ध के विवेचन हैं । इसलिए इनके साथ समास नहीं हुआ है । यद्यपि घत का सम्बन्ध गन्ध से है न कि तीव्र या मृदु से । अतः असामर्थ्य के कारण इन गन्तों के समास की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिए परन्तु प्रकरणवाक्य कभी-कभी तीव्र गन्ध भी तीव्रगन्ध का बोधक हो जाता है । उस अवस्था में समास की प्राप्ति हो सकती है । तत्स्थ कायायन ने 'न तु तद्विशेषणं कर्त्तव्यं' उक्त निषेध किया है ।

२।२।२४ सूत्र पर सामान्याभिधान विधानाभिधानम् २।२।२४ ६ और विम कथयामिधानं द्रव्यस्य लिङ्गस्योपचारानुपपत्ति २।२।२४ ७ वातिककार के दार्शनिक विवेचन गन्तों का स्पष्ट करत हैं । उच्चमुष्ण उष्णमुष्ण कण्ठप्रण अभ्याय जस गन्त । के समास पर अभिधान और अनभिधान ताना दृष्टियाँ वातिककार ने विचार किया है ।

चार्यदेव २/२/२६ पर के वातिका में वातिककार का युगपदधिकरणतावाक्य लक्षणनाम है । ग्रहणयमानो गामय पुरुष पशुम म दृढ के अभाव के लिए वातिककार ने कहा है—सिद्धं तु युगपदधिकरणवचने द्वैवचनात् २/२/२८ १ । एक एक गन्त में एक साथ जत्र समुदाय अनिषेध गन्ता है दृढ गन्ता है । इसी का युगपदधिकरणतावाक्य कहते हैं । गाम भन्त आदि वाक्य में पशु परस्पर निरपेक्ष है । व स्यनत्र स्थ म

भिन्न भिन्न शब्दों से प्रत्याप्य हैं। अतः युगपदधिकरणता के न हान से द्व द्व समास कहा नहीं जाता है। इस तरह सहविवक्षा में द्व द्व होता है। अभिधानक्रम से अभिधेय क्रम अवश्यभावी होता है परंतु इससे युगपदधिकरणतावाद का प्रत्याख्यान नहीं होता। प्लथ-यग्रोधो ध्वगतिरपलागा जसं स्थिता मयग्रोधाय की प्रतिपत्ति के समय प्लथाय का अनुभूति न हो पलागाय की प्रतिपत्ति के काल में यदि ध्व आदि के अर्थ का आभास न हो तो यग्रोध और पलागा शब्दों में एकाधना आ जाय। फलतः उनसे द्विवचन और बहुवचन न हो सकेंगे। अतः द्विवचन और बहुवचन की अर्थानुपपत्ति के कारण एक एक शब्द भी अनकाय है ऐसा अनुमान करते हैं और इस अनुमान से युगपदवाचिता का निश्चय होता है। अतः वार्तिककार ने कहा

शब्दपौर्वण्यप्रयोगादयपौर्वण्यभिधानमिति चेद द्विवचनबहुवचनानुपपत्तिः ।

—२/२/२६५

समुदाय का उदभूतावयवभेद मानकर समुदायाश्रय एकवचन हो जायगा ऐसा भी नहीं कह सकते। माहचय अर्थात्तर अभिधान में हनु होता है। प्रथरण विस्तार से अवस्थान जैसे प्लथ में है वैसे यग्रोध में भी है उसका वह स्वाथ ही है—कारणाद ब्रह्मे शब्दनिवेग इति चेत् तुल्यकारणत्वात् सिद्धम्—२/२/२६ १०। इस तरह से अनिप्रसंग नहीं होगा। वक्ति के विषय में शब्दों के शक्ति वैचित्र्य से अर्थात्तर अभिधान होता है सबन नहीं होता। इतरेतर सनिधान से परस्पर में एक शक्ति का आविभाव होता है और इसलिए परस्पराभिधान भी शब्दों का नियतविषय ही होता है। अभिधान स्वाभाविक होता है। इस तरह कई वार्तिका द्वारा कात्यायन ने युगपद अधिकरणतावाद की पुष्टि की है। भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह चाद कठिन और दुस्माध्य है

इयं युगपदधिकरणवचनता नाम दुःखा च दुरुपपादा च ।

—महाभाष्य २/२/२६, भाग—१ पृष्ठ ४२४ कीलहान सम्करण ।

चाथ में च से समुच्चय, अवाचय इतरतरयोग और समाहार—दोन सब का ग्रहण होता है।

वागिका के अनुसार अनेक क्रियाध्याहार समुच्चय है। अनेक क्रियाओं की चीयमानता समुच्चय है। समभिहार और समुच्चय में भेद यह है कि समभिहार तीन पुंय या भगाथ होता है किंतु वह एक ही क्रिया का होता है जब कि समुच्चय अनेक क्रियाओं का होता है। वासकार के अनुसार समुच्चय समुच्चय है। किसी एक साधन अथवा किसी एक क्रिया के प्रति अनेक साधनों अथवा क्रियाओं का अपन स्व रूपभेद के साथ चीयमानता या अनेकता समुच्चय है और वह तुल्यवत्ता का तथा अनियत प्रयोगपद्धति का होता है। कयट के अनुसार परस्पर निरपेक्ष पन्था जत्र च द्वारा क्रिया में जाड़ जाने हैं तब च का अर्थ समुच्चय होता है। भट्टाजिदीप्ति के अनुसार परस्पर निरपेक्ष अनेकता का किसी एक सम्बन्धी में अवयव समुच्चय कहलाता है। अहरह नयमानों गामश्व पुंय पणु में एक ही नयने क्रिया में गो अश्व आदि

सत्रका समुच्चय है ।^१ पुण्यराज के अनुसार अविराधी तुल्यबल वाला का समुच्चय होता है जिस दवदत्त भोजय, लवणन, सर्पिषा शाकन च ।^२

जब एक की प्रधानता होती है और दूसरे की आनुपगिता होती है तब अवाच्य होता है । जैसे भिन्नामट गा चानय ।

इतरतरयोग परस्परसापेक्ष अन्का का एक अथ म समवय स होता है । मिलिता का अ वय इतरतरयोग है । जैसे देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिद काय क्तव्यम् । दवत्त और यनदत्त दोनों उस काय के प्रति परस्पर सापेक्ष है, क्योंकि उनमें से एक का भी न रहने पर काम नहीं किया जाता है ।

समाहार समुच्चय का ही एक भेद है । इसमें भी परस्पर सापेक्षता होती है किन्तु अवयवभेद तिरोहित रहते हैं और सहसि प्रधान होती है । जैसे छत्रोपानहम् । किसी क्रिया में दोनों की परस्पर सापेक्षता है सहसिप्रधान होने का कारण एकवचन है । समूह भी समाहार कहा जाता है । इसकी उत्पत्ति कथट आदि न अनेक प्रकार से की है जस

समाहरण समाहार समाह्वित इति समाहार समाह्वयमाणाय समाहार (महाभाष्यप्रदीप २।१।२०) । समन्यायीकरण समाहार ।

—महाभाष्य २/१/५१

समाहारो ऽि समूह । स च भिन्नार्थानामेवकालानां भवति । बुद्ध्या युगपदर्यानां परिग्रहादेवकालत्वम् ।

—यास २/१/५१

सामान्य और विगण का समुच्चय नहीं होता । सामान्य और विशेष का द्वन्द्व समास नहीं होता । इसमें कारण अनभिधान है । लोकमें वक्षधवम् ऐसा नहीं कहते । धव गत् स ही वक्ष गत् का अर्थ अवगत हो जाता है । गोबलीवत् जस गत् म गा गत् की वृत्ति स्त्रीगवी में समझनी चाहिए । इस तरह ये दोनों सत् विरूपवाची हो जाते हैं ।

विगेषण विगेष्यभाव—वातिकारण विगेषण विगेष्यभाव पर विगेष प्रभाव डालना ^३ विगेषण विगेष्ययोर्हमयविगेषणत्वादुभयोश्च विगेष्यत्वादुपसजनाप्रसिद्धि २।१।४७—१ । वातिक में विगेषण विगेष्य में दाना के विगेषण और दाना के विगेष्य हान की संभावना व्यक्त की गई है । कृष्णनिन गत् म कृष्ण गत् तिलगत् म जुट कर विगेषण हाना है । निन गत् का रगा के तिन का बाधक है । कृष्ण गत् तिल के अर्थ रगा में उसका परिच्छेद कर कवन कृष्णरग में उस सीमित करता है । अतः कृष्णनिन गत् में परिच्छेदक हान के कारण कृष्ण गत् विगेषण और परिच्छेद हान के कारण तिन गत् विगेष्य है । वही तरह कृष्णतिल गत् में कवन कृष्ण गत् के उच्चारण में भ्रमर काचित् आदि कृष्णद्रव्या का बाध हाना है । निन गत् के सात्वय

^१ शब्दकु १।१०४

^२ पुण्यराज काव्यसूत्र २।८२ ट ३।

से तिल में ही उसका नियमन हो जाता है। अतः कृष्णशब्द विशेष्य और तिल शब्द विशेषण हो जाता है। इसके समाधान में दूसरे वार्तिक में लिखा है—न वायतरस्य प्रधानभावात्तद्विशेषकत्वाच्चापरस्योपसर्जनप्रसिद्धिः २।१।५७ २। दोनों में से एक प्रधान होता है। दूसरा उसका विशेषण होता है। जब तिल की प्रधान रूप में विवक्षा होती है और कृष्ण की विशेषक रूप में, तब तिल शब्द प्रधान होता है और कृष्ण विशेषण होता है। तिल द्रव्य रूप है। क्रिया की सिद्धि में साधन उपयोगी है। इसलिए उनकी प्रधानता है। कृष्ण गुण है। वह द्रव्य के सहारे ही क्रिया में उपयोगी हो सकता है इसलिए वह तिल का विशेषण हो जाता है। गुण और द्रव्य में द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। यहाँ यह कहा जाता है कि तिल शब्द जातिवाची है न कि द्रव्यवाची। यदि जातिविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण उस द्रव्यवाची मानत है तो कृष्ण शब्द भी गुणविशिष्ट द्रव्यवाची होने के कारण द्रव्यवाची है। इस तरह इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। इसके समाधान में कहा जाता है कि उत्पत्ति से लेकर नाश पर्यन्त जाति द्रव्य को नहीं छोड़ती है। शब्द में जाति-व्यतिरिक्त द्रव्य का मान नहीं होता। सदा गो गावलेय ऐसा कहा जाता है न कि गावलेस्य गो। इसलिए जात्यात्मक ही द्रव्य की प्रतीति होती है अनएव जाति शब्द द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठित होता है। गुण ऐसे नहीं है। गुण उपायी और अपायी दोनों होते हैं। द्रव्य से व्यतिरिक्त रूप में भी स्व शब्द से गुण का प्रत्यायन होता है। जैसे पटस्य गुक्ल म्। इसलिए द्रव्य की गुणात्मकता नहीं है। फलतः गुण शब्द को द्रव्यवाची के रूप में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जहाँ दोनों प्रधान शब्द एक अर्थ के लिए एक साथ प्रयुक्त होते हैं उनमें विशेष्यविशेषणभाव कैसे होगा? वक्षः शिष्या म विशेष्यविशेषण अथवा प्रधान अप्रधान की व्यवस्था कैसे होगी? महाभाष्यकार के अनुसार इस तरह के दो शब्दों का एकत्र समावेश आवश्यक नहीं है। पहले विशेष्य शिष्या के प्रयोग से उस शब्द से वक्षः विशेष की ही उपस्थिति होती है। विशेष का सामान्य में अभिचार होने के कारण शिष्या के बाद वक्षः शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि पहले वक्षः इस रूप में सामान्य का ग्रहण हो बाद में उसकी विशेषता के लिए शिष्या शब्द का प्रयोग हो तो शिष्या शब्द विशेषण का काम करेगा और शिष्या-वक्षः ऐसा प्रयोग संभव हो सकेगा। कुछ लोग मानते हैं कि शिष्या के प्रथम उपात्त होने पर भी शिष्या फल से शिष्यावक्षः के व्यवच्छेद के लिए वक्षः शब्द का प्रयोग वक्षः को शिष्या का विशेषण बना देता है और इस तरह वक्षः शिष्या प्रयोग भी होना चाहिए। परन्तु कथं के अनुसार यह मत उपयुक्त नहीं है। वक्षः और शिष्या में वक्षः व्यापक है उसमें महाविषयता है। दूर से पहले उसी की उपलब्धि होती है अतः वक्षः शब्द ही विशेष्य है। शिष्या में स्वल्पविषयता है उसका ग्रहण बाद में होता है और वह गुक्ल आदि गुणतुल्य है। अतः वह विशेषण ही माना जायगा। गुण और द्रव्य के समभि-व्याहार में द्रव्य की प्रधानता हानी है केवल यही नियम नहीं है अपितु व्याप्य-पक्षजातिसमभिव्याहार में व्यापक विशेष्य होना है यह भी नियम है।

नञ विचार

पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया था कि अत्राह्मणमात्रय जगत् धारया त नञ म किमपत्तय की प्रधानता व्यवन होती है। यहा तीन विवरण सम्भव है। अथयप्रधान पूर्वपत्तप्रधान और उत्तरपत्तप्रधान। यदि ब्राह्मण मात्र वि वि जाति म मानी जाय और अत्राह्मण का अथ य विरिया जाय कि जियम ब्राह्मणत्व न हा। तस भविष्य आदि ता यह नञ अथ पत्तय प्रधान हागा। यदि नञ का वि वि इत्ता मामाथ म मानी जाय और अत्राह्मण मात्र का अथ विरिया जाय कि जियम ब्राह्मण न हा किन्तु ब्राह्मणेतर रूप म हा प्रधान क्षत्रिय आदि ता पूर्वपत्तयप्रधान नञ हागा। यदि ब्राह्मण मात्र का प्रयाग क्षत्रिय आदि क लिंग मिथ्यामान क कारण अथवा दुरुक्त्य क कारण हो और ब्राह्मण पदाथ की स्वाभाविकी निवृत्ति छातिता हा तज समास उत्तरपत्तयप्रधान माना जायगा।

अवर्षा हम न मात्र स न वहा अवर्षा हमत्त, वर्षादिना हमत्त है यह अथ हाता है। हम त म नीहार आदि स वमा ही दश्य उपस्थित हा जाता है जमा कि वर्षा स। य उपमानापमय भाव भी विधा हुआ है और इसक साथ अथ पत्तय का बोध हाता है। अवर्षा का अथ अविद्यमाना वर्षा वर्षात्व मस्य इस विग्रह की स्थिति म अथ पदाथ नहीं आता। ऐसा मानने पर उपसजन ह्रस्व की प्राप्ति होगी। इस लिए नञ समास उपमा को छिपाए हुए प्रक्रिया दशा म अथ पदाथ प्रधान हात है—ऐसा कुछ लागो का विचार है।

अथ विचारक अथपत्तयत्व की उपपत्ति दूसरे ढंग स करत ह। जातिपत्तय पक्ष म ब्राह्मण आदि गण्ट मुख्य रूप म व्यक्तिनिरपक्ष जाति क अभिधायक होत है द्रव्य के अभिधायक नहीं होत। नञ समास के द्वारा द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है और इस आधार पर अथ पत्तयप्रधान वह माना जाता है। अत्राह्मण गण्ट म नहीं है ब्राह्मण्य जिसम अर्थात् ब्राह्मण स अथ क्षत्रियादि का बोध होता है। ब्राह्मणत्व जाति का जहा आश्रयत्व सम्भावित है वही निषेध होता है अत्य तविजातीय म—क्षत्रिय आदि म निषेध नहा होता, फलत क्षत्रिय आदि द्रव्य ही अथ पत्तय है। ऐसा मानने पर बहुव्रीहि और नञ समास का विषयविभाग भी उपपन्न हाता है। अगरयमश्च अविद्यमाना गावा यस्यत्यगुरयमश्च—यहा बहुव्रीहि समास है। अविद्यमाना गो गोवमस्याश्वस्य सोऽयमगौरश्च इस रूप म नञ समास होगा। बहुव्रीहि समास मत्वय में हागा जबकि नञ समास उत्तरपत्तय विजातीय की स्वभावन अभिव्यक्त करगा। इस रूप म इनम त्रिपयविभाग रणगा।

यदि नञ समास का अथ पत्तय प्रधान माना जायगा अवर्षा हमत्त में हम न गण्ट क लिंग और वचन का प्राप्ति अवर्षा मात्र में भी होगी।

यदि पूर्वपत्तय प्रधान माना जायगा अथय सत्ता की प्राप्ति होगी। यदि अथय म नञ समास पाठ क अभाव म अथय सत्ता नहा भी हो लिंग और सख्या याग का उपपत्ति भा स्वाभाविक गति क आधार पर हा जायगी। मात्र शक्ति क

स्वभावज्ञान नञ विग्रह वाक्य में असत्त्व रूप अर्थ को व्यक्त करता है। अथवा आश्रय के आधार पर भी तिङ्ग योग हो जायगा। किन्तु इस पक्ष में फिर भी दोष है। यदि स्वाभाविक दान का आश्रय लिया जायगा तो नञ द्वारा आश्रयीभाव के अपवाद होने से अमलिकम आदि की सिद्धि न होगी। असवस्मै, अस आदि उपपन्न न हो सकेंगे। यदि उत्तर पन्थाय प्रधान का आश्रय लिया जायगा 'अब्राह्मणमानय' कहने से ब्राह्मणमात्र के लान की आशंका होगी। महाभाष्यकार ने नञ को निवृत्त पदाथक मानकर उपयुक्त दोष का परिहार कर उत्तरपदाय प्रधानता का समर्थन किया है। निवृत्तपदाथक का अर्थ कथक के अनुसार, पन्थाय की निवृत्ति, मुख्य ब्राह्मण्य की निवृत्ति में है। कोणभट्ट के अनुसार निवृत्तपदाथक अभावार्थक है। कथक के अनुसार स्वाभाविक निवृत्तद्वान पक्ष में नञ से पदाथ की निवृत्ति से तात्पर्य पन्थाय प्रत्यय से है। पदाथ प्रत्यय ही उपचार से पदाथ शब्द से व्यक्त किया जाता है। जिस सिंहमध्यापयेत वाक्य में सिंह शब्द से माणव्य का बोध होता है। अभिप्राय यह है कि जब केवल ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाता है, प्रसिद्धि वगैरे भुक्त ब्राह्मण अर्थ का ही प्रयायक होता है। किन्तु नञ पूर्वक प्रयोग से अब्राह्मण शब्द के व्यवहार से— ब्राह्मण शब्द की निवृत्त-पन्थायकता की प्रतीति नहीं है। प्रतिष्ठति में निष्ठति क्रिया गति का बोध कराती है किन्तु केवल तिष्ठतिस प्रस्थान न करने का बोध होता है। प्र उपसर्ग के साथ तिष्ठति के व्यवहार में ही प्रस्थान का बोध होता है। अभी तरह से नञ चेतक का काम करता है। इसके प्रयोग से पदाथ की निवृत्ति दानित होती है। पदाथ शब्द में उपचार के सहारे पदाथ प्रत्यय अवगत होता है। महाभाष्यकार ने निवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए कील प्रतिकील का उदाहरण दिया है। मान कील से छोटी कील उखाड़ ली जाती है। इसी तरह नञ के प्रयोग करने पर वह पन्थायों की निवृत्ति करती है। यदि यह निवृत्ति वाचनिकी मानी जायगी वचन न कहने से ही सत्र तरह के निषेध सम्पन्न हो जायगा। शत्रु को हराने के लिए सेना रखने की आवश्यकता न होगी। केवल न कहने से वे हट जायंगे। यदि स्वाभाविकी निवृत्ति मानी जाय तो नञ की चरितायता ही क्या होगी। इसलिए निवृत्ति तो स्वाभाविकी मानी जाती है किन्तु उसकी उपलब्धि वाचनिकी होती है। जिस दीप अंधेरे में वस्तु का निष्पन्न होता है निवृत्त नहीं। ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से ब्राह्मण पदाथ का निवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। समुदाय के लिए व्यवहृत होने वाले शब्द उसमें एक दश के लिए भी व्यवहृत हो सकते हैं। एक दश के विभाग से समुदाय की निवृत्ति भी कही जाती है और एकदश एकभाग के होने पर भी सम्पूर्ण समुदाय की सत्ता अवगत होती है। पूर्वे पचाला तल भुक्त जिस स्थला में अवयव में समुदाय के आगम से शब्द प्रवृत्ति होती है

अवयवे समुदायरूपारोपात् शब्दप्रवृत्ति विज्ञेया। न तु शब्द स्वाय परित्य-
ज्याथात्तर वक्तुम् समर्थ, न दाससम्बन्धस्यानित्यता प्रसंगान्।

—कथं महाभाष्यप्रदीप २।२।६

अब्राह्मण शब्द से निवृत्ति के अर्थ के लिए महाभाष्यकार ने गुण और जाति दोनों का सहारा लिया है। किसी विषय चिन्हा या रूप से किसी का कोई ब्राह्मण सम्-

भेदा है। यदि म उस भाग होता है वह ब्राह्मण नहीं है। यथा अथ की निवृत्ति गुण के आधार पर है। इसी तरह जाति के आधार पर प्रवृत्ति और पुनः निवृत्ति जाति परवृत्ति निवृत्ति है। एतत् स्थल पर ब्राह्मण भाग की प्रवृत्ति दृश्यमान होती है जाति के आधार पर अथ की निवृत्ति होती है। नञ के सम्प्रदाय में धर्मोक्ति की निम्नलिखित कारिका प्रसिद्ध है

सतां च न निषेधोस्ति सोऽस्तु च न विद्यते ।

जगत्पनेन चायेन नत्रथ प्रत्ययगत ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो सत है वह सत् सत है उसका निषेध नहीं हो सकता। जो असत है वह असत् है, उसका निषेध करना न करना बराबर है। और इस दृष्टि से नञ के कोई स्थान नहीं है।

नागेन ने इस आक्षेप का उत्तर बौद्ध भाग और बौद्ध अथ के आधार पर दिया है। बुद्धि में अवस्थित अथ का भी नञ के द्वारा वाच्यता के रूप में निषेध संभव है।

निवृत्ति के प्रसंग में महाभाष्य में प्रसज्यप्रतिषेध का संकेत है

प्रसज्याय त्रियाणुषौ ततः पश्चात् निवृत्तिं करोति ।^१

प्रसंग से यहाँ पयुदास भी भूलकर जाता है जसा कि कथट ने लिखा है

पयुदासे तु द्वयादिसंख्यायुक्त एवानेकगन्धस्याथ ।^२

प्रसज्य प्रतिषेध का महाभाष्यकार के मत में त्रिया और गुण के साथ संबन्ध होता है। न न एक प्रियम' न न एक सखम में गुण के साथ सम्बन्ध है। असूय पश्या' में त्रिया के साथ नञ का सम्बन्ध है। इसी तरह अनचि च ८।४।४७ में त्रिया के साथ नञ का सम्बन्ध है। प्रसज्य प्रतिषेध समस्त में भी होता है असमस्त में भी होता है। समस्त का उदाहरण अभानुभेद्य तम है असमस्त का उदाहरण गहं घटो नास्ति है। नागेन के अनुसार असमस्त रूप में प्रसज्यप्रतिषेध का अर्थ अत्यन्ताभाव है। असमस्त रूप में उसका अर्थ अयोयाभाव और अत्यन्ताभाव है। प्रागभाव और प्रध्वसाभाव नञ से द्योत्य होते हैं।

पयुदास सदशग्राही माना जाता है। निषेध की प्रतीति अथ जन्म होती है। कोई इस आक्षेपनाश के रूप में भी स्वीकार करता है। पयुदास प्रायः समस्त में ही होता है। कहीं कहीं समास के विकल्प में अममास में भी देखा जाता है।

नञ के छ अर्थ के विषय में निम्नलिखित कारिका प्रचलित है

तत्सादृश्यमभावश्च तदयत्वं तदल्पता ।

अप्राप्तस्त्य विरोधश्च नञर्थः एतः प्रकल्पिता ।^३

भोज न न नञ द्वारा उत्तरपदाय की विवेचना उत्तरपदाय द्वारा नञ के

१ महाभाष्य २।२।६

२ महाभाष्य प्रत्यापोषोत् २ । ६

३ मज्झिमा ५०, ६६८

विशेषता दोनों द्वारा अयपत्याथ की विशेषता व आधार पर नत्रय के तीन पटक दिए हैं जा निम्नलिखित हैं—

- (क) अत्यताभाव—जसे अरूपो वायु ।
 अनत्यताभाव—जसे, अनुत्परा क्या ।
 अयतराभाव—अकिंचन पुमान् ।
 तात्पर्यताभाव—अपिनाच कुडय ।
 मध्वघाभाव—अघट भूतलम् ।
 प्रध्वसाभाव—अनङ्ग काम ।

- (ख) प्रागभाव—अनुत्पन्नो घट ।
 सामर्थ्याभाव—अप्रघण्य मुभम् ।
 आवयवताभाव—अभूषित कान्त ।
 एतरेतराभाव—अवपा हमत ।
 सत्ताभाव—असत गगविषाणम् ।
 भावाभाव—अनुदभिन प्रवाल ।

- (ग) तत्ताभाव—अनय ।
 तत्ताय—अनत्रि ।
 तत्सदा—अग्राह्यण ।
 तत्विन्दु—अगित ।
 तत्पट्ट—अमनुष्य ।
 तदुत्पट्ट—अमानुष ।

नत्रय अयपत्याथ म कभी व्यवतिष्ठित होत हैं कभी सप्तवित होत हैं । अनु-
 दरा क्या अलामिका एहका आदि म व्यवतिष्ठित मान जात हैं । अनक^४ अनक,
 अजमा आदि म सप्तवित मान जात हैं ।

कुछ लाग निम्नलिखित चार को असमय समास म परिगणन मानत^५ कुछ
 इनम भी समुदाय म विभक्तिविशेष की प्रतिपत्ति लियाते हैं

- अथाद भोजी आह्यण ।
 अमूय पया राजदारा ।
 अलवणभाजी भिक्षु ।
 अपुनर्गया लावा ।

महाभाष्य म निम्नलिखित असमयसमास नत्र समास का उन्वय है जा
 समुदाय की दृष्टि म समुदाय प्रयोग हैं । किन्तु उन तिनो लाव म व्यवहृत होत थे ।

४ नागेश न अनक शब्द को असाधु माना है—एव अत्र ४ इति द्रष्टव्यमसमाचर्यते शीघ्रमिति
 मनुष्यादिभिः ।

और इसी आधार पर इसका उत्तर महाभाष्यकार ने दिया है—

अकिञ्चित् कुर्वाणम् ।

अमात्र हरमाणम् ।

अगाधान् उत्प्लुष्टम् ।

इनका शुद्ध रूप प्रमाण या है—किञ्चित् अत्राणम् मात्रम् अहरमाणम् अगाधान् अनुत्प्लुष्टम् । किन्तु लोक व्यवहार में किञ्चिद् अनुर्वाणम् के स्थान पर अकिञ्चित् कुर्वाणम् गलत चल पड़ा था और इस दोष को दूर करने के लिये समागम के रूप में ही बोलते थे ।

कपट ने स्पष्ट किया है कि य प्रयोग गाथी गोणी आदि की तरह अगाधु है किन्तु लोक व्यवहार में इनके प्रयोग दूर जाते हैं

गा यादियदसाधुरपि गमकत्यामिमतो लोके प्रयुज्यते ।

—महाभाष्यप्रतीप २।१।१

भाषाविज्ञान की दृष्टि से य प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है । य केवल मिथ्यासादृश्य के सिद्धांत के ही उदाहरण नहीं हैं अपितु इस बात के भी द्योतक है कि साधुता असाधुता का निर्णायक लोक है । अथवा महाभाष्य जिस ग्रन्थ में इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिए था ।

भाव विचार

पाणिनि ने तत्त्व भावस्त्वतलो २।१।११६ द्वारा भाव म त्व और तल प्रत्यय का विधान किया है । गलत का प्रवृत्तिनिमित्त भाव गलत से कहा जाता है । कात्यायन के इस सूत्र पर के दो वातिक व्याकरण दशम की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माने जाते हैं । वे हैं—

(१) सिद्ध तु यस्य गुणस्य भावाद द्रव्ये गदनिवगस्तदभिधाने त्वतलो

२।१।११६ ५

(२) यद्वा सर्वे भावा स्वेन भावेन भवन्ति स तेषा मादस्तदभिधाने

२।१।११६ ८

गुण शब्द यहाँ विशेषण अर्थ में है । द्रव्य विशेष्य है । जिस विशेषण की सत्ता में विशेष्य में गलत का प्रवृत्ति होती है उसका अभिधान म त्व और तल प्रत्यय होते हैं—यह प्रथम वातिक का शास्त्रार्थ है ।

वातिक में गुण गलत से जो कुछ पराश्रय है भेदक है जिस जाति आदि में सभी यहाँ गृहीत है । भावात् गलत का अर्थ विद्यमान होने से है । द्रव्य शब्द से विशेष्यभूत सत्त्वभावापन अर्थ अभिप्रेत है । गदनिवग का अर्थ गलत की प्रवृत्ति है । शब्द से वाच्य अथवा अववाच्य जिस गुण के भाव से द्रव्य में गलत की प्रवृत्ति होती है वह त्व और तल से अभिप्रेत है । गुणमात्र वृत्ति वाले रूपादि गलत से गुण समवायी सामान्य में भाव प्रत्यय होता है जिस रूपत्वम् । गुण आदि गलत का गुण और गुणी में भेद के कारण अथवा मनुष्य के लोप के कारण गुण और गुणी उभय वृत्ति हैं उन गुणवाचक गलत से गुण समवायी सामान्य में भावप्रत्यय होता है और गुणीवाचक

स गुण म प्रत्यय होता है। अण महत, दीघ आदि गुणवाचक शब्द केवल परिमाण म न हाकर निय परिमाणो म रहत है इस लिए उनसे परिमाण गुण म भाव प्रत्यय होता है। पत्व णत्व आदि मे प्रत्यय भिन्न वण व्यक्ति म समवेन सामान्य विनेष म होत हैं। वणों म भेद उच्चारण भेद के कारण अथवा औपाधिक हा सकता है। गो आदि जब केवल जातिवाचक है तब उनसे भावप्रत्यय शब्द स्वरूप क अथ म होना है। अथ रूप जानि म शब्द के स्वरूप का अध्यास किया जाता है जा गा शब्द है वही अथ है इस रूप म। अतः शब्द स्वरूप ही एम शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त है। जितन यदृच्छा शब्द हैं उनम जाति वसी पद्धति से सिद्ध की जाती है। व्याकरण दशन एक व्यक्ति म भी जाति की सत्ता मानता है। शब्द क उच्चारण भेद स शब्द म अनेकता म एकत्व की सिद्धि की जाता है जिससे अनुगताकार प्रत्यय होता है। इसी तरह अथ म अवस्था भेद के आधार पर भेद कर अनुगताकार प्रत्यय क आधार पर अन्य की सिद्धि की जाती है। फलन अनक समवेत एतत्त्व (जाति) की सत्ता व्यक्ति म भी सिद्ध हो जाती है। द्रव्यवाची गो आदि में जाति म भाव प्रत्यय हाते हैं। समास, वृत्त और तद्धित से सम्बन्ध म प्रत्यय होता है यद्यपि य केवल सम्बन्ध नहीं यक्त करत है फिर भी सम्बन्धी म वतमान रूप से प्रवृत्तिनिमित्त के रूप म सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं। जम राजपुरुषत्व स स्वस्वामिभाव की प्रतीति हानी है। पाचकत्व म क्रियाकारक सम्बन्ध की भूलक है। औपगवत्वम मे अपत्यापत्यवत सम्बन्ध हैं। किसी किसी के मत स औपगवत्वम म अपत्यापत्ययात से भाव प्रत्यय का अभिधेय जाति है। जसा कि कहा जाता है समासकृततद्धितेषु सम्बन्धाभिधानमयत्र दृढयमिन्न—रूपा यमिचरित सम्बन्धेभ्य ।^१

गौरव, सातपण लोहितगालि आदि जाति विनेष से आपन द्रव्य विनेष वाची शब्द म ही भावप्रत्यय हाना है। इसी तरह कुम्भकारवम दृष्टित्वम आदि म भी। मतुप क लुक् दगा म मुक्ल आदि तद्धितात हैं। फिर भी उनम भावप्रत्यय गुण म ही होता है सम्बन्ध म नहीं होता। जिस तरह जाति और तदवान म लाकनिष्ठ सम्बन्ध क आधार पर भेद निराहित सा हो जाता है और अभेद भासित हाना है उसी तरह गुण और गुणी म भी वह यह है इस अध्यास सम्बन्ध स गुणवचन शब्द स मतुप क लुक् की दगा म उनम अभेद भासित होना है और अभेद रूप मे उनका अभिधान होना है उनम भेद मानकर मन्वथ की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। मन्ता म अयमिचरित सम्बन्ध स सतोभाव इस रूप म जानि म ही भावप्रत्यय गता है। मन्वन्तु सत्तासम्बन्ध को नहीं छोडती (न हि पदाथ सत्ता व्यभिचरति—योगभाष्य) ३।१७ इस सत्ता सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण सम्बन्ध म प्रत्यय नहीं होना। राज और पुरुष म सम्बन्ध मनातन नहीं है अतः उसकी अपेक्षा रख कर ही राज और पुरुष शब्द अपना अपना अर्थ व्यवहृत करते हैं इसलिये यहां सम्बन्ध म भाव प्रत्यय म न डु

१ यह प्राचीन आचार्यों की परिभाषा है। सायब ने इस परिभाषा रूप में स्वीकार किया है। कौलभट्ट ने इसे मनु हरि का वाच्य माना है। यह बर्तकी में नहीं मिलता।

है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी पदार्थों में विद्यमान समवायस्व स रहने वाली और गण प्रवृत्ति की हेतु सत्ता ही भावप्रत्यय में वाच्य है। सत् और सत्ता का सम्प्रत्य समवाय वाच्य नहीं है। ध्वन्यतिरिक्त जन्म स्थल में जाति द्व द्व होने का कारण जाति समुदाय में भावप्रत्यय है। कुत्त जस गण में मन्वास्वरूप का मन्वी में वह यह क रूप में अध्यास कर भाव प्रत्यय विधान होता है। कुछ लोग तेम स्थला में सत्तासति सम्प्रत्य में भाव प्रत्यय मानते हैं। इस तरह कयट ने उपयुक्त वार्तिक की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने वार्तिक की व्याख्या में गुण और द्रव्य की परिभाषा पर विचार किया है। गण स्वयं रूप रस और गन्ध को गुण मानकर इनमें अर्थ को द्रव्य माना है। यह एक मत है। गुण में गतिरिक्त द्रव्य की सत्ता अनुमानगम्य है। अथवा भिन्न भिन्न गुणा के प्रादुर्भाव से भी जिसका तत्त्व खण्डित नहीं होना वह द्रव्य है। अथवा अवयव रूप में गुण का सद्राव द्रव्य है। द्रव्य आदि में वृत्ति (भावप्रत्यय), भाष्यकार के अनुसार प्राथमकल्पिक द्रव्य का आधार पर सम्भव हो सकती। प्राथमकल्पिक द्रव्य की कोई क्रिया या कोई गुण यदि किसी में पाई जाय तो इस आधार पर उगम भी भाव प्रत्यय हो सकेगा।

दूसरे वार्तिक का अर्थ है कि जब सभी शब्द अपने (स्व) अर्थ व्यक्त करते हैं वह उनका अर्थ है और उसी के अभिधान में तत्त्व और तत्त्व प्रत्यय होते हैं। गुण का भाव शुक्लत्व है। गुण में वर्तमान शुक्ल शब्द का भाव गुणममवायिनामाय है। उसका निमित्त से शुक्ल शब्द अपने गुणलक्षण अर्थ में प्रवृत्त होता है। द्रव्य में वर्तमान गुण शब्द का भाव गुण है। द्रव्य में वर्तमान गो गण का भाव जाति है। राजपुरुष का भाव सम्बन्ध है। इस तरह अर्थ को भी समझना चाहिए।

नानात्व सहेत्व योगपद आदि में वृत्ति विषय में नाना शब्द असहभूत अर्थ में है। सह गण सहभूत अर्थ में है युगपत् गण युगपदभूत अर्थ में है। इनमें असहभाव जाति में भाव प्रत्यय है। इसका निष्पन्न कयट के गणों में यह है

तत्र भवत्यनेनेति करणसाधनेन भावशब्देन जात्यादिके उच्यमाने वाच्यसम्बन्धनि शब्दसम्बन्धनि वा पूर्वोक्तयायाद द्रव्यवाचिन शब्दाभिधायिनो वा शुक्लादे त्वत्तलादय इति स्थितम्—महाभाष्यप्रदीप, ५।१।११६

स्वाय की एक दूसरे तरह से भी व्याख्या की जाती है। स्व शब्द आत्मीय वाची है अर्थ शब्द अभिधेयवाची है। स्वाय अनेक प्रकार का होता है जैसे जाति गण क्रिया सम्बन्ध और स्वरूप। गो गुण पाचक राजपुरुष और द्रव्य। शब्द अपना अर्थ (स्वाय) निरपक्षरूप में करता है। अपने अर्थ (स्वाय) व्यक्त करते समय उस अर्थगत किसी निमित्तान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। अपना स्वाय कह कर उस स्वाय से सम्बद्ध द्रव्य का यत्न करता है। द्रव्य शब्द से व्याकरण द्गन प्रसिद्ध द्रव्य अप्रतिष्ठ है। व्याकरण द्गन में इस तत्त्व सेवनाम से परामश योग्य वस्तु को द्रव्य कहते हैं। अथ यति जाति गण जाति में है आरोपित स्वरूपवाली स्वरूप से एकीकृत जाति व्यक्त करता है तब उसका स्वरूप स्वाय है और जाति द्रव्य है। जब वह जाति विविक्त द्रव्य को व्यक्त करता है तब उसका स्वाय जाति है। शुक्ल आदि जब गुण

जाति म स्थित हैं, उनका स्वरूप स्वाथ है और जाति द्रव्य है । जब व गुण म स्थित है गुण सामान्य उनका स्वाथ है और गुण द्रव्य है । समवत द्रव्य का अभिधान कर शब्द, निग वचन और विभक्ति का भी यक्त करता है । यद्यपि लाक म पद के उच्चारण करने पर गुणपन पाच अथ भासित हात है क्योंकि शब्द का व्यापार विरम निगम कर नहीं हाता फिर भी शास्त्र म व्यवहार क लिए कल्पित अवयव-व्यतिरेक का आशय लिया जाता है । अस्मिन् आधार पर प्रयाग के अनुपयुक्त प्रातिपादक म अथवत्ता की कल्पना की जाती है और उसम एक भ्रम माना जाना है क्योंकि नागृहीत विशेषण-विशेष्य बुद्धि' इस याय के अनुसार तद सवप्रथम स्वाथ की अभिव्यक्ति करेगा । तब लिंग आदि के आधार भूत द्रव्य का अभिधान करेगा । बहिरंग सरया की अपक्षा लिंग जनग है अत मस्या के पूर्व लिंग का अभिधान करेगा । तब मस्या कि अभिव्यक्ति करेगा । क्योंकि सस्या और कारक म सस्या अतरंग है और कारक बहिरंग है । सस्या कवल तुल्यजातीयापन्न है जब कि कारक विजातीय क्रियापेश होने के कारण बहिरंग है । अत मस्या के बाद कारक की अभिव्यक्ति होगी । वस्तुतः कात्यायन के अनुसार नानाथकल्पना बौद्धिक है । इसी दृष्टि से तत्र व्यपदशित्रद वचन, एकात्रा द्वे प्रथमाथम १।१।२१ २ ३ का प्रत्याख्यान अवचनाल्लाक विज्ञानात् सिद्धम् १।१।२१ ५ वार्तिक द्वारा किया है । बुद्धिसमागोपित भेद के आशय से मुख्य की तरह एक म भी द्विवचन आदि काय हो सकत है । यह वार्तिककार का अभिप्राय है ।

प्रकार का स्वरूप

पाणिनि ने प्रकारवचन शब्द का व्यवहार किया है । 'याख्याकारा म प्रकार क अय क विषय म मतभेद है । स्थूलादिभ्य प्रकार वचने कन ५।४।३ सूत्र म प्रकार सादृश्य-बोधक है । सादृश्य अथ की सामने रखकर कात्यायन ने चचत् बहत्वात्पसस्यान्तम्' इस वार्तिक का इस सूत्र पर लिखा है । चचत्क और बहत्क इन दो शब्दों का मणि विशेष क अय मे प्रयोग कात्यायन के समय मे होता था । जो चचत् (चमकीला) न हो किन्तु चचत् सा जान पड़े उसे चचत्क कहते थे । प्रभा की लहर से ऐसा जान पड़ता था । इसी तरह जो बृहत् न हो किन्तु बृहत्-सा जान पड़े उस बृहत्क कहते थे । मणि की कान्ति के प्रसार से ऐसा हाता था ।

कुछ अय आचार्य सवन प्रकार का अय सादृश्य मानत हैं । प्रकारवचन याल ५।३।२३ प्रकार गुणवचनस्य ८।१।१२ स्थूलादिभ्य प्रकार वचन कन ५।४।३ आदि सूत्रा म सादृश्य अय ही उह अभिप्रेत है । यथा तथा शब्द से मुख्य अय ही व्यक्तित हाता है । पटुजातीय शब्द म जानीयर प्रत्यय द्वारा मुख्य अय म, १ २ ॥ अभिहित होना है । पटु पटु शब्द म भी द्विवचन से विगप्य म अय म १ २ ॥

१ इस वार्तिक में मतभेद था—उचट्टहयारिणि कचिन पठन्ति । म्या मय ५।४।३
द्रव्यम्—काशिका ५।४।३

भट्ट हरि ने चचत्क, बृहत्क पाठ प्रस्ताया है, वासयद य, म्या मय ५।४।३

भासित होता है। इसी तरह स्यूलत गन् म स्यल सन्ग अथ गेता है।

कुछ अथ आत्माय प्रकार गन् का भन् अथ मानन २ सामान्यस्य विगपक भेदक प्रकार — काशिका ५।२।२३। एम मन म यथा तया गन् म भन् अथ गी प्रतीति हाती है सामान्य म यहा माह य अथ भनाना है। इसी तरह गन्जातीय गन् म भी भेद अभिप्रत है। गन्ता भन् माना जाता है वहा माहस्य सामान्यगम्य जाना २ और जहा साहस्य अथ माना जाता है वहा भन् सामान्यगम्य गमभा जाता है। पशुप्रकार दवदत्त इस वाक्य म सामान्यविगपभाव ग हाने क कारण सामान्य ही प्रकार है।

वाह्यप्रकारा माठरादय इस वाक्य म सामान्य का विगप म अवयव होन के कारण सादश्य की सभावता न होने पर भन् प्रकार माना जाता है।

कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकारवान म हात हैं। जस जातीयर वन और द्विवचन। कुछ प्रकार वाले प्रत्यय प्रकार मात्र म होत है जस थाल। किन्तु एकार म वक्ति हात हुण भी प्रकारवान स सम्बद्ध होत है। इसलिए थाल और जातीयर म बाध्यबाधक भाव नहीं होगा। और थाल प्रत्यय क बाद भी जातीयर का प्रयोग दला जाता है जस तथाजातीय १२

पाणिनि न अत्रय विभक्ति २।१।६ सूत्र म यथा के अथ म अ ययीभाव समाम माना है और पुन सादश्य क अथ म भी माना है। यदि यथा और सादश्य समानाथक है तो पाणिनि को यथा गन् म ही सादश्य का काम चला जना चाहिए था। इसका उत्तर भतृ हरि ने यह दिया है कि उपयुक्त सूत्र म सादश्य सदग का उपलक्षण है। इसीलिए एमका उदाहरण सदश किय्या सकिलि (शृगाल सदश) दिया जाता है। जो अत्रय सादश्य का अभिधायक हा साद य ग्रहण से उसका अव्ययीभाव समास माना जाता है। सत्वभूत अथ के बोधक होने पर भी वचनबल से अत्रय माना जाता है। सादश्यवचन यथा गन् के साथ समास नहीं हाता। किन्तु थालत्तप्रतिरूपक बोधभावोपधक निपान यथा गन् के साथ समास होता है। अथवा योग्यतालक्षण यथा का अथ सामान्यमान है। जो मूर्तिगत (द्रव्यगत) साम्य है वह सह गन् के स यक्त किया जाता है। सकिलि गन् म सह शब्द स किन्वी निष्ठ अवयवसन्निवेश आदि के द्वारा सादश्य व्यक्त होता है। इस दष्टि से सामान्य किरया सकिलि इस रूप म अथ करना चाहिए। इस तरह उपयुक्त सूत्र म सादश्य गन् स द्रव्यगत सामान्य अभिप्रत है यथागन् के योग्यता नामक गुणगत सामान्य द्योतित है

किमयमिदमुच्यते, यथाय इत्येव सिद्धम्।

गुणभतेऽपि सादश्ये यथा स्यात्। काशिका २।१।६

२ थाल और जातीयर प्रत्यय म कवल इतना हा भेद है कि थाल प्रत्यय प्रकार में होता है नकि जातीयर प्रकारवान् में होता है—

गानायन्तु वभावान् प्रकारवान वनने थाल पुन प्रकारमात्रे।

कुछ लोग बुद्धयवस्थानिर्गन्ध सादृश्य को प्रकार मानत है। दवत्त को अगत् कुण्डल पहन दग्वर पहन दवत्त इस रूप म था इस रूप म बुद्धिप्रवृत्त सारूप्य भवता है। बाह्य अथ अन्तगत पान क अनुवाग मान है। रमनिए सवत्र सादृश्य ही प्रकार का अर्थ है। म भाष्यकार ने प्रकार गुणवचाम्य ८।१।१२ गून म प्रकार क लिए अग्नि भाणवक और 'गोवाहीक' उदाहरण दिए ह। य उदाहरण प्रकार का सादृश्य मानने पर ही उपयुक्त हो सकत है। गा क सादृश्य क कारण ही वाहीक का गो कहा जाना है।^३ और अग्नि की नीमता क सादृश्य म भाणवक को अग्नि कहा जाता है। गात्व अथवा अग्नि व रूप मामा य का यह विशेष भेद नहा है। गोवाहीक म गा शब्द का द्विवचन नही हाता। गुक्ल आदि गुण गता म चरिताय वाहीकाभिधायी गो शब्द का द्विवचन नही हाता

गोर्वाहीक इति द्वित्वे सादृश्य प्रत्युदाहृतम् ।

गुक्लादौ सति निष्पन्ने वाहीको न द्विरुच्यत ॥^४

इस सम्बन्ध म दो प्रकार क विचार है। कुछ लोग मानत हैं कि गुण उपसजन द्रव्यवाची का द्विवचन हाता है जस गुक्लगुक्ल पठ। गुणमात्रवाची का भी द्विवचन हाता है जस गुक्लगुक्ल रूपम। अथ आचार्यों क मत म गुणविशिष्ट द्रव्य वाचा का ही द्विवचन हाता है। मूला मूले म्थूला' अग्रे अग्रे मूश्मा जैस प्रयोगो को कायायन ने आनुपूर्वी के आधार पर समथन किया है यहा वीप्सा नही है। क्याकि वीप्सा वहां हाती है जहा एक जातीय पदार्थों का अनेक रूप गुण आदि से अवय होता है। मूले मूले म्थूला अथवा मूश्मा एक ही वस्तु का लेकर कहा जाता है। अग्र मध्य और मूल य तीन भाग है। एक ही मुख्य है अग्र भाग अथवा मूल भाग। दूसरे भागा का अग्र अथवा मूल व्यपदेश सापेक्ष है। अग्र सन्निवग की अपश्मा से अग्र कहा जाता है। उपर के सन्निवग की अपश्मा स मूल कहा जाता है। एक रूप भागा का स्थूल्य अथवा सौम्य नही होना। केवल मूल की आर स्थूलता बढ़ती जानी है और अग्रभाग की ओर सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। इसलिए यहा वीप्सा का अभाव है। किंतु मूले मूले पथि विटपिनाम वाक्य म वीप्सा है। हेलाराज ने प्रथम मत को प्रथय लिया है

गुणोपसजनद्रव्यवाचिन गुक्लादेरेव द्विवचन गुणमात्रवाचिनश्चेति गुक्लगुक्ल पठ गुक्लगुक्ल रूप पठुपठु इतीष्ट सिद्धम् ।

छ प्रत्यय पर विचार

इव अथ विषयक समास से दूसरे प्व के अथ म पाणिनि ने छ प्रत्यय का विधान किया है—समासाश्च तत्प्रविषयात् ५।१।१०६ 'यानरण और माहि'य शास्त्र म समास

३ गोवाहीक में गुणगुणा म सदा अमेदोपचार मानने से भेद छोटक पठा विभक्ति नहा होता है—गुणगुणिनोश्चात्र विषये नित्यममेदोपचाराद् भेदनिर्वाचनपठ्यभावः ।

—कथं भाष्यप्रदाय, १

शाल का वन या वाचक है। उसका अर्थ और यण गण म अथ म सम्बन्ध नहीं है। कुछ सादृश्य हो सकता है। इसमें पण व अथ के सम्बन्ध न होना पर भी समुदाय के अथ की उपलब्धि होती है। इसलिए सग्रहकार व गण गयी गण का अभिप्राय यह हो सकता है कि जहां समुदाय का अर्थ तो गण म होता हो किन्तु उसका अर्थ शब्द के अर्थ पर निर्भर न करता हो। यथावयी समुदाय व हैं जिनका अर्थ अथ म होता हो गण म नहीं। जैसे श्रौत्रिय गण। छ म अध्ययन करनेवाले व अथ म पाणिनि ने इसका निपातन किया है। यद्वा दो चार उन गण म म है जा वाच्य का अर्थ अपने म समेटे रहते हैं और इसलिए वाक्यार्थ पञ्चवचन कह जाते हैं। यहाँ समुदाय अथ का श्रौत्रिय गण से कोई सम्बन्ध नहीं है। बंदूय अथवा बंदूय की उत्पत्ति बालवाय म होती थी। बिदूर नगर में इसका केवल स्फुरण होता था अथवा जितवरी की तरह यह उपचरित गण है। इसी तरह पारणाव (मोती निकलने का स्थान) का परगु गण से कोई सम्बन्ध नहीं है। गण गयी समुदाय का सम्बन्ध अवयवगत शब्द और उनके अर्थ दोनों के साथ होता है जस राजगुम्फ नीलोपल और ब्राह्मण कम्बल श ग म।

सग्रहकार ने यह भी कहा है कि ऐसे भी समुदाय होते हैं जो निरवयव होते हैं। उनका अवयवगत शब्दों या उनके अर्थों से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बंध पाता। ऐसे गण म मुसल उलूखल, बलाहक हैं। मुसल गण मभवत कुशल की तरह आरम्भ म स्मृति क्रिया से सम्बन्ध रखता था। सग्रहकार का अभिप्राय यह है कि मुसल व अर्थ का न तो मुस और न ल से सम्बन्ध है न उनके अर्थ से न किसी से। मुसल गण समुदाय तो है किन्तु निरवयव है। यही बात उलूखल और बलाहक के लिए भी है।

किन्तु एक वा ऐसा भी था जो इनमें भी एक देशावयव मानता था
एकदेशावयवस्तु तेष्वपि विद्यते नोपजायत इत्येके।

—वाक्यपनीय १।२१० हरिवृत्ति हस्तलत।

स्वार्थिक दो प्रकार के हैं—असत्त्वभूताथ और सत्त्वभूताथ। इनमें स प्रत्येक वाचक द्योतक विशेषक, सहाभिधायक साथक और निरर्थक भेद स छ प्रकार के होते हैं।

साथक स्वार्थिक के सम्बन्ध म भत हरि ने ध्यानग्रहकार के मत का उल्लेख किया है। उनके मत म स्वार्थिका की अर्थवत्ता के पण म नैप समुच्चयादि क्रियाकारक विगणविशेष्य सम्बन्ध के अभाव म स्वार्थिकी म उपचय सम्बन्ध होता है

स्वार्थिकानामर्थवत्तापक्षे शयसमुच्चयादि क्रियाकारकविगणविशेष्य

१ वनमान ने इन शब्दों का युक्ति दी है—मुसल वचन लाताति मुसल। उ व र दिन यया नीति उत्पन्नम। बरिगो वाचक वलाहक। गणरत्नमण्डवि पृ० १०१, १०० प० भागमत्त मपान्ति। ये वैशारण्या का बौद्धिक जीतण है।

सम्बन्धभावे स्वाधिकानामुपचयसम्बन्ध इति ध्यानकारदर्शनम् ।^१

—वाक्यपदीय २।२१० हरिवृत्ति, हस्तलेख

- २ भक्त हरि का ध्यानकार दर्शन में अभिप्राय ध्यानग्रन्थकार ५ दर्शन में है । ध्यानग्रन्थकार का उल्लेख भक्त हरि ने मत्स्य पर्व का भी किया है—स्वोभय प्राप्नोति । उभये इति ध्यान ग्रन्थकारणावतम् । मत्स्य पर्व (लीपिका) पृ० ३२० हस्तलेख मद्रास आरिष्टमल मनु स्क्रिप्ट ला मेरो । ध्यानग्रन्थकार का उल्लेख भामह ने भी किया है—

सूत्राभ्यां पदार्थं पारायणरमानम् ।

धानूणादिषु ग्रह ध्यानग्रन्थं पूजयम् ॥ ६।१)

मेरे विचार में भामह का ध्यानग्रह स अभिप्राय ध्यानग्रन्थकार न अथवा ध्यानग्रन्थ व्याख्यान स है । रोम से प्रकाशित उदभट्ट धृति में यह अर्थ मन्त्रित है । अथ तोगा ने ध्यान स समाधिवाला ध्यान अर्थ लिया है ।

स्फोटवाद

संस्कृत व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का स्वरूप अविवादात्मक नहीं है। स्फोट का स्वरूप बदलता गया है और वह भौतिक से अभौतिक बन गया है। उसका मूल अनात है। हरदत्त और नागश ने स्फोट का सम्बन्ध स्फोटाग्रण से जोड़ा है।^१ किन्तु इस कल्पना के पीछे कोई प्रौढ आधार नहीं है। दूसरे दर्शनो में स्फोटवाद की चर्चा व्याकरणदर्शन के सिद्धांत के रूप में की गई है। स्फोटवाद के प्रवक्तृ के रूप में बहुधा भक्त हरि का नाम लिया जाता है। किन्तु स्वयं भक्त हरि ने स्फोट के प्रसंग में मतभेदों की चर्चा की है। स्फोट शब्द का उल्लेख श्लाघवार्तिक में और महाभाष्य में भी है।^२ इसलिए स्फोट सिद्धांत के मूल प्रवक्तृ आचार्य का अभी तक पता नहीं चला है। भक्त हरि के समय तक स्फोट स्फोटवाद का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका था। मल्लवादि क्षमाश्रमण ने भक्त हरि के कई मतों का उल्लेख किया है किन्तु स्फोटवाद का उल्लेख नहीं किया है। भक्त हरि की दृष्टि में स्फोट का स्वरूप पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। महाभाष्य के बाद स्फोट की कुछ अधिक चर्चा वाक्यपदीय में होने के कारण स्फोटवाद का वाक्यपदीय में संप्रथक कर दिया गया है। वस्तुतः भक्त हरि स्फोटवाद के आदि आचार्य नहीं जान पड़ते। उन्होंने स्फोट की व्याख्या ध्वनि के प्रसंग में की है और उसका आदि और अन्त ध्वनि से सम्बद्ध है। इससे अतिरिक्त उसके पीछे कोई रहस्य नहीं है। किन्तु कण्ठ पुण्यराज हलाराज जैसे मूढार्थ विद्वान् स्फोटवाद का स्रोत वाक्यपदीय में ही मानते हैं। जिन आचार्यों ने स्फोटवाद के खण्डन किए हैं उनमें लक्ष्य भी भक्त-हरि ही जान पड़ते हैं।

अस्तु स्फोट का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में व्याकरणदर्शन से है और

१ 'स्फागोऽग्रण पाराशर्य यस्य स स्फोऽयत स्फाटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्य'—पदमन्तरी ६।१।१२३ पृ० ४८६ 'वैयाकरण नागश स्फागयन ऋषेमतम् मञ्जूरा पृ० १५७३

२ किन्तु कौन वैयाकरणों ने महाभाष्य को स्फोटप्रतिपादक ग्रन्थ नहीं माना है— तदेतस्मिन् महासमुद्गमन सत्वात् विमन्सते स्फागयभाववर्णनप्रतिपादनं न काचित् क्षिति सिद्धान्तस्य वैयाकरणानाम्—महाभाष्यव्याख्या हस्तलख मद्रास न० आर० ४४३६

अपेक्षाकृत अर्वाचीन व्याकरणदर्शन में स्फोटवाद का पर्याप्त विवेचन किया गया है। यदि पतञ्जलि से लेकर नागार्जुन तक के स्फोट-साहित्य को सामने रखकर स्फोट पर विचार किया जाय तो निम्नलिखित रूप सामने आते हैं

- १—स्फोट ध्वनि रूप में।
- २—स्फोट शब्द रूप में।
- ३—स्फोट नित्य शब्द रूप में।
- ४—स्फोट जाति रूप में।
- ५—स्फोट वाक्य रूप में।
- ६—स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में।

य भेद एक दूसरे से सवथा विभक्त नहीं हैं। केवल विकास क्रम की दृष्टि में इस रूप में उल्लेख किया गया है। इनमें स्फोट के ध्वनि स्वरूप का विवरण महाभाष्य में है। पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखाया है कि स्फोट ज्या का त्यों रहता है जबकि वद्धि विस्तार ध्वनि से होता है। ध्वनि का आभास स्पष्ट होता है। जबकि स्फोट लक्षित नहीं होता

स्फोटश्च तावान एव भवति ध्वनिकृता वद्धि ।'

ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महाश्च केषांचिदुभय तत स्वभावतः ॥—महाभाष्य १।१।७०

महाभाष्य के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और शब्द समा-नाथक नहीं हैं। स्फोट ध्वनि के सदृश ही शब्द का गुण है। स्फोट के ध्वनि रूप का स्पष्ट सक्त महाभाष्य के इस वाक्य में है

अथयथोभयतः स्फोटमात्रं निदिश्यते । रश्नुते लक्ष्यति भवतीति ।

—महाभाष्य भाग १ पं० २८ कीलहान संस्करण

महाभाष्यकार ने र ध्वनि के स्थान पर ल ध्वनि का स्फोटमात्र कहा है। टीकाकारों में यही विचार है। भक्त हरि के अनुसार स्फोट से अभिप्राय उसके ध्वनिहीन स्वरूप से है। अथवा आद्य ध्वनि केवल रूपमात्र का प्रत्यायक ध्वनि यहाँ स्फोट शब्द में विवक्षित है। जो स्वतंत्र है समुदायस्थ है और विशेष का प्रतिपादक है वह ध्वनि यहाँ विवक्षित नहीं है। अथवा र श्रुति और ल श्रुति में ईषत साम्य (आरूपमात्र) है वही विवक्षित है। अथवा कायपथ में संयोग से अथवा विभाग में अथवा संयोगविभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है वह स्फोट है। करण-व्यापार स्फोट का निष्पादक है। अथवा स्फोटमात्र शब्द से आकृति अभिप्रेत है। ध्वनि के बिना आकृतिनिर्माण सम्भव नहीं है, अतः द्रव्य का उपादान नागरीयक रूप में होता है

अध्वनिक स्फोट इत्युक्तं भवति । ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति । एव तर्हि य एवासी आद्यो ध्वनि रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्त्वाधानेवा श्रियते । यस्त्वसी विधेयस्य प्रतिपादक य समुदायस्यो य स्वतंत्र इति नासावाधयेते । विद्यमानेऽपि तत्राविधेयैराहूपमात्र यथा गोविधेयैः श्वोपलब्धि राहूपमात्रेण योपलब्धि तस्माद आहूपमात्रग्रहणमुभयो । अथवा कायवत

बुद्धिहृत्वा इदमुच्यते । तत्र वाक्यपक्षे स्फोट एव सयोगात् विभागात् सयोग-
विभागाभ्यां वा निष्पद्यते । यत्वनुरणनं तत् शब्दत एव । तत्र य एवासी
स्फोटस्य निष्पादक करणस्य ध्यापारस्तावत् एवाश्रयणम् । अथवा स्फोट-
मात्रमिति प्राकृतिनिर्देशो यमित्युच्यते भवति ।

—महाभाष्यटीपिका, पृष्ठ, ७६

अपने इसी विचारों को भक्त हरि ने वाक्यपदीय में भी कुछ विस्तार से किया
है ।^३ अनित्यपक्ष में प्रथम अथवा आदि में निम्न तत् शब्द का नाम स्फोट है जो स्थान
करण आदि के सहारे स्वरूप ग्रहण करता है । नित्यपक्ष में भयागज और विभागज
ध्वनियां से उद्भूत स्फोट है

‘अनित्यपक्षे स्थानकरणप्राप्तिविभागहेतुर्वा प्रथमानित्यस्य तत् शब्द स
स्फोट इत्युच्यते । नित्यपक्षे तु सयोगजविभागजध्वनिर्द्वयद्वय स्फोट ।

—वाक्यपदीय १।१०२ हरिवृत्ति प० ६०

ऐसा जान पड़ता है संग्रहकार ने प्राकृतध्वनि और स्फोट को समान माना
था । भक्त हरि ने प्राकृतध्वनि का स्फोट का परिच्छेदक माना है । उनके अनुसार
प्राकृतध्वनि स्फोट का व्यञ्जक भी है । भक्त हरि के अनुसार करण-संघात से जो ध्वनि
उत्पन्न होती है और उससे जो ध्वनि उत्पन्न होती है वे दोनों प्राकृत ध्वनि हैं । इन
दोनों से विशेष (शब्दस्वरूप) की उपलब्धि होती है । जो ध्वनि ध्वनि से उत्पन्न
होती है वह वकृत ध्वनि है । उससे विशेष की उपलब्धि नहीं होती

‘य करणसंनिपातादुत्पद्यते यच्च तस्मात् तौ प्राकृतौ । ताभ्यां विशेषोप-
लब्धिः । यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वकृतः । ततो विशेषाभावात् ।

—महाभाष्यटीपिका प० ४६

संभवतः संग्रहकार ने शब्द के नित्य रूप को सामान्य न रखकर शब्द के सामान्य विचार
से प्राकृत ध्वनि और वकृत ध्वनि का विवेचन किया था और प्राकृत ध्वनि को
शब्द का ग्राहक माना था । प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति में होने में
प्राकृत ध्वनि का कान ही स्फोट का काल मान लिया गया था । भक्त हरि ने इसे
उपचार रूप में स्वीकार किया था

स च प्राकृतध्वनिकालो व्यतिरेकाग्रहणादध्यारोप्यमाण स्फोटे स्फोटकाल
इत्युपचयते शास्त्रम् ।

—वाक्यपदीय, १।७७ हरिवृत्ति

किन्तु भक्त हरि ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्फोट की उपलब्धिसदा
ध्वनि से समुष्ट रूप में ही होती है

३ भक्त हरि ने पहले महाभाष्यटीपिकाने (टीपिका) की रचना की थी । बाद में वाक्यपदीय लिखा
था । इसका संकेत उनमें इस वाक्य में है—क्रमेण तु वणतुरीयग्रहणे सति समुदयाभावान्
अविशदन्म त्वादा बुद्धे प्राप्नोतीति सहितान्मूत्रभाष्यविवरणं बुद्ध्या विचारितम्—

—वाक्यपदीय १।८३ हरिवृत्ति

संभवतः भाष्यटीपिका का मूल नाम भाष्यविवरण था ।

ध्वनिना तु समृष्ट स्फोटस्य स्वरूपमुपलभ्यते ।

— वाक्यपदीय १।७६ हरिवृत्ति ।

यह वाक्य हम तथ्य का निदर्शन है कि भत हरि का शब्ददान और स्फोटदान सबथा समान नहीं है। स्फोट ध्वनिनिरपेक्ष नहीं है। शब्द भत हरि के मत में ध्वनिनिरपेक्ष भी है उसका अतः सनिवेशी आंतरिक बौद्धिक रूप भी है। अवश्य ही इस विषय में विवाद के लिए स्थान है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भत हरि ने गान् ग्रहण की प्रक्रिया में प्रसंग में ही स्फोट पर विचार किया है। शब्दग्रहण की प्रक्रिया से शब्द का स्वरूप स्पष्ट है। अतः स्फोट और शब्द का परस्पर पर्याय के रूप में प्रयोग जहाँ तथा वाक्यपदीय में मिल जाते हैं।^४ इसी तरह शब्द और ध्वनि शब्द का पर्याय के रूप में प्रयोग महाभाष्य और वाक्यपदीय में मिलते हैं।^५ किन्तु इसमें गसा निष्कष निकालना युक्तिसंगत नहीं है कि इनका स्वरूप भी एक है। अखण्डस्फोट, सखण्डस्फोट, निरवयवस्फोट, बाह्यस्फोट आंतरस्फोट आदि गान् के स्पष्ट उल्लेख वाक्यपदीय में नहीं है। दूसरे लक्ष्मण ने शब्द और स्फोट को एक समझकर गान् नित्यत्व के स्थान पर स्फोटनित्यत्व जैसे शब्द के प्रयोग आलू मूत्र कर दिए हैं। अवश्य ही भत हरि ने स्फोट को ध्वनि से व्युत्पन्न माना है, उस एक माना है और स्फोट की आत्मा को नित्य माना है। किन्तु बहुत ही सावधानी के साथ उन्होंने गान् तत्त्व को स्फोटतत्त्व से अलग रखा है। भत हरि ने शब्दतत्त्व शब्द के स्थान पर स्फोटतत्त्व शब्द का व्यवहार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से शब्द और स्फोट के भेद पर विचार नहीं किया है। ध्वनि से जो व्युत्पन्न है वही स्फोट है वही शब्द है। किन्तु स्फोट शब्द का एक पक्ष एक पक्ष मात्र है। शब्द का एक स्फोटात्मक रूप है और उसका एक रूप स्फोटरूप से अधिक गहराई में है। भत हरि का शब्ददान स्फोट से परे प्रतिभा के तल तक जाता है। मध्ये में एक स्थान पर शब्ददान का चित्र उन्होंने दे दिया है

इह द्वौ गन्तव्यमानौ नित्य कायश्च । तत्र कार्यो व्यावहारिक पुरुषस्य
धागात्मन प्रतिबिम्बोपग्राही । नित्यस्तु सवयवहारयोनि सहतश्चम,
सर्वेषामतः सनिवेशी, प्रमवो विकाराणाम, आश्रय कमणाम अविष्टान
मुखदुखयोः सवभ्राप्रतिहतकायशक्ति घटादिनिरुद्ध इव प्रकाश परिगृहीत
भोगक्षत्रावधि सवमूर्त्तीनामपरिणामा प्रकृति सवप्रबोधरूपतया सवभेद
रूपतया च नित्यप्रवन्प्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिवृत्तिपदार्था
पञ्चगवद दाषाग्निबच्च प्रसवोच्छेद शक्तिपुवत सर्वेश्वर सवशक्ति महान्
शब्दवपम ।

— वाक्यपदीय १।१३ हरिवृत्ति ।

४ जैसे, प्राकृतस्य ध्वने काल शब्दोऽयुपचयत वाक्यपदीय, १।७५

५ 'जोने ध्वनि शब्द इ युवत'—महाभाष्य, कीर्तनान मन्तरण भाग १, १०१ 'न भेदो ध्वनि शब्दयो ।' — वाक्यपदीय, १।६६

६ भत हरि का यह प्रसंग पाचवीं शताब्दी के मन्त्र गय का उत्तर उदाहरण है और वाक्यपदीय की शैली के पूर्वरूप इसमें देखे जा सकते हैं।

इस प्रघटक में शब्द को नित्य, सभी व्यवहार का मूल, सहतन्त्रम अन्त सनिक्ती, विकार सष्टिक्रम का उत्पत्तिस्थान वम के आश्रय, सुख दुःख का अधिष्ठान आदि कहा गया है और उसे सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान के रूप में व्यक्त किया गया है। भक्त हरि ने स्फोट के लिए इस तरह की शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है। अस्तु, वाक्यपदीय में व्यवहृत स्फोट स्फोटवाद के ध्वनिसम्बद्धरूप को प्रमुख रूप में व्यक्त करता है। स्फोट के भेद जैसे वणस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इनका भी परिच्छेद भक्त हरि ने ध्वनि के आधार पर ही किया है

वणपदवाक्यविषया हि विशिष्टा प्रयत्ना तत प्रेरिताश्च वायव स्थानाय मिहति ।

—वाक्यपदीय, १।८६ हरिवृत्ति

अर्थात् वण, पद और वाक्य ध्वनियों के प्रयत्न सापेक्ष इकाई मात्र है। इनका विभाग ध्वनि के परिच्छिन्न स्वरूप पर निर्भर करता है। भक्त हरि के शब्द में वण स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट ध्वनि के अपचित और उपचित अवस्था से संबद्ध हैं

सर्व एव प्रचिताप्रचितरूपा वणपदवाक्यस्फोटा ।

—वाक्यपदीय १।१०२, हरिवृत्ति

भक्त हरि ने भागवत् और निर्भागवत् का व्यवहार किया है। ये दोनों गान्धर्वमश सखण्ड स्फोट और अखण्डस्फोट (निरवयवस्फोट) के आदि रूप हैं। भागवत् का सिद्धांत भेदवादियों का है। निर्भागवत् का सिद्धांत जातिस्फोट मानने वालों का है। भेदवादी प्राचीन मीमांसक थे जो गान्धर्व को नित्य मानते थे किंतु शब्द में भाग स्वीकार करते थे। उनके मत में गौ गान्धर्व में गकार उकार और विसर्जनीय हैं। इनसे अतिरिक्त वणग्राहक कोई अन्य धर्म गौ गान्धर्व में नहीं है और न इसके पीछे निर्भाग जसा कोई दर्शन है। उपवप इसी मत को माननेवाले थे। वे वण को ही गान्धर्व मानते थे।^{१०} इस मत में कुछ विप्रतिपत्तियाँ का निर्देश भक्त हरि ने स्वयं किया है और उनका समाधान भी दिया है। भागवत् में पद के स्वरूप का अवधारण ठीक से नहीं हो सकेगा क्योंकि तन्म से अभिव्यक्ति दत्ता में वणतुरीयाग की अभिव्यक्ति अयपद य हान के कारण ठीक से नहीं हो सकती। वपम के अनुसार वणतुरीय ध्वनि अयपदय इमलिए मानी जाती है कि ध्वनि अपक्षय की काष्ठा तक पहुँचाई गई रहती है। वणतुरीयाग की अव्यपदेश्यता उमरी मीमांसा की ठीक परिचान न हान के कारण भी मानी जा सकती है। कौनसी अतिशय ध्वनि है तन्मका निर्णायक भाग वपम में तन्मपम में कोई वस्तु नहीं है। इसी आधार पर अय सीमा के ठीक परिचान न होने के कारण अन्यध्वनि परिच्छेद का विषय भी नहीं हो सकता अर्थात् यहाँ से कहाँ तक दत्ता मानी जाय इन्के निर्णायक किसी तत्त्व के न होने के कारण गान्धर्व के स्वरूप का परिच्छेद संभव नहीं हो सकता। यदि एक गाय, युगपत् सभी वणों (अवयवों)

की अभिव्यक्ति मानी जायगी मवे, वेग तेन, न ते, आदि शब्दों में श्रुतिभेद नहीं मानना पड़ेगा। इसका समाधान भक्त हरि ने भेदवाद की दृष्टि से अर्थांतर के आधार पर शब्दांतर की कल्पना के सहारे किया है। शंकराचार्य ने पिपीलिका पक्ष के पण्डित के आधार पर समाधान किया है। पिपीलिका क्रम से चलती है फिर भी देखने वाले के मन में एक पक्ष का भान करा देती है। वही तरह क्रम के आधार पर प्रवर्तित वण भी पद शुद्धि जगा देते हैं। वणों के अविरोध होने पर भी क्रमविरोध के आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है।^८ अभिव्यक्त ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भक्त हरि ने मण्डूक्यशास्त्र आदि में प्रज्वलित दीप से गज्जु आदि में सप्त आदि की प्रतिपत्ति का दृष्टांत दिया है। जो शब्दात्मा को निर्भाग मानते हैं उनका लिए भागभेद प्रकल्पित उपाय मात्र है वास्तविक नहीं है।

—वाक्यपदीय १।६३ हरिवृत्ति

शब्द के निर्भाग पक्ष के सम्यक् जातिस्फोट का आश्रय गते हैं। वे शब्द की स्थितता आकृतिनित्यता के माध्यम से मानते हैं। जातिस्फोट से अभिप्राय शब्दाकृति से है। उनके अनुसार स्फोट शब्द से शब्द की आकृति का ही बोध होता है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है। दोनों में भेद यह है कि शब्दाकृति स्वशब्दसाधारण है जबकि शब्दाकृति का सम्बन्ध शब्दविशेष के रूप से है। शब्दाकृति क्रम से उत्पन्न एक साथ न होनेवाले वणों के आश्रय से अभिव्यक्त होती है। उसके उपलब्धिनिमित्त सस्कार कल्पित हात हैं। इस मत में शब्दाकृति उत्पन्न होती है किन्तु स्वयं अक्षरपदेश्य है। फिर भी व्यपदेश्य स्फोट का द्योतन करती है और उस दशा में शब्द व्यक्त का नाम ध्वनि हो जाता है (वाक्यपदीय १।४ हरिवृत्ति)।

कुछ आचार्यों ने माना है कि शब्द अविचार है। शब्दाकृति भी नित्य है। शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि निमित्त मात्र है। किन्तु ध्वनिगत विकार से शब्द भी अनुरजित रहता है। जिस प्रकाशगत धम में वस्तु अनुरजित रहती है। वपभ के अनुसार इस मत में आकाशगत एक स्फोटवण है। कारण के अभिघात से ध्वनि भेद होता है, वह ध्वनिभेद निमित्त है किन्तु उससे बाह्यस्फोट में भेद नहीं होता।^९

ध्वनि से शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु एक अभाववादी संप्रदाय था जो शब्द की अभिव्यक्ति का स्वीकार नहीं करता था।^{१०} अभाववादी के प्रथम विकल्प के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के लिए समान

८ अत्राह—यदि वणः एक समानत्वेनैव बुद्धिविषयः समापद्यमानः पदं रसुरतनां आरा रानां अपि पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रत्यक्षेन नयान् । त एव वणः इतरत्र चतरत्र च प्रत्यक्षमाप्तं तं निति । अत्र वपभ —सत्यपि समस्तवणप्रत्ययमर्थं यथा क्रमानुरोधेन एव पिपीलिका पक्षिर्बुद्धिमारोहति एव क्रमानुरोधेन एव वणः पण्डुर्बुद्धिमारोहति ।—शांकर भाष्य १।३। ८ ।

९ वपभ, वाक्यपदीय १।६५

१० आनन्दवर्धन ने ध्वनि के अभाववादियों के भी तीन विधियाँ दी हैं। आनन्दवर्धन के विचार के आधार भक्त हरि द्वारा उद्धृष्ट अभिव्यक्ति के विषय में ज्ञान तरह के अभाव ज्ञान पड़ते हैं।

आदश म मुख का प्रतिबिम्ब उन्नत दिखाई देता है और उन्नत दण म निम्न दिखाई देता है। यही सस्या भेद है। खडग म प्रतिबिम्ब दीर्घ होता है। यह प्रमाणभेद है। प्रियगु तल म प्रतिबिम्ब श्याम दिखाई देता है। यह वणभेद है। बिम्ब एक और अभिन्न है फिर भी अभिव्यजक व राग स अनुरजित होकर विभिन्न जान पड़ता है। स्फोट भी अभिव्यजक भेद से भिन्न जान पड़ता है। भत हरि प्रतिबिम्ब दशन के उस पक्ष को माय नहीं समझन जिसके अनुसार बिम्ब स प्रतिबिम्ब भावान्तर स्वतंत्र सत्ता रखता है। क्योंकि विरुद्ध परिणाम वान वज्र (हीरा) आन्ततल आदि म पवत के स्वरूप भावा की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसलिए गान् की अभिव्यक्ति होती है। और वणस्फोट पणस्फोट तथा वाक्यस्फोट म भेद वृत्तिभेद के आधार पर होता है। सबथा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।—वाक्यपदीय, १।६७ १०१

अभावनादिया व सदग ही एक ऐसा भी वण था जो गान् की अभिव्यक्ति तो मानता था किन्तु अभिव्यक्ति को अनित्य का समाधर्मा मानता था फलतः शब्द को अनित्य मानता था। उनके मत म अनित्य घट आदि का प्रतीप आदि म अभिव्यक्ति देखी जाती है। गान् भी घट की भांति अभिव्यग्य है। अतः वह भी घट सत्ता अनित्य है। यदि गान् की अभिव्यक्ति नहीं स्वीकार की जाती तो शब्द की उत्पत्ति माननी होगी। और उत्पत्तिपक्ष म भी गान् (स्फोट) अनित्य ही होगा। इसका समाधान यह है कि यह नियम नहीं है कि जो अभिव्यग्य होत है वे अनित्य ही होत है। व्यक्ति स जाति अभिव्यग्य है। फिर भी जाति नित्य है। जो जाति की सत्ता नहीं मानत उनके लिए यो तक लिया जाता है—जिस तरह से अनि यवादी नित्यत्व को जगोकार न कर अनेकान्तिक दोष का परिहार करना है उसी प्रकार अभिव्यक्तिवादी भी जाति को नित्य मानकर व्यतिरेकासिद्धि का आश्रय लेता है।—वपम वाक्यपदीय १।६६

जो लोग गान् (स्फोट) की अभिव्यजना स्वीकार करते थे उनम भी अभि व्यक्ति की प्रक्रिया के विषय म दो त्रिकञ्चन थे अर्थात् दो प्रकार स तीन तीन वाद थे। इन्हें भत हरि ने 'चादा त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम' ^{११} और अथापरे भिव्यक्ति वादिना त्रयो दशनभेदा ^{१२} के रूप म व्यवहृत किया है। प्रथम तीन वाद के अनुसार क्रमशः ध्वनि से इन्द्रियसंस्कार ध्वनि से गन्ध संस्कार ध्वनि से शब्द इन्द्रिय उभय संस्कार होते हैं। द्वितीय तीन वाद के अनुसार क्रमशः स्फोट से अविवक्त रूप म ध्वनि का ग्रहण अगृह्यमाण रूप म ही ध्वनि अभिव्यजक, ध्वनि का स्वतंत्र रूप म ग्रहण—य अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। ^{१३}

अभिव्यक्ति के सम्बन्ध मे एक तीसरा भी त्रिक वाद है जो अभिव्यजक के आधार पर है। एक के मत म स्फोट का यजक ध्वनि है। दूसरे मत मे स्फोट का व्यजक ध्वनिजय वाद है। तीसरे मत म ध्वनि से स्फोट आविर्भावकाल से ही सहज

११ वाक्यपदीय, १।७६

१२ वही १।८२ हरिवृत्ति।

१३ इनके विवरण ३२ अध्याय के द्वितीय अध्याय में दिये गये हैं।

ताव से वैसे ही सम्बद्ध रहता है जस गद्य स पुष्प

नित्यपक्षे तु सद्योग विभागजध्वनिष्यद्गम्य स्फोट ।

एकेषां सद्योग विभागजध्वनिसंभूतनादाभिष्यद्गम्य ।

इह केचिदाचार्या व्यक्त स्फोट सहजनेन ध्वनिना सद्यतो दूरव्यापिना प्रजा
शस्थानीयेन गधेन मुक्त द्रव्यविगममिवाविर्भावकाल एव तत्रापि मयन्ते
ध्वनिना ।

—वाक्यपदीय हरिवर्त्ति, १।१०३, १०५

उपयुक्त विवरण स यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु हरि के मत में ध्वनि और
स्फोट अत्यन्त समीप की वस्तु हैं । स्फोट एक तरह से वाचक शब्द के लिए व्यवहृत
होता है और उसके पीछे कोई उपनिषद (रहस्य) नहीं है ।

कयट ने भक्त हरि के मत का, अपने ढंग से यो साराग दिया है— 'व्याकरण
वर्ण से व्यतिरिक्त पद अथवा वाक्य में वाचकत्व मानते हैं । प्रत्येक वर्ण के वाचक
मानने पर द्वितीय आदि वर्णों के उच्चारण अनर्थक होंगे । प्रत्येक वर्ण के अनर्थक
मानत हुए भी वर्ण के समुदाय में वाचकता मानने पर भी काम नहीं चलगा । समुदाय
के उत्पत्तिपक्ष में दोष है क्योंकि समुदाय की युगपत् उत्पत्ति नहीं होती । समुदाय के
अभिव्यक्तिपक्ष में वर्णों की क्रम से अभिव्यक्ति होगी फलतः पूरे पद का आवलन नहीं
हो सकेगा । वर्णों में एक स्मृति उपारूढ रूप में वाचकता मानने पर सर' रस जैसे
स्थिता में अथविशेष की प्रतिपत्ति में बाधा पड़ने लगेगी, दोनों पदों से समान अर्थ
भलकने लगेंगे । इसलिए वाक्यपदीय में वर्ण से व्यतिरिक्त नाद से अभिव्यक्त स्फोट
का वाचक रूप में प्रतिपादित किया गया है (महाभाष्यप्रदीप पस्पशाह्निक पृ० १२
गुरुप्रसादशास्त्री संपादित) ।

नागेश के अनुसार पद अथवा वाक्य का एकाकारक ज्ञान स्फोट की सत्ता और
उसके ऐक्य में प्रमाण है । अनुभव क्रम से ही वर्णों की स्मृतिरूढता में, नागेश के अनु
सार तब प्रमाण नहीं है । क्रम से अनुभूत के युक्तरूप में भी स्मृति देखी जाती
है

इदमेक पदम एक वाक्यमिति प्रत्यय, स्फोटसत्त्वे तदव्ये च प्रमाणम् ।

—महाभाष्यप्रदीपोद्योत पस्पशाह्निक पृ० १३

नोज में भी वाचक ध्वनिसमूह को ही स्फोट नाम दिया है और प्रकृत्यादि
स्फोट पदस्फोट और वाक्यस्फोट के रूप में उसके प्रभेद किए हैं

प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णजनितध्वनिसमूहोऽभिव्यङ्ग्यस्फोटलक्षण अर्थत्वा अर्था
वसायप्रसवनिमित्त शब्द । तदविशेषाच्च प्रकृत्यादिस्फोट, पदस्फोटो वाक्य
स्फोट इति ।

—शृंगारप्रकाश पृ० १२५

स्फोट शब्द रूप में

शब्द रूप में स्फोट का प्रथम उल्लेख किसी श्लाघ्वातिवकार में किया है—

‘स्फोट गन्तो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायत ।’^{१४}

गन्त का आकारग्रहण बुद्धि में होता है। महाभाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें शब्द का पौष्पाप्य बुद्धिगत माना गया है। प्रेक्षाकारी मनुष्य पहले अपनी बुद्धि में ही ग्रन्थ की दृष्टि से शब्द का शब्द की दृष्टि से वण का आकलन कर लेता है। ये सभी व्यापार बोद्ध होने हैं

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टा कर्ता धीरस्तत्त्वनीति ।

गार्देनार्यान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वाप्यम ॥^{१५}

भट्ट हरि ने भी गन्त के स्वरूप का अवधारण बुद्धि में माना है। अन्त्य ध्वनि परिपाक-प्राप्त बुद्धि में शब्द के स्वरूप का सन्निवेश करती है। किसी के मत में शब्दाकृति का सन्निवेश होता है। इसमें भी दो तरह के मत हैं। एक गन्त में कई वण होते हैं। वक्ता उनका उच्चारण क्रम से करता है। अन्त्यवण के उच्चारण के बाद एक विशेष सस्कार या ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का अन्त्यवर्णावलम्बन ज्ञान कहा जाता है। इसे अन्त्यबुद्धि भी माना जाता है। पूर्व के वर्णों में भी कुछ न कुछ सस्कार होता परन्तु वह सस्कार धुँधला होता है अथवा अस्पष्ट होता है। अन्त्यवणजयज्ञान पूर्ववणजय-ज्ञान की महायता से जाति का ग्राहक होता है। दूसरा मत अन्त्यवणज्ञान का महत्त्व नहीं देना। उसके अनुसार सभी वर्णों से बुद्धि में सस्कार होता है। अन्त्यवण के ज्ञान के बाद जातिग्राहक ज्ञान उत्पन्न होता है

अत्रानेक दशनम् । केचिन मय्यते अन्त्यवर्णावलम्बन यत ज्ञान तत पूनवण-
ज्ञानाहितसस्कारसहाय जाते ग्राहकम् । अपरे मय्यते अन्त्यवणज्ञानसहित
सर्वरेवपूर्ववणज्ञान सस्कारारम्भ । अन्त्यवणज्ञानान्तर तु जातिग्राहक ज्ञान
मुत्पद्यते ।

—वपभ वाक्यपदीय १।२३, पृ० ३३

महाभाष्यकार ने भी गन्त का बुद्धिग्राह्य माना है

श्रोत्रोपलब्धि बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणामिज्वलित आकाशदेव शब्द ।

— महाभाष्य पस्पशाह्निक

कयट ने बुद्धि निर्ग्राह्य गन्त का अभिप्राय भट्ट हरि के आधार पर ध्वनिजय-सस्कार से परिपाकप्राप्त अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य माना है

पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादितामिव्यक्तिजनितसस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकात्यबुद्धि
निर्ग्राह्य इत्यर्थ ।

—कयट महाभाष्यप्रदीप प० ६५ गुम्फसाद गान्धी संपादित

१४ वाक्यपदीय १।२३ हरिवर्त्ति में अनुत्तरवाक्य के रूप में उद्धृत।

१५ महाभाष्य १।४।१०६

अभिनवगुप्त ने भी, व्याकरणम् की दृष्टि में, वाचस्पटी को बुद्धिनिर्वाह्य माना है

वधाकरणरपि वाचस्पटीत्य प्रायश बुद्धिनिर्वाह्यतय दगिता ।^{११}

हलाराज ने भी अभ्यास के आधार पर स्फुट स्फुटतर रूप में चरम बुद्धि में स्फोट तत्त्व की भलक मानी है और गन्तव्यत्व को ही जातिस्फोट के रूप में दा में विभक्त स्वीकार किया है

चरमचेतसि चकास्ति रत्नतत्त्वयत स्फाटतत्त्वम गन्तव्यत्व जातिव्यक्तिभेदन भिन्न स्फोटस्वभावमवाङ्गीकृतव्यम ।

—हलाराज वाचस्पतीय ३ जानिसमुद्देश ६

वणस्फोट पञ्चस्फोट और वाचस्पटी तीनों का बुद्धि में अभ्यारोप प्रयत्नविशेष से उदबुद्ध ध्वनियों द्वारा होता है

वणपदवाक्यविषया प्रयत्नविशेषसाया ध्वनयो वणपदवाक्याख्यान स्फोटान पुन पुनराविर्भावमतो बुद्धिध्याध्यारोपयति ।

—वाचस्पदीय हरिवृत्ति १।८३

गन् की बुद्धिनिर्वाह्यता और उसकी वाचकता के आधार पर गन् को स्फोट माना जाता है । इस दृष्टि से स्फोट गन् की उत्पत्ति स्फुटत्यर्थो यस्मात् —इस रूप में की जाती है ।

स्फोट शब्दनित्यत्व के रूप में

भक्त हरि ने गन् के निरवयव दशन पर प्रकाश डाला था । और उसके एक निर्विभाग नित्यस्वरूप की भी चर्चा की थी । ऐसे प्रसंगा में भक्त हरि ने स्फोट गन् का व्यवहार नहीं किया है । किन्तु पुण्यराज जैसे टीकाकारों ने ऐसे स्थलों में गन् और स्फोट को एक माना है । पुण्यराज ने स्फोट के दो भेद किए हैं—वाह्य और आन्तर । पुन बाह्य स्फोट के दा भेद किए हैं—जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट ।^{१२} शब्द का एक अनवयव स्वरूप पुण्यराज के अनुसार व्यक्तिस्फोट का प्रतीक है ।^{१३} सघातवर्तिनी जाति जातिस्फोट का प्रतीक है । भक्त हरि ने जिस बुद्धयनुसहारलक्षण आन्तर गन् कहा है उस ही पुण्यराज ने आन्तरस्फोट माना है ।^{१४} और एक अखण्ड व्यक्तिस्फोट अथवा जातिस्फोट को सिद्धांत रूप में, वाचक के रूप में स्वीकार किया है

एक एव नित्य पदभिः पदभ्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो च वाचकोऽङ्गीकृत इति सिद्धांत ।

—पुण्यराज वाचस्पतीय २।२६

१६ श्वर प्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शिनी भाग २ पृ० ६८८

१ स्फुटतर दिविश वाच आन्तर नश्यति । वाच्योऽपि जातिव्यक्तिभेदन दिविध ।—पुण्यराज ७ वाचस्पदीय २।१

१८ अनन्त पञ्चानवयव शब्द गन् बुद्धिध्याध्यारोपयति स्वरूपमुक्तमिति बोद्धव्यम् ।—पुण्यराज वाचस्पतीय २।१८

शब्दनित्यत्व के पक्ष में शब्दस्य न विभागोऽस्ति २० नित्येषु तु कुत एवम २१ जसे भत हरि के कई वक्तव्यों को स्फोटवादिया १ स्फोट के पक्ष में ले लिया है। स्फोटवाद के कतिपय समीक्षका न भी स्फोट का स्पष्ट शब्दनित्यत्व के खण्डन के आधार पर किया है।

स्फोट जाति रूप में

किसी आचार्य ने शब्दनित्यत्व का आधार आकृतिनित्यत्व माना था। उनके मत में स्फोट शब्द का वाच्य शब्दाकृति है। शब्दाकृति शब्दत्व से भिन्न है, शब्दाकृति शब्दयक्ति (ध्वनि) से अभिव्यक्त मानी जाती है। शब्दयक्ति उत्पन्न होनेवाली और स्वतः व्यपदेश्य होती है किन्तु व्यपदेश्य रूप स्फोट के घटित होने के कारण ध्वनि सत्ता पाती है। वह स्फोट शब्दाकृति है। इसी शब्दाकृति को भत हरि ने दशनभेद के आधार पर अनेकयक्ति से अभिव्यक्त जाति माना था और उसे स्फोट के रूप में निरूपित किया था। २२ किन्तु बाद में स्फोट का जाति से, विशेषकर सत्ताजातिवाद से संबंध कर दिया गया। मायण ने जातिस्फोट का उल्लेख 'परमायसवितलक्षणसत्ताजाति' के रूप में किया है। २३ इस मत में सभी शब्दों का अर्थ सत्ता लक्षण जाति है। उपरजक द्वय से स्फटिक की तरह सवधिभेद से सत्ता में भेद प्रतिभासित होता है। इसीलिए सभी शब्द पर्याय नहीं होते। गो अक्ष आदि में सत्ता ही महासामान्य है। गोत्वान्तिक अपरसामान्य महासामान्य से भिन्न नहीं है। सभी शब्द वाचक रूप में उसी सत्ता में अवस्थित हैं। प्रातिपदिकाथ भी सत्ता ही है। भाव भी सत्ता है। त्व तल आदि भावप्रत्यय से वही सत्ता व्यक्त की जाती है। त्रिया भी जाति है। वह सत्ता नित्य है। उसमें ह्रास अथवा विकास नहीं होता। वह देव काल अथवा वस्तु के परिच्छेद से रहित है और इसी लिए उसे महानात्मा कहा जाता है

सम्बन्धिभेदात्सत्तव भिद्यमानागवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यासर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥

ता प्रातिपदिकाथ च घात्वय च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वत्तादय ॥

—वाक्यपणीय ३ जातिसमुद्देश ३३, ३४

बाद के व्याकरण ने जातिस्फोट का ब्रह्म पद तक पहुँचा दिया है तथा च शब्दार्थ इव शक्तानेपि व्यापसाम्येनाकृत्यधिकरणरात्या ब्रह्मतत्त्वमेव तत्तदुपहित वाच्य वाचक च। अविद्यावधिक धमविशेषो वा जातिरिति

२० वाक्यपणीय २।१३

२१ वही, २।२२

२२ अनेकयक्त्यभिव्यक्ता जाति स्फोट इति स्मृता।

—दानियपदीय, १।६४

२३ सवदशानसमूह, पृ० ३०४

पक्षे तु साय चाचिकास्तित्वाद् ।

—नान्दीमुद्र प० १०

कथं ने व्यवहारनित्यता के आधार पर वण-प याय स्फोट प्रथवा जातिस्फोट का नित्य माना है

तच्च ब्रह्मतत्त्व परमाथतो नित्यम् । व्यवहारनित्यतया वणपदवाक्यस्फोटानाम् नित्यत्वम् जातिस्फोटस्य वा ।

—महाभाष्यप्रतीप (भभज) प० १४७ निगयसागर १२

नैपनारायण ने सखण्ड अखण्डभेद स पद वाक्य और व्यक्तिस्फोट का विभे किया है । जातिस्फोट भी दो तरह का माना है और किसी प्रथम मत से वणस्फोट को भी जाति और अतिभे स दो तरह का माना है । इनमें वाक्यस्फोट और जातिस्फोट को अधिन महत्व दिया है । जातिस्फोट एक ही साथ ब्रह्म और अत्रिद्या दोनों हैं

यद्यप्यत्रानेके स्फोटा प्रतिपादिता, तथापि वाक्यस्फोट एव परमाथ । तत्रापि जातिस्फोट इति । जानिश्च सर्वाधिष्ठानस्वरूपात्मक ब्रह्म व अविद्य व चति ।

सूक्तिरत्नाकर हस्तलेख

नैपनारायण के मत में वान्तप्रसिद्ध ब्रह्म और स्फोटब्रह्म में केवल यही अंतर है कि वेदान्त में नान् निमित्तकारण के रूप में (सृष्टि के लिए) गृहीत है जबकि व्याकरण में उपादान कारण के रूप में माना जाता है

वेदातिभिरपि निमित्तकारणतः शब्दस्याभीष्टम् । अस्माभिस्तु उपादानत्वम् अभ्युपेयत इति विरोध ।

—सूक्तिरत्नाकर, हस्तलेख ।

वाक् के रूप में स्फोट

आगमों में परा पश्यती आदि का सबध मूलाधार चक्र आदि से माना जाता है । भक्त हरि आदि ने तो परावाक् का विवेचन नहीं किया है और न वाक् का सबध चक्र-विशेष से जोड़ा है किन्तु बाद के कुछ व्याकरणों ने तत्र के प्रभाव के कारण परावाक् को महत्व दिया है और वाक् को तत्रप्रसिद्ध नादविन्दु के क्षेत्र में देखा है । सायण ने किसी आगम के आधार पर लिखा है कि जब कोई व्यक्ति अभिलषित अथ व लिए शब्द का प्रयोग करना चाहता है इच्छावर्जय प्रयत्न से मूलाधार में प्राणवायु का परिस्पन्द होता है । उस परिस्पन्द से मूलाधार में सूक्ष्म परावाक् प्रकट होती है जो सकल शब्द समुदाय का कारण है और स्वयं निष्पन्द है । वही परावाक् मूलाधार से ऊपर नाभिदग में आकर पश्यती कहलाती है । वह सामान्यनानरूपा मानी जाती है । विवक्षित पन्थ के दर्शने के कारण उस पश्यती कहा जाता है । वही हृदयदश में प्राप्त होकर मध्यमा कहलाती है । उसमें अथविरोध की भावना व्यक्त हो गई रहती है । मध्यदेग में अवस्थान के कारण उस मध्यमा कहा जाता है । वही वणरूप से वण्ड तालु आदि स्थानों में व्यक्त होती हुई वषरी कहलाती है । विरोध रूप से (वि) दूमेरा का अवरोध करने में प्रवण (खर) होने के कारण उस वषरी कहा जाता है ।^{१४}

नागेश ने मध्यमा वाक्य की स्फोट का प्रतिनिधि माना है

‘तत्र मध्यमायां यो नादाश तस्यैव स्फोटात्मानो वाचकत्वेनाक्षति ।

—मजूपा, पृ० १८०

उनके अनुसार प्रलयकाल में माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। एक तरह से गुप्त-सी अवस्थित रहती है। पुनः परमेश्वर में सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति उदित होती है। उससे बिन्दु रूप अव्यक्त त्रिगुण उत्पन्न होता है। यही शक्ति तत्त्व है। उस बिन्दु का अचित अंग बीज है। चित अचित मिश्र अश नाद है। चित अंग बिन्दु है। अचित शब्द से अभिप्राय अविद्या से है जो शब्द और अर्थ उभय सस्काररूपा है। उस बिन्दु से चेतनमिश्र नादमात्र उत्पन्न होता है। वह वण आदि विशेष ज्ञान से रहित है ज्ञानप्रधान है और सृष्टि के उपयोगी अवस्थाविशेषरूप है। उसका दूसरा नाम शब्दब्रह्म है। वह जगत का उपादान है। उसे रव परा आदि शब्द से भी कहा गया है। वह प्राणी में सवगत होते हुए भी भूलाधार में सस्कृतपवन के चलन से अभिव्यक्त होता है। सस्कृतपवन से अभिप्राय पवन के सस्कार से है। पवन का सस्कार यत्ति की विवक्षा से जय प्रयत्न के योग से होता है। उससे अभिव्यक्त निष्पन्न शब्दब्रह्म परावाक कहलाता है। वही नाभिपय त पहुँचकर उस पवन से अभिव्यक्त पश्यती कहलाता है जिसका विषय मन है (मनोविषय)। परा और पश्यती ये दोनों सूक्ष्मतर हैं। इनके अधिदेवता इश्वर हैं और ये समाधि में योगियों के निर्विकल्प और सविकल्प के विषय बनती हैं। पुनः हृदयप्रदेश में पहुँचकर उस पवन द्वारा हृत्प देग में अभिव्यक्त होकर वह मध्यमा वाक कहलाता है। मध्यमा में शब्द और उसके अर्थ का आकर स्पष्ट हो गया रहता है। उसका विषय बुद्धि है अथवा बुद्धि से वह ग्राह्य है (बुद्ध या विषयीकृता)। उसका देवता हिरण्यगर्भ है। मध्यमा भी सूक्ष्म है क्योंकि दूसरे के श्रवणेन्द्रिय से अभी ग्राह्य नहीं है। किन्तु स्वयं दोनों कानों की वद कर सूक्ष्मतर वायु के अभिघात से सुनी जा सकती है और उपायुक्तप्रयोग में भी श्रूयमान होती है। इस मध्यमा वाक में जो नादाश है वही स्फोट है।^{२५} कलाटीकाकार वंश नाथ के अनुसार नादाश में अभिप्राय नाद से सम्बद्ध विमशक में है।^{२६}

स्वरूपज्योतिरेवान्तर परावागनपायिनी,
यस्या दृष्ट्यस्वरूपायामधिकार निबन्धने ॥
अविभागन वर्णाणां सवत्र सधृतक्रमा,
प्राणाऽन्यान तु पश्यती मयूराण्डरसोपमा,
मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतशरणपरिग्रहा ॥
अन्न सन्तल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसपति।
तात्त्वोष्ट्रव्यापृतिव्यग्रा परबोधप्रकाशिता।
मनुष्यमात्रमूलमा बाह्या वाग वैगरी मना ॥

२५ वैयाकरणमिहान्तमजूपा, पृ० १६८ १८०

२६ “नादाश — नादमवशिष्टविमशकशब्दरूपऽशः । तत्रैव विमशकाशस्याधस्य वाचकत्वमत्रे वदयति ।” — मजूपा, कलाटीका पृ० १८०

शारदातिलक व लेखक सम्मणदण्डिन्द्र के अनुसार 'परम'वर स शक्ति उद्भूत होती है। शक्ति स नाद और नाद स विन्दु उत्पन्न होता है। शक्तिमय परमस्वर पुन तीन रूपा म विभक्त होता है। विन्दु, नाद और बीज उभय तीन भेद हैं। विन्दु शिव है। बीज शक्ति है। नाद शिव और शक्ति का मिश्र रूप है। विन्दु स रीढ़ी, नाद स ज्यष्ठा और बीज से वामा उत्पन्न होती है जो त्रिमय शिव, ब्रह्मा और विष्णु के प्रतीक हैं। पर विन्दु के स्फोट स रव उत्पन्न होता है। उस रव का आगमा म शब्द ब्रह्म कहा जाता है। अथ विचारक शब्द का शब्द ब्रह्म मानते हैं। पुन कुछ अथ आचार्य शब्द को ही शब्दब्रह्म मानते हैं। इन दोनों मतों म जडत्व है। सबभूत म अवस्थित चतुर्थ को शब्दब्रह्म समझना चाहिए।^{२७}

पश्यन्ती और स्फोट की एकता की भी चर्चा आगमा म है। यद्यपि भक्त हरि न कही स्फोट और पश्यन्ती की समानता का उल्लेख नहीं किया है फिर भी सोमानन्द न उनके ऐक्य की सम्भावना मानकर भी उनकी समीक्षा की है। उत्पल के अनुसार, स्फोटवादी पश्यन्ती और स्फोट दोनों को नित्य मानते हैं। इस दशा म स्फोट और पश्यन्ती दोनों एक हो सकते हैं दोनों म केवल शब्द का भेद है। दोनों म भेद मानने पर द्वैत होता है। असत्य पद आदि से सत्य अथवा कूटस्थनित्य स्फोट की योजकता भी सिद्ध है। पश्यन्ती और स्फोट के ऐक्य मानने पर प्राप्तवाक्यविचार और अप्राप्त वाक्यविचार म भेद सम्भव नहीं हो सकेगा। दोनों प्रकार के वाक्यों का स्तोत्र एक होने से दोनों में पूर्णता माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त पश्यन्ती और स्फोट दोनों में बहुत्व मानना पड़ेगा (शिवदृष्टि, पृ० ७५-७६)। पहले कहा जा चुका है कि ये विचार सोमानन्द के कल्पित हैं। वाक्यविचार के अवसर पर कश्मीर शवागम और व्याकरण दशम दोना की दृष्टि स पश्यन्ती पर विचार किया जा चुका है। भक्त हरि ने अथवा किसी अन्य व्याकरण ने पश्यन्ती और स्फोट की एकता का प्रतिपादन नहीं किया है।

स्फोट शब्दब्रह्म के रूप में

भक्त हरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ म शब्दतत्त्व की अक्षर ब्रह्म के रूप में निर्देश किया और उससे अथरूप में जगत् का विवर्त माना है। कुछ लोग इस शब्दतत्त्व

२७ शारदातिलक, १।७—१३, शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट के अनुसार शब्दाद्य सहक शब्दाद्य से अभिप्राय आन्तरस्फोट से है और आन्तरस्फोट सिद्धान्त आचार्यों का है। शब्द सहक शब्दब्रह्म मत वैयाकरणों का है।

एक आचार्य शब्दाद्य आन्तरस्फोट शब्दब्रह्मत्याहु। यथाह—'निरश ध्वाभिन्नो नित्यो बोधवभाव शब्दाद्यमय आन्तरस्फोट' इति। अपरे वैयाकरणा पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्त तन् तन् पदसरकारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्ध वाक्यस्फोटलक्षण शब्दमखण्डैककथप्रकाशक शब्द ब्रह्मेति वदन्ति। यथाह—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यक्तोऽस्त्यहो व्यक्तिस्फोटो वा बहोरूप इति।—शारदातिलक टीका, पृ० ११, तुलना काजिह—'इह निरश ध्वाभिन्नो यवित स्फोटो जानिरस्फोटो वा बहोरूप आन्तर शब्दाद्यमयो वा बुद्ध्यनुमहारो वाक्यमिति स एव वाचक उपपन्न।'^{११}

—पुण्यराज, वाक्यपदीय २।१६

को स्फोट मानकर स्फोट को गच्छब्रह्म कहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी प्राचीन आगम के आधार पर भत हरि ने अभिधान रूप में विवत और अभिधेय रूप में विवत का संकेत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने प्राचीन ग्रंथ से एक उद्धरण भी दिया है जिसका अभिप्राय यो है—

जो सब तरह की कल्पनाओं के आभास से भी नहीं आता उसकी तब, आगम और अनुमान के द्वारा अनेक प्रकार से कल्पना की जाती है। वह भेद और ससंग से परे है। उसमें न भाव है और न अभाव न क्रम है और न अक्रम। वह सत्य और अनन्त से भी परे है। वह विश्वात्मा केवल प्रविवेक से प्रकाशित होता है। वह भूता के अतः में अवस्थित है। वह समीप भी है दूर भी है। वह स्वयं अत्यन्त मुक्त है। मुमुक्षु मोक्ष के लिए उसकी उपासना करते हैं जिस तरह ग्रीष्म के अतः में शूय आकाश में मेघ भर देता है वैसे ही वह प्रकृतिगत विकारा को बिखेर देता है उत्पन्न करता है। उसका चैतन्य यद्यपि एक है फिर भी अनेक रूप में उसी तरह विभक्त हो जाता है जैसे उत्पात के अवसर पर समुद्र का जल (अङ्गाराङ्कित उदकम्)^{२७}। जैसे भारत से जल बरसाने वाले बादल उत्पन्न होते हैं वैसे ही सामान्य रूप में अग्रस्थित उससे विकारमय व्यक्तिमय व्यक्तिममूह उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति तयी (वेत्) के रूप में विवर्तित होती है। और अनेक दशना में पथक-पथक रूप में दृष्टिभेद का आधार होती है। शान्तविधात्मक उमी का अंश है किन्तु वह अविद्या से अस्त हो जाता है। अविद्या अनिवर्जनीय है। उसके परिणामित रूपा का अन्त नहीं है। उससे प्रभावित व्यक्ति अपने आप में अवस्थित नहीं रह पाता। जिस तरह कोई व्यक्ति दृष्टिलोप के कारण विगुद्ध आकाश का भी अनेक आकारों से चित्रित देखता है उसी तरह निर्विकार अमल ब्रह्म भी अविद्या से आच्छन्न मति के कारण विकारयुक्त और विभक्त रूप में परिणामित दिखाई देता है। वह ब्रह्म शून्य है। जो कुछ है सब शब्द से निर्मित है। सबका मूल आधार शब्द है। शब्दमात्राओं से ही सबका विवत होता है और पुनः शब्दमात्राओं में ही सबका लय होता है।^{२८}

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भत हरि ने किसी आगम के आधार पर शब्दविवत का प्रतिपादन करना चाहा था। कुछ लोग शब्दविवत में शब्द से प्रणव अभिप्रेते

२७ क 'अङ्गाराङ्कितमुत्पाते वारिरारारिवोदकम्' का अभिप्राय मिहिराशिववादिष्यमाश्रमण ने द्यो दिया है—यथा उदन्वताम् सोयम उत्पातं अङ्गाराशिवन् प्रज्वलन्पलद्ध्यते तथारथानेकरूपता मिथ्यैव प्रकृतित्वमिति—द्वारारानयनत्र, पृ० ३००

२८ ब्रह्मोद शब्दनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम्।

विवत शब्दमात्राभ्यन्तावव प्रविलीयते॥

—वाक्यपदीय, १।१ हरिवृत्ति में उद्धृत।

वृषभ ने इसका एक दूसरा अर्थ भी द्यो दिया है—

अथवा ब्रह्मोदमिति विकारग्राममाह, अन्यनिरेकान्। ततः शब्दनिर्माणमिति, शब्दतत्त्व निर्माणं, ततः निर्मितत्वात्। शब्दशक्तिनिबन्धनमिति। शब्दशक्त्यो दत्तस्तयामते प्रतीयन्ते वा तत्रैवेति॥

माता । १ । गभी दास्यः घोरः गभी घयो की प्रकृति प्रत्यय है । अतः प्रकृति में घन भी प्रत्ययितप्रत्यय व प्रतिपादन व घनपर पर प्रत्यय का प्रत्यय होता है ।

गिरयः पृथिवीपातुः । पृथिवीपातो हि सत्यम् । विज्ञानम् । विज्ञाने
हि सत्यम् । ज्ञानम् । ज्ञाने हि सत्यम् । घोरम् । घयः तद् प्रत्ययः ।^{२६}

प्रत्यय गभी दास्यः घोरः गभी घयो की प्रकृति है । गभी मास्य गभीरासातुः ।
१ । यन्तु ज्ञान दास्यमासातुगता हाता है । गभी ज्ञान वाक्य रूप व यन्तुगता १ । है ।
ज्ञानात्मा घयस्या (घयप्रतिपात घयस्या) य भी पातो व गुरुम घम यन्तुगता २२१ है ।^{२७}
मास्य घय का सत्यप्रत्यय परिपत्य (गिरु का) यन्तु व स्वच्छ मास्य व घय म होता है ।
यन्तुनिमित्त के टीका म परिज्ञान न हाता व कारण यन्तु ज्ञान भाव उमह मास्य म गता
उठ पाते हैं । घय दास्य का विषय है । दास्यप्रत्यय घोर हाता, यम प्रकृति म, घय है ।

भोजः व किसी घय घागम व घागार पर दास्य व घयप्रत्यय, विज्ञान घोर
विपरिणाम इन सीता पाता म घय की उत्पत्ति की है । दास्य म भिन्न रूप म घयप्रत्यय
की उत्पत्ति नहीं होती । घय (जगत्) दास्य का घयप्रत्यय है । एक ही दास्य दास्य
ग्रहण घोर सविति रूप म विपरिणाम घयवा दुष्टिभक्त व कारण घमम घमम जाता
पड़ता है । परमात्ममय ज्यातिरूप दास्य (सरस्वती) ज्ञाना ज्ञान घोर यम रूप म
प्रकट होता है ।^{२८} जैसे जल बल्बोंस रूप म नीला विज्ञान घाति रूप म विवर्तित हाता
है, दास्य घविद्या उपाधि के सहारे भिन्न भिन्न रूप म विवर्तित प्राप्त करता है । मात्र
के यन्तुगता जस दास्य स घय क विवर्तन का प्रतिपादन किया जाता है यम ही घय म
दास्य के विवर्तन की प्रक्रिया निर्माई जा सकती है । किन्तु दास्यप्रत्यय प्रकाश की महत्त्व
देने के लिए यन्तु स घय का विवर्तन दिमाया जाता है । भोज की दुष्टि म घमिधीय
मान घय व अतिरिक्त प्रतीयमात्र घय की सिद्धि व निष्पादन व विपरिणाम पर की
अगीकार करना चाहिए । जैसे मिट्टी स घट, क्षीर स दधि, पाव स घीवन विपरिणाम
के प्रतीक हैं उसी तरह दास्यप्रत्यय स, घविद्या उपाधि व सहारे घय रूप म विपरिणाम
होता है ।^{२९}

२६ महाभाष्यटीपिका पृ० २६ (पूना संस्करण) इस अंश को हेलादाज ने वाक्यपदीय ३।३२ की
टीका में उद्धृत किया है । द्वादशारण्यपञ्चक पृ० ४६५ पर भी वही कान्धो उद्धृत किया गया है ।

३० 'वाक्यमचेतितोवरथा तस्यामपि वाक्यभानुगमोऽव्यवर्तते'

—वाक्यपदीय, १।१२५ हरिवर्त्ति वषभ ने अमचेतित अव्यवर्था को अव्यवर्था माना है ।

३१ अविभागोऽपि बुद्धयारमा विपर्योसितदर्शनै ।

ग्राह्यमाहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥

अहीनृग्रहणग्राह्यमायापधपरिच्युताम् ।

नमाम परमानन्दज्योतिरूपा सरस्वतीम् ॥—शङ्करप्रकाश, पृ० २२० पर उद्धृत ।

३२ 'इदं शास्त्रं ब्रह्माप्यविधोपाधे तेन तेनाधरूपेण तथा तथा विपरिणमते' भोजने से इसका एक
रोचक उदाहरण दिया है—'तद यथा, अग्नि म पच पुत्रा । मानर पितर शुभ्रपितवान् अग्निम् ।
योऽहं युवा द्रमिदेशे द्रमिडकन्याभि सदावस सोऽहं पश्चिमे दधसि गंगातीरे तपस्वरामासि ।

—शङ्करप्रकाश पृ० २२१

शब्दविवृत की आलोचना करते हुए गान्तरभित ने आपत्ति की है कि शब्द से जगत् का परिणाम अप्रभित है अथवा उत्पत्ति। परिणाम पक्ष अनुपपन्न है। क्योंकि शब्दात्मक ब्रह्म जब नील आन्तरिक रूप में परिणत होता है अपने स्वाभाविक गन्धरूप को छोड़ देता है अथवा साथ रखता है? प्रथम पक्ष में (छोड़ देने के पक्ष में) शब्द ब्रह्म के अनाग्निनिघनत्व, अक्षरत्व आदि की हानि होती है क्योंकि पूर्व के स्वभाव का विनाश भङ्गता है। यदि अपने स्वाभाविक शब्दरूप को छोड़ नहीं देता है यह पक्ष अभिप्रेत है तो नील आदि के संवेदन के अक्षर पर अधिर व्यक्ति का भी अश्रुत शब्द का संवेदन होने लगेगा क्योंकि नील के संवेदन से शब्द का संवेदन भिन्न नहीं है।^{३३}

वस्तुतः भग्न हरि न शब्दब्रह्म की प्रतिष्ठा कुछ भिन्न रूप में की है।

स्फोटवाद की समीक्षा

स्फोट सम्बन्धी उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्फोट का प्रकृत रूप प्राचीन काल से ही अस्पष्ट रहा है। उसे उसका स्वरूप भिन्न भिन्न रूप में सामने लाए गए हैं उसकी आलोचना भी विभिन्न दृष्टिकोण से की गई है। आलोचना के स्फोट संबंधी विवरण से स्फोट का स्वरूप जटिलतर हाता गया है। स्फोटसिद्धांत के प्राचीन आलोचकों में उत्तलस्वनीय भामह धमकीति शंकर कुमारिल, वादिदेव सूरि और जयन्तभट्ट हैं।

भामह ने स्फोट के स्वरूप का निर्देश नहीं किया है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि उनके मत में स्फोटवाक्य कूटस्थ, अनपायी नाद से भिन्न शब्द के रूप में गहीन था। भामह के अनुसार शपथ लेकर भी स्फोटवादिया की बात नहीं माननी चाहिए। स्फोटवाद आकाश कुसुम सदा है। अनादिकाल से वणव्यवहार द्वारा अथ अवबोध का एक समय (परिपाटी) निश्चित हो चुका है। अथ केवल साक्षेतिक होत है पारमार्थिक नहीं होत।^{३४}

शब्द और अर्थ के संबंध को एक कल्पित समझौता के रूप में व्यवहृत करना भामह की महत्त्वपूर्ण उक्ति है। किन्तु वण अथवा नाद से मूर्ख किसी ध्वनितत्त्व की सत्ता को सर्वात्मना अनुज्झीकार करना अवज्ञात्मक है।

धमकीति ने भी स्फोट का विवरण नहीं दिया है। ऐसा जान पड़ता है उनके भामने स्फोटवाद वण से अनिरिवत एक आनुपूर्वी के रूप में और अपौरुषेय के रूप में था। आनुपूर्वी, उनके मत में अतद्रूप में तद्रूप की कल्पनामात्र है बुद्धि का एक विभ्रम है। न तो बुद्धिविभ्रम अपौरुषेय हो सकता है और न सबके शब्द अपौरुषेय हो सकते हैं।^{३५} धमकीति ने समवत मीमांसादान के अपौरुषेय और व्याकरणा

३३ तत्त्वमगद, तथा पत्रिका, १२६ १३१।

३४ कायालकार ६।११ १४

३५ प्रमाणवार्तिक, फरिका २७१, पृ. ६४ काशा मकरण

के वणविचार को एक म गूँय वर स्फोट की चिन्ता की है और इसलिए वह चिन्त्य है ।

आचार्य शंकर न वणों म त्रम के आधार पर स्फोटपत्र म गरीयसी कल्पना, दष्टहानि और अदष्टकल्पना मानी है । इसका उत्तर नेपथ्य ने नित्य और विभु म क्रम के अभाव दियाकर दे दिया है ।^{३४}

कुमारिल ने स्फोट की आलोचना कुछ विस्तार से किन्तु विशृङ्खल रूप म की है । मीमांसका को अपनी स्फोट समीक्षा पर अभिमान है और वे इस वयाकरणो की चिकित्सा सी मानते हैं ।^{३५}

मीमांसा दान म स्फोट का लण्डन विशेष दृष्टिकोण को सामने रखकर किया गया है । स्फोटवाद की सत्ता मान लेने पर पत्र वण आदि अवयव की सत्ता व्यथ हो जाती है । फलतः पद और उसके अवयवश्रित ऊह आदि भी मया जान पड़ेंगे महावाक्य म अवातरवाक्य सिद्ध नहीं हो पायेंगे प्रयाजादि आश्रित प्रसंग, तत्र आदि व्यथ जान पड़ेंगे । इसलिए उनके लिए स्फोटवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है ।^{३६} मीमांसको के अनुसार दृढस्मृतिवद्ध वणों म वाचकता है । वणों से अतिरिक्त शब्द की कल्पना तथा अनेक सस्कारों की कल्पना गौरवग्रस्त है । उनकी मायता म नाद वायुस्वरूप नहीं है और न सयोगविभागमय है । किन्तु वायुगुणवाले शब्दविशेष को ही नाद कहा जाता है और ध्वनि भी कहा जाता है । शब्द दो तरह का होता है वण और ध्वनि । दोनों मे शब्दत्व अनुगत रहता है । वणत्व और ध्वनित्व अवातर सामान्य है । गकार आदि वणविशेष है शस्त्रघोष आदि ध्वनिविशेष हैं । ध्वन्यात्मक शब्द वायुगुण वाला है । जैसे प्रभारूप अवातर का अभिव्यजक होता है शब्द वणत्मक गकार आदि का व्यजक होता है । वायु के वणविवर म प्रवेश से शब्द का ग्रहण ससृष्ट श्रोत्र द्वारा होता है । कभी वणरहित केवल घोष आदि का ग्रहण होता है कभी वणसहित, वण से उपलब्ध ध्वनि का ग्रहण होता है ।^{३७} पद अथवा वाक्य म वर्तमान वण या ध्वनि स्फोट के व्यजक नहीं होते । वण से व्यतिरिक्त रूप मे स्फोट अथ का वाचक नहीं होता ।^{३८}

वाक्यों के अवयववाक्य कार्यों की सिद्धि के लिए कुमारिल का आयास आयास मान्य है । भत हरि ने स्फोट की सत्ता मानते हुए भी वाक्यधर्म के रूप म स्वयं प्रसंग तत्र आदि का विवेचन किया है । वणों म वाचकता मानना जैसे एक मायता है, वणों

३६ नित्याना च विभूना च त्रमो नास्त्येव वास्तव ।

उपलब्धिनिमित्तोऽस्ति सा चेदेका कुत त्रम ।

—स्फोटत्व निरूपण ७

३७ चित्तेव वृत्ता शब्दविदा मामासकैरियम् ।

—शास्त्रदीपिका, युक्तिग्नेहप्रपूर्णा, पृ० ६७

३८ न्यायरत्नाकर व्याख्या, पृ० ५४४

३९ श्लोकवार्तिक न्याय रत्नाकर पृ० ५१६

४० श्लोकवार्तिक स्याद्वा १३१, १३२

से व्यतिरिक्त स्फोट में वाचकता मानना भी एक मायता है। मायता विचारक के तक, कल्पना और स्वतंत्रता से परिचालित होती है। इस दृष्टि से मीमांसादशन और व्याकरणज्ञान दोनों स्वतंत्र हैं। कुमारिल के स्फोट की समीक्षा मण्डन मिश्र ने और योगभूषण के टीकाकार किसी अवधीन शंकर ने भी की है।

वादिदेवभूरि ने अनुपग रूप में उक्त भत हरि के कई मनः पर विचार किया है किन्तु मूल स्फोट के विषय में ऊर्ध्वोक्त है। उनकी मौनिक आलोचनाओं में तो उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि यदि अथप्रत्यायकत्व मात्र के आधार पर स्फोट को शब्द माना जायगा तो प्रत्यायक धूम में भी शब्दत्व माना जायगा। दूसरा यह कि नालिकेर द्वीप निवासी जिसे गो शब्द का सकेत नहीं पता है, वही भी गो शब्द से अथ बोध नहीं कर सकेगा। इस तरह लोक व्यवहार विच्छिन्न हो जायगा।^{४१} ये दोनों ही तर्क आपातरमणीय हैं। भत हरि ने ध्वनि से मन्त्रा निरूपण रूप में स्फोट का प्रतिपादन नहीं किया है। अतः केवल प्रत्यायक धूम को शब्द नहीं माना जायगा। स्फोट सिद्धांत का यह अभिप्राय नहीं है कि जो भाषा जान नहीं जानता हो उसके श्रवण से भी उसे अथ बोध हो। ध्वनि के साथ ध्वनि का प्रतीतप्रापकता है।

जयतमभट्ट ने स्फोट को प्रत्यक्षगम्य अथवा अनुमेय नहीं माना है। किन्तु यदि ध्वनि से समृष्ट रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है स्फोट की ध्वनि की तरह श्रोत्रग्राह्य रूप में प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा। प्रतीति वचिन्म्य भी ध्वनि वचिन्म्य के कारण होती है अथवा मणि कृपाण आदि में एक ही मुख की अनवधान अभिव्यक्ति की तरह एक ही स्फोट की अनवधान अभिव्यक्ति संभव है।

शब्द ब्रह्मवाद

प्रतिभातत्त्व और वाक तत्त्व एक ही वस्तु है। और वाक तत्त्व और ब्रह्म एक ही वस्तु है। भत हरि के अनुसार ब्रह्म आदि अतः से रहित है। सब तरह की कल्पनाओं में परे है। सब तरह के भेद और समग से परे विद्या अविद्या आदि सभी तरह की शक्तियाँ से समाविष्ट है। शब्दतत्त्व और ब्रह्म की एकता दिखाने के लिए भत हरि न श्रुति का आधार अधिक लिया है। अपने मतव्य की परिपुष्टि में केवल एक तक उन्होंने उपस्थित किया है। शब्द ब्रह्म का उपग्राह्य है और उपग्राही है। अतः शब्द को ब्रह्मतत्त्व कहते हैं। शब्द उपग्राह्य इस रूप में है कि शब्द ब्रह्म द्वारा स्वीकृत होता है, वह शब्दस्वभाववाला है। शब्द ही रूप आदि के रूप में विवक्षित प्राप्त करता है। विकार का प्रकृति में अवयव देखा जाता है। रूप आदि विकार हैं, उनकी प्रकृति, भत हरि के अनुसार, शब्द है। रूप आदि में सूक्ष्म शब्द का परिज्ञान होता है यह तभी संभव है जबकि रूप आदि की प्रकृति शब्द हो। रूप आदि सभी शब्दमय हैं। वही ही ब्रह्म के उपग्राह्य हैं। शब्द ब्रह्म का उपग्राही भी है अर्थात् उसकी प्रतिपत्ति शब्दनिर्बन्धना है शब्द द्वारा उसका बोध होता है। इसलिए ब्रह्म शब्द तत्त्व है

‘तसु (ब्रह्म) मिन्नरूपात्मितानामपि विकाराणां प्रकृत्यव्यभिचारोपप्राप्तये वाच्योपप्राहिता च नान्यतरव्यभिचयभिषोयने ।

—वाचस्पतीय १।१ हरिवृत्ति

अभिप्राय यह है कि वाचस्पतीयसार ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करता है । परन्तु उनका अनुसार ब्रह्म का स्वरूप वाच्य है । वाच्यस्वरूप होने का कारण ब्रह्म का वाच्यत्व कहा जाना है । ब्रह्म को वाच्यस्वरूप मानने का मूल आधार विचार प्रवृत्ति में ससृष्ट होने है यह सिद्धांत है । रूप प्राप्ति विचारों में वाच्यभावना प्रवृत्ति रहता है । इसलिये उन सब विचारों की प्रकृति वाच्य है । प्रवृत्ति में इन मन्त्रों के समर्थन में भूति न श्रुतियों का सहारा लिया है । ‘तामवे’ रूप में बना जग श्रुति वाच्य वाच्य को प्रकृति और गवादि अर्थ को विचार प्रोषित करता है ।

शब्द ब्रह्म से विश्व का विकास

भक्त हरि विवर्तवाद के आधार पर वाच्य से विश्व का विकास का समर्थन करता है । उनका मत है विवर्त की परिभाषा निम्नलिखित है

“एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणांतरव्यभिचारात्मकस्योपप्राहिता विवर्त ।

—हरिवृत्ति वाचस्पतीय १।१

मूल तत्त्व एक है । वह कई रूपा में दिखाई पड़ सकता है । परन्तु इस विभिन्नता से उसके मूलरूप में कोई भेद नहीं पड़ता । वह ज्यों का त्यों रहता है । समान में अर्थ पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के समान में अपने स्वरूप खाते हुए जान पड़ता है । पट हरित पीत आदि विभिन्न रंगों के संपर्क से हरित पीत आदि विभिन्न रंग का हो जाता है । स्फटिक लाल रंग आदि के साहचर्य से लाल आदि रूप में दिखाई देता है । पर वह मूल तत्त्व कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता । केवल भेद के अवभास के कारण एक होता हुआ भी वह अनेक रूप में विभक्त जान पड़ता है । अनेक रूप में उसका अवभास असत्य होता है । भेद के सहारे एक के अनेक रूप में अवभास को विवर्त कहते हैं । भक्त हरि ने परिणाम शब्द का भी विवर्त के अर्थ में प्रयोग किया है ।

‘नान्यस्य परिणामीयम्’ (वाचस्पतीय १।१२१) में भी परिणाम शब्द विवर्त-बोधक है जिस एतद् विश्व विवर्तते (व्यवर्तते) से स्वयं भक्त हरि ने स्पष्ट कर दिया है । कई स्थानों पर हलाराज ने भी परिणाम को विवर्त के रूप में लेने का अनुरोध किया है

नेद साक्ष्यनयवत परिणामदशनमपि तु विवर्तपक्षः ।

—हेलाराज वाचस्पतीय ३, द्रव्यसमुद्देश १५

प्राचीन श्रुति के आधार पर भक्त हरि ने दो तरह का विवर्त माना है । मूर्ति विवर्त और क्रिया विवर्त । दिक शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त मूर्ति विवर्त है । क्रिया शक्ति से अवच्छिन्न विवर्त क्रिया विवर्त है । दूसरे शब्दों में सिद्ध पदार्थों के लिए मूर्ति विवर्त और साध्य पदार्थों के लिए क्रियाविवर्त का व्यवहार किया जाता है । साध्य (क्रिया) और साधन (कारक, सिद्धरूप) के रूप में विभक्त होकर शब्द ब्रह्म का विवर्त होता है

प्रविभवतसाध्यसाधनरूपो हि गद्वद्वह्यणो विवत

—हरिवृत्ति, वाक्यपदीय १।१२८, पृ० १२५

महाप्रलय के बाद जबकि सब-कुछ अस्त हो गया रहता है तब वह सत्ता से पुनः सृष्टि का विकास होता है। उस समय शब्द में सम्पूर्ण भाव जगत् सहित क्रम रूप में रहता है। सभी भावों के एकत्र उपसंहार के कारण उनका अलग अलग भव-धारण उस समय नहीं होता। विवत के कारण विकारों का आभास होने लगता है। सृष्टि के अन्त में प्रलय के समय सभी विकार पुनः उसी शब्द-तत्त्व में लीन हो जाते हैं।

ब्रह्मेद गद्वनिर्माण शब्दशक्तिनिबन्धनम् ।

विवत शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥४२

विवत का आधार किसी प्राचीन आगम के आधार पर भन हरि ने अविद्याशक्ति का माना है। अविद्याशक्ति की प्रवृत्ति में सिद्ध और साध्य रूप में शब्द से विवत होने लगते हैं। हेलाराज ने भी इस मत का समर्थन किया है। अविद्याशक्ति में अनेक तरह के विकार प्रदर्शन की शक्ति है।

सर्वगवत्यात्मभूतत्वात् ब्रह्मण अनेकविकारप्रदर्शनसामर्थ्यलक्षणा अविद्यास्या शक्तिः कायभेदादुपचरितनानात्वा समस्तोत्पाद्यमविदः ॥४३

विवत की प्रक्रिया दबाने के लिए भन हरि ने सत्ता विवत का आश्रय लिया है।

पहले कहा जा चुका है कि भन हरि शब्द-तत्त्व सत्ता अथवा महामायिक या मयिक समझते हैं। परब्रह्मस्वभावा सत्ता शक्तियों के आश्रय से पदभावविकारों में परिणत (विवर्तित) हो जाती है। यही साध्यविवत है। जब क्रम रूप का मयिक-प्रवृत्ति-वस्था—अभिप्रेत होती है वही सत्ता सत्त्व (द्रव्य) रूप में प्रकट होती है। यही सत्त्व, सिद्ध अथवा साधन विवत है। सत्ता में ही सब शब्द व्यवस्थित हैं। यही शब्द-तत्त्व कहते हैं। उसी को प्रातिपदिकाथ कहते हैं। त्व तल आदि प्रत्ययों की प्रवृत्ति अत्र ही है। वह नित्य है। महान् आत्मा है।

ने इस स्पष्ट कर दिया है

सविच्च पश्यन्तीह वा परावाच गच्छद्वाप्यमीनि गच्छात्तस्य गच्छान् पारमाथि
पात न भिद्यते । विद्यद्वाप्यो तु धनर्थात्मना भर ।^{४५}

अविमागदगाप्यो तु पश्यन्पथिधानायां वाच्यवाच्यमेतानुत्तानागानाश्चाम
विना वाचित । इत्येव च कृत्वा दशरजनीविद्युत्वाद् इववहारेऽप्यस्य तत्र
विधोगात् तद विद्यतत्प विन्य सिद्धम् ।^{४६}

अद्वैतवाद

भक्त हरि ने वाक्यपदीय में प्रायः सभी तरह के भाषित विचारों का उन्मूलन किया है ।
उनकी यह सली है कि वे गम्भीर विचारों के प्रसंग में दागना प्रयोगों का उन्मूलन
करते हैं और व्याकरणद्वारा के गवयधपरिपक्वता के कारण सभी भाषा अज्ञानों
सबका उचित था । परन्तु हनाराज के अनुसार उनका मुख्य अद्वैतवाद का भाष्य
रहा है । वह स्थान पर हनाराज ने उनसे अपने मित्रों का अद्वैतवाद कहा है

परमाथदृष्ट्या सवपापदस्यात् पुनरस्य गच्छात्तस्य दानात्तरोपयाम । एव
च सवत्रयास्य प्रयत्नारस्यामिप्राय । पश्यच्चर्चाविचारे गच्छात्तनायनय
सम्बन्धादिविचार विनिगमनात् ।^{४७}

अर्थोविचर्चाश्रयेणाद्वैतनय स्वमतं सिद्धात्तद्विमुपपन्नम् ।^{४८}

इसमें स्पष्ट नहीं कि वाक्यपदीय में अन्तर्विचारपरक तथ्यों की कमी नहीं
है । उनका विवतवाच अद्वैतवाद का ही पोषक है । अद्वैते चय सवस्मिन् स्वभावादेन
लक्षणे^{४९} जैसे वाक्य स्पष्ट रूप में अद्वैतवाद का अभिधान करते हैं । जब वे कहते
हैं तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है^{५०} वे अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करने जान
पड़ते हैं । सत्य और असत्य दो रूप मानने से अद्वैतवाद की संगति न चटगी ।

‘एक ही सत्ता सब रूप में स्थित है । वही साध्य है । वही साधन है । वही
फल है । वही फल का भोक्ता है ।’^{५१}

अर्थी के रहस्य को जानने वाले उसी को सत्य मानते हैं जहाँ द्रष्टा, दृश्य
और दशन सब अविकल्पित हैं ।^{५२} विवल्परिघटित सब-कुछ असत्य है । अविकल्प
तत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है ।

सागर, पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य, दिशाएँ आदि सभी अन्तःकरण तत्त्व की

४५ वाक्यपदीय द्रव्यसमुद्देश ११

४६ वही, सम्बन्धसमुद्देश २

४७ वही जातिसमुद्देश ३५

४८ वही सबध समुद्देश ६१वीं कारिका की अवतरणिका ।

४९ वही, सबध समुद्देश ६४

५० वही द्रव्य समुद्देश ७

५१, वही त्रिया समुद्देश ३५

५२ वही सबध समुद्देश ७०

चाह्य अभिव्यक्ति है

द्यौ क्षमा वायुरादित्य सागरा सरितो दिग ।

अतः करणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थिता ॥^{५३}

आदि उक्तियाँ अद्वैतवादपरक हैं। परन्तु भक्त हरि ने अद्वैत ब्रह्म का शब्द ब्रह्म से अलग रख कर नहीं देखा है। उनका अद्वैत ब्रह्म शब्द अद्वैत ब्रह्म कहा जा सकता है। कुछ विचारकों ने “शब्दाद्वैतवाद” शब्द का प्रयोग भी किया है। हलाराज ने भी उपयुक्त कारिका का भावाय वताते हुए “अद्वैत ब्रह्म का ही समर्थन किया है

परमार्थे तु कीदृशोऽतबहिर्भावः । एकमेव सच्चिदानन्द पर शब्दब्रह्म यथा—
तथैवस्थितम् ।

इस प्रौढ आधार पर भक्त हरि ने व्याकरण दान को सुव्यवस्थित किया है। ‘महाभाष्याधिपीयूषच्छटाच्छ्रुतिविग्रह’ वाले वाक्यपदीय की यही विशेषता है। उसमें विवक्षित प्रातिपदिकाश्च ध्येयवा आग्याताश्च, पठ अथवा वाक्य आद अथवा प्रतिभा सब का अनूठा सौन्दर्य है। गाभीय और मोष्ठव की छाप सबत्र है। अत्यन्त शील के साथ विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख करते हुए और अपने आगम की रक्षा करने हुए भक्त हरि ने व्याकरण दर्शन की भाष्यताम्रा का परिपुष्ट किया है।

व्याकरणदर्शन वाणी का परम रस है पुष्पनम ज्योति है। मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है। एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञान कामधुक है। शब्दमस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दतत्त्व के अनुशीलन से ब्रह्मामृत भी प्राप्ति होती है। संस्कृत क कथा करण इन मायताम्रा का सजीव स्वन आए है और उन्हें सिद्ध करने रह हैं।

□ □ □

चुने सदर्म-ग्रन्थ तथा निबन्ध

अनभट्ट	महाभाष्यप्रणीतोद्योतन, २ भाग, मद्रास, १९४८ १९५२
अभिनवगुप्त	ईश्वरप्रत्यभिनाविवर्तिविमर्शिनी ३ भाग, श्रीनगर, १९३८—४३
,	मालिनीविजय वार्तिक, श्रीनगर, १९२१
,	परात्रिंशिका श्रीनगर १९१८
अभिनवभारती	(नाट्यविवर्ति) ४ भाग, बडोदा
अभ्यर, व० ए० एस०	भत हरि, ए स्टडी आफ वाक्यपदीय इन द लाइट आफ ए राट कम्पटीज, पूना, १९६६
,	स्फाटमिद्धि का आगल अनुवाद, पूना, १९६६
,	द प्वाइण्ट आफ यू आफ वयामरणाज, जरनल आफ ओरियण्टल रिमच मद्रास वाल्यूम १८, पार्ट २, १९४१
,	प्रतिभा एज द मीनिंग आफ सेटेस, आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फेस १९४०
उत्तर भट्ट	लावत्रातिकायाम्या तात्पर्यटीका, मद्रास, १९४०
ऋषिपुत्र परमेश्वर	स्फाटमिद्धिटीका गोपालिका मद्रास १९३१
कमनील	तत्त्वसप्रहृषजिना २ भाग, बडोदा १९२६
कणकगामी	प्रमाणवातिनटीका राहुल, साहित्यायन संपादन, इन्स्टीट्यूट १९३०
कविराज गौरीनाथ	टास्मिन् आफ प्रतिभा इन इण्डिया किनासफी, एनम आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिमच वाल्यूम १
बीमन्त, ए०	भत हरि इण्डियन एण्टीक्वरी, वाल्यूम १२, १८८३
कुमारि	दनावतिन चौम्याससृत्तसीरिज, बनारस, १८६८
कृष्णमित्र	वयाकरणभूषणकारिका टीका (हस्तलख)

वृष्णमित्र	कुञ्जिका टीका (लघुमजूपा), बनारस १९२५
कथट	महाभाष्यप्रदीप ५ भाग, निणयसागर, बम्बई, १९१७—१९४२।
	—गुप्प्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस १९३९
कोण्डभट्ट	वैयाकरण भूषण बम्बई १९१५
गोकुलनाथ	पदवाक्यरत्नाकर बनारस
चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र	फिलासफी आफ सस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९३०
"	लिंगविस्टिक स्पकुलेशन आफ द हिन्दूज, कलकत्ता, १९३३
चटर्जी, क्षितीशचन्द्र	टेक्निक्न टम्स एण्ड टेक्नीक आफ सस्कृत ग्रामर कलकत्ता १९४८
चन्द्रकीर्ति	प्रसनपदा (माध्यमिक कारिका टीका) पीटसबग, १९१२
जगदीश भट्टाचार्य	शान्शक्तिप्रसागिना कलकत्ता १९१४
जयन्त भट्ट	न्यायमजरी बनारस १९३६
जयादित्य वामन	काशिकावृत्ति (बालशास्त्री संपादित) द्वितीयावृत्ति, बनारस १८९८
जिनेन्द्रबुद्धि	काशिकाविवरणपञ्जिका (न्यास) राजशाही १९१३—१९२५
	प्रमाणसमुच्चयटीका, भ्रडयार
दुर्गाचार्य	निरुक्त भाष्य २ भाग, बम्बई, १९४२
धर्मकीर्ति	प्रमाणवातिक पटना, बनारस १९५९
नागेश भट्ट	बह्छन्दुशेखर, ३ भाग, काशी १९६०
	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमजूपा, बनारस, १९२५
	परमलघुमजूपा बनारस १९४६
	महाभाष्यप्रदीपोद्योत निणयसागर १९१७—१९४५, गुप्प्रसाद शास्त्री संपादित, बनारस, १९३९
	स्फोटवाट, भ्रडयार, १९४६
पतञ्जलि	महाभाष्य ३ भाग, कीलहान संपादित बम्बई, १८९२
पाठक, के० बी०	द डेट आफ भत हरि एण्ड कुमारिल, जेनरल आफ बगल रायल एगियाटिक सोसाइटी, १८९३
पाणिनि	अष्टाध्यायी बम्बई सम्बत १९८५
"	पाणिनीय शिक्षा, मनमोहन घोष संपादित, कलकत्ता १८२८
पाण्डेय, रामाना	व्याकरणन्यायभूमिका, काशी १९५४

पाण्डेय, आर० सी०

पाथसारथि मिश्र

पिपारटि, के० राम

पुण्यराज

पुष्पोत्तमदेव

प्रचाररगुप्त

प्रभाचंद्र

प्रभाकर मिश्र

वि० मदलीन

मनवाल्कर श्रीपट्टवृष्ण

भट्टाचार्य गिरिधर

भट्टाचार्य गोरीनाथ

भट्टाचार्य विष्णुपट्ट

भट्टाचार्य वि०

भरत मिश्र

भृगुहरि

प्राक्लेम आफ मीनिंग इन इण्डियन फिलासफी,
दिल्ली १९६३

यायरत्नाकर (श्लोकवातिकटीका) बनारस
द डाक्टरिन आफ स्फोट, अनामलै यूनिवर्सिटी जरनल
वाल्सूम १, पाट २

वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड की टीका बनारस, १८८७
भाषावृत्ति, राजशाही, १९१८

नापकसमुच्चय

कारकचक्र

परिभाषावृत्ति

राजशाही १९४६

प्रमाणवातिकटीका पटना

प्रमेय कमलमातण्ड बम्बई १९४१

वहती, ५ भाग मद्रास १९३६—१९६७

स्फोटसिद्धि कच अनुवाक पाण्डिचरी, १९५८

विष्टम्भ आफ सस्कृतग्रामर बम्बई १९१५

विभक्त्यधिनियम बनारस १९०२

ए स्त्री इन ए लाइलमिटस आफ स्फोट जरनल
आफ द रिपाटमेट आफ लिंग, कलकत्ता
१९३७

स्टडी इन सम्यज एण्ड मीनिंग, कलकत्ता १९६२

संस्कृतसुख बनारस, १९२७

संस्कृतसिद्धि विष्णुपट्ट १९२७

महाभाष्य त्रिपाठी (त्रिपाठी) श्री अत्यन्त जिज्ञासु
द्वारा की गई प्रतिलिपि।

महाभाष्यटीका (त्रिपाठी) डॉ० बी० राममीनाथन
द्वारा संपादित बनारस १९६५

महाभाष्य टीका (त्रिपाठी) श्री क० बी० सम्यकर
तथा आचार्य बा० बी० विमले द्वारा संपादित
पूना १९६८—७१

वाक्यपदीय काण्ड १० (प्रथम पाण्ड पर संपादित
अनुराधित तथा वितीय काण्ड पर पुण्यराज की
टीका मद्रास) मानवस्मीगगापर शास्त्री संपादित
बनारस १८८७

वाक्यपदीय काण्डकाण्ड श्री द्रव्यभाषा प्रणीत प्रवक्तव्य
प्रकाशित मद्रास, बनारस १९२५

भन हरि

वाक्यपनीय, ब्रह्मकाण्ड श्री मूयनारायण शुक्ल विरचित
भावप्रदीप व्याख्यान सहित बनारस, १९३७

वाक्यपनीय, स्वोपनटीका तथा वषमटीका सहित
प्रथमकाण्ड श्री चारुतेव शास्त्री संपादित
लाहौर, १९३४

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड (१८४ कारिका तक)
स्वोपनवृत्ति तथा पुण्यराज की टीका सहित,
श्री चारुतेव शास्त्री संपादित लाहौर १९३६

वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड स्वोपनवृत्ति सहित, हस्तलेख
ओरियण्टल मनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास

वाक्यपदीय प्रथम काण्ड भन हरिवृत्ति तथा वषमदेव
टीका सहित प्राफेसर क० ए० एम० अय्यर
संपादित, पूना १९६६

वाक्यपनीय प्रथम तथा द्वितीयकाण्ड प० रघुनाथ शास्त्री
विरचित अम्बाकृत सहित, काशी १९६३—१९६६

वाक्यपदीय तृतीय काण्ड प्रकीर्णक प्रकाश सहित
बनारस (चौखम्बा), १९०५—१९३५

वाक्यपनीय तृतीय काण्ड, भाग १ (साधन लिङ्गसमुद्देश)
हलाराज की टीका सहित श्री साम्बशिव शास्त्री
संपादित त्रिवेन्द्रम, १९३५

वाक्यपदीय तृतीयकाण्ड भाग २ (वृत्तिसमुद्देश)
रवि वर्मा द्वारा संपादित, त्रिवेन्द्रम १९४२

वाक्यपनीय, तृतीय काण्ड भाग १, हलाराज की टीका
सहित, प्रो० के० ए० एस० अय्यर द्वारा संपादित,
पूना १९६३

वाक्यपदीय श्री क० वी० अभ्यकर तथा आचार्य
वी० पी० लिमये द्वारा संपादित, पूना १९६५

वाक्यपनीय सवृत्ति प्रथम काण्ड प्रो० के० ए० एस०
अय्यर द्वारा अग्रेजी में अनूदित, पूना १९६५

वाक्यपनीय काण्ड १ २, डा० के० राघवन पिल्ल द्वारा
अग्रेजी में अनूदित दिल्ली १९७१

शृंगार प्रकाश ३ भाग भूसूर १९५५—६६

स्फोटसिद्धि मद्रास, १९३१

भावनाविवेक काशी १९२२—२३

द्वान्तसारनयचक्र ४ भाग अहमदाबाद

द्वान्तसारनयचक्र, भाग १ मुनि जम्बूविजय संपादित,

भोज

मण्डन मिथ

मल्लवादि क्षमाश्रमण

सुचरित मिश्र	काशिका (श्लोकवार्तिकटीका) ३ भाग, त्रिवे द्रुम १९२७—४३
” सोमनाथ	काशिका (हस्तलेख) शिवदृष्टि (उत्पल की टीका सहित) श्रीनगर १९३४
म्कन्दस्वामी	निरुक्तभाष्य लाहौर, १९३०
हरदत्त	पदमजरी २ भाग, काशी १८९८
हरिराम	काशिका (वैयाकरणभूषण की टीका) बम्बई, १९१५
हीमन, बयी	स्फोट एण्ड ग्रथ के० बी० पाठक कामेमोरेसन वाल्यूम वाक विफोर भन हरि, इण्डियन फिलासाफिकल का फ्रेंस, अडयार डाक्टरिन आफ स्फोट गगानाय भा रिसच जरनल, इनाहावाद, १९४८
हेलाराज	प्रकीणक प्रकाश

अनुक्रमशिका

अक्षर २१	अद्वयमिद्धि २८
अक्षर १८७	अद्वयता १८८
अक्षर त्रिया १८६	अद्वयता व अनुसार वात २०६
अक्षर (व्याकरण) २१०	अद्वयता २८३ २८४, ४८२
अक्षर वाच्यता २८७	अधिकरण १२, २६५
अक्षरवाट ६६३	अधिकार ३७६ २८० ३६६ २६५
अक्षरमाप्ताय १०७	अधिकारा ३७८
अक्षर वाच्यता १८ ५६	अध्यासा २६६
अक्षरा ६१	अध्यासा श्रीर अध्याय म अक्षर
अक्षरान्तिमाव ८०	११२
अक्षरान्तिमाव ३२	अध्यासागियम ३६०
अक्षरान्तिमाव ६६०	अध्यासागियमविषय ११८
अक्षरान्तिमाव ७७	अध्यासागिद्धान ३६६
अक्षरान्तिमाव २०१	अध्यासागिद्धान प्रवणता २४३
अक्षरान्तिमाव २६१ २१	अध्यासा ६६ १५३
अक्षरान्तिमाव व श्रीर अक्षर ३८६	अध्यासागियम मध्य ११०, २७१
अक्षर ७	अध्यासा मध्य ६७ ६२६
अक्षरान्तिमाव ६६८	अध्यासा ३८० ६०६ ४०७
अक्षरान्तिमाव ७७	अध्यासा श्रीर अध्याय म अक्षर ६०८
अक्षरान्तिमाव मध्य ६७२ (वि०)	अक्षरान्तिमाव १२ १० ११२ ११६
अक्षरान्तिमाव मध्य २७१	अक्षरान्तिमाव २७६ २३६
अक्षरान्तिमाव ११६५	अक्षरान्तिमाव मध्य ३३४
अक्षरान्तिमाव मध्य २७३	अक्षरान्तिमाव ३६७
अक्षरान्तिमाव मध्य ७ ६	अक्षरान्तिमाव ७ ७
अक्षरान्तिमाव १६ ११५	अक्षरान्तिमाव मध्य ३३

अभिधावत्तिमात्रिका २६, १२४,
१२५

अभिनवगुप्त २१ २४ २६ २७ ३८,
४१ ४३ ४५, ४६, ४८, ४९ ५०,
७६ ८० ८१ १५६, १७६ (टिप्प०),
२१८ २१९, २२२ २६१, ३६३
३७२ ४७०

अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टारिकल
ऐण्ड फिलासफिकल स्टडी २७
(टिप्प०) २२०

अभिनवभारती ४६

अभिमन्यु १६

अभिव्यक्तिनिमित्तोपायजनप्रवप १४२
१५३

अभिव्यापक २६५

अभिमहित ३६७

अभिहितावयवाद ३३४ ३३८,
३४१, ३६२, ३६८ ३७१ ४११,
४१२, ४१८

अमीष्टप्य और क्रिया समिहार १६७

अभेद ३७६

अभेदत्व सत्या २७८ ३७०

अभेदोपचार ३२८

अभ्यनुशासक २१५ २१६ २१८

अभ्यावत्ति १६७

अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा ३७८

अमरकोश २०६ (टिप्प०), ३५६

अम्यर के० एम० ए० ३२

अम्य ११ ३७८ ४२७

अम्य अयोद्धा १२६

अम्य अवभास १५२

अम्य का अर्थान्तर म अम्यारीय १००

अम्य व प्रवृत्तित्व ६७

अम्यकम १४२, ३६६

अम्यमात्रि १५३

अथनियम २७७

अथनियमवाद १३

अथपरिवर्तन १००

अथप्रकरणान्तरसन्निधान ५
११०

अथप्रकाशनशक्ति ८६

अथभेद से गल्भभेद १०६

अथवाद २७७ ४०६

अथविज्ञानमय ३६५

अथसिद्धात ११

अर्थावयी ४५८

अर्थाभिद ३७६ ३६४

अर्थित्व ३७६, ३६४

अर्थी ३७८

अर्थोपचार १०६ ११०

अलकार सवस्व २७ ३८

अल्पगल्भ और महत् गल्भ ८७

अवक्षेपण १५२

अवधारण ३६३

अवधि ३८० ४०६ ४०८

अवती १७

अवयवविधान ४८१

अवयवावयवीभाव १२

अवान्तर वाक्य ३५१ ३६१

अविचालि ६१

अविद्या ४७५

अविद्यागति ४८१

अविनाभाव १४६

अद्विद्विक्पाप ६१

अद्विद्विगत प्रम ३७६, ४००

अद्विद्विगतभेद ३७६, ४०४

अद्विद्विगतवाच्यलभणा ११८

अद्विद्विगता ३७६

अद्विद्विगता और पराध्य ११६

अद्विगता २०५ (टिप्प०)

अव्यय १४६
 अव्यय १३३ २६६, ३२५
 अव्ययीभाव समाप्त ४५४
 अव्युत्पन्न १०१
 अवागममिति ६३
 अवाध्यायी १५६, २५८
 अमग १७
 अमनस्यनिरूपण ३६७
 अमभव ३८६
 अमभवनियम ४१६
 अमापना ३१
 अमापना ३८७
 अकारनिरूपण ३७
 आहृति ३७१
 आहृति और जाति म नेद १५०
 आहृतिपत्र १८७ १४८
 आख्यात १०३ ११३, १३६ १३६,
 १५६ १५७ १५८
 आख्यातवाद ३५७
 आख्यानग २०० २३४ ३३६
 आख्यानग वाच्य ४२१
 आख्यात गच्छवाच्यवाद ३३५, २३७
 आगममग्रह १४
 आत्मकामत्व ३५
 आत्मतत्त्व २५
 आत्मनेपद २४८ २६६ २५० २५१
 २५४ २५५ २५७
 आत्मनभाप २५७
 आत्मप्रकाशनगति ८६
 आमा अद्वैतदान २६१
 आदिपत्रवाद ३५४
 आदग १० १२
 आद्यपद ३३४
 आद्यपदवाद ३५७, ३६८
 आन्तरवाक्याय ३६४
 आन्तरवाद ६६ ३६४, ६७०

आन्तरमोट ३५३, ४६३,
 आन्तरमोट २६ १२१, १०२, ४६५
 (टिप्पणी)
 आनिगल आन्तर ३६३
 आनिगलायगिगा ७५
 आन्तरमोट ४७०
 आप्तायग ६०
 आराधुपकारक ४०२
 आराध विरोधक ३७६, ४०२
 आयमगायभाष्य १६
 आयसत ४३०
 आवाप-उद्धारपद्धति ३६५, ३८६
 आवाप रणप पद्धति ४१२
 आविष्ट तिष्ठता ३०३
 आवति २०६, ३८०, ३८३
 आवतिन ३८३
 आवतिमस्यान ३८३
 आगता १३३
 आश्विनराम २८०
 आश्विन ४६, ४७
 इन्द्रिय एण्डोसरी २३ (टिप्पणी)
 इन्द्रावगा टु वापित किलासपी
 एकागि टु दगायार्थी गारुण १५
 एण्डोसरी ४४३ ४४४
 एण्डो १५ १७, २०, २० २३ २८
 एण्डो की भारतयात्रा १५
 इट २६४
 एण्डोमिय २६४
 एण्डो २७ २८
 एण्डो आय २०५ (टिप्पणी)
 एण्डो १०
 एण्डो (परिभाषा) ४४१
 एण्डो २८६
 एण्डोप्रत्यभिज्ञाविवर्तिविमर्शनी १५
 २७ (टिप्पणी) ४४१ ४४१
 (टिप्पणी), १७७ (टिप्पणी)

२६१ ३७० ४७० (पि०)
 उ० १५०
 उ० १५० २६१ २६६
 उत्तररामचरित २७६ ३६१ (पि०)
 उत्तर २० ६०, ६३ ६७ ६६ ६७६
 उत्तर १२ ३६६ ३६७
 उत्तरानियम ३६४
 उदभट ४१०
 उदभटवृत्ति ६६६ (पि०)
 उपग्रह १५८, २४५
 उपग्रह की परिभाषा २६५
 उपग्राह १२० १२१
 उपग्राह क० १२० २६० ६०६
 ४०७
 उपचारवृत्ति १२०
 उपचारसत्ता ६६
 उपजन ६१
 उपनिषद् ४३ २०६
 उपमान १०
 उपलक्षण १५४
 उपलक्ष्य १४२ १४३
 उपवय ६६४
 उपसर्गान्न ३६३
 उपसर्ग ११, १०३ १३३ १३४,
 १२६
 उपसर्ग और निपात में भेद १३४
 उपसर्गाथ ३६७
 उपागु ३६ ४५ ३४६
 उपात्तविषय २६३
 उपादान ८२
 उपादान शब्द ८३
 उपाध्याय, अम्बिकाप्रसाद ३२
 उभयविभाषा ४०५
 उभेक भट्ट ३०
 ऊह ३७६ ३८० ३८७ ३८८
 ऊह मन्त्र १०६

उदभट्ट २०५ (पि०)
 उदभट्ट ४३ १०३ ११६०० २००
 ६३ (पि०)
 उदभट्टचरित ८९ ३२६
 उदभट्टचरित १०६ १०७ १०८
 उदभट्टचरित २०५ २०६ २०६
 उदभट्टचरित १०६
 उदभट्टचरित १०६
 उदभट्टचरित १११
 उदभट्टचरित १०
 उदभट्टचरित २६०
 उदभट्टचरित २६५ ४३८
 उदभट्टचरित मन्त्रचरित चारित्र्यचरित
 रिमन्त्र २६ (पि०)
 उदभट्टचरित मन्त्रचरित चारित्र्यचरित
 मन्त्रचरित चारित्र्यचरित २००
 उदभट्टचरित ६०७ ४०६
 उदभट्टचरित ६०७
 उदभट्टचरित १८ १२६
 उदभट्टचरित १८ १८
 उदभट्टचरित १६८ १६६ २६६
 २३३
 उदभट्टचरित ६७
 उदभट्टचरित २१८ २२३
 उदभट्टचरित ३० ६५
 उदभट्टचरित ७३
 उदभट्टचरित ४३०
 उदभट्टचरित २८६ २८२ ३७६
 उदभट्टचरित २४ २६ १२५, ३४६
 ३५८
 उदभट्टचरित २८८
 उदभट्टचरित की प्रधानता २८६
 उदभट्टचरित २८६
 उदभट्टचरित स्थितिवाचक २६५
 उदभट्टचरित स्थितिवाचक १८४
 उदभट्टचरित २८६ २८०

कमप्रवचनीय ११, १०३ १ ३, १३४
 १३५ १३६, १३७, १३८
 कमवाक्यायवाद २०३, २०४
 कमव्यनिहार २४७
 कमव्यक्रियाविषय २६५
 कमव्य भावक १८०
 कटाटीका ३२
 कन्तिनाथ २३ ३०२ (टिप्प०)
 कटहण १६
 कश्मीर गवागम २१८
 काण ३७८
 काण्वक्रम १४२ ३६६
 कान्तपरिणिप् २५८
 कायामन १२ १३ ६४ ६० १०५
 १०७, १४६ १४७, १५०, १५६,
 २ ६ २४२, २४५ २५३ २५६
 २६८ ३०६ ३१ ३५०, ३३१,
 ३६०, ३८६, ४३८ ४४१, ४५३,
 ४५५
 कारतचक्र ३१, २६१ २६६
 कारकविचार २८१ ६७
 कारकसम्बन्धाद्योत ३२
 कायकारण भाव ६६ १२७
 कायकारणभावपन्थाय और योग्यभाव
 पदाय १३१
 कायकारणभाव सम्बन्ध ६७, ४२६
 कायदान १०२
 कायपरिणाम २६१
 कायातिष्ठ ३६२, ३६३
 कायप्रकाश १२१ (टिप्प०) २६३
 (टिप्प०) ४२६
 कायप्रकाश की टीका ४२६ (टिप्प०)
 काव्यप्रकाश की टीकाकार ४२७
 काव्यप्रकाशप्रदीप ४३० (टिप्प०)
 काव्यमीमांसा ३६०
 काव्यमीमांसा ४१० (टिप्प०)

काव्यलक्षणटीका ३० (टिप्प०)
 काव्यालकार १६, ३२६ ४७७
 काल १५८
 काल अनुमानगम्य २२४
 कालप्रत्यक्षगम्य २२४
 कालभेदविचार २०१
 काल विचार २०५ २४८
 कालविभाग १०
 कालवृत्तिया का आत्ममात्रा म अक्षमा
 वेग ३५
 काल व्यवधान १०८
 कालगति १५४ ३५१
 कालारण स्वानयशक्ति १७६ २१४
 कालिदास ५१, १२६ ३५८ २७१
 ३८१, २६६ ४०६
 काल हरिराम ३२
 कागदृष्टि सूत्र १५६ १५८
 कागदृष्टि व्याकरण १५६, १६२
 काशिकावृत्ति १८ १६ २५ १२०
 १६५ १६८ २३१ २७४ (टिप्प०),
 २६२ ३१७ ३१८ ३८७ ४०७
 ४३४ (टिप्प०), ४८ ४५४
 काशिका (व्याकरणभूषण की टीका)
 ३२
 काशिका (श्लोकवार्तिक की टीका)
 ४१
 काशिकाकार ३०, १३५ (टिप्प०)
 २७४, ३१५ ३२०
 काशिकाविवरणपञ्जिका (द्रष्टव्य
 यात) १५६, २४६ (टिप्प०)
 ३८७ (टिप्प०)
 किराताजुनीय १६
 किलहान एफ० २३
 कुञ्जिका ३२
 कुतक २६
 कुमारगुप्त तृतीय २०

कुमारगमय १०७ ३८१, ४०६
(टिप्प०)

कुमारिण (भट्ट) १८ २४, २६ ३०
६६, १२० १४०, ३३१ ३३४
३३८ ३४१, ३१० ३५१, ३४२
३५६, ३७६ ४२५, ४७७ ४७८
४७६

कुम्भीगम २१२

कुयलपात्र की पत्रिका टीका १२६
कूटस्थ ६१

कृत्तिहिताभाव २६७

कृत्तिमित्र ३२ ४३

कथट २२ २७ ३० ३१, ५७, ५८
६० ६१ ६४ ६६ ७८, ८६, ९०,
९१ १०० १०१ १०२ ११४
११५ ११७ १२४, १२५ १३७,
१३३ १५६ १४१ १४४ १४६,
१४८ १४९ १५५ १५८, १६७
१७०, १७६ १८२ १८६ १९५
२०८ २१० २३६, २३५ २३७,
२४८, २५, २७६ २८६ २८७,
२८९ २९० २९४ २९६, ३०१
३०३ ३०६ ३०५ ३०७, ३१०
३१२ ३१३ ३१४, ३१५ ३१६
३२०, ३२२ ३२६ ३३१, ३३३
३३६ ३६१ ३६२, ३६६ ३८५
(टिप्प०), ३८६ (टिप्प०) ३८७
(टिप्प०) ३९३ ४११ (टिप्प०),
४२८ ४३१ ४३२ (टिप्प०)
४४१ ४४३ ४४७, ४४८ ४५२
४६६

कोटिल्य अथगात्र ८६, ३५६

कोण्डभट्ट ३२, २९७ ३१७, ४४७
६५१ (टिप्प०)

क्रम ६०, १४२, ३३४ ३५२, ३७८

क्रम के आठ प्रकार ३६८

क्रमवर्गावय ३५७ ३७१ ४००

क्रमविधि ३४ ६०, ८६, ७१७ ७१८
३११

क्रमगम ३८०

क्रमनिष्ठा ३५१

क्रमावयव गति १५६

क्रिया ११- १६६ १५५ १६८
२४८ २६६

क्रिया घटि १६३

क्रिया घुमय १६०

क्रिया १७ १६२

क्रिया जाति १७०

क्रियातिथि १०, २४०, २६१

क्रिया-यावति १६७

क्रिया एक घात २००

क्रिया और मध्यम १६६

क्रिया और उपगम १६०

क्रिया और रुद्धि १६६

क्रिया का सवमक घातमय रूप १८५

क्रिया का स्वल्प १६४—१६६

क्रिया और व्यापार म भे १६३

क्रिया की प्रत्येकपरिममाधि १६८

क्रिया की सामुदायपरिममाधि १६८

क्रिया-तरव्युदास ३७६ ३८०, ३८८

क्रिया म जातिव्यक्तिभाव ३७०

क्रियाविचार १५६—२०६

क्रियाविक्रम २८

क्रियावियन १७६ २६५, ४८०

क्रियाविपणनितत्व १३७

क्रियाविपणन २०२ ३३२

क्रिया वाक्याथ रूप म ३६८

क्रिया वाक्याथवाद २०३ २०४
३६६

क्रिया-यतिहार २४७ २४८

क्रिया-यक्ति ४६

क्रिया-यद १२३

क्रिया ममभिहार १६८
 लण्डनगण्डलाद्य २६
 क्षीरम्बामी २०६
 क्षेमराज ४१
 गणकतरगिणी २० (टिप्प०)
 गणसाठ ३६०
 गणरत्नमहोदधि २२ (टिप्प०), ३१८
 (टिप्प०), ४५८
 गाय १३४
 गिरिधर भट्टाचार्य ३२
 गुण २६६, २७१, ४४५, ४५० ४५२
 गुणकल्पना १२०, ४०७
 गुणपत्न्या १४
 गुणप्रधानताविषय ११६
 गुणप्रधानमावाविवक्षा ३७६
 गुणदाद ३०८
 गुणवत्ति १२०
 गुणशब्द १२३
 गुरु ३८०, ४०४
 गुरुप्रक्रमा १४४, ३४५ ४०४
 गुल्मजूपा ३२
 गोकुलनाथ ३२
 गोनर्दीय ६३
 गोपयन्नाह्वण १५६
 गापीनाथ कविराज ३२
 गाविन् ठक्कुर ४३२
 गोण ११८, ३७६, ४०४
 गोण अथ ११०
 गोणमुत्पत्त्याय २६३
 गोण मुत्पत्त्याय ११०
 गोण मुरय विचार १०६ १२२
 गोणीवृत्ति १२० १२१, ३८८
 ग्रि यक २३३
 घटप्रदीपनाथ १२१
 घोषिणी ८१
 चक्रवर्ती प्रभातचन्द्र ३२

घणुग प्रातिपत्तिाय १४१
 घणुष्टयी शम्भुप्रवृत्ति १२४
 घट्टकीति १५७, १६२ (टिप्प०) २६२
 चन्द्रगुप्त विजयमादित्य १८
 चन्द्रगोमी ४५६
 चन्द्राचार्य १६
 चरणगिमिता प्रतिमा ३७३, ३७४
 चरितायता ३८४
 चिति १५६
 चितितत्त्व ३४
 चित्रबुद्धि ८६, ३४५
 छप्रत्यय पर विचार ४५५
 जगन्मोग भट्टाचार्य ३२
 जयत भट्ट ३०, ३८ ३४६, ४७७
 जयरथ ३८
 जयान्त्य ३०, ११६ (टिप्पणी) १२०,
 ३१७, ३८७ ४०७
 जयनल भाफ यू० पी० हिस्टारिक्ल
 सासाइटी ५४
 जराख्या शक्ति २१५ २१६
 जहस्त्वार्थावृत्ति ४४०
 जातनिर्घोषा ४१
 जाति १४२, १४४
 जाति म सख्या २८०
 जातिस्फोट ६७ २६४, ३४४
 जातिभियावाद १६६
 जातिपदायदशन ३२१
 जातिपत्त्यायपक्ष १४४, ३२३
 जातिवाक्यवाद ३४४
 जातिगब्द १२३
 जिनेद्रबुद्धि (द्रष्टव्य वासकार) १६,
 ७७ १२३, १४०, २६६ ३१५
 ४२८
 जनदशन ७७
 जनेद्रमहावृत्ति ३१८
 जमिति ६१ ३३१, ३३२, ३७७

ज्योतिष म काल २१०
 ज्ञानगवित ४६
 ज्ञानगन्तव्यपत्तिया ७७ ७८ २६४
 ज्ञापकममुच्य ६५
 भनवीकर यामन ४२६ (टिप्पणी)
 भा गगनाय १८
 तत्त्वकीमुनी, २०८ (टिप्पणी)
 तत्त्वबोधोधीकार, १२६
 तत्त्वविदु, २०, ३०, ३६७
 तत्त्वसग्रह २८, ४७७ (टिप्पणी)
 तत्त्व्यात्रिया १८४
 तत्त्व्यात्रिया १८५
 तदभावापत्ति ३८०, ४०६, ४०७
 तत्र ३७८ ३७९, ३८०, ३८२,
 ३८३, ४०१
 तत्रिणी ३८२
 तत्रवातिक ३० १२१ (टिप्पणी)
 तात्पय शक्ति ४०६, ४१८
 तात्पर्याथ ३६६
 ताच्छीलिक शब्द १६७
 तादात्म्यातिदश ३६२, ४३७
 ताद्रूप्य ११६
 तिङन्ताय का उपमानोपमेयभाव १८०
 तिङभिहितभाव २६७
 तिङभिहितभाव और कृदभिहितभाव मे
 भेद १७८
 तिरोभूतक्रियापद २६६
 तिरोभूतक्रियापद १३७
 तत्तिरोय सहिता ३८८ (टिप्पणी),
 ३८९ (टिप्पणी), ३९० (टिप्पणी),
 ४०६ (टिप्पणी)
 त्रयीशान्प्रवृत्ति १२३ १२५
 त्रिकप्रातिपदिकाय १४०
 त्रिकप्रातिपदिकायपक्ष १४०, २७७
 त्रिपाठी रामसेवक ३२
 पाल् मोर जातीधर प्रत्यय मे भेद

६४४ (टिप्पणी)
 दगपा मयवता ११
 दि १५६ २४३, २४४
 दि मोर नाम २४३
 दिङ्गान १६
 दीनयतिजापाय २२६
 दुर्गाताय १४६ १६५
 दुर्गातायवृत्ति १३६ (टिप्पणी)
 दुपटवृत्ति २७
 दृष्टापचार ४३२
 दृष्टाभिधानपत्र १६५
 देवगूरि ६८, ६९
 देगी ग ५२
 द्रव्य १४१, १४२ १५५ २८१,
 २८२, २८५, ४७०, ४४५ ४५२
 द्रव्यपत्राय १४ ६१
 द्रव्यपत्राय दगन ३२१
 द्रव्यवाद ११
 द्रव्ययतिरिवतगवितदगन २८१, २८२
 द्रव्यमव्यतिरिवतगवितदगन २८१,
 २८४
 द्रव्यग १२३
 द्रुतावृत्ति ७०
 द्वादशारनयचक्र १५ १७, ६६, १०३
 ३४५ ३४७ ३५४ (टिप्पणी) ३५६
 (टिप्पणी) ३५७ (टिप्पणी), ३५८,
 ४७५, ४७६ (टिप्पणी)
 द्विगतवाक्य ३६१
 द्विवचन २६५, २६६, २७६
 द्विवदी सुधाकर २० (टिप्पणी)
 द्विष्ट ३६२
 द्विष्ट शब्द ४०८
 धमकीति १७, १८, २४ २६, २६,
 ३०, ८६, ६१, १५२, २७७ ३४७,
 ३४८, ३४९, ३५४, ४४८ ६७७
 धमपाल, १५, २८, २९, २९१

धमपरिणाम २६१

ध्यानग्रहकार १६, ४५८, ४५९

(टिप्पणी)

ध्वनि ६६, ७३, १०४

ध्वनि शीर नाट ७३

ध्वनि (अभिप्रेतक) ७६

ध्वनि विचार ६६ ८२

ध्वनि सिद्धांत १२१

ध्वन्यालाव १२२ (टिप्पणी)

ध्वन्यालोक्लोचन २१ (टिप्पणी),

११६, १२१ (टिप्पणी) १३४

(टिप्पणी) १५६ (टिप्पणी)

नत्रय ४४८

नत्र विचार ४४६ ४५०

नत्र समाप्त ३२८

नरसिंह ४२६

नामाजुन १५५

नागन २२ ३२ ४२, ५०, ५४ ६०

६८ ६०, ११४, १२५ १८१

१४६ १६२, १६८ (टिप्पणी),

१८७, २१३, २१४, २२२,

२६७ २६८ (टिप्पणी), ४११,

४३५ ४३७, ४४८, ४५६, ४४६

(टिप्पणी), ३१० ३१७ ३२०

३२२ ३२४ ३३१ (टिप्पणी), ३४०

(टिप्पणी)

नाद ४७ ७३, ७४, ७६, ४७३ ४७४

नाद (ध्वनि) शीर स्फोट ७४

नाद शीर स्फोट म अंतर ७४

नादपरमाणु ८४

नानात्वदशन १०७

नानात्ववादी १०१ १०७

नानात्ववादी दशन १०४

नातरीयक ५५ ११५ ११६ १४६

३८०, ३६७ ४०१

नाम १०३ १३३, १३४ १३६

नालिकायन २२१

निघात ३३३

नित्य १६२

निपात ११, १०३, १३३ १३४,

१३६, ३३२, ३६१

निपातन १२ ६३

निमित्तातिशेय ३६२

नियम १२, ३३७ ३५४ ३५५ ३८०

४०५, ४२५

नियममात्रवाध ४२०

नियम सिद्धांत ३६४

नियोगवाक्याय ३७०

नियोगवाक्यायवाद ३६६

निरवयववण ७३

निरवयववणपण ७६

निरवयव वाक्य ३४७

निरवयव वाक्यवाद ३४८

निरवयव वाक्यवाट ३४८

निरवयव वाक्यस्फोट ८०

निरवयवशब्दवाक्यवाद ३५६

निरवयवस्फोट ४६३

निराकाश पणाय वाक्याय रूप मे

३६८

निराकाश पदाय वाक्याय ३६६

निहत्त १८ १५७, १७२, १७३

(टिप्पणी) २०६ (टिप्पणी) २४५

२६८ २६४ (टिप्पणी), ३०५

निहत्तकार १२३, १६३

निहत्त भाष्य २४६ (टिप्पणी)

निर्गतप्रश्न ४२१

निर्दिष्ट विषय २६३ २६४

निवर्त्य २८६ २६० २६१

निवर्त्य कम २६०, २६१

निर्विनक समाधि ३६

निर्विनकसमापत्ति ३६

निवर्त पणाय ४४७

निवतप्रेषणपक्ष २५३
 निषेध ३८०
 निष्पत्ति २३८, २३९, २८१
 निष्पत्ति और सिद्धि मे भेद
 २३९
 नगमविभाषा ३८९
 नैयायिक २०७
 नाय दशन ३५९
 नायमजरी ३०, ३८ ४२, ७७, ३५०
 नायरत्नमाला ४१७ (टिप्प०)
 नायरत्नमाला व्याख्या ४७८
 (टिप्प०)
 नायरत्नाकर ४१४, ४७८
 (टिप्प०)
 नायवर्णिक के मत मे काल २०७
 नायमुष्ठा १२१
 नायसूत्र १२१ (टिप्प०)
 नायसूत्रकार १२१
 नास ६५ १०२, १२३ १९७
 २०१ (टिप्प०) २४५ २७०
 (टिप्प०) ४३७
 नासकार १९ ३०, ६५, ७५ ११६
 (टिप्प०), १५९ २३५ २८९,
 ३११, ३२५, ३८७ ४४३
 नासाधिवभाव १११
 ना हिस्ट्री आफ इडियन पीपुल, गुप्त
 वाकाटक एज २०
 नाधरमिथ ३०९
 पचमी अवस्था २४१ २५३
 पञ्चप्रतिपदिकाथ १४१ २७७
 पचमि १८, ३०९, ३६४, ३६५
 (टिप्प०)
 पनञ्जलि १० १२, १३, ४३, ६४,
 ७८ ८९ १०१ १५० १७२,
 २२८ २३७ २४५, २८७, २९४,
 ३०० ३०५, ३११ ३३० ३८६,

४१०, ४११, ४३७
 पद ११ १०७
 पदग्रपोद्धार १३४
 पद अवाख्यान ६२, ६४,
 १३१
 पद अवधारण के उपाय ४३६
 पदग्रवधिक अवाख्यान १३१,
 ३२७
 पदकार ३३५
 पदकाय ११४
 पदक्रम ३६१
 पदचन्द्रिकाविवरण ३१, २९१, ४४१
 (टिप्प०)
 पदप्रतिपत्ति १०७
 पदमजरी १४ ५३, ७५, २५४
 (टिप्प०), २६५ (टिप्प०), ३१०,
 ३११, ३१५ ३२९, ३९३
 (टिप्प०) ३५९ (टिप्प०) ४५०
 पदमजरीकार ११६
 पदवचन ३६२
 पदवाक्यपरत्नाकर ३२
 पदविधि १०
 पदविभाग १३९
 पदसस्कार ६४
 पदस्फोट ९०, १५३, ४६४, ४६८,
 ४७०
 पदार्थ ३९७
 पदायतस्त्र निरूपण २०७ (टिप्पणी)
 पदार्थदीपक ३२
 पदार्थ निवर्धन वाक्यघम ३७७
 पदार्थ विचार १२३
 पदार्थाभिधानपक्ष ३२७
 पदार्थवदग अविवक्षा ११९, ११७
 परमपरमती ४८
 परमलघुमजूपा ३२
 परममत्ता १७१

परमोक्तानु ३६, ८७, ३४६
 परमैषद २४७, २४८, २४९, २५०,
 २५१, २५७,
 परस्मभाष २५७
 पश ४७२
 पराङ्ग ३७६, ४०१
 पराङ्गवद्भाव ४३७
 परात्रिगिवा ८०, ८२
 पराप्रकृति ३७
 पराय २६७
 परायता २४६
 परामान व्यापार ६८
 परावाक ४१, ४२
 परिकल्पितरूपविपर्याय ३६६
 परिच्छिन्नाय ४०
 परिच्छेत्तास्कार भावगादीजवतिलाभ
 प्राप्तयोग्यता ७८
 पणिनाम ४८०
 परितृप्ति ३५
 परिपूर्णगुणित्व ३५
 परिभाषावति १२ १०२ ११४
 परिसह्या ३८८
 परिममाप्ति ३४३
 परोक्ष २३६
 पयुदास ३७६ ४०४, ४४८
 पश्यती ३८, ३९ ४७ ६८ १०३
 १५५ ४७२, ४८१
 पाठ ३७८
 पाठक्रम १४२, ३६६
 पाण्डेय के० सी० २७ (टिप्प०)
 २०० (टिप्प०)
 पाण्डेय, चन्द्रबली १८
 पाण्डेय, रामाज्ञा ३२
 पाणिनि ६ १० ११ १३ २० ६३
 ६४, ६६ ६०, १२४, १३८, १४८
 १५४ १५६ १६५ १८०, १८४

१८६, १९७, २१० २२१ २३७,
 २४२, २४३, २४४ २४६ २५७,
 २५८ २६४, २७१ २७६ २८३
 २८८, २९२ २९४, २९५ २९६
 २९७, ३०५ ३०७ (टिप्प०)
 ३१३, ३१६, ३२० ३२२, ३२३
 ३२८, ३६०, ३८६, ३८८ ८३१
 ४३४ (टिप्प०) ४३७ ८५४,
 ४५८
 पाणिनीय धातुपाठ २०६
 पाणिनीयमतदण ३१६ (टिप्प०)
 पाणिनीयमतदणकार ३०७
 (टिप्प०)
 पाणिनीयगिज्ञा ७६
 पातजलदण २२६
 पाषसारथि २६ ३०, ३३४ ३५०,
 ३५२, ३५६ ४१४ (टिप्पणी)
 ४१७
 पानि ५१
 पितले के० राघवन ३२
 पुण्यराज १३, १४, २३, २५, २७
 ३२ ४६, ६४, ६५, १०७, ११०,
 ११२, ११४, ११८ १३३ १३५
 (टिप्प०), १६६ (टिप्प०) २६५,
 ३३३ (टिप्प०), ३४१, ३४४
 (टिप्प०), ३४५ (टिप्प०), ३४७,
 ३५३, ३५४ ३५५ ३५६, ३५९,
 ३६०, ३६५ ३६८ ३७१, ३८०
 (टिप्पणी) ३८१ ३८७, ३९०,
 ३९३, ३९४, ३९५ ३९७ ८०६,
 ४०८ ४२८ ४२८ ४३२ (टिप्प०)
 ४४४ ४७०
 पुराण २०६
 पुरुष १५८
 पुष्प-यत्नय २६३
 पुरुषोत्तमदेव ३१ ६५ ११८ १२७

(टिप्प०) २६१, २६६
 पूर्वकालिकश्रिया १८२
 पूर्वाचाय २५६, २६४, ३१३
 पूर्वाचायमज्ञा ४३४
 पथवसवपदवाक्यवात् ३५६
 पथवसवपदवाद ३२८
 पथवमाकाशमवपत् ३३८
 पथवमाकाशवपत्वात् ३६८
 पयूत्क २१२ (टिप्प०)
 पे इन (प्रकीर्णक) १५, २८
 प्रप २५४ २६२
 प्रकरण ७७ ४२७
 प्रकरणादिसहित प्रसद्धि प्रप्रसिद्धि
 ११८
 प्रकार का स्वरूप ४५३ ४५५
 प्रकाश ४३, २१६
 प्रकीर्णकप्रकाश २३ २८ ३१३
 प्रकृति ३८८
 प्रकृति ऊह ३८८
 प्रकृतिनियमवाद १३
 प्रकृतिविकृतिभाव ३६०
 प्रकृत्यथविशेषणपक्ष १६२ ३१८
 प्रकृत्यथविशेषणवाद १३
 प्रक्रम ८६
 प्रक्रियाकीमुदी २६०, २६५
 प्रक्रियाप्रकाश ३१
 प्रक्रियाप्रसात् २०७ (टिप्प०) ३१६
 ३३१
 प्रख्याविशेष १४६
 प्रनाकरगुप्त २६ ८६
 प्रणव ४७६
 प्रतिनिधि ३८० ४०६, ४२०
 प्रतिनिधि की उपपत्ति ४२०
 प्रतिपत्तिरूप १४२ ४००
 प्रतिपत्तिविधाना ४४१
 प्रतिपादकपटाथ १२७

प्रतिपात्क दम् १५०
 प्रतिषेध शक्ति २१५, २१६
 प्रतिबिम्बवात् ४६७
 प्रतिबिम्बवाद ३०६
 प्रतिभा ३०, ३५, ४३, ७८, ३७१
 प्रतिभा क छ भेत् ३७२
 प्रतिभात्मक अतण्ड वाक्याथ ३५३
 प्रतिभा दान ३१
 प्रतिभावाद ४३
 प्रतिभावाक्याथ २०४ ३६६,
 ३७६
 प्रतिभावाक्याथ रूप म ३७१
 प्रतिलोनाकार ४०
 प्रतिषेध १२
 प्रतिसहृत्तक्रम ४०, ८७
 प्रतिहारेदुराज २६
 प्रतीतपदाथक ६६ ८८, ८९, ९०
 प्रतीतपदाथक ध्वनि ८८
 प्रतीतपदाथकता ४७६
 प्रतीयमान ५५ १०१, १२१, १२२,
 १५०, ३६७ ४०८
 प्रतीयमान अथ १२१, ४७६
 प्रथमपुरुष २६० २६१
 प्रधानवाक्य ३६१ ३७६ ४०१
 प्रध्वसानित्यता ६१
 प्रवसाभाव ४४८
 प्रमाकर १८ १२५ १४० ३३८
 ४१६ ४१७
 प्रमाचन्द्र ३०, ३५४
 प्रमाणवातिक २४, २६, ६१ २७७
 ३४७, ३५४ (टिप्प०) ४७७
 (टिप्प०)
 प्रमाणवातिक टीका १२५, ३४६,
 ३५८
 प्रमाणसमुच्चय १६
 प्रमेयकमलमातण्ड ३५४

प्रयत्न ३७६
 प्रयुक्ति ३७८
 प्रयोगक्रम १४२
 प्रपाजय २५४, ४०१
 प्रयोजकनातरीयक ३७६
 प्रयोजकमुख्य ११५
 प्रयोजनपन्नाय १२७
 प्रयोजनवाक्याय ३६६
 प्रयाजन वाक्याय रूप म ३६८
 प्रयोज्य कर्ता २८८
 प्रत्यक्ष श्रुति ३८४
 प्रत्यभिज्ञा ३७
 प्रत्यभिज्ञाङ्गन ४२ ४६
 प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय १४६
 प्रत्यभिज्ञाहृत्य ४१ (टिप्प०)
 प्रत्ययनियम २७७
 प्रत्ययल १०
 प्रत्ययायपन ३१८
 प्रत्ययायविशेषणपक्ष १६२
 प्रत्ययभासा ४०
 प्रत्यागति १४२
 प्रत्यक्षपरिमाण्य ३४३
 प्रवाहानित्यता ६२ ६०, ६१ ६२
 ६६
 प्रवृत्ति ३७८
 प्रवृत्तिक्रम १४२, ३६६
 प्रवृत्तिनिमित्त ४५१
 प्रवृत्तिगतिविधावाद १७६
 प्रगता २०१
 प्रगस्तपादभाष्य २०७ (टिप्प०)
 प्रगस्तपादभाष्यसेतुनीका ३०६
 प्रसंग २७८, ३८०, ४०१
 प्रसङ्गप्रतिषेध ३७६ ४०४, ४४८
 प्रसङ्गपन्ना माध्यमिकवृत्ति २६२
 प्रसिद्धि अप्रसिद्धि सहित प्रकरणादि
 ११८

प्राकृत ५१, ५२, ६१
 प्राकृतध्वनि ११, ६८, ७३ २२१,
 ४६२
 प्राकृतनाद ७३
 प्राचीन आचार्य ४५१, ४५७
 प्राचीन टीकाकार १३
 प्राचीनमीमांसक ४६४
 प्राचीनव्याकरण २६६
 प्राचीन साह्य ३६४
 प्रातिपदिक १४२, २७७, ३२०, ४२७,
 ४५३
 प्रातिपदिकाय ११४, १४०, १५४,
 १६२ १७१ २७६, २६७, ३६२,
 ३६७
 प्रातिशाह्य २४५, ३६०
 प्राप्तविभाषा २५७, ४०५
 प्राप्ति ३४
 प्राप्यक्रम २८६, २६०, २६१
 प्रासंगिक ३७६, ३८०, ३८१
 प्रेरक २६३
 प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्राजेक्शंस आफ द
 सिक्स्थ थोरियण्टलका फोसप टना १८
 फलभेन ३७६, ४०३
 फलवाक्यायवाद २०३, २०४
 फलामाव ३८४
 फिलासफी आफ बड एण्ड मीनिंग ३३
 फिलासफी आफ सस्कृत ग्रामर ३२
 ब्रुवचन २६५, २६६ २७३, २७६
 ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु २२, १७३
 बह्वचप्रतिशाह्य ७६
 ब्रह्ममूत्र २५
 बाणभट्ट १६, ४६३ (टिप्प०)
 बादरि ४०१
 बाधा २०१ ३७८, ३७६, ३८०,
 ३८३, ३८४
 बाधासमुद्देश २३, ३७७, ३८६

मातृमृदु २६
 मातृमीकि रामायण ५१
 मातृरूपोट ४६३, ४६५
 मातृपत्य १०६
 मातृपौषपार १०६
 मिदु ४७ ४७३, ४७४
 मीज ४७३ ४७४
 मीजवृत्तिसामानुष्य १४० १४३
 मुद्रि वा परिपाक ७४
 मुद्रिप्रम १४२ ४००
 मुद्रिप्रवृत्तिरूप २८३
 मुद्रि म दान वा मयपार ७४
 मुद्रि मानयपरा ३५४
 मुद्रिमत्तात्रियापाद १७१
 मुद्रयगुहार ३५३ ३६४
 मुद्रयगुहारपाद ३५२ ३५४
 मुद्रयगुमहति ३५३, ३५४
 महती ६१७ (टिप्प०)
 मह देवता १३१ (टिप्प०) १५७,
 ३३८
 महत्सहिता २०
 मजि १६
 मोषदेव ३०७ (टिप्प०) ३१६
 मोक्ष आचाम १२५
 मोक्षदान ७७ २०६ २२३ २८३,
 ३५४
 भगवद्गीता २०७ (टिप्प०)
 भगवानदास २६६ (टिप्प०)
 भट्टगोपाल ४२६
 भट्टाचार्य दिनेशचन्द्र २७
 भट्टाचार्य विनयतोष १७
 भट्टोजि दीक्षित ३१, ५३ ६०, ६६,
 २२५ २४६ २६२, २६६ २६५
 (टिप्प०), ३१६ (टिप्प०), ३८७
 (टिप्प०) ४४३
 भरतमिश्र ३२ १३६ (टिप्प०)

भृगु मित्र ११६
 भृगु हरि १० १३ १४ १५ १६
 २० २३, २४ २७ २८ ३० ३६
 ३७ ४० ४३ ५०, ५१ ५३
 ६० ६२ ६३ ६६ ६०, ६१ ६७
 ६९ ६७ १०६, १११, ११३ १२३
 १२८, १२९ १३० १३१ १६०
 १४४ १६१ १४६ १५० १५३
 १५७, १५८ १६२ १७१ १८३
 १६६ २०३ २०६ २११ २१६
 २१५ २१६ २२६ २४० २४३
 २४७ २६६ २७४ २७८ २८१
 २८२, ३०१ ३०३ ३०६ ३०८
 ३३१ ३३७ ३३५ ३३८ ३४२
 ३५८ ३६०, ३६५ ३७७ ३८८
 ३६६ ४०२ ४०६ ४१ ४६६,
 ४६६ ४८३
 भृगु हरि वा मातृग्रन्थ २१४
 भृगु हरि वा भृगुगार मष्ट पत्राय १२७
 भृगु हरि शतक २५
 मवती २२८
 भयभूति ३७३ (टिप्प०)
 भविष्यत २२८
 भविष्यत् काल २३८
 भविष्यत वा स्थान पर आराधित भूत
 २३४
 भविष्यन्ती २३८
 भामह १६ ४५६ (टिप्प०)
 भारद्वाज १५६
 भाव १५४ १६४ १७२
 भाव घोर क्रिया १६४
 भावना ३७०
 भावना घोर क्रिया म भे १८५
 भावनाक्रियावाद १७७
 भावना वाक्याय ३७०
 भावनावाक्यायवा ३६६

भावभेद १७२
 भावतन्त्र १०
 भावविकार १७३, १७४, १७५ ४५०
 भावमत्तात्रियावाद १७२
 भाषाविधान ४५०
 भाष्यकार (द्रष्टव्य महाभाष्यकार)
 १४, १०८, १४७, १४८, १६७,
 २२०, ४४३
 भाष्यविवरण ४६० (टिप्प०)
 भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार १२३ (टिप्प०)
 भास्वर (प्रथम) १६ १७
 भास्वर सूरि ११५, ४२६
 भूत २०८
 भूतकाल २३४
 भूतकाल के पाँच प्रकार २३६
 भेद ३७६, ३८०, ३-३
 भेदाभेद द्वा ११०
 भोक्तृ शक्ति ३६५
 भा २० ३१, २६२, २६६, २०८
 ३२४ ३३१ (टिप्प०) ३१६,
 ३६०, ३७७, ३८० ३८१ २८२,
 २८३, ३८७, ३६१, ३६३ ३६६,
 ४०० ४०१, ४०२ ४०३, ४०६
 ४०७, ४०८, ४१८, ४२८, ४४८,
 ४६८ ४७६
 भोजाज शृंगारप्रकाश ३७७ (टिप्प०)
 मजूपा (व्याकरणसिद्धात लघु
 मजूपा) १२६, २१४, २५१
 (टिप्प०), ३१७ ४११, ४३५
 ४६८ ४६० (टिप्प०)
 मजूपा कलाटीका ४७३ (टिप्प०)
 मण्डनमिथ ३० २६२ ३८८, ३४६,
 ४७६
 मधुरा ५६
 मध्यमपुरुष २६१, २६२ २६३
 मयमा ३८ ३६ ४१, ६६ ६८,

१०३, ४७२
 मध्यमावृत्ति ७०
 मम्मट ११४, २१३ (टिप्प०), २६३,
 ४२६, ४३१
 ममप्रकाशिनी टीका १२६
 मल्लवाग्निमात्रमण १५ १७ ३०
 ६६ १०३ ३४५ २४७ ३५६
 ३५८ ४६०
 मल्लिनाथ ५१, १६५ ४२६
 (टिप्प०)
 मयूराण्डरस ३६५
 महापद्मती ४८
 महाभारत २६ (टिप्प०) ६१
 २०६
 महाभाष्य १३ १४ १६ १७ ६
 ८६, ११६, १२४, १४१, १५७
 १६० १६२ (टिप्प०) २१३
 (टिप्प०), २३१ २३३, २३७,
 २४५ २५६ २८६ (टिप्प०)
 २६२ २६७ ३०५ ३३६, ३६१
 ३६२ ३८६, ४ ७ (टिप्प०),
 ४४४
 महाभाष्यकार १३ ५३ ८६ १०७
 ११०, ११३ ११६ १२१ १३०,
 १३३ १३६, १४३ १५६ १५८
 १८२ १८३ १६४ २१०, २ ५
 २४२, २४८ २६६ २५५ २५६,
 २८१ २८४ ३०१ ३०५ ३१२
 ३१६ ३६६ ४७७, ४५५
 महाभाष्यदीपिका (द्रष्टव्य महाभाष्य
 त्रिपादी) १२ २२ १८८ ११०
 ३६६ ४५६ (टिप्प०) ४६२
 महाभाष्यत्रिपादी २०, ३१ ६१ ८८,
 ६१, ६२ १२१ (टिप्प०) १८४
 १७० १७३ ३८० ५८०
 (टिप्प०) ३८४ (टिप्प०)

३८८, ३९० (टिप्प०), ४०६
(टिप्प०)

महाभाष्यप्रदीप—१३, ३०, १००,
१०१, १४१, १६८, १७०, १९०,
२०० (टिप्प०), २३४, २५४
(टिप्प०), २६१ (टिप्प०), २८६
२९० २९४, २९७, ३२६, ३६६
३८५ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०),
३९३ ४४१

महाभाष्यप्रदीपोद्योत १२० (टिप्प०)
१२५ १४६ १६२ १६८
(टिप्प०) २१४ (टिप्प०), २५१
(टिप्प०) ३१०, ३२२ ४३७

महाभाष्यप्रदीपोद्योतन ५२, ११३
११४

महाभाष्य-याख्या २२ (टिप्प०) ३८
(टिप्प०)

महाभाष्य-याख्याप्रपञ्च १०२

महाभाष्य-यारया हस्तलेख १२६
(टिप्प०) ४६० (टिप्प०)

महावाक्य ३५१ ३६१

महाविषयता १४२

महासत्ता ४३ ४८, १५४, १७१

महासामा य १५४

माघ १४

माघवाचाय २८

माध्यमिककारिकाटीका १६२
(टिप्प०)

मानिषर विलियम ८५७ (टिप्प०)

माया ३४७ ४७३

मालिनीनववातिक ४४

मालिनीविजयवातिक २१६

मित्र्यासादृश्य ४५०

मामामन २०२, २२५ २८७

मामामानन ३८८, ३७०, ३७७

२६४, ४०५, ४२२ ४२३, ४७७

४७६

मीमांसासूत्र २५ १५७, ३३३

मुकुलभट्ट २६, १२४

मुख्य ११८ ३७६, ४०४

मुख्य मथ ११०

मुख्य श्रीर नातरीयक ११५

मुख्यगीणभाव ११

मुख्यवर्ति १२०, ३८८

मुख्यावर्ति १२१

मूतविवत २६५

मूर्तिविवत १७६, ४८०

मुनि जम्बूविजय १७ (टिप्प०)

मूलाधारचक्र ४७२

मैक्समूलर २०

मैत्रायणी सहिता ३८८ (टिप्प०)

३८६

मीनीश्रीकृष्णभट्ट २२

यदृच्छा ५८, १२३, १२४

यवनभाषा ५२

यास्क ६, ३६, ४३, ५०, १६४, १७३,

१६५ ३०५

युक्तिनीपिका १८

युक्तिस्नेहप्रतूरणी ४७८ (टिप्प०)

युगपदधिकरणतावाद ४४२

युगपदधिकरणविवक्षा १३१

युधिष्ठिर मीमांसक २२

योगदशन २१४ ३५८,

योगदान म काल २०८

योगनिमित्ता प्रतिभा ३७५

योगरूढ १०२

योग वासिष्ठ २०६

योगसूत्र १८ ३६, ८१ ३५६ ३६५

(टिप्प०)

योगसूत्र भाष्य १८ ६७

योग्यता ६६ ३८०, ३८७ ४०५

योग्यतापत्ति ३८०

योग्यतालगनसम्बन्ध १५३
 योग्यभाष्य १२७
 योगिक १०२
 योगिरम्भ १०२ १०३
 रघुनाथ गिरोमणि २०७
 रघुवर्ग १६ ३२६, ३६८, ४२६
 रत्नश्रीमान ३०
 रमण-ज्ञापर १२६
 रमभनदि ३२
 राघवन वी० २७ (टिप्प०), ३७७
 राघवभट्ट ४७४ (टिप्प०)
 राघवान-नाटक २१
 राजतरंगिणी १६, २६
 राजगोखर २६, २६०
 राजानन गुरवर्मा २१
 रामचन्द्र २६५
 राममन्त्री टीका (गणितप्रकाशिका)
 ४३६
 रङ्ग-ग १०१ १०२ ११७, १६६
 १६७
 रूपगति ११२ ११८
 रूपातिदग ३६२
 लगन अनुपपत्ति ३७७
 लक्षणसमुद्ग २३ २४, ३७७
 ३७६
 लक्षणा ११६ १२०, १२१
 लक्षणा वर्तित १२०
 लक्षणा शब्द १२०
 लक्ष्मण देशिकेन्द्र ४७४
 लक्ष्मणस्वरूप १८
 लक्ष्मीदत्त ३२
 लघु ८०५
 लघुप्रश्नमा १४४, ४०५
 लघुप्रक्रमापद्धति ३४५
 लघुविभक्त्यर्थनिर्णय ३२
 लाक्षणिक १०१

लाघव ३८०
 लिङ्ग १० १२, १४, १४३, ३२३,
 ३७७, ४३३
 लिङ्ग मयनिष्ठ ३१६
 लिङ्ग उद् ३८६
 लिङ्ग विचार २६८-३२६
 लिङ्ग ग-निष्ठ ३१६
 लिङ्ग सामान्य ३२५
 लिङ्गादि भेद ३८०
 लिङ्गाद भेद ३८० ४०५
 लिङ्गित्व स्पष्टुलेगन आफ द हिदूज
 ३२
 वचन १६, २६७
 वराहमिहिर २०
 वण ११ १४, ७४
 वण की निष्पत्ति के प्रकार ७५
 वण की प्रतिपत्ति और वण का
 निर्मास ८०
 वण की पाङ्गी कला ७६
 वणतुरीयांग ७६
 वण सावयव और निरवयव ७६
 वण साथक और निरयक ८७
 वण व्यत्यय ८१
 वण स्फोट १५३ ४६४, ४७०
 वतमान २२८
 वतमानकाल २२८
 वतमानकाल दो तरह का २३२
 वधमान २२, ४५८
 वर्मा रवि २७
 वसुवधु १७
 वसुरान १४, १५ १७ ६६
 वस्तुविनाशानित्यता ६१
 वाक २८ ३५, ३६ ३८ ४०
 वाक के रूप में स्फोट ४७२
 वाक्य ११, १४, २०२, ३ ७
 वाक्य और वाक्याथ में सम्बन्ध ४२५

वाक्यधर्म ४०६

वाक्य अच्चारयान ६२, ६४, १३१

वाक्य अवधिक अच्चारयान १३१,
३२७

वाक्य क भेद ३६०

वाक्य दीपिका ३२

वाक्यपदीय १०, १३, १४, १५
१६, १७, १८, २१, २२, २३, २४
२५, २६, ३०, ३१, ३२, ३७, ४६,
५८, ६२, ७३, ७६, ८५, १००, ११०
११६, ११८, ११९ (टिप्प०) १२१
(टिप्प०) १२३, १२७, १३५
१४०, १५७, १७६ (टिप्प०) २०१
(टिप्प०) २१७ (टिप्प०) २२३
२७४ (टिप्प०) २३६ (टिप्प०)
२५७ (टिप्प०) ३०६, ३०८
३१५, ३४४, ३५१ (टिप्प०)
३६८, ४१३ (टिप्प०) ४८२

वाक्यपदीयकार ७६, १३५ (टिप्प०)
१४०, २५६

वाक्यपदीय पद्धति २५

वाक्यपदीय वचन टीका १२७
(टिप्प०)

वाक्यपदीय हरिवृत्ति ५३, १३०, १३१
(टिप्प०), १३२ (टिप्प०) ८१६

वाक्यपदीय हरिवृत्ति—हस्तलिख ६२,
६३, ११८ (टिप्प०), ११९ (टिप्प०),
१२१ (टिप्प०), १२२ (टिप्प०), १६४
३३५ (टिप्प०), ३३६ (टिप्प०), ३३६
३४३ (टिप्प०), ३६०, ३६७, ३६८,
३८४ (टिप्प०), ३८५ (टिप्प०)
३८६ (टिप्प०), ३८६ (टिप्प०)
३८८, ४०३ (टिप्प०), ४२५
(टिप्प०), ४२८ (टिप्प०), ४३३
४३४, ४३५ (टिप्प०), ४३७
४४८, ४४९

वाक्य प्रतिपत्ति १०७

वाक्यलक्षण २०२, ३३०, ३३१

वाक्यवाद ३२

वाक्य विचार ३३०, ४३६

वाक्य शेष ३८०, ४०६, ४०७

वाक्य सस्कार ६४

वाक्य स्फोट ६०, ४६४, ४६८, ४७०

वाक्याय १४, ३६२, ३६७

वाक्याथ की प्रक्रिया ४१०, ४२६

वाक्याथ के अनुग्राहक वाक्य के घम
३७७

वाक्याथ निर्धारण के साधन ४२६
४३५

वाक्याथ विचार ३६२-३७७

वाचनिक ३२७

वाचस्पतिमिश्र १८, २०, २१, ३०
२०८, ३६५ (टिप्प०) ३४७

वाच्य १२२

वाच्यवाचकसम्बन्ध ४२६

वाजप्यायन ११, १४४, १४६, १४७,
१५०, १५३, १६६

वाजसनेयी शाखा ३८६ (टिप्प०)

वाजसनेयी संहिता ३८८ (टिप्प०)

वात्स्यायनभाष्य २२८

वादमुधाकर ३०

वान्देव सूरि ३०, ३८, ३५७, ४४१,
४७७, ४७८

वामन ३०, १२०, २४५, ३२६

वायुशब्दप्रतिपत्तिवाद ७७

वार्ता १६, १३६

वार्तिक १३

वार्तिकपाठ ३१२

वार्तिककार १४, १०७, ११३, १२६
१६५, १६६, १८१, २०२, २०३
२७१, २८७, २८३, ३१२, ३१३
३१६, ३२०, ३५६, ३६०, ४४१

वानिकामेष १३, २८, ३१३
 वाप्यामिणि १७२
 विवरण ४४१
 विकल्प ६५, २०१ ३७६, ३३७,
 ३८० ४०५
 विचार ६१
 विनाय (बम) २८६, २६०, २६१,
 २६२
 विवृत्तिभाग १०८
 विग्रह, प्रथम १७
 विग्रहवाच्य ४३७
 विधान ३५३
 विज्ञानवात् १५४
 विन्दल २६० ३३१ (टिप्प०)
 विशा चतुर्वर्ती ४२६
 विद्याभिन ४७
 विधि १२, ३७७,
 विधि वाक्याय ३७०
 विधि वाक्याधवाद ३६६
 विनियोगग्रम ३७६ ४०२
 विपरिणाम ३८०, ३६० ४०६, ४०८
 विपरिणामानित्यता ६१
 विपरीताख्याति रूप ३६७
 विपर्यास ११२
 विप्रतिपेक्ष १०
 विप्रयोग ४३१
 विमविन २६७ ३३७ ३६०
 विमवितविधान ४३७
 विमविनविपरिणाम १४१ ४०८
 विभक्त्यर्थ २६७ ३६७
 विभक्त्यर्थनिर्णय ३२
 विभक्त्यर्थाभिधानपक्ष ३२७
 विभाषा १० ४०५
 विमश ४३ २१६
 विमश त्रिधावाद १७७
 विरोध ४३३

विसम्विता वृत्ति ७०
 विवर्धितायपरवाच्यलक्षण ११८
 विवर्धिताप्रापितसन्निधान २६७ ३६८
 विवत ३४, ७३, ७८ ८४ ११२,
 १७१, १७६ (टिप्प०) २०६, २१६,
 ३४३ ३७३, ४७५, ४७६, ४८१
 विवत की परिभाषा ४८०
 विवतवाद ८८० ४८२
 विवतवात् के अनुसार त्रिया १७५
 विनिष्ठाभिधान १४०
 विनिष्ठाभिधेय ३६७
 विनिष्ठावग्रहसप्रत्ययहेतु ३६५
 विनिष्ठोपहिता प्रतिभा ३७५
 विनिष्ठातिदेश ३७८, ३७९ ३८०,
 ३६२
 विनिष्ठातिदेश छ प्रकार का ३६०
 विनिष्ठातरातिदेश ३७६
 विनिष्ठाविशेष्यभाव ४४४
 विनिष्ठावग्रहभाव १७
 विष्णुगुप्ता १६ २०
 वीचितरङ्गमाय ६७
 वीष्मा १०
 वृत्ति १४, ४३८
 वृत्तिकार १४० २५४ ३२६, ४०७
 वृत्तिदीपिका ३२
 वृत्तिपरिणाम २६१
 वृत्ति म सख्या २७८
 वृत्ति विचार ४३७ ४५६
 वृषभ (देव) १६ २०, २४, २५,
 ३५ ३८ ६० ६५ ७० ७४
 ८०, ८२ ११६ (टिप्प०), १२८,
 १३१ (टिप्प०), १५६, २१६
 (टिप्प०) २१८ ३३८ ३७३
 (टिप्प०), ४६४ ४६७ ४७५
 वेत् २०५ (टिप्प०)
 वेदान्तदशान २२३

वक्तेद्वय २५
 वक्तरण ३४
 वृत्ता ७३
 वृत्तध्वनि ११ ६८, ४६०
 वगरी ३८, ४१ ४४ ४६ १०३,
 ४७२
 वचनाय १२६ ४७३
 वचनाय नायगुण ३० ३५६
 वयाकरणभूषण ६३ ३१७
 वयाकरणभूषणकार १८६
 वयाकरणसिद्धातकारिका २१
 वयाकरणसिद्धातमजूपा २० ४७३
 (टिप्प०)
 वयापिक ७१, २०७ २१६ २८०,
 २८४
 वयापिकदशन १५२ २६८ २८६
 २६५ ३०६
 व्यजनावृत्ति १२१
 व्यक्ति १४८, ४३४
 व्यक्तित्व १४८
 व्यक्तित्वोत् २६४
 व्यपदेशातिदग ३६२ ३६३
 व्यपदेश १४६
 व्यपदेशा ३६५ ४३८
 व्यवहार नित्यता १५२, ४७२
 व्यवहित कल्पना ३८० ४०७
 व्याकरण ६१
 व्याकरण का लोकपक्ष ६५
 व्याकरणशास्त्र २२७, २६०, २६८
 २६६ २७७, २८०, २८५, ४५२,
 ४७०, ४७६, ४८३
 व्याकरणदशन म काल २१०
 व्याधि १०, ११ ६०, १०४, १४४,
 १६६ १४७, ३३०, ३६२
 व्याधि ३८० ४०४
 ग्रामिप्रकाल २४१

व्याग ३६
 व्यागमाध्य २२६, ३६५ (टिप्प०)
 व्याकर ३३० (टिप्प०), ४६५, ६७७,
 ४७८
 व्याकर (माग्युत व टीकाकार)
 ४७६
 व्यागित शस्त्र ४७३
 व्यागितविभक्तिमय ६१०
 व्यागित व्यापार ३७६
 व्यागितव्यापारभे ४०२
 व्याग्याभिभ ३८०
 व्याग्यशास्त्र १७, ६४, ५४, २६६
 (टिप्प०)
 व्याग्यशामी २० ३६२ ३८०, २८३,
 २६३, ४०१ ४११, ६७७
 (टिप्प०)
 व्याग १६, ८२
 व्याग्य भवभाग १५२
 व्याग्य भवोद्धार १२६
 व्याग्य एकत्ववाद १०६
 व्याग्य एकत्ववादी १०६
 व्याग्य श्रीर भव वा सम्प्रभ ६७
 व्याग्य वा भव ६४
 व्याग्य वा स्वरूप ८८
 व्याग्य वी अभिव्यक्ति प्रीति ७०
 व्याग्य व छ प्रकार ३६५
 व्याग्यकोस्तुभ ३१ ५३ ६०, ६६ ७०,
 २०६ (टिप्प०) २४६ (टिप्प०), २६३
 (टिप्प०) २६२, ३०१ ३८७ (टिप्प०)
 ४४४ (टिप्प०) ४७२
 व्याग्यजाति १५० १५३, ३४४
 व्याग्यनानुपाती २०८
 व्याग्यत्व श्रीर व्याग्यवृत्ति मे भेद ६६
 व्याग्यधातुममीक्षा २२
 व्याग्यनानात्ववाद १०४
 व्याग्यनानाव्यापार ६८

गङ्गा नित्य ६०
 गङ्गा परमाणु ७८
 गङ्गा प्रमा २२, २३, २८,
 १०३
 गङ्गा ब्रह्म ४७३, ४७४, ४७५, ४७६
 ४८१, ४८३
 गङ्गा ब्रह्मवाद ३१
 गङ्गा भेद १०२
 गङ्गा भेद भेदगान १०३, १०६
 गङ्गा भेदवाद १०८, ११०
 गङ्गा भेदवादी १०६
 गङ्गा वपम १०३
 गङ्गा विवत ४७५ ४७७
 गङ्गा व्यवधान १०८,
 गङ्गा निन प्रकाशिका ३७
 गङ्गा मस्कार ३०८ ४८३
 गङ्गा स्मृतिकल्प ३६७
 गङ्गा कृति १२५
 गङ्गा कृति वाक्यवाद ३४४
 गङ्गा अनुविद्वान ३६
 गङ्गा अनुविद्ध बुद्धि ३७
 गङ्गा अनुगासन ६०, ६३, ६५
 गङ्गा न्तरादिभेद ३८०
 गङ्गा न्तरसन्निधान ४३३
 गङ्गा र्थाविधी ४५८
 गङ्गा र्थाविधी ४५८
 गङ्गा मरण ३१
 गङ्गा यच्चिताविवति ३०
 गङ्गा य प्रकृति १०
 गङ्गा पचार १०६
 गङ्गा पचार ११०
 गङ्गा क २५
 गङ्गा क्रमाप्य ४६४ (टिप्प०), ४६५
 (टिप्प०)
 गङ्गा कटायन १२३, १२४,
 २३७

गङ्गा सिद्धान्त ३५४
 गङ्गा त्तरक्षित २८, ३० ४७७
 गङ्गा वर भाष्य ३८० (टिप्प) ३८३,
 ३८४ (टिप्प०) ३८६ ४००, ४०१
 ४१६ ४१७
 गङ्गा दातिनक ४७४
 गङ्गा लिङ्गनाथ ३३६
 गङ्गा म्नाम्नि २६२, २६३
 गङ्गा म्नी गौरीनाथ ३३
 गङ्गा स्त्री, गङ्गा म्नेव २३, २४
 २५
 गङ्गा स्त्री मङ्गलदेव १७
 गङ्गा स्त्री रघुनाथ ३३
 गङ्गा स्त्री श्रीचन्द १६ (टिप्प०)
 गङ्गा काकार ७६
 गङ्गा वृष्टि २२ २० ४८ ४६,
 ४७४
 गङ्गा वृष्टिकार ४३
 गङ्गा गुपालवध १४
 गङ्गा लभद्र २६
 गङ्गा रप्रकाश ३१ १०२ ११८
 (टिप्प०), ११६ (टिप्प०), १२०
 २६१, २६३, ३२४, ३३१ (टिप्प०),
 ३३८, ३५६ (टिप्प०), ३६१
 (टिप्प०), ३६३ ३७० (टिप्प०)
 ३७६ ३७७, ३८१ ३८३ ३८७
 (टिप्प०) ३६१ (टिप्प०) ३६३
 (टिप्प०), ३६५, ३६६ ३६७
 ३६६ ४०१ ४०८ (टिप्प०), ४०६
 (टिप्प०), ४१० (टिप्प०), ४१८
 (टिप्प०), ४१६ (टिप्प०) ४२२
 (टिप्प०), ४२४ (टिप्प०), ४२६
 (टिप्प०), ४६८, ४७६
 गङ्गा रप्रकाश हस्तलक्ष (घडमार)
 ३६४ (टिप्प०), ३६६
 शेष ३७६, ४०१

गणनारामण ३१, ६०, १५० (टिप्प०),

४७२

गणविनियोगसंगण ३७७

गण श्रीकृष्ण ३१, २६१, ४४१

गणपतिभाष्य ३७७

गणपति ४७

गणपति ४३, ४५, ७६, १७७, २१६, २६१

गोनक ७६, १३१ (टिप्प०) ३३८

गोभिल २३३

गोभिलसंहिता ४७

श्रीमद्भगवद्गीता ३५

श्रीहृष २६

श्रुतार्थापत्ति ६३ (टिप्प०), ४०८

श्रुति ३७७ ३७८ ४२२

श्रुतिक्रम ३६८

श्रुतिप्रापित २६३

श्रुत्यादिक्रम ३७६, ३८०

श्रुत्यादिवलावल ३८०

श्रुत्यान्विनिविद्योग ३८०, ४०२

श्रुतमाण गण १५०

श्लेष प्रलकार ४०८

श्लोकवातिक ३०८ ४६०

श्लोकवातिक (मीमांसा) २५, २६, ३०, ३४१, ३५० (टिप्प०) ३५१, ४२५ ४३५ (टिप्प०)

श्लोकवातिकवार ६०, २६८, ३०५, ३१३, ४२८, ४६६

श्लोकवातिकवाशिका (हस्तलेख) ३५६ ३५८ (टिप्प०)

श्लोकवातिकव्याख्या ३५०

श्लोकवातिकव्याख्या यापरत्नाकर ३५२ (टिप्प०)

संस्तना २३८

स्वास्त ७६

स्वेनाश्वत्तरोपनिषद २०६ (टिप्प०)

पट प्रकार की प्रतिभा ३७६

पट भाष्यकार ११४, १७२, १७३ २१६, ४८१

सविधान २५०, २५४, २५५

सविधानवृत्ति २५०

ससंग ६५, ६७ ६८, ४३०

ससंग वाक्याम ३६६

ससंगवा ३६८

ससंगवा २८७

ससर्गानित्यता ६१

समृष्ट वाक्याम ३६६ ३६८

समृष्टाद्यप्रत्ययावमगिनी १२६

समृष्टाद्यप्रत्ययभाग ४०

संस्तनगद्य ४६३ (टिप्प०)

संस्तनभाषा ५०

सहजक्रम ३४६

सकमक १८६, १८७

सकनपत्तप भविष्यता ११७, ११८

सकण्डस्फोट ४६३

सकेतसम्बन्ध ४२६

सह्या १४ १५८, २६४ २६७ २६८

सह्या विचार २६४ २८०

सगीतरत्नाकर २३, ३०२ (टिप्प०)

सग्रह १० ११, १३, १४, ५६, ३३०

सग्रहकार ११ ५१, ५६, ६४, ६८, ८२, १०७ ११०, १३०, १३१

(टिप्प०), १३७ १३८, १५१, १६४, २६६, ३०२, ३३८, ३६२

४५७ ४५८, ४६२

सघात ३३४, ४५७

सघातवाद ३३८

सघात की समीक्षा ३४१

सघातपक्ष ३४०, ३४४, ३५७

सघातवर्तिनी जाति ३४४

सघातवाद और पृथक् सववाद म भेद

३५७

सञ्चय ३७५
 सञ्चय ४६
 सञ्चय ५५—६२
 सञ्चय के प्रकार ५८
 सञ्चयमन्त्र ५८, १०५
 सञ्चय और अनुकरण ५८ म भेद
 ५६
 सञ्चय के प्रयत्ननिमित्त ५७
 सञ्चयवाद १७३, २८६
 सञ्चय ४३, १२३, १४८, १५५
 सञ्चय त्रियावाद १७१
 सञ्चयमहासामान्य १४६
 सञ्चयानिवाह १५४
 सञ्चयविवन ४८१
 सञ्चयिणी जेयावाग ४०
 सञ्चयि ३८७
 सञ्चयि त्रियापद १३७, २६६
 सञ्चययक ध्वनि ८६
 सञ्चय २६३
 सञ्चय के तीन भेद २६३
 सञ्चय २७८
 सञ्चयानिवाह २१७
 सञ्चयि और समुच्चय म भेद ३८७
 (टिप्पणी) ४४३
 सञ्चयानिवाह २११
 सञ्चयानिवाह ३७७
 सञ्चयानिवाहपक्ष ३१८
 सञ्चयानिवाह ४४३ ४४४
 सञ्चयपरिममपक्ष ३४३
 सञ्चय ६५ १४७ २०१ ३२७
 ३३७ ३७६ ३८० ४४३, ४४४
 ११ २६५, ३७६
 ४४३भेद ३७६, ४०३
 ४४३पदाथ १२५ १२७
 ४४३वाध ३७६
 सञ्चयवाधन ३८०, १६१

सञ्चय २६७
 सञ्चयनीकृष्णभरण ३१
 सञ्चयानिवाह २८, ३१, ४७१
 (टिप्पणी)
 सञ्चयपदाथ ३५७, ३५८
 सञ्चयपदाथ ३५८
 सञ्चयम २५८
 सञ्चयम नरात्म्य ३५
 सञ्चयम भाषा इमोना २६६ (टिप्पणी)
 सञ्चय २७७
 सञ्चयसञ्चयपदाथ ३५८
 सञ्चयकारिका ३०० (टिप्पणी)
 सञ्चय २७७
 सञ्चयसञ्चयपदाथ ३५८
 सञ्चयकारिका ३०० (टिप्पणी)
 सञ्चयसञ्चय २१४ २१६ २८७ २६४,
 ३०१, ३०२, ३०३ ३०४
 सञ्चयसञ्चय म अनुसार काल २०८
 सञ्चयमत २६०
 सञ्चयसञ्चय ४०७
 सञ्चयसञ्चय ३७६
 सञ्चयसञ्चयधना प्रत्यभिज्ञा १०५
 सञ्चयसञ्चय निमित्त के रूप मे १११
 सञ्चयसञ्चय १२५
 सञ्चय १५८, २८१, २८२
 सञ्चय प्रसाधुव्यवस्था १३२
 सञ्चय चार प्रकार की ५४
 सञ्चय १३३
 सञ्चयविवन ४८१
 सञ्चयदीपिका ११५
 सञ्चयनी भृक १०८
 सञ्चय ३७६ ३६४ ३६५ ४३४
 सञ्चयनियम ३८४
 सञ्चयभूत २३४
 सञ्चय विशेष ३१५
 सञ्चयतिदेश ३७८, ३७६ ५८०,
 ३६१
 सञ्चयानिवाह १३
 सञ्चय म सामान्य १६६

सामान्य गौर जाति म भेद १४६
 सायण ३१, ४७१, ४७२
 गावयवयण ८०
 सिद्धागद १२
 सिद्धा त कौमुदी १३५
 सिद्धान्त कौमुदी तत्त्वबोधिनी १२६
 साहचय ४३२
 सीरदेव १०, ४३१ (टिप्प०)
 सुचरितमिश्र २६, ३०, ४१ ३३४,
 ३४१ ३५६, ३५८
 सुपेण २५८
 सूत्रकार १३ १४ २०३
 सूत्रितरत्नाकर ३१, ६० १०३ १०४
 १५० (टिप्प०) २०६ (टिप्प०)
 ४७२,
 सोपस्कार सूत्र ४०७
 सोम १५६
 सोमान द ४७ ४७४,
 सोमेश्वर ४२६
 सोमव १६
 स्कन्दस्वामी १८ २४५
 स्थान ३७६ ३७७
 स्थानक्रम ३६६
 स्थानिद्धाव ४०६
 स्थानी १२
 स्थितलक्षण ३६६, ३६६, ३६७
 स्थितलक्षण पदाथ १२७, १३०
 स्थितलक्षण और अपोद्धार पदाथ
 १३०
 स्फोट ३१, ६६ ६७, ६८, ६९ ७२,
 ७३ ८६ ९० १०४ ३४७, ३७१,
 ४६२ ४७३
 स्फोटचन्द्रिका ३२
 स्फोट जाति रूप म ४७१
 स्फोटतत्त्व निरूपण ३१ ४७८
 (टिप्प०)

स्फोट ध्वनि रूप म ४६१—४६८
 स्फोटया ४६०—४८४
 स्फोटया की समीक्षा ४७७
 स्फोट दान् नित्यत्व रूप में ४७०
 स्फोट दान्द्रूप म ४७४
 स्फोट दान्द्रूप मे ४६६
 स्फोटसिद्धि ३०, १३६ (टिप्प०)
 ३४८,
 स्फोट सिद्धि टीका ८६ ३४८
 स्फोटायन ६६०
 स्मृतिनिरूपणा ३७
 स्यादवातरत्नाकर ३८ ४२ ६८, ७०,
 ३४७ ३५७, ४७६ (टिप्प०)
 स्वप्नप्रबोधवृत्ति ३७३
 स्वर ७६ ४३४
 स्वस्पायत्व १०६
 स्वलक्षण ३६६
 स्वातन्त्र्यशक्ति २१४ २१५ २१६,
 २२०
 स्वातन्त्र्यशक्ति और क्त शक्ति २१८
 स्वाभाविकी प्रतिभा ३७२ ३७३,
 स्वाथ १४१
 स्वाथता २४६
 हरदत्त मिश्र १४ ५३ ७५, १४०,
 १८३ २५३, २६५ ३१०, ३१५
 ३२६ ३५६ (टिप्प०) ४६०
 हरियशोमिश्र ३२
 हरिबल्लभ ३२
 हरिस्वामी १७
 हय्यक्ष १६
 ह्यचरित १६
 ह्यचरित एक अध्ययन १६
 ह्यचरित टीका ३३० (टिप्प०)
 हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टन एण्ड
 वेस्टन भाग १ १८ (टिप्प०)
 हेतु २८६

हेतुहेतुमद्भाष १३७

हेलाराज १३, २२ २३, २७, २८,
३२, ४२ ५६ ६३, ६५ ६८ ६९,
१००, १२७ १२८, १२९, (टिप्प०)
१३० टिप्प०) १३२ टिप्प०) १३३,
१३५, १५२, १५३, १५४ १५५ १७३,
१७४ टिप्प०), १७५ टिप्प०), १७६
१७९ १८४, २०९, २१३ (टिप्प०)
२१४, २१७ २२१ (टिप्प०), २२९

टिप्प०) २३३, २३८, २६०, २७९,
२८३, २८७ २९० २९२, २९३,
३०४, ३०८ ३१२ ३१७, ३२८,
३६०, ३६३ ३६६ (टिप्प०),
३८० (टिप्प०) ३९३, ४१९,
(टिप्प०), ४५५ ४७० ४८१,
४८२

ह्वेनच्याग १७, २९

सामान्य और जाति म भेद १४६
 सायण ३१ ४७१, ४७२
 गाययववर्ण ८०
 सिद्धांत १२
 सिद्धांत कीमुदी १३५
 सिद्धान्त कीमुदी तत्त्वबोधिनी १२६
 साहचर्य ४३२
 सौरदेव १२, ४५१ (टिप्प०)
 मुचरितमित्र २६, ३०, ४१ ३३४,
 ३४१ ३५६ ३५८
 सुपेण २५८
 सूत्रकार १३ १४ २०३
 सूक्तिरत्नाकर ३१, ६०, १०३, १०४,
 १५० (टिप्प०) २०६ (टिप्प०),
 ४७२,
 सोपस्कार सूत्र ४०७
 सोम १५६
 सोमानन्द ४७, ४७४,
 सोमेश्वर ४२६
 सोमव १६
 स्कन्दस्वामी १८, २४५
 स्थान ३७६ ३७७
 स्थानक्रम ३६६
 स्थानिद्धाव ४०६
 स्थानी १२
 स्थितलक्षण ३६६, ३६६ ३६७
 स्थितलक्षण पदाथ १२७ १३०
 स्थितलक्षण और अपोद्धार पदाथ
 १३०
 स्फोट ३१ ६६ ६७, ६८ ६६ ७२,
 ७३ ८६ ६०, १०४ ३४७ ३७१
 ४६२ ४७३
 स्फोटचन्द्रिका ३२
 स्फोट जाति रूप म ४७१
 स्फोतत्व निरूपण ३१, ४७८
 (टिप्प०)

स्फोट ध्वनि रूप म ४६१—४६८
 स्फोटवाद ४६०—४८४
 स्फोटवाट की समीक्षा ४७७
 स्फोट वाट नित्यत्व रूप म ४७०
 स्फोट वाटग्रहण रूप मे ४७४
 स्फोट वाट रूप मे ४६६
 स्फोटसिद्धि ३०, १३६ (टिप्प०)
 ३४८
 स्फोट सिद्धि टीका ८६, ३४८
 स्फोटायन ४६०
 स्मृतिनिरूपणा ३७
 स्यादवादरत्नाकर ३८ ४२, ६८ ७०,
 ३४७ ३५७, ४७६ (टिप्प०)
 स्वप्नप्रबोधवृत्ति ३७३
 स्वर ७६ ८३४
 स्वस्वायत्व १०६
 स्वलक्षण ३६६
 स्वातन्त्र्यशक्ति २१४ २१५ २१६,
 २२०
 स्वातन्त्र्यशक्ति और कत शक्ति २१८
 स्वाभाविकी प्रतिभा ३७२ ३७३,
 स्वाथ १४१
 स्वाथता २४६
 हरदत्त मिश्र १४, ५३ ७५ १४०,
 १८३, २५३, २६५ ३१० ३१५,
 ३२६ ३५६ (टिप्प०), ४६०
 हरियशोमिश्र ३२
 हरिवल्लभ ३२
 हरिस्वामी १७
 हय्यक्ष १६
 हयचरित १६
 हयचरित एक अध्ययन १६
 हयचरित टीका ३३० (टिप्प०)
 हिस्ट्री आफ फिलासफी ईस्टन एण्ड
 वेस्टन भाग १ १८ (टिप्प०)
 हेतु २८६

हेतुहेतुमद्भाष १३७

हेलाराज १३, २२, २३, २७, २८
३२, ४२, ५६, ६३, ६५, ६८, ६९,
१००, १२७, १२८, १२९, (टिप्प०)
१३० (टिप्प०) १३२ (टिप्प०) १३३,
१३५, १५२, १५३ १५४, १५५ १७३
१७४ (टिप्प०), १७५ (टिप्प०), १७६
१७९, १८४, २०९ २१३ (टिप्प०)
२१४, २१७ २२१ (टिप्प०), २२९

(टिप्प०) २३३, २३८, २६०, २७९,
२८३, २८७ २९०, २९२, २९३
३०४, ३०८, ३१२, ३१७ ३२८,
३६०, ३६३ ३६६ (टिप्प०),
३८० (टिप्प०) ३९३, ४१९,
(टिप्प०), ४५५ ४७० ४८१,
४८२

हैनन्याग १७, २९